ॐ

नमः श्रीसिद्धेभ्यः

श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्यदेवप्रणीत

श्री नियमसार

श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित संस्कृत टीका

(शुद्धभाव अधिकार)

गाथा-३८

अथेदानीं शुद्धभावाधिकार उच्यते।

जीवादिबहित्तच्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा।
कमोपाधिसमुब्भवगुणपज्जाएहिं वदिरित्तो।।३८।।

जीवादिबहिस्तत्त्वं हेयमुपादेयमात्मनः आत्मा।
कर्मोपाधिसमुद्भवगुणपर्यायैर्व्यतिरिक्तः।।३८।।

हेयोपादेयतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत्।

जीवादिसप्तत्त्वजातं परद्रव्यत्वान्न ह्युपादेयम्। आत्मनः सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणेः परद्रव्यपराङ्मुखस्य पंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहस्य परमजिनयोगीश्वरस्य स्वद्रव्यनिशितमतेरुपादेयोह्यात्मा। औदयिकादिचतुर्णां भावान्तराणामगोचरत्वाद् द्रव्यभावनोकर्मोपाधिसमुपजनितविभावगुणपर्यायरहितः,अनादिनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसहजपरमपारिणामिकभावस्वभावकारणपरमात्माह्यात्मा। अत्यासन्नभव्यजीवानामेवंभूतं निजपरमात्मानमन्तरेण न किंचिदुपादेयमस्तीति।

*

हिन्दी अनुवाद

अब शुद्धभाव अधिकार कहा जा रहा है।

है हेय सब बहितत्तव ये जीवादि, आत्मा ग्राह्य है।
अरु कर्मसे उत्पन्न गुणपर्यायसे वह बाह्य है।।३८।।

अन्वयार्थ :- [जीवादिबहिस्तत्त्वं] जीवादि बाह्यतत्त्व **[हेयम्]** हेय हैं; **[कर्मोपाधिसमुद्भवगुणपर्यायैः]** कर्मोपाधिजनित गुणपर्यायोंसे **[व्यतिरिक्तः]** व्यतिरिक्त **[आत्मा]** आत्मा **[आत्मनः]** आत्माको **[उपादेयम्]** उपादेय है।

टीका :- यह, हेय और उपादेय तत्त्वके स्वरूपका कथन है।

जीवादि सात तत्त्वोंका समूह परद्रव्य होनेके कारण वास्तवमें उपादेय नहीं है। सहज वैराग्यरूपी महलके शिखरका जो शिखामणि है, परद्रव्यसे जो पराङ्मुख है, पाँच इन्दियोंके विस्तार रहित देहमात्र जिसे परिग्रह है, जो परम जिनयोगीश्वर है, स्वद्रव्यमें जिसकी तीक्ष्ण बुद्धि है - ऐसे आत्माको 'आत्मा' वास्तवमें उपादेय है। औदयिक आदि चार भावान्तरोंको अगोचर होनेसे जो (कारणपरमात्मा) द्रव्यकर्म, भावकर्म, और नोकर्मरूप उपाधिसे जनित विभावगुणपर्यायों रहित है, तथा अनादि-अनंत अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाववाला शुद्ध-सहज-परम-पारिणामिकभाव जिसका स्वभाव है - ऐसा कारणपरमात्मा वह वास्तवमें 'आत्मा' है। अति-आसन्न भव्यजीवोंको ऐसे निज परमात्माके अतिरिक्त (अन्य) कुछ उपादेय नहीं है।

प्रवचन - १, दि. - ३०-१-१९७८

'नियमसार' गाथा-३८, अधिकार तीसरा, शुद्धभाव अधिकार। यह शुद्धभाव माने जो पुण्य व पाप के अशुद्धभाव से रहित है वह 'शुद्धभाव'। वह पर्याय नहीं है। यह 'शुद्धभाव' त्रिकालीकी बात है। शुभ व अशुभ भाव अशुद्ध हैं; इस अपेक्षा से आत्मा

की सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र पर्याय शुद्ध हैं; किन्तु यहाँ पर शुद्धभाव मतलब वह नहीं है - शुद्धभाव अधिकार वह (पर्याय विषयक) नहीं है। यह शुद्धभाव अधिकार तो त्रिकाली द्रव्य स्वभाव को कहता (बताता) है। वह (सम्यग्दर्शनादि) शुद्धभाव तो पर्याय है; निश्चय सम्यग्दर्शन हाँ...! व्यवहार (सम्यग्दर्शन) तो अशुद्ध (भाव) में गया। यहाँपर तो आत्मा का जो त्रिकाली ध्रुवस्वरूप उसे शुद्धभाव कहते हैं। उसके आश्रय से जो निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र (रूप) निर्मलपर्याय, शुद्धपर्याय, मोक्ष का मार्ग (प्रगट हुआ) इसे (भी) यहाँपर (शुद्धभाव) नहीं कहा। यहाँपर तो वह शुद्धपर्याय भी हेय है, आश्रय करने योग्य नहीं है - ऐसा बताना है ! आहा...हा...! निमित्त तो हेय है, निमित्त की ओरका शुभाशुभ भाव - (वह) भी हेय है। उदयभाव तो (अशुद्ध में) गया। किन्तु यहाँ तो द्रव्य के आश्रय से पर्याय में जो शुद्ध मोक्ष का मार्ग - उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकभाव(रूप) `सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः' - यह निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है, उसकी खतौनी भी हेय में की जा रही है ! (उसकी उपादेयता का) यह अधिकार नहीं है। यहाँपर तो शुद्धभाव (अर्थात्) त्रिकालीवस्तु - यह शुद्धभाव, (इसका) यह अधिकार है।

टीका :- `**यह हेय व उपादेय तत्त्व के स्वरूप का कथन है**' - छोड़ने योग्य क्या है ? आश्रय करने योग्य क्या है ? और उपादेय (माने) आश्रय करने लायक कौन है ? - इसका कथन यहाँपर है। है ! सूक्ष्म बात है, भगवान।

`**जीवादि सात तत्त्वों का समूह परद्रव्य होने के कारण वास्तवमें उपादेय नहीं है।**' - इसकी परिभाषाः जीवादि सात तत्त्व, ये कौन-से ? (किः) जीव-पर्याय। व्यवहार जीव ! उदयभाव - पुण्य-पाप के भाव तो अशुद्ध हैं, वे तो बाह्यतत्त्व हैं, किन्तु अंदर में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, शुद्ध आनंद का स्वाद (आया) यह जीव की पर्याय (भी) बाह्य तत्त्व है। यह जीवरूप पर्याय, बाह्यतत्त्व है। त्रिकाली आत्मा ही अंतःतत्त्व है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

`**जीवादि सात तत्त्वों का समूह...**' - यहाँ जीव की पर्याय को जीव में गिनना। फिर (भले) पर्याय उदय की हो, उपशम की हो, क्षयोपशम की हो या क्षायिक की हो - वह बाह्यतत्त्व में जाती है। आहा...हा...! वे `जीवादि सात तत्त्व...' संवर, निर्जरा और मोक्ष ये भी बाह्यतत्त्व में जाते हैं। क्योंकि वे आश्रय करने लायक नहीं हैं। आश्रय करने लायक तो (मात्र) त्रिकालीभाव है। जिससे मोक्षमार्ग उत्पन्न होता है ऐसा त्रिकालीभाव, वह एक (ही) उपादेय है।

उदय, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक और परमपारिणामिक - इन पाँच भावों (में) एक पारिणामिकभावरूप त्रिकालीध्रुव (वह अंतःतत्त्व है); - इसके अलावा जो उदय, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक - ये चार भाव हैं वे जीवादि बाह्यतत्त्व में समाविष्ट हैं।

आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, भगवान ! आहा...हा...! तेरा रूप तो भगवान है न... नाथ ! परमात्मस्वरूप है !

'घट घट अंतर जिन बसै, घट घट अंतर जैन; मति-मदिरा के पानसौं, मतवाला समुझै न।' - यह दोहरा 'समयसार नाटक' का है। 'घट घट अंतर जिन बसै' - आत्मा जिनस्वरूपी ही है, त्रिकाली वीतराग अकषायमूर्ति प्रभु है ! उसे परमपारिणामिकभाव कहो, ज्ञायकभाव कहो, ध्रुवभाव कहो, सामान्यभाव कहो, एकरूपभाव कहो - उसे यहाँपर 'शुद्धभाव' कहने में आता है। इससे ये जीवादि बाह्यतत्त्व हेय (हैं), भिन्न हैं।

आहा...हा...! निमित्त तो हेय है ही; क्यूँकि वह परद्रव्य है। परद्रव्यने तो कभी भी अपना (आत्मा का) स्पर्श किया ही नहीं। और अपनी पर्याय ने कभी भी परद्रव्य का स्पर्श नहीं किया। किन्तु उसे जो पर्याय में स्पर्श करते हैं वे रागादिभाव, विकार, व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प, ये अशुद्धभाव में जाते हैं, ये भी बाह्यतत्त्व (हैं)।

भगवान(आत्मा) पूर्णानंद का नाथ जिन प्रभु ! 'घट घट अंतर जिन बसै, घट घट अंतर जैन' - जो पूर्णस्वरूप अंतर में है। इस स्वभाव के आश्रय से, उसका अनुभव हुआ, इसके आश्रय से पर्याय वीतराग हुई यह जैनत्व ! यह जैनत्व भी पर्याय है। (फिर भी) उसे (इस पर्याय को) यहाँ जीवादि बाह्यतत्त्व और हेय कहा गया है। आहा...हा...! कुछ समझ में आया ?

'जीवादि' -उसकी पर्याय - उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक ये 'जीवपर्याय'। अजीव-कर्म आदि, शरीर आदि। पुण्य-पाप - आस्रव। बंध - राग-कर्मरूप। और संवर, निर्जरा व मोक्ष - ये सारे जीव आदि तत्त्व। यहाँ पुण्य-पाप को भिन्न नहीं किये, (दोनों को) आस्रव में समाहित कर दिया है। अतः 'जीवादि (सात) तत्त्वों का समूह परद्रव्य होनेके कारण' - आहा...हा...! ये तो परद्रव्य है; स्वद्रव्य नहीं है।

आहा...हा...! यह कथनशैली तो देखो ! वीतरागी संतों के अलावा यह बात कहीं भी नहीं है। यह अंतर की बात है ! यहाँ तो अभी सम्यग्दर्शन बिना, बिना अनुभव के व्रत और तप - व्यवहाररत्नत्रय, ये साधन हैं - और उनसे निश्चय साध्य होता है (- ऐसा लोग भ्रमवश मानते हैं !) शास्त्र में आता (भी) है; 'भिन्न साध्य - साधन।' - यह तो समझने की चीज़ कही, निमित्त का ज्ञान कराया कि वहाँ कैसा

भाव था !

अरे प्रभु ! यहाँ तो कहते हैं कि : क्षायिकसमकित हो और केवलज्ञान हो, मोक्षतत्त्व की पर्याय क्षायिकभाव से हो - यह भी जीवादि तत्त्व - परद्रव्य में जाता है। आहा...हा...!

'जीवादि सात तत्त्वों का समूह परद्रव्य होने के कारण' आहा...हा...! कई ज़गह आता है ! चार-पाँच स्थानों पर है। (जीवादि सात तत्त्वों का समूह) ये तो परद्रव्य है। क्योंकि इसमें से नयी पर्याय उत्पन्न नहीं होती। जिस प्रकार परद्रव्यमें से अपनी वीतरागी - निर्मलपर्याय प्रगट नहीं होती, उस प्रकार पर्यायमें से (भी) निर्मलपर्याय प्रगट नहीं होती; अतः इस पर्याय को यहाँ परद्रव्य कही गई है।

- क्या कहा ? फिरसे, जिस प्रकार अपने द्रव्य के अलावा परद्रव्य से अपनी कोई निर्मल पर्याय उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि परद्रव्य भिन्न है, इस प्रकार अपनी निर्मल पर्यायमें से नयी निर्मलपर्याय उत्पन्न नहीं होती, और उसके (पर्याय के) आश्रय से उत्पन्न नहीं होती। आहा...हा...! कुछ समझ में आया ?

निश्चयमोक्षमार्ग की पर्याय, निर्विकल्प वीतरागीपर्याय, यह तो 'उपाय' और उसका 'उपेय' मोक्ष; वह भी पर्याय है। यह क्षायिकभाव, पंचम पारिणामिकभाव(रूप) द्रव्य की एक पर्याय है। इस पर्याय को भी यहाँ परद्रव्य कहा है।

जिज्ञासा :- ऐसी सूक्ष्म - गहरी बात समझकर धर्म हो जायेगा ?

समाधान :- इसके (समझे) बिना, तत्त्व पकड़ में नहीं आयेगा। भगवान ! तू कैसी चीज़ है !! अंदर आनंदकंद है। वह तो अतीन्द्रिय आनंद का कंद है, (जिस प्रकार) सकरकंद (है तो वह कंदमूल, अनंत जीव है।) उसे हमारे यहाँ 'शक्करिया' बोलते हैं। उसके ऊपर का जो लाल छिलका है उसे न देखो तो उसका जो पूरा पिंड है, वह तो सक्कर का पिंड है; सक्कर की मीठास का पिंड है। उस प्रकार भगवानआत्मा उसमें जो पुण्य व पाप, दया व दान का विकल्प है वह तो ऊपर का लाल छिलका है। उस छिलके के पीछे अंदर देखो तो जिस प्रकार वह (सक्करिया) सक्कर का पिंड है उस प्रकार आत्मा अतीन्द्रिय आनंद का पिंड प्रभु है ! इस अतीन्द्रिय आनंद का पिंड है यह स्वद्रव्य। इसके अलावा अन्य कोई भी पर्याय क्षायिकभाव की पर्याय हो, चौथे-पाँचवें-छठे (गुणस्थान में) क्षायिकसमकित हो, - इसे तो यहाँ बाह्यतत्त्व में डाल दिया है। क्योंकि उसका आश्रय करने से लाभ नहीं होता। (हालाँकि पर्याय अपेक्षा से तो) वह है तो लाभरूप, किन्तु उसका आश्रय करने से पर्याय (में) विकल्प

उत्पन्न होता है, (वह धर्म नहीं है; धर्म का कारण तो स्वद्रव्य है)। कुछ समझ में आया ?

यहाँपर कहते है; `**जीवादि सात तत्त्वों का समूह**' - पर्यायों का समूह हाँ ! पुण्य-पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष - इन पर्यायों का समूह `परद्रव्य होनेके कारण (वास्तव में) उपादेय नहीं है)।' आहा...हा...!

यह बात सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्यध्वनि में आई (है)। (धर्म)सभा में एकावतारी इन्द्र बैठे थे। शक्रेन्द्र एकावतारी हैं। एक भव में मोक्ष जानेवाला हैं। सौधर्म एकभवतारी हैं, जिनका (यह) आखरी भव (है) फिर मनुष्य होकर मोक्ष जायेंगे। उनकी पत्नी (इन्द्राणी) भी एकभवतारी हैं। संत-गणधर थे, उस सभा में भगवान की वाणी में यह बात आई : प्रभु ! तू कौन है ? तू पर्याय के बराबर है ? तू राग जितना है ? पर्याय को तो व्यवहारआत्मा कहा जाता है। (वह परद्रव्य है; स्वद्रव्य नहीं है।

आहा...हा...! (`समयसार') ११वीं गाथा में कहा : `व्यवहारोऽभूयत्थो' - पर्यायमात्र अभूतार्थ है, असत्य (झूठी) है। - किस अपेक्षा से ? कि : मुख्य - ध्रुव की दृष्टि कराने के लिये मुख्य को निश्चय कहा। पर्याय है तो सही। पर (उसे) गौण कहकर व्यवहार कहकर `नहीं है' ऐसा कहा। यह (पर्याय) नहीं है, ऐसी बात नहीं है। किन्तु (उसे) गौण करके, व्यवहार कहकर `अभूतार्थ' कहा है। आहा...हा...! वह बात यहाँ ली है कि : जितनी पर्याय है (वह) व्यवहार (है), अभूतार्थ (है); वे सब `परद्रव्य है।'

`परद्रव्य होने के कारण' - कारण दिया (कि :) `उपादेय क्यूं नहीं है ?' पाठ में तो `हेयम्' (शब्द) है - `बहित्तत्त्वं हेयं' किन्तु (उसका) अर्थ यों किया कि : `जीवादि सात तत्त्वों का समूह परद्रव्य होने के कारण वास्तव में उपादेय नहीं है।' पाठ में `हेयं ' है। पर `हेय है' इसका हेतु बताना है कि : `वह उपादेय नहीं है', `वह आश्रय करने लायक नहीं है'; इस बज़ह से `हेय' का अर्थ `उपादेय नहीं है' ऐसा किया। कुछ समझमें आया ?

`जीवादि सात तत्त्वों का समूह परद्रव्य होनेके कारण' - यहाँ तो क्षायिक-निर्मल पर्याय को भी परद्रव्य का कहा (है)। क्योंकि, यह `शुद्धभाव अधिकार' है न...! जब त्रिकाली शुद्धता का पिंड जो प्रभु (है) वह `स्वद्रव्य है' तो उस अपेक्षा से पर्यायमात्र को बाह्यतत्त्व कहकर `परद्रव्य' कहा है !

आहा...हा...! ऐसा (तत्त्व) है, प्रभु। अरे...रे...! इसमें किसके साथ चर्चा करे, विवाद

करे ? इसे (इस तत्त्व को) लोग समझते नहीं हैं और फिर मानते हैं कि (सोनगढ का) एकांत है। कहो, बापू ! तुम भगवान हो। अंदर तो भगवान हो, भाई ! अंदर भगवान स्वरूप हो। तेरी (जो) भूल है वह तो पर्याय में है। और वह भूल एक समय की है। एक समय (माने) एक सेकंड का असंख्यातवाँ भाग, उसमें भूल है। भगवान ! त्रिकाली तो निर्भूल - भगवानस्वरूप है। - यह शुद्धभाव !

जिज्ञासा :- भूल का समय ज़रा-सा, किन्तु ताकत कितनी।

समाधान :- ताकत माने, एक समय ही रहती है। संसार की पर्याय एक समय ही रहती है, दूसरे समय दूसरी। भले, वैसी की वैसी रहे किन्तु (है) दूसरी। अरे ! केवलज्ञान भी जो एक समय उत्पन्न होता है वह दूसरे समय नहीं। ऐसा (का ऐसा) किन्तु (वह का) वह नहीं। आहा...हा...! इस वज़ह से पर्याय को बाह्यतत्त्व कह दिया है। आहा...हा...! समझमें आया ?

सूक्ष्म लगे, प्रभु ! पर क्या करें ? मार्ग तो जो हो वह (कहा जायेगा)। समझमें न आये और (वर्तमान में) प्रवर्तमान न हो, इससे मार्ग कोई दूसरा हो जायेगा (ऐसा नहीं है)। यह तो अनंत केवली भगवंतों, अनंत तीर्थंकरों (द्वारा प्ररूपित है) ! त्रिकाल को जाननेवाले का विरह तीन काल में कभी भी नहीं होता - क्या कहा ? त्रिकाल तो तीनों काल है। तो `त्रिकाल - वस्तु' ज्ञेय है न...? तो त्रिकाल को जाननेवाले का विरह तीनकाल में कभी भी नहीं होता ! अनादि से सर्वज्ञ हैं ! अनादि से त्रिकाल है ! त्रिकाल को जाननेवाले का विरह त्रिकाल में नहीं है ! सर्वज्ञ प्रगट (होते हैं) हाँ ! `यह वाणी' उस सर्वज्ञ परमात्मा की है ! चाहे तो वर्तमान के भगवान हो, चाहे भूतकाल के भगवान हो या चाहे तो भविष्य के हो - यह कहा था, (कह रहे हैं और कहेंगे, वह `वाणी' यही है !)

अभी थोड़ी तकरार हुए थी न ? यहाँ हमने `णमो लोए सव्व अरिहंताणं' कहा न...! इसमें एक (दिगंबर) साधु ने भूल निकाली (है), कि - यह `णमो लोए सव्व अरिहंताणं' कहाँसे कहा ? पाठ में तो `नमो अरिहंताणं' है ! आज पत्रिका में आया है। (किन्तु) `धवल' में ऐसा पाठ है : `णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती अरिहंताणं।' हमलोग आखिर में तो बोलते हैं : `णमो लोए सव्व साहूणं' (पर) चार में (`लोए' और `सव्व') बोलते नहीं। (`लोए' और `सव्व') ये (दोनों) अन्त्य दीपक हैं। (जो कि) पाँचों (पदों) में लागू होते हैं। णमो लोए (-लोक) और `सव्व' (-सर्व), (तो इसमें) अन्य सभी - जैनेतर साधु भी समाविष्ट हो जाते हैं - ऐसा नहीं है ! अन्य में तो कोई मार्ग

ही नहीं है न। प्रभु ! क्या कहें ? अन्य में (तो) सम्यग्दर्शन ही नहीं होता; (सभी) गृहीतमिथ्यादर्शन हैं। क्या कहें ? लोगों को दुःख लगता है, भाई ! श्वेतांबरपंथ भी गृहीतमिथ्यादृष्टि है। (मूल) जैनधर्म के हजारों बोल को परिवर्तन कर डाला है। 'मोक्षमार्ग(प्रकाशक)' में (उनको) अन्यमति में डाल दिया है। (उन लोगों को) दुःख लगे इसलिये (सत्य जाहिर नहीं करना, ऐसा) नहीं। यह तो सत्य है, प्रभु ! तू आत्मा है, प्रभु ! तुझे दुःख लगे ऐसा हम चाहते नहीं। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी है। 'मोक्षमार्गप्रकाश' में पाँचवाँ अध्याय है न ? - 'अन्यमत अधिकार' इसमें वेदांत, वैशेषिक, सांख्य, इस्लाम, स्थानकवासी, श्वेतांबर - सभी को अन्यमति में रखा है। आहा...हा...! यह तो वस्तुस्थिति है ! दिगंबर धर्म कोई संप्रदाय नहीं है। वस्तु का स्वरूप अनादि है - पर्याय और द्रव्य। निमित्त और उपादान। जैसा वस्तु का स्वरूप है वैसा जाना, वैसा वाणी में आया और संतों ने अनुभव करके इस प्रकार (शास्त्र) रचना की (है)। आहा...हा...!

कुछेक लोग ऐसा कहते हैं देखो ! ('कानजीस्वामी') सभी को श्वेतांबर में ले जायेंगे। अर...र...! प्रभु ! तू क्या कह रहा है, भाई ! अरे भगवान ! तू क्या कर रहा है ? भाई ! हमने श्वेतांबर को और सभी को जाना है। (तर्क करे कि) स्वयं ('कानजी स्वामी') वस्त्र सहित है न ? किन्तु भाई ! हम मुनि कहाँ है ? 'सभी को श्वेतांबर बना देंगे' - ऐसा तर्क नहीं होता, भगवान ! आहा...हा...! यह तो वस्तु का स्वरूप है, प्रभु !

'समयसार' की ७२ गाथा, कर्ता-कर्म की। उसमें तो ऐसा लिया है कि : पुण्य और पाप भाव अशुचि है। ऐसा कहकर टीकाकार भगवान 'अमृतचंद्राचार्य' ने ऐसा लिया - भगवान आत्मा निर्मल है। टीका में तीनबार 'भगवान' कहा है। सभी (जीवों को) भगवान कहा है। संस्कृतटीका में तीन बोल हैं : (आस्रव) अशुचि हैं, जड हैं, दुःख का कारण हैं। पुण्य, पाप, व्यवहार रत्नत्रय अशुचि और मैल है। दूसरी ओर कहा भगवान आत्मा त्रिकाल निर्मलानंद प्रभु है। - यह 'शुद्धभाव' है। दूसरा बोल ऐसा लिया कि - प्रभु ! पुण्य व पाप का भाव जड है। क्योंकि उस राग में, चैतन्य के आनंद के अंश का अभाव है। आहा...हा...! प्रभु ! एक बार सुन तो सही ! राग चाहे तो वह व्यवहार रत्नत्रय के महाव्रत का हो, परंतु वह राग जड है। क्योंकि, भगवान आत्मा चैतन्य - विज्ञानघन है। इस प्रकार दूसरे बोल में भी भगवान कहा। (राग) जड क्यों है ? - भगवान (आत्मा) ज्ञान व आनंदस्वरूप प्रभु है तो उसका अंश उसमें (-राग में) नहीं है। सूर्य की किरण में सूर्य का प्रकाश आता है उस

प्रकार आत्मा की किरण में निर्मलता होनी चाहिए। (किन्तु) यह (राग में) मलिनता है (अतः) वह जीव नहीं है; अजीव है, जड है और भगवान (आत्मा) तो विज्ञानघन है न... प्रभु ! वह तो चैतन्य है और व्यवहार तो अचेतन-जड है। तीसरा बोल पुण्य-पाप के भाव, दया-दान-व्रतादि के भाव, दुःखरूप हैं। (और भगवान आत्मा तो सदा निराकुलस्वभावी है)। इस प्रकार 'अमृतचंद्राचार्य' तो 'भगवान आत्मा' कहकर बुलाते हैं। आहा...हा...! ७२-गाथा 'समयसार' की देख लेना।

यहाँ कहते हैं कि : भगवान (आत्मा) जो त्रिकाली स्वद्रव्य है, इसके अलावा 'जीवादि सात तत्त्वों का समूह परद्रव्य होने के कारण' - जीवादि तत्त्व 'पर्याय' हाँ ! यह बात पर्याय की है - सचमुच, वास्तव में यथार्थ में उपादेय नहीं है। आहा...हा...! केवलज्ञान की पर्याय उपादेय नहीं है ! केवलज्ञान है, उसकी बात तो यहाँपर नहीं है। यह तो साधक (कि) जिस को नय है, उसकी बात है, नय तो श्रुतज्ञानी के होते हैं। निश्चय व व्यवहार तो श्रुतज्ञान के हिस्से हैं। श्रुतप्रमाण 'अवयवी' है और उसके 'अवयव' निश्चय व व्यवहारनय हैं। यहाँ केवली की बात नहीं है। केवली तो पूर्ण हो गये। किन्तु नीचेवालों को केवलज्ञान की पर्याय भी बाह्यतत्त्व है। क्योंकि, उसे (साधक को) उसका (पर्याय का) लक्ष नहीं करना है, अतः (वह) उपादेय नहीं है।

(यहाँपर ऐसा कहा जाता है कि :) '**हेयोपादेयतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत्।**' '**जीवादि सप्ततत्त्वजातं परद्रव्यत्वान्न ह्युपादेयम्।**' यह संस्कृत (टीका) है।

आहा...हा...! 'पद्मप्रभमलधारिदेव' मुनिराज भावलिंगी संत ! भावलिंग का लक्षण क्या ? - तीव्र आनंद का स्वसंवेदन जिसकी महोरछाप है। यह भावलिंग मुनि का है। द्रव्यलिंग - पंचमहाव्रत, नग्नपना तो होता है। होता तो वैसा ही है, दूसरी तरह का नहीं होता। किन्तु (भावलिंग बिना द्रव्यलिंग) वह वस्तु की स्थिति नहीं है। समझमें आया ?

यहाँपर (और) 'परमात्मप्रकाश' में भी कहा है : 'भावलिंग' - यह (भी) आत्मा नहीं है ! त्रिकाली (आत्मा) की बात लेनी है न...!

यहाँ कहते हैं कि : '(जीवादि सात तत्त्वों का समूह) परद्रव्य होनेके कारण' - इस प्रकार कारण दिया 'वास्तव में उपादेय नहीं है।' आहा...हा...!

अभी तो यहाँ (लोग) सम्यग्दर्शन बिना की व्यवहार - राग की क्रिया को उपादेय मनवाना चाहते हैं ! प्रभु ! यह (वीतरागमार्ग का) विरोध है। तेरी वीतरागता, इसमें

से (रागमें से) उत्पन्न नहीं होगी। आहा...हा...! तू वीतरागस्वरूपी है। (तेरा) स्वरूप वीतराग है। तो उसमें से वीतरागता उत्पन्न होगी। (तू) जिनस्वरूपी है। तो परिणति में जिनस्वरूप - जिनपर्याय प्रगट होती है। बाहर से कोई चीज़ नहीं आती।

किन्तु यहाँपर तो वहाँ तक कहा कि : जिनस्वरूप जो त्रिकाल है; उसका अनुभव हुआ, वह भी पर्याय है; वह आश्रय करने योग्य नहीं है; इस वज़ह से (ऐसी 'शुद्धपर्याय' भी) उपादेय नहीं है ! आहा...हा...!

कुछ समझमें आया ? भाषा तो सादी है, भगवान ! कोई संस्कृत व व्याकरण की तरह कठिन तो नहीं है। चौथी कक्षा तक पढ़ा हुआ हो तो भी खयाल आ जाय। इसमें कोई व्याकरण और संस्कृत (का अभ्यास) जरूरी नहीं है। आहा...हा...! अंतर के संस्कर की (गहरी जिज्ञासा की) जरूरत है।

अब कहते हैं : '**सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर का जो शिखामणि है।**' (वह कौन ?) - मुनि स्वयं ! स्वयं मुनि है न...? इसलिये मुनि की बात से प्रारंभ किया है। 'मुनि' कैसे होते हैं ? अथवा मुनि कहते हैं (कि) हम कैसे हैं ? कि : 'सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर के शिखामणि।' शिखामणि अर्थात् शिखर पर रहा रत्न; चूडामणि; कलगी का रत्न। वैराग्य - परसे उदास... उदास... उदास (है)। उदासीन (है) उद्+आसन। उद्+आसीन। जिसका आसन ध्रुव में (है)। (जिसकी) दृष्टि (ध्रुव में) पड़ी है !

आहा...हा...! सम्यग्दृष्टि भी परसे उदास हैं। किन्तु (उन्हें) अभी तीन कषाय (चोकड़ी) की विद्यमानता है, और मुनि के तो तीन कषाय (चोकड़ी) का अभाव है। (एक संज्वलन कषाय (चोकड़ी) का अस्तित्व है। किन्तु वे तो उसके भी उदासीन है।

'सहज-स्वाभाविक वैराग्य' किसको होता है ? कि - जिसको सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है, उनको स्वाभाविक वैराग्य होता है ! ऐसे (हठपूर्वक-बाहर से) वैराग्य करके पत्नी, बच्चों परिवार छोड़ दिये इसलिये वैराग्य है, ऐसा नहीं। ('समयसार') पुण्य-पाप के अधिकार में तो यों कहा कि : हम वैराग्य किसे कहते हैं ? कि - पुण्य व पाप से विरक्त हो, वह नास्ति; और स्वभाव में रक्त हो; वह अस्ति; - इसे वैराग्य कहते हैं। कुछ समझमें आया ? आहा...हा...! ऐसी बात है !

स्वाभाविक - (सहज) वैराग्यरूपी महल उसका शिखर (उसका शिखामणि) - शिखर के ऊपरवाला रत्न, चूडामणि - ऐसे (मुनिराज) हैं। '**परद्रव्य से जो पराङ्मुख है।**' मुनिराज तो परद्रव्य से पराङ्मुख हैं। आहा...हा...!

जो पहले परद्रव्य कहा न...! जीवादि सात तत्त्व परद्रव्य होनेके कारण वास्तव में उपादेय नहीं है। तो यहाँ अब नास्ति से कहते हैं - परद्रव्य से तो वे (मुनि) पराङ्मुख हैं। और अस्तिसे कहा कि - स्वद्रव्य में (जिनकी तीक्ष्ण बुद्धि है)। आहा...हा...! स्वद्रव्य में जो पर्याय का भेद - प्रकार डाला वह परद्रव्य होनेके कारण उपादेय नहीं है। (अतः) परद्रव्य से पराङ्मुख हैं।

ऐसी उत्कृष्ट अनुभूति धर्मात्मा संतों (को) है। सम्यग्दृष्टि को अनुभूति होती है (किन्तु) वह निम्न कक्षा की है। चौथे गुणस्थान में अनुभूति है, आनंद का अंश है; किन्तु अभी पँचम गुणस्थान के योग्य दशा चाहिए वह नहीं है और मुनि के लायक चाहिए वह नहीं है। अतः उग्र वैरागी तो उनको (मुनिराज को) माना गया है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

स्वाभाविक वैराग्यरूपी महल के शिखर का जो शिखामणि - शिखर पर का रत्न, चूडामणि, कलगी का रत्न है, परद्रव्य से जो पराङ्मुख हैं। परद्रव्य - जीवादि सात तत्त्व। गज़ब बात कर रहे हैं न...! आहा...हा...! मुनिराज तो उन्हें कहें, अरे...! सम्यग्दृष्टि भी उनको कहें (कि -) परद्रव्य से जो पराङ्मुख हैं ! स्वद्रव्य से (जो) सन्मुख हैं और परद्रव्य से पराङ्मुख हैं। आहा...हा...! इतनी शर्ते हैं। इतनी शर्तों के बाद सम्यग्दर्शन व मुनिपना होता है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? स्वाभाविक वैराग्यरूपी महल के शिखर का शिखामणि (है), परद्रव्य से जो पराङ्मुख हैं। - उन संवर, निर्जरा व मोक्ष की पर्याय को, यहाँपर परद्रव्य कहकर, (उन) परद्रव्य से (जो) पराङ्मुख हैं, ऐसा कहते हैं। प्रभु ! मुनिराज अथवा सम्यग्दृष्टि जीव परद्रव्य से पराङ्मुख हैं। आहा...हा...! यह शुद्धभाव अधिकार है न...! शुद्धभाव जो त्रिकाली ध्रुव यह (धर्मी का) लक्ष ! जिसका लक्ष हो जाने पर, उसका लक्ष कभी भी छूटता नहीं है ऐसा लक्ष (है) ! चाहे तो शुभराग आओ, अशुभ राग हो (तो) भी, ध्रुव के ध्यान के ध्येय से उनका लक्ष कभी भी छूटता नहीं है। आहा...हा...! इस वज़ह से यहाँ कहते हैं कि : मुनि, विशेष वैराग्य - महा वैराग्य(वंत) (हैं)। आहा...हा...! मुनिराज तो अंतर में अतीन्द्रिय आनंद, प्रचुर आनंद के वेदन में तन्मय हैं। (वे) तो परद्रव्य से पराङ्मुख हैं। आहा...हा...!

'समयसार' गाथा ४९ के, छह बोल 'अव्यक्त' के अपने यहाँ हो चुके न...! उसमें एक 'अव्यक्त' ऐसा कहा कि : व्यक्त (अर्थात्) पर्याय। अव्यक्त (अर्थात्) द्रव्य। दोनों का ज्ञान एकसाथ होने पर भी व्यक्त का, (अव्यक्त) स्पर्श नहीं करता। इस

वज़ह से उसे अव्यक्त कहा गया है। यह पाँचवाँ बोल है।

अभी एक एक घंटे के सभी १०१ व्याख्यान बहुत सूक्ष्म हो गये। ४७ नय, ४७ शक्ति, २० अलिंगग्रहण, ६ अव्यक्त, १० बोल श्रीमद्जी के - इस प्रकार १०१ व्याख्यान हो गये। **एक साथ सारे व्याख्यान छपेंगे।** बड़ा पुस्त बनेगा। इस ३८वीं गाथा विषयक कल तय किया था।

(यहाँ कहा कि) 'परद्रव्य से जो पराङ्मुख हैं, पाँच इन्द्रियों के विस्तार से रहित देहमात्र जिसे परिग्रह है,' आहा...हा...!

'समयसार' ३१-गाथा में आया है न...! 'जो इंदिये जिणित्ता' - इसकी व्याख्या क्या ? संस्कृत टीका में ऐसा लिया हैं कि : ये द्रव्येन्द्रियाँ - जड़; ये भावेन्द्रियाँ - एक एक विषय को जाननेवाली; और इन्द्रियों के (विषयभूत पदार्थ) - भगवान व भगवान की वाणी, स्त्री-कुटुंब-परिवार (इसमें आ जाते हैं); - ये इन्द्रिय हैं। (इन) तीनों को इन्द्रिय कहा है ! 'अमृतचंद्रआचार्य' ने संस्कृत टीका में तीनों को इन्द्रिय कहा है। (और) भगवान आत्मा इन्द्रियरहित है। आहा...हा...! यह जड़ इन्द्रिय; भाव इन्द्रिय एक एक विषय को खंड खंड करके जाने (ग्रहण करे) ये भी इन्द्रिय; और इन्द्रिय का (जो) विषय है उसे भी इन्द्रिय कहा है। 'जो इंदिये जिणित्ता' - जो इन्द्रियों को जीतकर, (अर्थात्) द्रव्य - भावइन्द्रिय और इन्द्रियों का विषय, (ये) तीनों (इन्द्रियाँ); उन्हें जीतकर यानी लक्ष छोड़कर, तीनों का लक्ष छोड़कर 'अधिक जाने आत्म को।' मूल पाठ यह है : 'जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं' इन्द्रियों को जीतकर 'णाणसहाव' ज्ञानस्वभाव भगवान, त्रिकाल चैतन्य ब्रह्म प्रभु; (इसके द्वारा) 'अधिअं मुणदि आदं' अन्य द्रव्य से आत्मा को अधिक जानता है। उसे जितेन्द्रिय कहा जाता है। इन्द्रियों में विषयों को नहीं लिया और शरीर द्वारा ब्रह्मचर्य का पालन किया - यह इन्द्रियजीत (जितेन्द्रिय) नहीं है। ऐसे ब्रह्मचर्य का पालन तो अनंतबार किया है।

यह 'छह ढाला' में आता है न...! 'मुनिव्रत धार अनंत बार ग्रैवेयक उपजायो; पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ।' 'मुनिव्रत धार' - नग्नमुनि, दिगंबर मुनि पंचमहाव्रत के धारण करनेवाले, २८ मूल गुण के पालनकर्ता, 'अनंत बार ग्रैवेयक उपजायो; पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ।' - इसका क्या अर्थ हुआ ? कि : महाव्रत व २८ मूलगुण का भाव, दुःखरूप है। विकल्प है, राग है, दुःख है। आत्मज्ञान बिना सुख पाया नहीं है। आहा...हा...! 'मुनिव्रत धार अनंत बार ग्रैवेयक

उपजायो।'

और 'लिंगपाहुड' में तो यों कहा हैं कि : द्रव्यलिंग धारण करके कोई क्षेत्र बाकी नहीं है जहाँ पर कि इस जीव ने अनंत जन्म-मरण किये न हो, क्योंकि यह कोई चीज़ नहीं है। अंतर में सम्यग्दर्शन - स्वद्रव्य के अनुभव बिना आनंद नहीं आता। और उस स्वद्रव्य के अनुभव बिना, पंचमहाव्रत के परिणाम, महाव्रत के विकल्प ये सब परद्रव्य हैं। पंच महाव्रत आदि (का विकल्प) तो दुःखरूप है ! आहा...हा...!

यहाँ पर मोक्षमार्ग को 'हेय' कहा। यह दुःखरूप होने के कारण नहीं। किन्तु यह आश्रय करने लायक नहीं है इसलिये (हेय) कहा। (परंतु) पुण्य-पाप के भाव तो दुःखरूप हैं। महाव्रत के परिणाम आस्रव हैं। 'तत्त्वार्थसूत्र' के छठे अध्याय में (कहा कि) आस्रव है वह दुःख हैं!

आहा...हा ! ऐसी बात है !! इन्सान को कठिन लगे, तो फिर टीका करने लगते हैं। (आचार्य की) टीका उनके दिमाग में नहीं बैठती इसलिये ऐसा करते हैं। इसमें कोई बात (नहीं)। प्रभु ! तुम भी भगवान हो न...! हमें तुम्हारे प्रति कुछ वेर-विरोध नहीं है। (तुम भी) भगवान हो ! '**सत्वेषु मैत्री**' - सभी आत्मा तो साधर्मी हैं। आत्मा के स्वभाव की दृष्टि से प्रत्येक जीव साधर्मी है। पर्याय में भूल है वह तो एक समय की है, (उसे) निकाल देगा, तो उसका किसीके प्रति वेर-विरोध करनेका नहीं (होगा)।

यहाँ कहते हैं कि : मुनिराज तो पर से सहज पराङ्मुख हैं। 'पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित' - उनका पाँच इन्द्रियों के प्रति लक्ष ही नहीं है। 'देहमात्र जिनका परिग्रह है' - मुनि के एक शरीर (है जो कि) छूटता नहीं है। इसके अलावा अन्य कोई चीज़ होती नहीं है। सच्चे संत - भावलिंगी; उनको वस्त्र का टुकडा भी (पास में) नहीं होता। (किन्तु) वस्त्र का टुकडा रखकर मुनि हैं ऐसा माने और मनाये (तो) 'जाइ णिग्गोदम्' - 'सूत्र पाहुड' गाथा-१८। इसमें क्या अतिशयोक्ति करके बताया है ? 'ककडी की चोरी करनेवाले को फाँसी की सजा ?' - क्या ऐसा कहा है ? - ऐसा नहीं है। उसकी भूल तो (पूरे) नव तत्त्व की भूल है। वस्त्र का टुकडा रहें तो अजीव का संयोग रहा; अतः वह संयोग मुनि को नहीं होता; तो (यह) अजीव तत्त्व की भूल। और वस्त्र लेने का विकल्प है वह मुनि की योग्यता में वहाँ पर होता ही नहीं है, तो वह विकल्प, आस्रव की भूल। और ऐसा विकल्प न होवे तो संवर विशेष होता है (ऐसे) विकल्पवाले को संवर (नहीं होता); मुनिपने की योग्यता

नहीं है; तो संवर की भूल है। - इस प्रकार इसमें पूरे नव तत्त्व की भूल समाहित है।

यहाँ कहते हैं कि : मुनि तो वे (कि -) 'देहमात्र जिनका परिग्रह है' आहा...हा...! '**जो परम जिनयोगीश्वर हैं।**' 'परम जिनयोगीश्वर' इतने शब्दों का प्रयोग किया है। आहा...हा...! मुनि परम जिन - पर्याय में हाँ। परम जिनस्वरूप भगवान (आत्मा) में (जिन्होंने) परम योग जोड़ दिया है (वे) परम जिनयोगीश्वर (हैं)। द्रव्य का - शुद्धभाव - ध्रुव का बहुत उग्र आश्रय लिया है; (वे) परम जिनयोगीश्वर (हैं), '**स्वद्रव्य में जिनकी तीक्ष्ण बुद्धि है**' - स्वद्रव्यरूप जो पारिणामिकभाव, ज्ञायकभाव, ध्रुवभाव, नित्यभाव, सामान्यभाव, एकरूपभाव; उसमें (जिनकी) तीक्ष्ण बुद्धि है। उन्होंने भीतर में (स्वद्रव्य को) पकड़ लिया है, और स्थिरता बहुत हो गई है। विशेष कहेंगे....

***

जीव क्या अजीव क्या ? - यह तो न जान, तथा शरीरके रोगोंको दूर करने अथवा धनोपार्जन आदि उपायोंसे अपने दुःख दूर करना चाहे, तो वे उपाय तो झूठे हैं । दुःख तो जीवमें है और वह मोहके कारण है, अतः उस दुःखका जीवमें यथार्थ भानकर मोहका नाश करना ही दुःख दूर करनेका उपाय है ।

(परमागमसार -९२७)

❁

मेरा द्रव्यस्वभाव ज्ञानस्वरूप है। उसमें द्रव्यके अवलंबनसे सम्यक्-पर्याय प्रकट होती है। ऐसी प्रयोजनभूत बातको मिथ्यादृष्टि लक्ष्यमें नहीं लेता। मिथ्यादृष्टिका तो प्रयोजनभूत व अप्रयोजनभूत - दोनों ही प्रकारके पदार्थोंको जाननेका क्षयोपशम है परन्तु उसका प्रयोजनभूत-तत्त्वको जाननेमें लक्ष्य नहीं जाता - ऐसा दर्शनमोहके कारण है। आखिर क्षयोपशमज्ञान तो क्षयोपशम-ज्ञान ही है। विपरीतश्रद्धा के कारण अज्ञानीका ज्ञान, मिथ्याज्ञान है। (परमागमसार - ९३४)

प्रवचन - २, दि. - ३१-१-१९७८

('नियमसार' गाथा-३८, 'पद्मप्रभमलधारिदेव' की संस्कृत टीका। 'शुद्धभाव अधिकार'। 'त्रिकाली द्रव्यस्वभाव' शुद्धभाव है)।

जो त्रिकाली शुद्धभाव - ध्रुव; उससे 'जीवादि बहित्तच्चं' - पर्याय जो है उसे यहाँ पर बाह्यतत्त्व कहा गया है। पहले आया...था ! वह पर्याय परद्रव्य होनेके कारण (वास्तव में वह उपादेय नहीं है)। स्वद्रव्य जो अभ्यंतर वस्तु; (उसमें) अंतर में - गहराई में जो पर्याय जाती है वह ध्रुव को स्पर्श करती है (- ऐसी) पर्यायमात्र को यहाँ बाह्यतत्त्व कहकर, परद्रव्य कहकर हेय कहा है। और (कहा कि) यह ध्रुव है वह अंतःतत्त्व है। (फिर यों कहा कि :) उस (पर्यायमात्र से) - परद्रव्य से, मुनिराज और सम्यग्दृष्टि जीव पराङ्मुख हैं।

आहा...हा...! (यहाँ) तो पर्याय(मात्र) परद्रव्य में आती है ! (उसमें) राग - उदयभाव भी आया। पूजा, व्रत, भक्ति, वंदनादि - कोई धर्म नहीं है। (- 'भावपाहुड') गाथा-८३ में है। पूजा, व्रत, भक्ति, वंदन, स्तुति - यह कोई 'जैनधर्म' नहीं है। वह तो राग है। मोह-क्षोभ रहित परिणाम 'जैनधर्म' है ! मोह का अर्थ मिथ्यात्व; और क्षोभ का अर्थ राग-द्वेष, उनसे रहितता, (अर्थात्) मिथ्यात्व और राग-द्वेषरहित के जो परिणाम - स्वद्रव्य के आश्रय से जो शुद्ध उपयोग - होता है, उसे 'जैन धर्म' कहते हैं। आहा...हा...!

अपना यहाँ तक आया है : '**स्वद्रव्य में जिनकी बुद्धि तीक्ष्ण है।**' परद्रव्य से (जो) पराङ्मुख हैं। अर्थात् पर्याय(मात्र) से (जो) पराङ्मुख हैं। और स्वद्रव्य से सन्मुख हैं। (यहाँ) पर्यायमात्र को परद्रव्य कहकर, (उनसे जो) पराङ्मुख (हैं) और स्वद्रव्य में (जिनकी) तीक्ष्ण बुद्धि (है) (-ऐसी बुद्धि) सम्यग्दृष्टि जीव की (है) !

'छह ढाला' में आता है न...! 'मोक्षमहल की परथम सीढी, या बिन ज्ञान चरित्रा।' - धर्म की (माने) मोक्षमहल की प्रथम सीढी सम्यग्दर्शन है, उसके बिना ज्ञान... चारित्र सब व्यर्थ है।

आहा...हा...! अंतर्मुख ध्रुव चीज़, परमस्वभाव, ज्ञायकभाव, ध्रुवभाव, भूतार्थभाव, परमपारिणामिकभाव (रूप) जो द्रव्य (है) - (उसे) पर्याय स्पर्श ही नहीं करती। आहा...हा...! पर्याय द्रव्य का स्पर्श नहीं करती। चाहे तो पर्याय क्षायिकभाव की हो ! (क्योंकि) पर्याय, तो व्यक्त है, प्रगट है और वस्तु अव्यक्त है। पर्याय की अपेक्षा से (वस्तु अव्यक्त।) किन्तु वस्तु अपेक्षा से (तो वस्तु) व्यक्त - प्रगट है। आहा...हा...! पर्याय द्रव्य का स्पर्श नहीं करती (इस वज़ह से) पर्यायमात्र द्रव्य में नहीं है ! सम्यग्दृष्टि का विषय-ध्येय, जो ध्रुव... ध्रुव द्रव्यस्वभाव; उसमें वह क्षायिक (आदि) चार भाव हैं ही नहीं। पुण्य-पाप, दया-दान के विकल्प - उदयभाव तो ठीक; किन्तु उपशम, क्षयोपशम, क्षायिकभाव भी परमस्वभावभाव में नहीं हैं !

`जयधवल' में एक अपेक्षा से तो यों भी कहा है कि : जो राग-द्वेष है वह पारिणामिकभाव है। परमपारिणामिकभाव भिन्न (चीज़) है। (वहाँपर) परमपारिणामिक की (जो) रागादि (रूप) पर्याय है, (उसे) पारिणामिक गिनने में आई है; परमपारिणामिक नहीं। परमपारिणामिकस्वभाव तो अंतर्मुख ध्रुव है।

(यहाँ तो कहते हैं कि :) जो पर्याय सन्मुखता है वह पर्याय से विमुखता - पराङ्मुखता करके, जो अंतर तीक्ष्ण बुद्धिपूर्वक द्रव्य का अनुभव करते हैं, उनको सम्यग्दृष्टि अथवा ज्ञान की अपेक्षा से आत्मज्ञानी कहने में आते हैं। श्रद्धा की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि और ज्ञान की अपेक्षा से आत्मज्ञानी। तो आत्मज्ञानी का अर्थ क्या हुआ ? - आत्मा जो (उदय-उपशमादि) चार भाव से रहित है; इसका ज्ञान (जिनको है वे आत्मज्ञानी) हैं। निमित्त का ज्ञान और राग का ज्ञान और पर्याय का ज्ञान - ऐसा नहीं लिया, (पर) आत्मज्ञान (लिया) आहा...हा...! आत्मा जो परम पिंड, आनंदकंद प्रभु (है), (उसकी अंतर) दृष्टि तीक्ष्ण करके (उसे) अंतर में लगाना, और परद्रव्य अर्थात् पर्याय(मात्र) से पराङ्मुख होना !

(अब कहते हैं :) **`ऐसे आत्मा को वास्तव में `आत्मा' उपादेय है।'** आहा...हा...! कैसे आत्मा को ? कि : पर्यायमात्र से जो पराङ्मुख (हैं)। स्वद्रव्य में (जिनकी) तीक्ष्ण बुद्धि (है)। तीक्ष्ण बुद्धि का अर्थ : स्वद्रव्य में शुद्धोपयोग लगा दिया है। `ऐसे आत्मा को `आत्मा' वास्तव में उपादेय है।' आहा...हा...! (कैसे) आत्मा को ? (कि) परद्रव्य से (जो) पराङ्मुख (हैं)। स्वद्रव्य सन्मुख अथवा रक्त (हैं) और (जिनकी) बुद्धि (तीक्ष्ण है। आहा...हा...! (जिन्होंने) पर्याय में उपयोग को सूक्ष्म करके, सूक्ष्म द्रव्यस्वभाव में लगा दिया है। लगाने का अर्थ : उस ओर झुकना, किन्तु वह पर्याय, द्रव्य में कोई

एक नहीं हो जाती। पर पर्याय का - तीक्ष्ण बुद्धि का - झुकाव वहाँ द्रव्यस्वभाव में गहराई में गया - ऐसे आत्मा को, 'आत्मा' वास्तव में उपादेय है। आहा...हा...! ऐसा मार्ग है !! वह आत्मा त्रिकाली ज्ञायकभाव, भूतार्थभाव (है), वह 'आत्मा' - पर्याय से पराङ्मुख जिनकी दृष्टि है, ऐसे आत्मा को उपादेय है !

आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? सूक्ष्म बात है। भगवान ! बात तो ऐसी है ! परंतु अब यह (बात) साधारण प्राणी को न जचे इससे कोई वस्तु (स्थिति) बदल जायेगी ?

आहा...हा... ! 'ऐसे आत्मा को' ऐसा कहा न...! कैसे आत्मा को ? कि: परद्रव्य से (जो) पराङ्मुख हैं और स्वद्रव्य में जिनकी तीक्ष्म बुद्धि है, 'ऐसे आत्मा को 'आत्मा' वास्तव में उपादेय है।' आहा...हा...! उपादेय का अर्थ : 'मैं उसे ग्रहण करूँ' ऐसा भेद वहाँ नहीं है। परंतु जहाँ पर्याय से पराङ्मुख होकर दृष्टि अंदर गई, उसे आत्मा उपादेय है, ऐसा हो गया। 'यह आत्मा है' और 'मैं उपादेय कर रहा हूँ' - ऐसा भेद भी वहाँ नहीं है। कुछ समझमें आया ?

आजकल वांकानेर शहर का एक छोट-सा पाँच वर्ष का लड़का बोलता था न...! 'भेदबुद्धि विकल्प है, राग है। और अभेदबुद्धि आत्मा है।' कहा : ठीक... बापू ! भाषा तो है परंतु भाव अलग चीज़ है, भाषा अलग चीज़ है और भाषा से धारणा की वह भी अलग चीज़ है। कुछ समझमें आया ?

यहाँपर तो (कहा) : अंदर प्रभु शुद्धघन; उसमें तीक्ष्ण बुद्धि लगाकर, ऐसे आत्मा को 'आत्मा' आदरणीय हुआ, उपादेय हुआ, ग्रहण करने में आया, वह 'आत्मा' अनुभव में आया !

आहा...हा...! थोड़ी सूक्ष्म बात है। धीर से सुनना। टीका में भाषा ऐसी है कि : '**औदयिक आदि चार भावांतरों को अगोचर होनेसे**' - अंदर वस्तु ऐसी है !! सम्यग्दर्शन का विषय, ज्ञान का - आत्मज्ञान का विषय - त्रिकाली आत्मा; (उसे) अपनी पर्याय में ज्ञेय बनाकर ज्ञान करना और अपनी श्रद्धा की पर्याय में पूरी वस्तु की प्रतीति करना - जानकर प्रतीति करना कि आत्मा ऐसा है, उसका ज्ञान करके प्रतीति करना - यह सम्यग्दर्शन। यह सम्यग्दर्शन की पर्याय उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक (भाव से) है। रागादि उदयभाव है। (दर्शनमोह) और चारित्रमोह का उपशम, अपने उपशमभाव से होता है; इस उपशमभाव (को उपशम) सम्यग्दर्शन (कहने में आता है)। (यहाँ यों कहते हैं कि : आत्मा), इन (उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक) - चार भावांतरों को (अगोचर है)। ये (औदयिकादि) चार भाव, भावांतर हैं। ये (चारों) भाव, शुद्ध द्रव्यस्वभाव

जो परम पारिणामिक ज्ञायकभाव से भावांतर हैं, अनेरे भाव हैं। (पाठ में) 'भावातंर' शब्द पड़ा है। 'भाव' तो यह आत्मा पूर्णानंद भगवान (जो) सम्यग्दर्शन का विषय (है वह है)। और चार हैं वे (इससे) पार - भावांतर हैं।

आहा...हा....! थोड़ा समझमें आये किन्तु सत्य यह है। यह कोई बहुत लम्बी पंडिताई की चीज़ नहीं है। बहुत विद्वत्ता हो और झपट्टा मारे, और जिसमें लाखों लोग (सुनने हेतु) इकट्ठे हो जाय (तो वहाँपर सत्य बात होती है, ऐसा नहीं है) यह दूसरी चीज़ है।

आहा...हा...! 'समाधितंत्र' में तो वहाँ तक कहा कि : 'मैं दूसरों को समझाता हूँ' ऐसा विकल्प, पागलपन है। आहा...हा...! राग है न...! इसप्रकार कि : 'मैं दूसरों को समझाता हूँ' ऐसा विकल्प है ! किन्तु प्रभु ! वह विकल्प तो तेरी चीज़ नहीं है न ! और वह चैतन्यवस्तु तो विकल्पगम्य नहीं है ! उससे तो (यह) गम्य नहीं है, परंतु उपशम-क्षयोपशम-क्षायिक (भाव) से (भी) गम्य नहीं है !

ऐसा पाठ है : 'अगोचर होनेसे' - इसका अर्थ कि : वे (औपशमादिक) चार भावों के लक्ष से पारिणामिकस्वभाव अनुभव में नहीं आता। भावांतरों से अगम्य (है) का अर्थ यह कि : ये (जो) चार भाव हैं उनके आश्रय से (आत्मा) गम्य नहीं होता। बाकी गम्य तो उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक भावों में होता है। कुछ समझमें आया ? वस्तु तो ध्रुव है, नित्य है, उसकी जो पर्याय उपशम, क्षयोपशम, क्षायिकभाव की - सम्यग्दर्शन-ज्ञान की है, उसमें तो वह (वस्तु) गम्य होती है। किन्तु यहाँ यों कहना चाहते हैं कि - इन चार भावों के आश्रय से गम्य नहीं क्योंकि, चार भावों को आवरणसहित कहे हैं। इसमें गाथा-४१ की टीका में आखिर में है : 'पूर्वोक्त चार भाव आवरणसंयुक्त होनेके कारण (मुक्ति का कारण नहीं हैं)।' - चार भावों को आवरण (संयुक्त) कहा; उसका कारण उदय (भाव) में तो आवरण कर्म का निमित्त है। परंतु (उपशमादि) तीन में निमित्त का अभाव है; इतनी अपेक्षा समझकर, चारों भावों को आवरणसहित कहे हैं। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है ! भाई ! (आत्मा) क्षायिकभाव से तो गम्य है किन्तु क्षायिकभाव के आश्रय से गम्य नहीं है। पर्याय के आश्रय से गम्य नहीं है। पर्याय में तो गम्य है। गम्य तो पर्याय में होता है। ध्रुव में (गम्य) कहाँ होता है ? ध्रुव तो ध्रुव है !

कुछ समझमें आया ? सूक्ष्म बात है, भाई ! वीतराग का मार्ग प्रभु ! बहुत सूक्ष्म है, पूजा और व्रतादि भी, 'जैनधर्म' नहीं है - यों कहा !

यहाँ तो यों कहा न...! कि : (आत्मा) चार भावों को अगोचर है। चार भावों से अगम्य है। अगम्य का अर्थ इतना कि - चार भावों के आश्रय से - लक्ष से स्वभावभाव का भान नहीं होता। कुछ समझमें आया ? बात तो ऐसी है, बापू !

'(औदयिकादि) चार भावांतरों को' ऐसा कहा न...! भावांतर अर्थात् अन्यभाव। पंचम ज्ञायकभाव, ध्रुवभाव, नित्यभाव, सामान्यभाव, भूतार्थभाव; उनसे अन्यभाव - (औदयिकादि चारों भाव, अन्यभाव हैं)। देखो, टीका के नीचे (फूटनोट में) अर्थ है : औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक - ये चार भाव परमपारिणामिकभाव भाव से अन्य होने के कारण उनको भावांतर कहा है। परमपारिणामिकभाव जिसका स्वभाव है ऐसा कारणपरमात्मा इन चार भावांतरों को अगोचर है।

आहा...हा...! व्यवहाररत्नत्रय के राग से तो इसका (आत्मा का) ज्ञान नहीं होता, परंतु (जो) उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक(रूप) निर्मल पर्याय हुई उसके लक्ष से और उसके आश्रय से (भी आत्मा का) अनुभव नहीं होता !

आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? (यह बात) है कि नहीं ? प्रभु ! अंदर है, लिखा हुआ देखो ! आहा...हा...! यह तो शांति का मार्ग है, भगवान ! यह कोई पंडिताई का या धूमधाम का (मार्ग नहीं है)। बड़े गजरथ चलाये - रथयात्राएँ निकाले और बड़ी (तीर्थ) यात्रा हेतु (संघ निकाले) - यह सब राग है। राग है वह पुण्य है, और पुण्य है वह जैनधर्म नहीं है। जैनधर्म कोई संप्रदाय नहीं है। 'वस्तु का स्वरूप' जैनधर्म है।

कहा था न...! 'घट घट अंतर जिन बसै, घट घट अंतर जैन।' आहा...हा...! 'जैन' है यह पर्याय है। 'जिन' है यह द्रव्य है निकाली। 'घट घट अंतर जिन बसै, घट घट अंतर जैन' - जो 'घट घट अंतर जिन बसै' वह द्रव्य है, वस्तु है, परम स्वभाव - ज्ञायकभाव - भूतार्थभाव (है)। और 'घट घट अंतर जैन' अर्थात् इस जिनस्वभाव का, (परम)पारिणामिकभाव का आश्रय लेकर जिसने राग की एकता को तोड़ दिया है, यह जैनत्व; (वह) घट में - अंदर में है, जैनत्व कोई शरीर के क्रियाकांड में नहीं है। आहा...हा...!

यहाँ, औदयिक आदि चार भाव कहे। और अन्य ज़गह उनको चार विभावभाव भी कहे हैं। चारों को विभावभाव कहे हैं। आत्मा में एक वैभाविकशक्ति है न...! तो उस वैभाविकशक्ति का अर्थ 'विभाव करे' ऐसा नहीं है। आत्मा में जिस प्रकार ज्ञान है, आनंद है, शांति है, स्वच्छता है, प्रभुता है, कर्ता-कर्म आदि अनंत शक्तियाँ ध्रुव

हैं, उस प्रकार उसमें एक वैभाविकशक्ति भी है, जो सिद्ध में भी है। किन्तु वैभाविकशक्ति का अर्थ ऐसा नहीं है कि विभाव करे। इसलिये वैभाविकशक्ति। वैभाविकशक्ति का अर्थ : वह (धर्म-अधर्म आदि) चार द्रव्यो में नहीं है और जीव तथा पुद्गल (द्रव्य) में है, इस अपेक्षा से विशेषभावरूप विभावशक्ति कही गई है। विभाव का अर्थ ऐसा है। यहाँपर विभाव का अर्थ ऐसा नहीं है कि वैभाविकशक्ति है इसलिये विकार करता है। (यदि विकार करे) तो वैभावकिशक्ति तो सिद्ध में भी है ! उनका तो शुद्ध परिणमन है। वीतराग परिणमन है। अतीन्द्रिय आनंदरूप परिणमन है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

थोड़ा (समझमें आये); परंतु प्रभु ! सत्य तो यह है। अरे ! लोगों को एकांत लगता है। यहाँ से ऐसा कहने में आता है न...! कि : व्यवहार से (निश्चय प्राप्त) नहीं होता। निमित्त से (उपादान में कार्य) नहीं होता ! अभी (एक बड़े विद्वान ने) यह बात तो कबूल की है कि 'क्रमबद्ध है'। पहले क्रमबद्ध का निषेध था। २१ वर्ष हुए। संवत २०१३ की साल। सम्मेदशिखरजी में वर्णीजी के साथ चर्चा हुई थी तब वे सारे पंडित बैठे थे। (वे) यों कहते थे (कि) 'क्रमबद्ध नहीं है।' (पर्याय) एक के बाद एक, इस तरह (क्रमबद्ध) ही होती है, ऐसा नहीं है। एक के बाद एक होती है, परंतु इसके बाद यही, और इसके बाद यही (पर्याय) हो, इस तरह से क्रमबद्ध नहीं है - ऐसा कहते थे। अब उन्होंने कबूल किया है कि, क्रमबद्ध - वस्तु व्यवस्थित है। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय जिस समय, जिस क्षण उत्पन्न होनेकी योग्यता से होती है (वह उसका) जन्मक्षण - उत्पत्ति का काल है, उसका नाम 'क्रमबद्ध' है। किन्तु क्रमबद्ध का निर्णय करनेवाले की दृष्टि क्रमबद्धपर्याय पर नहीं है।

हमारी तो ६२ वर्ष पहले इसकी चर्चा संप्रदाय में बहुत हुई थी। (पहले) हम उसमें (स्थानकवासी में) थे न...! संवत १९७० में दुकान छोड़कर दीक्षा ली। इसमें (संप्रदाय में) ऐसा कहा जाता है न कि 'दीक्षा ली'। दीक्षा तो (वह) कहाँ थी ? एक गुरुभाई थे। वे तो बारंबार यों कहते थे कि 'केवलज्ञानी ने (जैसा) देखा होगा वैसा होगा, हम क्या पुरुषार्थ करे ? हम कुछ कर नहीं सकते।' दो साल तक तो सुनते रहे। फिर १९७२ के वर्ष में, फागुन माह, शुकला तेरस के दिन बड़ी चर्चा हुई। कहा कि : यह कहाँ की बात है ? किसके साथ की यह बात है ? ऐसा कहाँ लिखा है ? (आप कह रहे हो) ऐसा किस प्रकार है ? केवलज्ञान जगत में है। एक समय में ज्ञानगुण की एक पर्याय में अनंत केवली जानने में आते हैं।

ऐसी पर्याय जगत में है। यह पर्याय जगत में है इसकी सत्ता का (आपको) पहले स्वीकार है ? 'केवली ने देखा होगा (वैसा होगा)' इसकी तो बात बाद में है।

'केवल(ज्ञान) क्या है ? (केवलज्ञान) एक सेकंड के असंख्यातवें भाग में - एक समय में अनंत केवलीयों को अनंत सिद्धों को, अनंत निगोद के जीवों को जानता है, वैसे तो जानता है यों कहना भी व्यवहार है। किन्तु अपनी पर्याय में जानने की ऐसी ताकत है कि - तीनकाल-तीनलोक - उनसे अनंतगुना होवे तो भी (वह) जान सकता है। यह 'परमात्मप्रकाश' में आता है। 'बेल का मंडप होवे तो बेल तो मंडप की सीमा तक जाती है और मंडप न होवे तो फिर बेल यों ऊपर ही ऊपर फैलती है। बेल दूर तो जाती नहीं है, मंडप होवे वहाँ तक जाती है। इस प्रकार केवलज्ञान, मंडप अर्थात् लोकालोक है वहाँ तक जानता है, किन्तु (यदि) उनसे अनंतगुना होवे तो भी जानता है। आहा...हा...!

भगवान ! एकबार सुन तो सही। भाई ! यह तो १९७२ की बात है। आहा...हा...! अंदर से आया था न...! आहा...हा...हा...! सर्वज्ञपर्याय किसे कहे ! आत्मा का स्वभाव ही सर्वज्ञ है ! सर्वज्ञशक्ति है कि नहीं ? ४७-शक्ति में (एक) सर्वज्ञशक्ति है ! तो (आत्मा का) स्वभाव सर्वज्ञस्वभावी है। ऐसा जिसे अनुभव हुआ कि सर्वज्ञपर्याय जगत में है; यह अपने ज्ञानस्वभाव का अनुभव हुआ और प्रतीति हुई, यही 'पुरुषार्थ' है। केवलज्ञान है, ऐसा मानना यही आंतरिक पुरुषार्थ है।

एक दिन तो (हमने) पूरा संप्रदाय छोड़ दिया था। कहा (कि:) हम तो सत्य के खोज़ी हैं। ऐसी असत्य बात हम मान नहीं सकते। हमें संप्रदाय नहीं चाहिए। वह गुरु नहीं चाहिए। वह शास्त्र नहीं चाहिए !

प्रभु ! ऐसी (पुरुषार्थशून्य) बात करनी है ? तुझे (क्या मात्र) धारणा करनी है कि : केवली हैं और केवलीने देखा वैसा होगा... बस ! (भाई ! ऐसा नहीं होता)।

आहा...हा...! केवलज्ञानस्वभावी प्रभु (आत्मा); (उसमें) अपना एक ज्ञानगुण; (उसकी) एक समय की पर्याय (केवलज्ञान); ऐसी अनंतीअनंती पर्याय ज्ञानगुण में हैं ! तो एक समय की (केवलज्ञान -) पर्याय का अस्तित्व है। (ऐसी) सत्ता जगत में है। - ऐसा जिसको स्वीकार है उसकी दृष्टि द्रव्य पर चली जाती है; ज्ञान रह जाता है। उस समय इतना ज्यादा (खयाल में) नहीं था, द्रव्य की ओर की (बात) नहीं थी, किन्तु इतना था कि : केवलज्ञान है। ऐसा गुण-पर्याय का स्वीकार करना (हो तो) पर्याय ज्ञान में जाती है। उसकी (पर्याय) ज्ञान में घूस जाती है (और) उसके भव (भी) नहीं

(शेष) है। भगवानने उसके भव देखे ही नहीं हैं। उसके भव हैं ही नहीं।

बड़ी चर्चा हुई थी। हम तो कम उम्र के...! २५ वर्ष की उम्र थी न ! बहुत गड़बड़ हुई। गुरु शांत थे कषाय मंद थी। यह (तत्त्व) तो कहाँ था ? वस्तु थी ही नहीं न...! श्वेतांबर व स्थानकवासी दोनों में तो यह वस्तु ही नही है। गुरु ने पहले कबूल किया। मेरी बात उनको सत्य लगी। किन्तु दूसरे दिन उन्हें शंका उठी। (मेरी बात) सत्य लगी (किन्तु) बिना मेल की (लगी)। (क्योंकि) गुरुभाई ने (यों) कहा कि, ऐसा (मानने में आये) तो पाँच समवाय सिद्ध होंगे।' पुरुषार्थ, नियति, स्वकाल, स्वभाव, कर्म - पाँच समवाय हैं न...! (किन्तु वे लोग) पाँच समवाय मानते नहीं हैं। उस दिन वह सवाल खड़ा हुआ। वह तकरार बढी।

`मोक्षमार्गप्रकाशक' नौंवे अध्याय में कहा है कि : एक समय में (यदि) एक कारण है (तो) वहाँ (अन्य) चारों कारण साथ में हैं। पाँच समवाय एक (ही) समय में हैं। `मोक्षमार्गप्रकाशक' में बहुत स्पष्ट किया है। `टोडरमलजी' ने शास्त्र का रहस्य बहुत खोल दिया है। लोग न माने इससे कोई (वस्तुस्थिति बदल नहीं जाती)।

फलटन (शहर) में पंडित लोग ऐसा बोले कि : `टोडरमलजी' और `बनारसीदासजी' अध्यात्म की भांग पीकर नाच रहे थे।' - ऐसा मज़ाक किया ! अरर...र...! प्रभु ! आप क्या कर रहे हो भाई ! तुझे (ही) नुकसान है, भाई ! `अध्यात्म की भांग' कही जाय प्रभु ? भांग पीकर नाचे। अतः वह बात कबूल नहीं है। पहले ललितपुर में ऐसा हुआ था।

प्रभु ! मार्ग भिन्न (है) नाथ ! (वीतराग का) मार्ग; अंतर्मुख दृष्टि किये बिना कभी भी हाथ नहीं आ सकता। आहा...हा...! `छह ढाल' में आता है न...! `लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ, तोरि सकल जग दंफ-फंद, निज आतम ध्याओ'। आहा...हा...! एक (छंद) में कितना भर दिया है ! गागर में सागर भर दिया है। लाख बात होवे, करोड बात होवे या अनंत बात होवे, पर निश्चय आत्मा, आनंद का नाथ अंदर है; उसका द्वंद्व छोडो ! यह गुणी है और उसमें अनंत गुण (हैं) ऐसा द्वन्द्व-द्वैत्त भी छोड़ दो ! आहा...हा...! `निज आतम (ध्याओ)' - निज आतम... पुनश्च; परभगवान को ध्याओ, ऐसा नहीं। वे तो परद्रव्य हैं। आहा...हा...! `निज आतम ध्याओ।'

यहाँपर तो यों कहते है कि : (आत्मा) चार भाव से गम्य नहीं है। (किन्तु) क्षायिकभाव में - केवलज्ञान में तो पूरा द्रव्य जानने में आता है। और उपशम-क्षयोपशमभाव

में भी आत्मा जानने में आता है। क्षयोपशम, (यह) समकित का क्षयोपशम हाँ ! खाली अज्ञानीयों के ज्ञान का क्षयोपशम नहीं। समकित में तो आत्मा प्रतीत में - खयाल में आता है। यहाँ तो (इसे भी) हेय कहा !

'चार भावांतरों को अगोचर होनेसे' - इसका अर्थ यह कि : चार भाव-पर्याय के लक्ष से अगम्य (अगोचर) है !

आहा...हा...! कुछ समझ में आता है ? सूक्ष्म बात है, भगवान ! भगवान अंदर में विराजमान है। प्रभु ! तू पूर्णानंद का नाथ है न... भाई ! पर्याय की पामरता तेरी नहीं है। आहा...हा...! क्षायिकभाव भी पर्याय (है) वह तो अनंतवें... अनंतवें... अनंतवें... भाग की एक समय की पर्याय है। और ऐसी क्षायिकपर्याय सादि - अनंत (है)। जब केवलज्ञान होता है तो उससे (पूर्व) वह पर्याय नहीं रहती; (नयी प्रगट होती है)। (उस) पूर्व पर्याय की मुद्दत एक समय की है। तो केवलज्ञान एक समय, (फिर) दूसरा केवलज्ञान दूसरे समय में (है, इस प्रकार) दूसरा... दूसरा... दूसरा ऐसा सादि-अनंत केवलज्ञान; उसकी पर्यायों का पिंड ही 'ज्ञानगुण' है। ऐसे अनंतगुणों का पिंड 'आत्मा' है। आहा...हा...!

(यहाँ) इस आत्मा को चार भावों से (अगोचर) अगम्य कहा। तो (कोई) ऐसा अर्थ ले (कि, आत्मा सर्वथा अगोचर है, तो) ऐसा कहने का आशय आचार्य का है ही नहीं। (यह) 'पद्मप्रभमलधारिदेव' की (संस्कृत) टीका है। (इसका) ब्र. शीतलप्रसादजी ने (जो हिंदी अनुवाद किया है, इसमें) उसका अर्थ ही किया नहीं है। जैसी भाषा है वैसी रख दी है। किन्तु भावांतर का अर्थ यह : जो स्वभावभाव नित्य प्रभु, आनंददल, अतीन्द्रिय ज्ञान का रसकंद, ध्रुव, नित्य, त्रिकाल, एकरूप स्वभाव; उससे (औदयिकादि) चार भाव भावांतर हैं। ये (स्वभाव) भाव से अनोखे भाव हैं ! कुछ समझमें आता है ?

('समयसार' में 'अमृतचंद्राचार्य' ने पहले श्लोक में कहा कि :) 'नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते। चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे।।' - आता है न... 'सर्वभावांतरच्छिदे' - इस चौथे पद में आया है : 'सर्व भावांतर' - अपने अलावा अन्य भाव हैं। सभी को जानने वाला है।

यहाँपर कहते हैं कि : 'औदयिक आदि चार भावांतरों को अगोचर होनेसे जो (कारणपरमात्मा)' आहा...हा...! वह कारणप्रभु !

एक स्थानकवासी वकील थे। काठियावाड में उनको दिगंबर (शास्त्रों) का सर्वप्रथम अभ्यास था। उनके बेटेने यह सवाल किया कि : आप आत्मा को कारणपरमात्मा

कहते हो। तो यदि कारण होवे तो उसका कार्य आना चाहिए। किन्तु कार्य तो आता नहीं है ! कहा : प्रभु ! किसको ? (कि :) जिसको यह कारणपरमात्मा है ऐसी प्रतीति होवे, उसे कारणपरमात्मा का कार्य - सम्यग्दर्शन हुए बिना रहे नहीं ! किन्तु कारणपरमात्मा है उसकी प्रतीति की अभी खबर नहीं है। तो ऐसे में क्या शास्त्र के आधार से - पठन करके धारणा कर लेनी है ?

बात समझमें आ रही है ? बात तो ऐसी है, भगवान ! बहुत सूक्ष्म बापू ! यहाँ 'कारणपरमात्मा' लिखा है न...! कई बार आयेगा। पूरे 'नियमसार' में तो कारणपरमात्मा के ही गान गाये हैं।

आहा...हा...! इसके साथ 'कारण(शुद्ध) पर्याय' आई है न...! 'नियमसार' में ही १५वीं गाथा। एक कारण (शुद्ध) पर्याय है ध्रुव। ध्रुव... हाँ ! जिस प्रकार वस्तु ध्रुव है, जिस प्रकार गुण ध्रुव है; उस प्रकार एक कारणपर्याय भी ध्रुव है। २००० की साल में बहुत विस्तार किया था। १ से १९ गाथा तकके व्याख्यान (पुस्तकरूप से प्रकाशित हो चुके हैं)। 'कारण (शुद्ध) पर्याय' सूक्ष्म है। जिस प्रकार धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल - चार द्रव्य हैं, उनमें तो पारिणामिकभाव की पर्याय एक समान है। क्या कहा यह समझमें आया ? (ये जो) चार द्रव्य हैं (उनके) द्रव्य-गुण तो एक समान ही हैं; किन्तु उनकी पर्याय भी एक समान (है)। कम - विपरीत एक भी है ही नहीं। - पारिणामिकभाव की पर्याय हमेशा एकरूप (है)। तब तो उस द्रव्य-गुण-पर्याय का द्रव्य पूर्ण होता है। तो आत्मा में द्रव्य व गुण पूर्ण हैं; किन्तु जो पर्याय रागादि की हैं वे रागादि तो कम-ज्यादा होते हैं। राग का अभाव होकर समकित होता है। और समकित की - मोक्षमार्ग की पर्याय का भी अभाव होकर मोक्ष होता है। तो पर्याय एकरूप नहीं रही। (जबकि धर्मादि) चार (द्रव्य में) पर्याय एकरूप है। तो इसमें (आत्मा में) पारिणामिक की (पर्याय) एकरूप होनी चाहिए या नहीं ? तो यह उदय, उपशम, क्षयोपशम व क्षायिक (पर्याय) के अलावा, अंदर (एक) कारण(शुद्ध)पर्याय (है)। यह सारा विस्तार १५ वीं गाथा के (व्याख्यान में) किया है। द्रव्य ऐसा त्रिकाली ध्रुव, ऐसा त्रिकाली सामान्य, ऐसी पर्याय विशेष। विशेष (माने) उत्पाद-व्यय नहीं। उत्पाद-व्यय बिनाकी 'कारणपर्याय' ध्रुव सदृश अनादिअनंत है। जिस प्रकार उन चार द्रव्यों में एक पारिणामिक पर्याय अनादिअनंत एक समान है ऐसी यहाँपर ध्रुव-कारण(शुद्ध)पर्याय अनादि अनंत एकरूप है। आहा...हा...! मैंने २००० की साल में उसका नकशा भी बनवाया था। परंतु (इस विषय में एक बड़े पंडित से) कहा तो वे समझे नहीं। वर्णीजी

से कहा तो उन्हों ने कहा कि `कारण(शुद्ध)पर्याय' जैसा कुछ है नहीं। तो मैं हिचकिचाया कि बड़े-बड़े पंडित भी समझते नहीं है तो (अन्य लोग) समझेंगे नहीं। (इसलिये) नकशा बाहर जाहिर में नहीं किया। यह (विषय) सूक्ष्म है, भाई ! द्रव्य का भाव, यह कारण(शुद्ध)पर्याय; वह पारिणामिकभाव में जाता है। वह (औदयिकादि) चार भावों में नहीं आता। वह उत्पाद-व्यय बिना की पर्याय `कारण(शुद्ध)पर्याय' है। ऐसा मार्ग है ! ऐसा यहाँ बता रहे हैं।

यहाँपर इस (द्रव्य)भाव को पारिणामिकभाव में लेना है। तो वह कारण(शुद्ध)पर्याय, द्रव्य और गुण - तीनों को `कारणपरमात्मा' कहा जाता है। वह कारणपरमात्मा (औदयिकादि) चार भावों के लक्ष से गम्य नहीं होता। इस कारण से (उसे) चार भाव से अगम्य (अगोचर) कहा गया है। चार भाव से अगम्य। (फिर भी) उपशमभाव में, (क्षयोपशमभाव में), क्षायिकभाव में समकित होता है। कुछ समझमें आया ?

आहा...हा...! यह तो परम सत्य बात है, प्रभु ! ऐसी बात, यह कोई पंडिताई की चीज़ नहीं है। यह तो अंतर की वस्तु है !

कहा न...! एक प्रश्न किया कि : कारणपरमात्मा है, तो कार्य क्यों नहीं आया ? परंतु किसको ? कहा : `कारणपरमात्मा है' ऐसी श्रद्धा (जिसे) हो उससे कहा जा रहा है न...! (कारणपरमात्मा) है तो है, (जिसे उसकी दृष्टि नहीं है) उसे तो है नहीं। दृष्टि में, ज्ञान में और प्रतीति में तो `वस्तु यह है' ऐसा ज्ञेय तो आया नहीं है। `द्रव्य ऐसा कारणपरमात्मा है' ऐसा ज्ञेय, ज्ञान की पर्याय में आया नहीं और ज्ञान में आये बिना प्रतीति आई नहीं है। तो प्रतीति आये बिना `कारणपरमात्मा' इसे है, ऐसा आया कहाँ से ?

न्याय समझमें आता है ? यह तो लोजिक (न्याय) है। भगवान का मार्ग तो न्याययुक्त है। न्याय में `नी' धातु है। `नी' माने ज्ञान को ले जाना। जैसी वस्तु की स्थिति है वहाँ ज्ञान को ले जाना। इसका नाम न्याय है। ये (जो) वकालत के न्याय हैं ये सब तो सरकार के बंध हुए हैं, इनकी बात नहीं है। ये तो भगवान त्रिलोकनाथ के (न्याय) हैं। आहा...हा...!

यहाँ (कहते हैं कि) `कारणपरमात्मा' कैसा है ? (कि -) `**द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप उपाधि से जनित विभावगुणपर्यायों रहित है।**' आहा...हा...! यह त्रिकाल भगवान, जो सम्यग्दर्शन का ध्येय, ध्यान का ध्येय, सम्यक्त्व का विषय, आत्मज्ञान की पर्याय का विषय - वह, द्रव्यकर्म से भिन्न है; भावकर्म अर्थात् पुण्य-पाप, दया-दान आदि

से भिन्न है; और नोकर्म (अर्थात्) शरीर, वाणी, मन (आदि) से (भिन्न है)।- इस रूप उपाधि से जनित (अर्थात् निमित्त) विभावगुणपर्यायों से रहित है। उसे यहाँ कारणपरमात्मा, परमस्वभाव, ज्ञायकभाव, भूतार्थभाव, सम्यग्दर्शन का विषय कहा है। और उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है; पर्याय के आश्रय से नहीं होता।

विशेष कहेंगे.....

***

हम सच मानेंगे तो हमारा लोक-व्यवहार नहीं रहेगा - ऐसा विचार छोड़ दे। मृत्यु होने पर दुनिया साथ नहीं आएगी। स्त्री-सेवनके पाप व मांस-खानेके पापसे भी मिथ्यात्वका पाप अनन्तगुणा भयंकर है। सुदेवको कुदेव मानना व कुदेवको सुदेव मानना, कुगुरुको गुरु मानना, कुशास्त्रको शास्त्र मानना आदि प्रकारकी मिथ्या-मान्यता, मांस-भक्षण व शिकार करनेके पापसे भी अधिक महान पाप है। सात तत्त्वोंकी विपरीत-मान्यता महान पाप है । लोगोंको इस पापकी भयंकरताका आभास ही नहीं है। वे तो ऐसा मानते हैं कि पर जीवकी अवस्था आत्मा कर सकता है। परंतु जगतमें सात तत्त्वकी विपरीत-मान्यता व कुदेवादिको मानने-समान भयंकर अन्य कोई पार नहीं है।

(परमागमसार-९२८)

प्रवचन- ३, दि. ३-२-१९७८

('नियमसार' गाथा-३८) 'पद्मप्रभमलधारिदेव' की टीका। '**औदयिक आदि चार भावांतरों को अगोचर होनेसे जो (कारणपरमात्मा) द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप उपाधि से जनित विभावगुणपर्यायों रहित है,**' यहाँ तक अपना आया है। अब कहते हैं :) '**तथा अनादि-अनंत अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाववाला**' (है)।

आहा...हा...! (क्या कहते हैं ? कि :) भगवान आत्मा त्रिकाली जो, सम्यग्दर्शन का विषय है, जिसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, वह तो अतीन्द्रियस्वभाववाला है। आहा...हा...! (वह तो अनादि-अनंत) अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाववाला है !

अब, विशेष अर्थ करते हैं : 'शुद्ध' है - शुद्ध पवित्र पिंड है। '**सहजपरम - पारिणामिकभाव (जिसका स्वभाव है)**' जिसे ('समयसार') छठी गाथा में 'ज्ञायक' कहा। ११ वीं गाथा में जिसे 'भूतार्थ' कहा। उसे यहाँ 'परम पारिणामिकभाव' कहा (है)। आहा...हा...! कुछ समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई !

आहा...हा...! 'परम पारिणामिकभाव' अर्थात् (औदयिकादि) चार भाव में तो, उदय, (भाव) में तो कार्य का निमित्त आता है और तीन भाव में (उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकभाव में कर्म के निमित्त के अभाव की अपेक्षा आती है। (अतः) वे (चारों) अपेक्षित भाव हो गये। (और) यह (कारणपरमात्मा) त्रिकाल निरपेक्षभाव (है) उसे (परम) पारिणामिक भाव कहते हैं। यह परम पारिणामिकभाव जिसका स्वाभाविक शुद्ध स्वभाव है। आहा...हा...! जिसका परमपारिणामिक सहज स्वभाव, अनादि-अनंत शुद्ध अतीन्द्रिय आनंद स्वभाव है ! पर्यायबुद्धि छोड़े (तो) ऐसी अस्तिरूप चीज़ है, विद्यमान है।

'पंचास्तिकाय' गाथा-१७२ की टीका में ऐसा लिया है कि : चारों अनुयोगों का 'सार' क्या ? (इस प्रकार से कि) चरणानुयोग में ऐसा कहा और द्रव्यानुयोग में ऐसा कहा और कथानुयोग में ऐसा (और करणानुयोग में ऐसा) ! - चारों अनुयोग में तात्पर्य तो 'वीतरागता' है। यदि वीतरागता तात्पर्य है तो वीतरागता किस प्रकार

से उत्पन्न होवे ? वहाँ पर पाठ ऐसा है कि सूत्र अर्थात् प्रत्येक गाथा में तो तात्पर्य कहा, परंतु पूरे शास्त्र का तात्पर्य वीतरागता है। जैनदर्शन के सारे शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागता है। तो यह वीतरागता तो पर्याय हुई। तो वीतरागता की पर्याय किस प्रकार उत्पन्न होवे ?

अब अपने को यहाँपर मिलाना है न...? आहा...हा...! इस बात को यहाँ कहते हैं : सम्यग्दर्शन भी वीतरागी पर्याय है। त्रिकाली परमस्वभावभाव को ध्येय कहा, उसे ही उपादेय कहा, उसे ध्यान में ध्येय बनाकर, उसे उपादेय करके, जिस (पर्याय में) सम्यग्दर्शन-ज्ञान उत्पन्न हुआ वह वीतरागी पर्याय है। वह वीतरागी पर्याय, चारों अनुयोग का सार है। और वह वीतरागी पर्याय परमपारिणामिकभाव के आश्रय से उत्पन्न होती है। कुछ समझमें आया ?

आहा...हा...! यह टीका तो गज़ब की टीका है ! ऐसी टीका तो (अन्यत्र) कहीं नहीं है। मुनि 'पद्मप्रभमलधारिदेव'ने बनाई है। पाठ में है ऐसा स्पष्ट किया है। जिस प्रकार गाय व भैंस के आँचल होते हैं, आँचल में दूध है तब तो अंदर से निकालते हैं न...! यहाँ तो प्रत्यक्ष देखकर एक एक बात तय की है। इस प्रकार शास्त्र के शब्दों में भाव भरे हैं। उनको 'पद्मप्रभमलधारिदेव'ने तर्कपूर्वक टीका करके खोल दिये हैं। उसमें (जो) भाव भरे हैं, उन्हें निकाले हैं !

पाठ में है : '**जीवादिबहितच्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पां।**' इसका स्पष्टीकरण किया : '**उपादेयमप्पाणो अप्पा।**' - वह परम पारिणामिकभाव, कारणजीव, ध्रुवजीव, नित्यजीव, अतीन्द्रियस्वभाववाला, शुद्ध - सहज स्वभाववाला जीव; उसे यहाँ 'कारणपरमात्मा' कहते हैं। आहा...हा...! यह जिसका स्वभाव है, ऐसा कारणपरमात्मा है !

आहा...हा...! वीतरागता सार (है), तो इसमें भी 'यह' आया। चारों अनुयोग का सार (है) - 'द्रव्य का आश्रय लेना।' आहा...हा...! पूर्ण ब्रह्म प्रभु ! पूर्णम् इदम्।

अन्यमत में भी 'पूर्णम् इदम्' तो कहते हैं; परंतु उनको पर्याय का पता (ही) नहीं है। वह तो एकांत है।

यहाँ तो 'पूर्णम् इदम्' -निर्णय करनेवाली पर्याय तो है। पर्याय है ! पर्याय नहीं है, ऐसा नहीं। (परंतु) ('समयसार') ११ वीं गाथा में तो यों कहा कि : पर्याय अभूतार्थ है। व्यवहार अभूतार्थ है। वहाँ व्यवहार माने पर्याय है। पर्याय अभूतार्थ है, झूठी है, ऐसा क्यों कहा ? (कि) प्रयोजन की सिद्धि (हेतु) ! (तो) वह प्रयोजनसिद्धि, ध्रुव को मुख्य करके निश्चय करके (उसका) आश्रय करे तो होती है। इस वज़ह से मुख्य

को निश्चय कहकर उपादेय कहा। और पर्याय को गौण करके, व्यवहार कहकर हेय बताया। हेय कही या असत्यार्थ कही। आहा...हा...!

आहा...हा...! गज़ब बात है ! दिगंबर संतों के एक एक शब्द में अनंत आगम भरे हैं ! 'श्रीमद् राजचंद्र' (पत्रांक-१६६ में यों) कहते हैं : 'सत्पुरुष के एक-एक वाक्य में, एक-एक शब्द में, अनंत आगम निहित हैं।' आहा...हा...! किन्तु इस बात का खुलासा तो बिना सम्यग्दर्शन के हो नहीं सकता। कुछ समझमें आया ?

यहाँपर कहते हैं कि : 'ऐसा कारणपरमात्मा वह वास्तव में 'आत्मा' है।' भाषा देखो ! पर्याय आत्मा है इसका निषेध किया। आहा...हा...! क्या कहा कि जो **'अनादि-अनंत अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाववाला शुद्ध - (सहज) - परम पारिणामिकभाव (जिसका स्वभाव है) - ऐसा कारणपरमात्मा वह वास्तव में 'आत्मा' है।'** पर्याय को आत्मा नहीं कहा, निर्णय करनेवाली पर्याय को आत्मा नहीं कहा। क्योंकि निर्णय करती है वह पर्याय है, उसे अभूतार्थ कही। और मुख्य को निश्चय कहकर (भूतार्थ कहा)। निर्णय करती है पर्याय। दूसरी तरह से कहे तो नित्य का निर्णय अनित्य करता है। आहा...हा...! नित्य का निर्णय, नित्य-ध्रुव क्या करे ? कुछ समझमें आया ? नित्य का निर्णय अनित्य करता है ! अनित्य कहो या पर्याय कहो। पर्याय का विषय क्या ? (कि) कारणपरमात्मा ! आहा...हा...! सम्यग्दर्शन-सम्यक्ज्ञान-आत्मज्ञान; उसका 'विषय' (है) वह वास्तव में 'आत्मा' है। (कारणपरमात्मा) को ही आत्मा कहा। वही वास्तव में 'आत्मा' है।

पर्याय को व्यवहार कहकर अनात्मा कहा है। ज़रा शांतिपूर्वक सुनो ! क्योंकि, पर्याय को अभूतार्थ कहकर, असत्यार्थ कहकर, वह 'अनात्मा' है ऐसा कहा ! व्यवहारनय का विषय हाँ ! और वस्तु जो त्रिकाली है वही वास्तव में आत्मा है। परंतु, वास्तव में आत्मा है 'उसका निर्णय' सम्यग्दर्शन की पर्याय करती है और सम्यक्ज्ञान करता है। (फिर भी) उस ज्ञान में 'कारणपरमात्मा' आता नहीं है। श्रद्धा की उस पर्यायमें 'कारणपरमात्मा' नहीं आता। परंतु कारणपरमात्मा का जितना सामर्थ्य है उतना ज्ञान में व प्रतीति में आ जाता है। आहा...हा...! क्या गंभीर शैली है इनकी !

आहा...हा...! दूसरी एक बात कि : प्रत्येक वस्तु 'क्रमबद्ध' है ! जिस समय जो पर्याय उत्पन्न होनेवाली है उसी समय (वह) उत्पन्न होगी ! (तो) वहाँ पुरुषार्थ कहाँ रहा ? यह सवाल ६२ वर्ष पूर्व, संवत १९७२ में उठा था। ('समयसार') सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में पहली गाथा : 'दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं' - जो द्रव्य जिस पर्याय से उत्पन्न होता है वह पर्याय क्रमबद्ध है। (अर्थात्)

जिस समय जो पर्याय उत्पन्न होनेवाली है उसी समय (वह) होगी। ऐसा अनादि-अनंत पर्याय का क्रमबद्ध है। 'प्रवचनसार' गाथा-९३ (की टीका) में 'आयत समुदाय' कहा है। (काल - अपेक्षित प्रवाह। एक के बाद एक प्रवर्तमान, क्रमभावी समुदाय)। 'आयत समुदाय' - एक के बाद एक। एक के बाद एक (पर्याय)। जिस प्रकार हार में मोती हैं, वे एक के बाद एक होते हैं। इधर-उधर नहीं हैं। उस प्रकार भगवान आत्मा, ध्रुव, कारणपरमात्मा; उसकी पर्याय एक के बाद एक, एक के बाद एक - क्रमशः होनेवाली हो वही होगी। किन्तु उस क्रमबद्ध का तात्पर्य क्या ? (किः) वीतरागता। तो वीतरागता किस प्रकार उत्पन्न होगी ? यह भी अंदर क्रमबद्ध में आ गया कि : द्रव्य का आश्रय लेना ! आहा...हा...! ज़रा सूक्ष्म (बात) है ! भगवान ! बात तो उससे (भी) ज्यादा गंभीर है !

'प्रवचनसार' गाथा-१०१ में तो ऐसा भी कहा (कि :) उत्पाद के आश्रय से उत्पाद है। व्यय के आश्रय से व्यय है। और ध्रुव के आश्रय से ध्रुव है ! पर के आश्रय से तो (उत्पाद-व्यय) नहीं (ही है)। परंतु जो उत्पाद के काल में उत्पाद होता है (वह) क्रमबद्ध है, (फिर भी) उत्पाद में व्यय की अपेक्षा नहीं है। व्यय में उत्पाद की अपेक्षा नहीं है। ध्रुव में उत्पाद (- व्यय) की अपेक्षा नहीं है। उत्पाद उत्पाद के आश्रय से है। वह सत् हैं न...! तीनों सत् है न...! कुछ समझमें आया ?

दिमाग में तो कई सूक्ष्म बातें हैं। उतनी सारी एकदम से (बाहर) आये तो (लोगों को) कठिन पडे।

'समयसार' में ४७ शक्तियाँ - गुण (लिये) हैं न...! उसमें एक उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति गिनी है। आत्मा में जिस प्रकार ज्ञानगुण है, आनंदगुण है, शांतिगुण है (शांति) माने वीतरागता; उस प्रकार एक उत्पादव्ययध्रुव नाम का गुण है। इस गुण के कारण नयी पर्याय क्रमशः आनेवाली आती है। पूर्व की पर्याय व्यय होती है और ध्रुव है (वह ध्रुव रहता है)। इस प्रकार तीनों में किसीको - किसीकी (अन्य दूसरे की) अपेक्षा नहीं है। तीनों सत् हैं। इसलिये अहेतुक हैं। अतः किसीकी अपेक्षा नहीं है।

आहा...हा...! गज़ब बात है !! अब लोगों को इतना सारा कहाँ (समझ में आय) ?

(पुनश्च) 'प्रवचनसार' १०२ - गाथा (की टीका) में ऐसा कहा कि : उसका जन्मक्षण है ! वैसे तो अपने 'तत्त्वार्थसूत्र' में साधारण आता है न...! ('उत्पादव्ययध्रौव्य युक्तं सत्। सत् द्रव्य लक्षणम्।' (और) यहाँ तो (४७-शक्ति में यों कहा कि :) अंदर में

(आत्मा में) उत्पादव्ययध्रुवत्व नाम का तो गुण है। उस गुण के कारण समय समय पर जो पर्याय उत्पन्न होनेवाली है वह उत्पन्न होगी ही। तो क्रमबद्ध भी (सिद्ध) हो गया। और निमित्त से भी नहीं होता ऐसा (भी सिद्ध) हो गया। (हालाँकि) निमित्त होता है। निमित्त चीज़ है।

अभी तो (एक बड़े विद्वान ने) 'जैनसंदेश' में दो बात कबूल की : क्रमबद्ध है, और सोनगढ़ (में) निमित्त है ऐसा मानते हैं किन्तु निमित्त से पर में होता है ऐसा नहीं (मानते)। - ये दोनों बात यथार्थ हैं।

२१ वर्ष हुए। वर्णीजी के साथ में 'पंचास्तिकाय' की ६२ वीं गाथा (के बारे में) वह चर्चा तो बहुत हुई थी। उसमें कहा है कि : जो विकार होता है वह अपने षट्कारकसे होता है। उसे परकारक की अपेक्षा है ही नहीं। - क्या कहा ? उत्पाद की जो पर्याय क्रमबद्ध में अपने से उत्पन्न होती है (उसे) किसीकी अपेक्षा नहीं है। विकार को हाँ ! जो विकार होता है - मिथ्यात्व का, राग का, द्वेष का वह एक समय की पर्याय में षट्कारक से होता है। उसे द्रव्य-गुण की अपेक्षा नहीं है और निमित्त की अपेक्षा नहीं है। (अर्थात् निमित्त होता है किन्तु) उसकी (निमित्त की) अपेक्षा से, उसके कारक से वह विकार उत्पन्न होता है, ऐसा नहीं है।

इन्दौरवाले (एक पंडितजी) इस ६२वीं गाथा बोलते थे, परंतु वह (अर्थ) लोगों को बैठा नहीं। वह तो 'अभिन्न' की बात है, (ऐसा वे लोग मानते थे)। परंतु 'अभिन्न' का अर्थ क्या ? अपनी पर्याय अपने से होती है, उसका नाम 'अभिन्न'। परसे (अभिन्न) नहीं।

यहाँ तो चाहे विकारी पर्याय होवे या अविकारी पर्याय होवे वह अपनी अपेक्षा से उत्पन्न होती है। एक बात। उसे द्रव्य-गुण और अन्य कारकों की अपेक्षा नहीं है। दो बात। तीसरी : वह जो पर्याय उत्पन्न होती है वह षट्कारकों से उत्पन्न होती है। षट्कारक की शक्ति ध्रुव में है। कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण - ये छह गुण हैं। ये गुण प्रत्येक (द्रव्य) में हैं। परमाणु में (भी) हैं। छयों द्रव्य में कर्ता नाम का एक गुण, (एवं) कर्म (माने) कार्य, करण (माने) साधन, संप्रदान (माने) रखना, अपादान (माने) उससे, अधिकरण (माने) आधार है। इसके आधार से, यह (दूसरा) है - ऐसा नहीं है, उस परमाणु में षट्कारक की शक्ति पड़ी है। परमाणु में शक्ति ध्रुव है। परंतु यह जो (विकारी) पर्याय यहाँ (आत्मा में) रही है वह पर्याय अपने षट्कारक से उत्पन्न होकर रही है। (उसे कर्म - परमाणु की अपेक्षा नहीं है) !

आहा...हा...! वह तो कौन माने ? ऐसी बात कहनेवाले को (लोग) पागल ही कहे न...!

एक बार तो कहा न कि : पैर चलते हैं वे नीचे जमीन को स्पर्श नहीं करते। और पैर आत्मा द्वारा चलते ही नहीं हैं ! अरे प्रभु ! कुछ समझ में आया ? क्योंकि : (जो) एक परमाणु है उसमें अनंतगुण हैं; उसमें कर्ता, कर्म, करण आदि षट्कारक पडे हैं; वे तो ध्रुव हैं ! परंतु छयों द्रव्य में एक समय की पर्याय में षट्कारक हैं।

आहा...हा...! यह बात वीतराग के बिना और अंतर्दृष्टि हुए बिना अंदर बैठे ऐसी नहीं है; बापू ! सर्वज्ञ परमात्मा के अलावा कहीं भी किसी भी जगह यह बात ही नहीं है ! आहा...हा...! सर्वज्ञस्वभाव अपना है ! सर्वज्ञस्वभाव कहो या कारणस्वभाव कहो (एकार्थ है)। तो जिसे अंतर्दृष्टि में सर्वज्ञस्वभाव उपादेय हुआ (उसे) सर्वज्ञपर्याय उत्पन्न हुई है।

आहा...हा...! प्रत्येक द्रव्य की एक समय की पर्याय की कर्ता पर्याय। पर्याय का कार्य पर्याय। पर्याय का (साधन) पर्याय। पर्याय का संप्रदान अपने द्वारा और अपने से रही। पर्याय का अपादान पर्याय से पर्याय हुई। (और) पर्याय के आधार से पर्याय रही।

आहा...हा...! गज़ब बात है ! दुनिया को (यों लगे) कि यह तो कैसा जैनधर्म ! भगवान ! बापू ! जैनधर्म नहीं, वस्तु की स्थिति ही ऐसी है ! कि : प्रत्येक द्रव्य का द्रव्य-गुण तो ध्रुव ! परंतु उसकी एक समय की पर्याय में षट्कारक का परिणमन स्वतंत्र ! क्योंकि पर्याय भी सत् है।

'प्रवचनसार' ज्ञेयतत्त्व - प्रज्ञापन अधिकार की (गाथा १०७ में) कहा है कि : द्रव्य सत्। गुण सत्। पर्याय सत्। - ये तीनों अहेतुक हैं; उसके हेतु ही नहीं है। (फिर भी लोग कहते हैं कि) उसकी अपेक्षा से - निमित्त से बात करो ! कुछ समझमें आया ?

'इष्टोपदेश' गाथा-३५ में (तो) यों कहा 'धर्मास्तिकायवत् निमित्तमात्रम्'। 'इष्टोपदेश' (अर्थात्) प्रिय उपदेश - सत्य उपदेश उसे कहे कि : निमित्तमात्र धर्मास्तिकायवत् है। धर्मास्तिकायवत् का अर्थ क्या ? कि अपनी गति का परिणाम अपने से करता है तो धर्मास्तिकाय निमित्त है... बस ! किन्तु निमित्त से गति करता है, ऐसा यहाँपर नहीं है। ऐसा जो कहा उसे सबमें लागू कर लेना। (कि - निमित्तमात्र) धर्मास्तिकायवत्

है। धजा पवन से हिलती है, तो कहते हैं कि पवनने धजा को स्पर्श ही नहीं किया।

यहाँ तो (क्रमबद्ध) पर्याय को सिद्ध करना है न...? यह सम्यग्दर्शन की पर्याय, उसका आश्रय त्रिकाली भगवान ! - उसका आश्रय लिया है। तो यह (सम्यग्दर्शन की) पर्याय, क्रमबद्ध में उत्पन्न होती है। और उस पर्याय के उत्पन्न होनेमें कर्म के अभाव की अपेक्षा नहीं है। पूर्व की पर्याय की अपेक्षा नहीं है। (पर्याय) द्रव्य-गुण का लक्ष करती है तो (पर्याय ने) आश्रय किया, (ऐसा कहा जाता है)। परंतु द्रव्य के कारण से वह पर्याय लक्ष करती है, (ऐसा) नहीं। वह पर्याय अपनी सत्ता के - स्वभाव के कारण स्व का लक्ष करती है। यह पर्याय का सामर्थ्य है ! आहा...हा...! ऐसी बात !! कुछ समझमें आया ?

वहाँ ('पंचास्तिकाय' में कर्म के) षट्कारक से (आत्मा में) विकार उत्पन्न होता है इस बात का इन्कार किया है। हम तो यह सब ७१ की साल से (संवत् से) कह रहे हैं। पहली बात ७१ के साल में 'लाठी' में दोपहर के व्याख्यान में रखी थी। खलबली मच गई ! अरे ! कर्म के बिना विकार होता है ? कहा : कर्म के बिना विकार होता है ! विकार का परिणमन षट्कारकी शक्ति से अपने द्वारा है। विकार जो होता है (वह) पर की अपेक्षा के बिना होता है। 'कर्म से विकार नहीं होता' खलबली...! षट्कारकपरिणमन (विषयक स्पष्टता) उस समय इतनी ज्यादा नहीं थी। दो बात कहीं थी। उस समय खुलासा किया था। कोई कहता था कि यह क्या बात करते हैं ? गुरु बाहर बैठे हुए सुन रहे थे। बहुत भद्रिक थे। शांत थे। ब्रह्मचर्य में बहुत पक्के थे। दृष्टि तो थी ही कहाँ ? यह बात (वहाँ) थी ही नहीं।

क्या कहते हैं ? कर्म के बिना विकार होता है। (क्योंकि) कर्म परद्रव्य है। अपनी पर्याय में विकार स्वतंत्ररूप से अपने से है, ऐसा निर्णय जब होवे तब उसकी पर्याय, द्रव्य (का) आश्रय लेती है। क्योंकि विकार मेरे द्वारा, मेरी वज़ह से होता है वह तो दुःख (रूप) है। तो इससे जब दृष्टि पलटती है तब दृष्टि, कारणपरमात्मा का आश्रय लेकर सम्यक् होती है। - पूरा सार 'इसमें निहित हो गया ! वीतरागता का सार आ गया। क्रमबद्ध भी आ गया। निमित्त से नहीं होता, यह बात भी आ गई !'

(हालाँकि) निमित्त है। प्रत्येक पर्याय में उचित निमित्त होता ही है। उचित हाँ ! उचित का मतलब ? कि - उसके योग्य होवे ऐसा निमित्त होता है। परंतु निमित्त

से (उपादान में कार्य) नहीं होता ! आहा...हा...! यह कौन माने ? धजा हिल रही है वह पवन से नहीं हिलती, ऐसा कह रहे हैं। धजा के परमाणु की वह पर्याय उस समय अपने षट्कारक से परिणमित होने पर उस प्रकार हिल रही है। (वह धजा) वायु का तो स्पर्श ही नहीं करती। परंतु (वायु को) निमित्त कहा जाता है। (धजा) निमित्त का स्पर्ष नहीं करती; और अपने द्वारा परिणमन करती है, भगवान !

ऐसा भगवानआत्मा; (उसे) अपनी विकारी या अविकारी क्रिया में पर की कोई अपेक्षा ही नहीं है। इस अविकारीपर्याय में पर की अपेक्षा नहीं है।

भगवान कारणपरमात्मा, नित्यानंद प्रभु; वह मुझे उपादेय है। `वह मुझे उपादेय है' - ऐसा भेद भी वहाँ नहीं है !

परंतु कथन क्या करना ? सम्यग्दर्शन में आता है न कि : वास्तव में वह आत्मा - वह आत्मा - इस प्रकार। नित्य वह आत्मा ! ऐसा निज परमात्मा - संसार का किनारा जिसके अति निकट आ गया है (अर्थात्) जिसे अल्प काल में मुक्ति - केवलज्ञान होगा और होगा, ऐसे `**अतिआसन्न भव्य जीवों को**' - (उपादेय है)। (क्या कहा ?) ऐसा निज परमात्मा (जो) ध्रुव अतीन्द्रियस्वभाववाला, त्रिकाली प्रभु (है) - ऐसा निज परमात्मा; पर परमात्मा नहीं, निज परमात्मा; यह एक ही उपादेय है; (इसके) अलावा (अन्य) कुछ भी उपादेय नहीं है ! आहा...हा...! वहाँ तो ऐसी विकल्पदशा नहीं है।

४९ वर्ष हुए। संवत १९८५ की बात है। बड़ी सभा थी। पंद्रहसो - पंद्रहसौ लोग उस दिन व्याख्यान में। उपाश्रय में लोग समा नहीं रहे थे। संप्रदाय में शुरू से ही (हमारी) प्रतिष्ठा बहुत थी न...! भले (पहले स्थानकवासी) संप्रदाय में थे (किन्तु वास्तव में) हम तो किसी संप्रदाय में थे भी नहीं। हमारे अंदर किसी संप्रदायविशेष की दृष्टि नहीं थी। ज़रा-सा कह दिया कि : जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बंधे, वह भाव धर्म नहीं है। (वह) भाव शुभ है न ! उदयभाव है ! सत्य व सीधी-सरल भाषा में कहें तो (यह) कहा (कि) - वह अधर्म है ! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बंधे वह भाव, उदयभाव - विकार है; धर्म नहीं है। (क्योंकि) धर्म से बंध हो नहीं सकता। जिससे बंध हो वह धर्म नहीं। यह तो सत्य (बात) है। प्रभु ! आहा...हा...! यह तो अंदर से बात आई थी। (और) एक दूसरी बात कही थी : पंचमहाव्रत आस्रव है, राग है और बंध का कारण है; वह संवर-निर्जरा नहीं है। खलबली मच गई थी। मचे तो मचे ! प्रभु ! मार्ग तो यह है, भाई !

यहाँपर तो यह कहा : `कारणरमात्मा वह वास्तव में `आत्मा' है।' `वास्तव में'

और 'आत्मा' शब्द पड़े हैं न...! यहाँ तो एक एक शब्द की कीमत है ! कुछ समझमें आया ? अतिआसन्न भव्य जीवों को '**ऐसे निज परमात्मा के अतिरिक्त (अन्य)**' नहीं (अर्थात्) निज परमात्मा से भिन्न - पर्याय या राग या कोई निमित्त - '**कुछ उपादेय नहीं है।**'

जिज्ञासा :- उपवास करने पड़ेंगे न ?

समाधान :- उपवास कौन करे ? उपवास की परिभाषा ज़रा सूक्ष्म है। उप=आत्मा आनंदस्वरूप। वास=उसके समीप निवास करना। यह उपवास है। परिभाषा दूसरी है, भाई ! ये (संप्रदाय में) जो उपवास करते हैं वह तो अपवास है ! राग की मंदता करे तो करो, वह तो बुरा वास है राग में !

आहा...हा...! ऐसा मार्ग !! प्रभु कठिन तो लगे। क्या करें ? षोडशकारणभावना भी बंध का कारण है। उसे आश्रय कहना और अधर्म खहना ? (राग) होता है। ज्ञानी को (भी ऐसे भाव) आते हैं। (ज्ञानी को) अनुभवदृष्टि होनेके बावजूद भी, वीतरागता और कारणपरमात्मा उपादेय होनेके बावजूद भी पूर्ण वीतरागता न हो तब तक ऐसा (राग) भाव आता है। किन्तु है (वह) हेय। यहाँपर कहा न कि : '(अन्य) कुछ उपादेय नहीं है।'

जिज्ञासा :- कारणपरमात्मा, पर्याय को (सन्मुख) कर देता है ?

समाधआन :- नहीं नहीं। यह तो पहले कहा न कि : पर्याय स्वयं ही (पर्याय की) कर्ता है। (कारण) परमात्मा को आदर - उपादेय, करने के लिये पर्याय के अंदर षट्कारक पडे हैं। द्रव्य है वह पर्याय को कुछ देता (नहीं है)।

क्या किया जाय...? मार्ग तो यह है ! अनंत तीर्थंकर, अनंत केवली, और महाविदेह में वर्तमान त्रिलोकनाथ विराजमान हैं - वे (सभी) यही कहते हैं। इन्द्र व गणधरों के बीच सभा में यह बात बताते हैं ! भाई ! मार्ग ऐसा बहुत सूक्ष्म है। आहा...हा...!

भाई ने क्या पूछा ? ऐसा है कि : वह जो सम्यग्दर्शन की (पर्याय) हुई उसकी द्रव्य ने सहायता करी न...? द्रव्य कर्ता हुआ कि नहीं ? नहीं। (वह) परिणमन पर्याय में (अपने) षट्कारक से है। द्रव्य में षट्कारक हैं वे तो ध्रुवरूप हैं। कारणपरमात्मा जिसे वास्तव में आत्मा कहा उसमें षट्कारक गुण पड़े हैं। जिस प्रकार ज्ञान-दर्शन-आनंद आदि ४७ शक्तियों का वर्णन किया, ऐसी अनंत शक्तियाँ हैं, उसमें षट्कारकशक्ति हैं; किन्तु वें तो ध्रुव हैं, वे बदलती नहीं हैं। आहा...हा...! 'प्रवचनसार' गाथा-१०१ में कहा न...! 'उत्पाद के आश्रय से उत्पाद होता है।' भाषा तो व्यवहार समझाने

में आये तब इस प्रकार आती है कि - द्रव्य का आश्रय किया अतः पर्याय शुद्ध हुई। परंतु इसका अर्थ ऐसा है प्रभु ! आश्रय किसने किया ? पर्याय ने पर्याय की ताकत से आश्रय किया है या द्रव्य की ताकत से आश्रय किया है ? प्रभु ! ऐसी बातें हैं !! क्या कहा ? यहाँपर ऐसा कहा है न...! `(यह) आत्मा वास्तव में उपादेय है।' आहा...हा...! परमार्थ से वही आत्मा। और वह ही उपादेय है। परंतु (किसको ? कि :) जिसने पर्याय में उपादेय किया (उसको)। वह पर्याय कोई द्रव्य ने नहीं दी है। द्रव्य तो त्रिकाल से है। (यदि) द्रव्य दे तो त्रिकाल से क्यों नहीं दे रहा ? कुछ समझमें आया ?

जिज्ञासा :- पर्याय तो द्रव्य का शरण लेने गई, तो (द्रव्य) कृपा करेगा न...?

समाधान :- ऐसे शरण लेने का अर्थ क्या ? यह बताया था न...! इस प्रकार (बाह्य) लक्ष (है) (उसे पलटकर द्रव्यसन्मुख करती है) वह लक्ष, (पर्याय) पर्याय की ताकत से करती है; द्रव्य की ताकत से नहीं...! आहा...हा...! कुछ समझ में आया ? `योगसार' - `अमितगति आचार्य'। उसमें ऐसा पाठ है : पर्याय का दाता आत्मा नहीं है। आहा...हा...! यह तो क्या (गज़ब की) बात है ? - निमित्त से तो नहीं होता, परंतु आत्मा (पर्याय का) दाता नहीं है। क्योंकि : पर्याय सत् है। और सत् है उसे कोई हेतु नहीं है, किसीकी अपेक्षा नहीं है। उसका नाम `सत्' कहने में आता है।

सम्यग्दर्शन की पर्याय, आत्मा का अवलंबन लेती है वह वास्तव में तो अपने सामर्थ्य से लेती है। भले द्रव्य का (अपना) सामर्थ्य है; परंतु द्रव्य के उस सामर्थ्य की श्रद्धा, (पर्याय के) सामर्थ्य से पर्याय में आ जाती है। द्रव्य में जितना सामर्थ्य है उतना पर्याय में ज्ञान आ जाता है। परंतु स्व का आश्रय, पर्याय के सामर्थ्य से पर्याय ने लिया है। आहा...हा...! यह तो बहुत सूक्ष्म... बापू ! यह गाथा ही ऐसी है !

आश्रय का अर्थ क्या ? भाई ! अपने न्यालचंदभाई (सोगानी) यहाँपर थे न...! वे तो आश्रय का (अर्थ) ज़रा बहुत विचार करते थे। `सोगानी' का `द्रव्यदृष्टि प्रकाश'। उनको यहाँपर (सोनगढ़ में) सम्यग्दर्शन हुआ था। यहाँपर अनुभव हुआ था। (पहले) वहाँ का यानी : साधुबाबा, जोगी, शास्त्र का व जैनसाधु का बहुत परिचय था बहुत अभ्यास था, और बाद में यहाँ आये। (मैंने) इतना कहा - `प्रभु ! यह राग का कण उत्पन्न होता है न... उससे यह प्रभु अंदर भिन्न है।' (सुनकर) वह अपनी भोजनशाला है न... भोजनशाला... वहाँ गये। सोचते-सोचते धून लग गई। लगनी लगते... लगते...

लगते... रात्रि में - शाम से सुबह तक, भेद करते... करते... करते सुबह होनेसे पहले अनुभव हो गया। सम्यग्दर्शन यहाँ (हुआ) बहुत शक्ति थी। बहुत सामर्थ्य।

सम्यग्दर्शन में कोई विद्वता की जरूरत नहीं है। गृहस्थाश्रम में भी होता है। नारकी में भी होता है न...! सातवीं नरक में मिथ्यात्व लेकर जाता है और मिथ्यात्व लेकर निकलता है परंतु बीच में समकित होता है। सातवीं नर्क में कोई समकित लेकर नहीं जाता । मिथ्यात्व लेकर (ही) जाता है। और निकलता है तब समकित नहीं रहता। फिर भी (वहाँ) अंदर समकित उत्पन्न हो जाता है। आहा...हा...! कितने प्रतिकूल संयोग ! (किन्तु) संयोग से क्या ? वे तो छूते भी नहीं हैं। अपनी पर्याय में, अपना परमात्मा - आत्मा उसका आश्रय उपादेय करके लिया उस पर्याय में, किसी पर की अपेक्षा नहीं है।

(यहाँ कहते हैं :) 'ऐसे निज परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ' - व्यवहार, पर्याय, राग, निमित्त - 'उपादेय नहीं है।'

कठिन तो लगे। (किन्तु) प्रभु ! सत्य तो यह है भाई ! मार्ग तो यह है प्रभु ! यह (बात) कोई महंत बनने के लिये या बडाई (के लिये) नहीं है, बापू ! दुनिया में दिखावा करना कि हम विद्वान हैं और हम त्यागी हैं...! सही त्याग तो, मिथ्यात्व के त्याग का नाम त्याग है। पहले तो यह (कारणपरमात्मा) उपादेय होवे तो मिथ्यात्व का त्याग होता है ! दूसरी भाषा में कहें तो मिथ्यात्व का व्यय होता है। समकित की उत्पत्ति होती है। (और) उस उत्पत्ति में उपादेय 'आत्मा' है।

कुछ समझ में आता है ? बात तो ज़रा सूक्ष्म है। यहाँ तक आया। थोड़ा बाकी (है) नीचे उसीका कलश है, उसको बतायेंगे।

***

प्रवचन-४, दि. २-०२-१९७८

(अब ३८ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री `पद्मप्रभमलधारिदेव' श्लोक कहते हैं :)

'जयति समयसारः सर्वतत्त्वैकसारः
सकलविलयदूरः प्रास्तदुर्वारमारः
दुरिततरुकुठारः शुद्धबोधावतारः
सुखजलनिधिपूरः क्लेशवाराशिपारः' ।।५४।।

(श्लोकार्थ :-) सर्व तत्त्वों में जो एक सार है, जो समस्त नष्ट होनेयोग्य भावों से दूर है, जिसने दुर्वार काम को नष्ट किया है, जो पापरूप वृक्ष को छेदनेवाला कुठार है, जो शुद्ध ज्ञान का अवतार है, जो सुखसागर की बाढ़ है और जो क्लेशोदधिका किनारा है, वह समयसार (शुद्ध आत्मा) जयवन्त वर्तता है।।५४।।

(`नियमसार')। ३८-गाथा की टीका पूरी हुई। उसका यह कलश। `**अब ३८ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं।**' क्या कह रहे हैं ?

`**सर्व तत्त्वों में जो एक सार है।**' भगवान (आत्मा) नित्यानंद प्रभु, ध्रुवस्वरूप, त्रिकाली स्वरूप प्रत्यक्ष है। जो पर्याय से दूर (है)। पुण्य-पाप आदि से (तो) दूर है ही। परंतु ये जो संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि पर्याय; उनसे भी दूर है। (ऐसा) जो तत्त्व अंदर ध्रुव (है), वह सम्यग्दर्शन का विषय है। इन सर्व तत्त्वों में - सर्व तत्त्व माने पुण्य,

पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष - इन सर्व तत्त्वों में 'सार' एक त्रिकाली वस्तु है। जिसे, 'नियमसार' में ११-१२ गाथा की (टीका में) 'स्वरूपप्रत्यक्ष' कहा है। त्रिकाली वस्तु है (वह) स्वरूपप्रत्यक्ष है। स्वभाव से प्रत्यक्ष है। स्वरूप से प्रत्यक्ष है। स्वरूप की अपेक्षा से त्रिकाली वस्तु प्रत्यक्ष है। आहा...हा...! यह वस्तु सर्व तत्त्वों में - नौं तत्त्वों के पर्याय में भेद है उसमें - यह त्रिकाली वस्तु एक सार वस्तु है।

सीसम की लकडी में चारों ओर साधारण लकडी होती है, उसमें बीच में चीकना - पक्का, मात्र सार होता है। उसे निकालकर फिर उसमें तलवार आदि रखे जाते हैं। उस प्रकार यह चीज भगवान आत्मा, पुण्य-पाप, आस्रव-बंध, संवर-निर्जरा और मोक्ष (रूप) पर्यायों से भिन्न, सार तत्त्व है। आहा...हा...! अंदर वह वस्तु स्वरूपप्रत्यक्ष है।

बहुत सूक्ष्म बात है ! 'सर्व तत्त्वों में जो एक सार है।' पर्यायतत्त्व तो अनेक हैं। संवर, निर्जरा और मोक्ष; पुण्य-पाप, आस्रव (और बंध) - इन अनेक पर्यायों मे एक सार त्रिकाली चीज़ है। आहा...हा...! ध्रुव सर्वस्व सार (है)। सर्वस्व अनंत गुण के पिंडरूप सार प्रभु, जो कायम अनादि-अनंत एकरूप रहता है, वह सर्व तत्त्वों में एक सार है। आहा...हा...!

(यहाँपर) मोक्ष को भी सार नहीं कहा। वह तो पर्याय है। संवर-निर्जरा उपाय है (और) मोक्ष उपेय है। परंतु दोनों तत्त्व पर्याय हैं। तो सर्व तत्त्वों में, (अर्थात्) अनेक प्रकार की पर्यायों के तत्त्व में, ध्रुव जो पर्याय की समीप में (होते हुए भी) अंदर दूर है। दूर है, यह बात तो बाद में आयेगी।

जिज्ञासा :- आपने तो 'समीप' कहा ?

समाधान :- दूर माने पर्याय के समीप है। किन्तु पर्याय से भिन्न है। इस अपेक्षा से दूर है। पर्याय की समीप तो क्या ? जो क्षेत्र पर्याय का है वह क्षेत्र भी (वास्तव में तो) द्रव्य के क्षेत्र से भिन्न है।

आहा...हा...! अंदर भगवान चिदानंद प्रभु (जो) एक सार है, (वह) पर्याय की समीप में ही है। समीप में होनेके बावजूद भी पर्याय से वह द्रव्य भिन्न है। (क्योंकि) पर्याय में द्रव्य आता नहीं है और पर्याय द्रव्य में मिलती नहीं है। यदि पर्याय में द्रव्य आ जाय तो (द्रव्य) क्षणिक हो जाय। (और) पर्याय यदि द्रव्य में मिल जाय तो (शाश्वत) तत्त्व भी (क्षणिक) हो जाय...! आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, प्रभु ! मार्ग तो अंदर ऐसा है !

अंतःतत्त्व (कारणपरमात्मा है) और (जीवादि तत्त्व) बाह्य तत्त्व (हैं) - यह पहले कहा जा चुका है। 'संवर-निर्जरा' 'उपाय' और मोक्ष 'उपेय' - जो 'समयसार' में अंत में आया है, किन्तु वे सब पर्याय हैं। वे सब बाह्य तत्त्व हैं। पर्याय में व त्रिकाली तत्त्व में - सर्व तत्त्वों में - एक सार यह है जहाँ पर दृष्टि करने से आनंद उपजता है। आहा...हा...!

सर्व तत्त्व सिद्ध किये। सर्व तत्त्व हैं तो सही। वेदांती की माफिक पर्याय ही नहीं है, और अकेला सर्वव्यापक आत्मा ही है - ऐसा नहीं है। सर्व तत्त्व हैं ! किन्तु वे लोग पर्याय को नहीं मानते। अध्यात्म की बातें वेदांत में बहुत की है; - सब मिथ्या एकांत !

यहाँ तो कहते हैं कि : यह पुण्य, पाप, आस्रव, बंध पर्याय में हैं। और संवर, निर्जरा, मोक्ष भी पर्याय में हैं ! जिसे ('समयसार') ११ वीं गाथा में अभूतार्थ कहा। व्यवहारमात्र अभूतार्थ है। पर्यायमात्र असत्य है। (ऐसा वहाँपर कहा है।) वहाँ से कुछ लोग वेदांत निकालते हैं। बम्बई में नाथुराम प्रेमी यह कहते थे कि : 'कुंदकुंदाचार्य'ने 'समयसार' को वेदांत के ढाँचे में ढाला है।' (परंतु) ऐसी बात ही नहीं है। वेदांत कहाँ और यह कहाँ ? वेदांत तो पर्याय को मानता नहीं है। - निश्चायभासी (है) ! एक ही (आत्मा को सर्व) व्यापक माने और व्यापक का निर्णय करनेवाली चीज़ कौन ? - इसे तो माने नहीं। पहले व्यापक नहीं मानते थे और फिर व्यापक माना, (तो) वह किसमें माना ? यह मानना पर्याय में है या किसी ध्रुव में है ? (क्या कहा) समझमें आया ? द्रव्य व पर्याय को न माने तब तो उसे तत्त्व की खबर नहीं है।

आहा...हा...! इसलिये (यहाँपर) 'जो' शब्द लिया है कि - सर्व तत्त्वों में जो... यानी सर्व तत्त्व हैं तो सही ! आस्रव है, संवर है, निर्जरा है, मोक्ष है। - वे हैं सही ! किन्तु 'सर्व तत्त्वों में जो' एक सार है।' (इस प्रकार) दो अस्ति सिद्ध की। पर्याय तत्त्व है; किन्तु उसमें सार एक त्रिकाली ज्ञायकभाव, ध्रुवभाव, भूतार्थभाव, सामान्यभाव, एकभाव, सद्दशभाव, स्वरूप प्रत्यक्षभाव (है)।

आहा...हा...! स्वरूप प्रत्यक्ष होता है। इससे ऐसा सवाल नहीं है कि (उसमें पर्याय में स्वरूप आ जाय ?) वह 'स्वरूप प्रत्यक्ष' यानी स्वभाव की अपेक्षा से वस्तु अंदर प्रत्यक्ष है। दृश्यमान चीज़ है। हयात है।

'समयसार' गाथा-४९। 'अव्यक्त' के तो व्याख्यान हो गये है। वहाँ तो कहा कि - व्यक्त एवं अव्यक्त का एकसाथ ज्ञान होने के बावजूद भी व्यक्त को अव्यक्त

अर्थात् द्रव्य स्पर्श नहीं करता। क्या कहा ? फिर से : व्यक्त अर्थात् जो पर्याय है, वह व्यक्त है, और द्रव्य है वह अव्यक्त है - ऐसा कहा है। 'अव्यक्त' - क्योंकि व्यक्त है वह बाह्य - प्रगट है। उस अपेक्षा से यहाँ (द्रव्य को) अव्यक्त कहा ! परंतु यहाँ तो यह (द्रव्य) स्वयं प्रगट है। पर्याय (जिस प्रकार) व्यक्त है उस प्रकार। वह चीज़ ध्रुव, चिदानंद, यह सम्यग्दर्शन का विषय है। वहाँ जो निषेध किया है कि नहीं है, ऐसा नहीं है। ('समयसार') ११ वीं गाथा में पर्याय का निषेध किया था न...! वह किस अपेक्षा से ? - (पर्याय को) गौण करके असत्यार्थ कहा था (पर्याय का) अभाव करके असत्यार्थ - अभूतार्थ नहीं कही।

परंतु यहाँ कहते हैं कि : सभी तत्त्व हैं, भले वे संवर-निर्जरा हो या पुण्य-पाप हो, परंतु उसका अंश पर्याय में है। उसका भी अस्तित्व है। जो उत्पाद होता है, (जो) व्यय होता है वह पर्याय है। और उसमें जो ध्रुव चीज़ है वह एक सार है, ऐसा बताना है। आहा...हा...! जो ध्रुव है उसका निर्णय करनेवाली तो पर्याय है। और ध्रुव का वेदन (तो) होता नहीं है। वेदन तो पर्याय का होता है। तो पर्याय है - ऐसा सिद्ध किया। कुछ समझमें आया ?

ऐसा तो अपने यहाँ आ चुका है। सार-सार के सभी व्याख्यान, १०५ अभी हो गये। उसमें 'अलिंगग्रहण' में एक २० वाँ बोल आया : प्रत्यभिज्ञान अर्थात् यह है... यह है... यह है, ऐसा प्रत्यभिज्ञान का विषय जो त्रिकाल द्रव्य सामान्य, जिसे यहाँ 'सार' कहते हैं। इस द्रव्य का पर्याय स्पर्श नहीं करती। 'अलिंगग्रहण' इन छः अक्षरमें से बीस अर्थ निकाले हैं ! जिस पर अपने १४ व्याख्यान हो गये हैं। सब छपेंगे।

क्या कहा ? कि अंदर जो पर्याय है उसे वहाँ (अलिंगग्रहण में) व्यक्त कही। यहाँ पर्याय को नाशवान कहा। फिर (वहाँ) कहा कि पर्याय है वही आत्मा है। क्यों ? वेदन तो पर्याय का होता है। मेरे को तो जो आनंद का वेदन आया वह मैं हूँ। इस प्रकार वहाँ पर्याय को आत्मा कहते हैं। वह त्रिकाली आत्मा, वेदन का स्पर्श नहीं करता। वहाँ तो पर्याय को ही आत्मा कहा ! क्योंकि वेदन में आनंद आता है न...! तो वेदन में आनंद आया तो मेरे को तो वेदन में आये वह आत्मा। आनंद कोई ध्रुव का नहीं आता। ध्रुव का स्पर्श तो आनंद में नहीं है ! अपने यहाँ तो सब कुछ बहुत स्पष्ट हो गया है। व्यक्त - अव्यक्त दोनों का एकसाथ ज्ञान होने के बावजूद भी वह पर्याय का स्पर्श करता है, सामान्य का स्पर्श नहीं करता। जिसे

यहाँ 'सार' कहा। आहा...हा...! वहाँ कहते हैं कि उसका - सार का पर्याय स्पर्श नहीं करती। बातें सूक्ष्म बहुत, बापू ! अंदर आनंद, अतीन्द्रिय ज्ञान, अनंत शांति, अनंत स्वच्छता, ईश्वरता आदि की जो पर्याय व्यक्त हैं वही वेदन में आती है। वेदन में ध्रुव नहीं आता। इसलिये वहाँ ऐसा कहा कि : ध्रुव का स्पर्श आत्मा नहीं करता; वह आत्मा पर्यायरूप है।

कुछ समझमें आया ? किस अपेक्षा से कथन है यह समझे बिना, एकांत तानता रहे - यह नहीं चलता, भाई !

यह तो महा परमात्मा त्रिलोकनाथ सर्वज्ञस्वरूपी ही प्रभु आत्मा है ! आहा...हा...! प्रत्येक का आत्मा सर्वज्ञस्वभावी प्रभु ही है। प्रत्येक भगवानस्वरूप है।

यह भी यहाँपर व्याख्यान में पहले आ चुका। ('श्री जयसेनाचार्य' कृत 'तात्पर्यवृत्ति' टीका बंध अधिकार 'समयसार' गाथा ३०६ से ३०८, आत्म-भावना।) सभी जीव सर्वकाल पूर्णानंदस्वरूप भगवानस्वरूपी हैं। ऐसी भावना धर्मी को भानी चाहिए। अभी बहुत सूक्ष्म, करीब १०५ व्याख्यान (हो चुके हैं) सारे गहन हैं, सूक्ष्म हैं। ४७ शक्ति से शुरु किये थे तो यहाँ तक आ चुका है। यहाँ से उसमें ५० लेने हैं।

वहाँ पर 'अलिंगग्रहण' में यों कहा : आत्मा सामान्य द्रव्य है। यहाँपर कहा : एक सार (है), वह पर्याय का स्पर्श नहीं करता। आत्मा जो सामान्य है वह सामान्य, पर्याय का स्पर्श नहीं करता। पर्याय का वेदन पर्याय में है। वेदन तो उसे परिणति का है। त्रिकाली पारिणामिकभाव - ज्ञायकभावरूप जो सम्यग्दर्शन का विषय है वह कोई वेदन में नहीं आता। वेदन में तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, शांति आदि पर्याय आती है। आत्मा सामान्य का स्पर्श नहीं करता, ऐसा पर्यायरूप शुद्धात्मा है - इस प्रकार यह बात बताई है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? ऐसा यहाँ कहा है।

वहाँ भी दो बात सिद्ध की - पर्याय भी है और सामान्य भी है। आत्मा (अर्थात् पर्याय) सामान्य का स्पर्श नहीं करता। क्योंकि वेदनरूप पर्याय वह (ही) आत्मा। हमें तो अतीन्द्रिय आनंद जो वेदन में आया, पर्याय में आया वह मैं !

आहा...हा...! यहाँ कहते हैं : 'सभी तत्त्वों में' सभी तत्त्व तो सिद्ध किये। परंतु 'एक सार' - त्रिकाली वस्तु एक सार है कि, जहाँ दृष्टि पड़ने से पूरे आत्मा की प्रतीति अनुभव में होती है।

आहा...हा...! यह तो अभी पहले सम्यग्दर्शन की बात है। इतनी मूल्यवान, इतनी बड़ी चीज़ मौजूद है ! है तो सत्। तो सत् है (वह) सरल, सुंदर, सर्वत्र जहाँ हो

वहाँ सर्वत्र (है)। (तो) ध्रुव तो सर्वत्र मौजूद है न...? (है), परंतु उस ओर लक्ष का झुकाव अनंतकाल में किया नहीं है ! मुनिव्रत धारण किये, पंचमहाव्रत लिये, २८ मूल गुणों का पालन किया, नग्न दिगंबर (मुनि होकर) जंगल में रहा परंतु आत्मा क्या चीज़ है उसका ज्ञान (आत्मज्ञान) नहीं किया; इसके बिना सारे व्रत व तप निरर्थक रहे। निरर्थक माने फल तो है, मगर संसार; भव के अभाव का फल नहीं आया।

(यहाँ) सर्व तत्त्व सिद्ध किये, सभी तत्त्व नहीं हैं, ऐसा नहीं। शून्य है ऐसा नहीं। वेदांत की तरह पर्याय शून्य है यानी पर्याय है ही नहीं, ऐसा नहीं। कुछ समझमें आया ?

(कहते हैं कि) 'सभी तत्त्वों में जो एक सार है' (ऐसा) प्रभु ! त्रिलोकनाथ ! यह सार वस्तु स्वयं तो ध्रुव है परंतु उसकी ओर लक्ष जाने पर पर्याय में सम्यग्दर्शन होता है। तो उस सम्यग्दर्शन की पर्याय में भी सार तो वह ध्रुव है। आहा...हा...! एक बात।

दूसरा बोल : '**जो समस्त नष्ट होने योग्य भावों से दूर है।**' जो पर्याय है वह नाश को प्राप्त होती है। पर्याय की मुद्दत एक समय की है। भले ही वह केवलज्ञान हो या संवर-निर्जरा हो, परंतु (उस) पर्याय की मुद्दत एक समय की (है)। मुद्दत (माने) स्थिति एक समय की है। पर्याय दो समय तक नहीं रहती। दूसरे समय पर दूसरी, तीसरे समय पर तीसरी, तो समस्त तत्त्व नाश होने योग्य (भाव) हैं। मोक्ष की पर्याय भी नाश होने योग्य है। पर्याय है न...? संवर-निर्जरा भी नाश होने योग्य है। आहा...हा...! 'जो समस्त नाश होने योग्य' - समस्त में भी नाश होने योग्य बहुत हैं, ऐसा तो (उसमें) आया (न...?) जिस प्रकार सभी तत्त्व कहे थे उस तरह हैं तो सही; परंतु वे तत्त्व कैसे हैं। कि - समस्त नाश होने योग्य हैं। आहा...हा...! वह पर्याय चाहे तो संवर-निर्जरा की हो या, केवलज्ञान की हो, परंतु (वह) एक समय के लिये ही रहती है। अतः सारी पर्यायें नाश होने योग्य हैं। एक समय की (स्थितिवाली) हैं न...! इस अपेक्षा से नाश होने योग्य (हैं)। (परंतु) वस्तु जो है वह तो त्रिकाल महा आनंदकंदपिंड है। (और) यह (पर्याय) तो एक समय की है। (वस्तु) तो त्रिकाली है। जो त्रिकाल दल (पिंडरूप) अतीन्द्रिय आनंद, अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय चारित्र, अतीन्द्रिय शांति, अतीन्द्रिय स्वच्छता, अतीन्द्रिय प्रभुता, ऐसी (अनंत) शक्तियों का समूहरूप दल (पिंड) है। वह तो है ही... है। (वह तत्त्व), 'जो समस्त नष्ट होने योग्य भावों से दूर है।' - देखा ? पर्याय से दूर है। दूर का अर्थ : पर्याय के जो क्षेत्र, काल

व भाव हैं, वैसा भाव उसमें (वस्तु में) नहीं है; अतः पर्याय से दूर है। आहा...हा...! संवर-निर्जरा जो मोक्ष का मार्ग यानी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय - ये भी नाश होने योग्य हैं। और उनसे दूर-भिन्न, (द्रव्य) है; पर्याय से भिन्न है, दूर है।

आहा...हा...! दूर का मतलब कोई क्षेत्र दूर है, ऐसा नहीं। इस प्रकार की चर्चा मुंबई में हो गई है न...! यह 'द्रव्यदृष्टि प्रकाश' की चर्चा करनेवाले युवानों की (मंडली) मुंबई में है। यहाँ तो बहुत चर्चा हुई है न...! चर्चा करनेवाला युवावर्ग बहुत है। 'यह (वस्तु पर्याय से) दूर है' तो दूरवाली बातमें से यों निकाला कि : 'पर्याय से द्रव्य कैसा दूर है' कि पूर्व और पश्चिम जैसा दूर है। ये विध्यांचल और सह्याद्रि की तरह, जैसे दो पर्वत भिन्न हैं उस प्रकार द्रव्य और पर्याय भिन्न है। (क्या) ऐसा कहना चाहते हैं ? - ऐसा नहीं है ! भिन्न का अर्थ पर्याय के सत्त्व में द्रव्य का सत्व नहीं है। द्रव्य का सत्त्व द्रव्य में है; इस कारण से 'पर्याय से दूर' कहा गया है, ऐसा है, प्रभु ! यहाँ तो एक न्याय बदल जाय तो पूरा तत्त्व बदल जाय। यह तो सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ की वाणी है; और उसका वह भाव है; वह आत्मा का भाव है।

आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? जवाहरात ये सब तो कुछ मिट्टी के बराबर भी नहीं है। मुफत में समय बीताया। यहाँ तो सत्य है वह सत्य है ! (उदाहरण के तौर पर) दो भाईयों ने एक-एक लाख (दान में) दिये परंतु जो होनेवाला है वह होता है। नहीं होनेवाला होता नहीं। दान (देने) के भाव - किसीने लाख दिये और पाँच लाख दिये - परंतु कदाचित् राग की मंदता की हो (तो वह पुण्य है)। (परंतु) बाहर दिखावे के लिये देने का भाव हो तो वह पाप है। और वे पैसे मेरे हैं और मैं देता हूँ (ऐसी मान्यता होवे) तो वह मिथ्यात्व है। क्योंकि अजीव (पदार्थ) आत्मा का है ही नहीं। परंतु अजीव मेरी चीज़ नहीं है, उसमें मेरी तीव्र ममता थी उसमें ममता मंद करके दान में लाख - दो लाख देता हूँ; (ऐसे) ये परिणाम भी शुभ (भाव) हैं। पुण्य हैं, आस्रव हैं, ज़हर हैं, नाश होने योग्य हैं। शुभभाव को ज़हर कहा (न...?) भगवान(आत्मा) तो अंदर अमृतस्वरूप है; (उस) अतीन्द्रिय आनंद के नाथ के सामने राग तो ज़हर है। उसके (आत्मा के) स्वभाव से (राग) विपरीत है। आहा...हा...! (श्रोता :) मीठा ज़हर लगता है ? (उत्तर :) ज़हर मीठा नहीं है; वह तो अज्ञानी (ऐसा) मानता है। बाकी ज़हर है उसमें मीठास कहाँ आई ? ऐसी बात है, भाई !

सुबह ('समयसार') 'कलश टीका' श्लोक-२५२ पढ़ा है न...! उसमें से चार बोल

बताये हैं : 'स्वद्रव्य माने निर्विकल्पमात्र वस्तु (त्रिकाली द्रव्य। जिसको यहाँ 'सार' कहा है वह।) स्वक्षेत्र माने आधारमात्र वस्तु का प्रदेश। स्वकाल माने वस्तुमात्र की मूल अवस्था। स्वभाव माने वस्तु के मूल की सहजशक्ति। परद्रव्य माने सविकल्प भेदकल्पना। परक्षेत्र माने वस्तु का जो आधारभूत प्रदेश निर्विकल्प वस्तुमात्ररूप से कहा था वहीं प्रदेश सविकल्प भेदकल्पना से परप्रदेश बुद्धिगोचररूप से कहा जाता है। परकाल माने द्रव्य की मूल की निर्विकल्प अवस्था वही अवस्थांतर-भेदरूप कल्पना से परकाल कही जाती है। परभाव माने द्रव्य की सहज शक्ति के पर्यायरूप अनेक अंश द्वारा भेदकल्पना, उसे परभाव कहा जाता है।' आहा...हा...! परद्रव्य तो परद्रव्य है ही; परंतु अपनी एकरूप चीज़ में भेदकल्पना करना वह (भी) परद्रव्य है ! यहाँ परद्रव्य माने शरीर, वाणी, मन, कर्म ऐसा यहाँ नहीं लेना है यहाँ तो 'सविकल्प भेदकल्पना' उसे परद्रव्य (लिया है)। अभेद जो 'सार' (तत्त्व है) उसमें भेदकल्पना करना कि यह है... यह है, ऐसा विकल्प सो परद्रव्य है।

जिज्ञासा : परद्रव्य क्यों कहा ?

समाधान :- (भेदकल्पना - विकल्प, यह) अपना स्वरूप नहीं है। यह (तो) निर्विकल्पस्वरूप है, उसमें विकल्प उठाना वह परद्रव्य है। ऐसी बात है बापू ! सूक्ष्म बात है, भाई !

जिज्ञासा :- छह द्रव्यमें से सातवाँ द्रव्य कह दिया ?

समाधान. सातवाँ कहा है। कहा है न...? वह तो 'सम्यग्ज्ञान दीपिका'में से हमने 'अव्यक्त' के पहले बोल में कहा है। यह 'सम्यग्ज्ञान दीपिका' (क्षुल्लक) 'धर्मदासजी' (कृत) है। इसमें (वे) कहते हैं कि - छह द्रव्य से भिन्न भगवान (आत्मा) सातवाँ द्रव्य है। यह कहाँ से निकाला है यह बात वहाँ लिखी नहीं है। किन्तु हमने तो ६० साल पहले बोटाद नगर में देखा और जंगल में (उसे) पढ़ा था। उसमें आत्मा को सप्तम द्रव्य कहा है। (हालाँकि) सातवाँ द्रव्य है नहीं, परंतु 'समयसार' गाथा-४९ 'अव्यक्त' के छह बोल में पहला बोल है वहाँ ऐसा लिया है कि - 'छह द्रव्यस्वरूप लोक ज्ञेय है, व्यक्त है; उससे भिन्न भगवान (आत्मा) अव्यक्त है।' आहा...हा...! एक ओर भगवान (माने) एक ओर राम और दूसरी तरफ गाम (गाँव)। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, भाई ! 'छह द्रव्यस्वरूप लोक ज्ञेय है, व्यक्त है; उससे भिन्न है वह अव्यक्त है।' यह 'सार' वह है ! यह 'स्वद्रव्य' वही !

आहा...हा...! सूक्ष्म है, भाई ! यह मार्ग ऐसा है। आधारमात्र वस्तु का प्रदेश,

वह स्वक्षेत्र। असंख्यप्रदेशी - एकरूप, यह स्वक्षेत्र। और सूक्ष्म, अरूपी, स्वद्रव्य, सार - (ऐसी) भेदकल्पना यह परक्षेत्र। एक समय की अवस्था की भेदरूप कल्पना वह परकाल। (और) एक तो परद्रव्य का भाव 'परभाव'। (दूसरा) रागादि 'परभाव'। और (तीसरा) त्रिकाली ज्ञायक अनंत शक्ति के एकरूप में एक शक्ति की भेदकल्पना करना वह 'परभाव'। 'परभाव' के ऐसे तीन प्रकार हैं। आहा...हा...! परद्रव्य के भाव तो परद्रव्य में हैं ही 'परभाव'। रागादि भाव होते हैं वें भी 'परभाव'। (परंतु) यहाँ तो त्रिकाली शक्ति का एकरूप अभेद स्वभाव; उसमें एक शक्ति का भेद-विकल्प विचार करना, उसे 'परभाव' (कहते हैं) !

आहा...हा...! यहाँ तो सिद्ध किया... क्या ? कि : 'समस्त नष्ट होने योग्य' - देखा ? यह पर्याय तो नाश होने योग्य है। परकाल - अपना चल रहा है, वह यह (है)। 'समस्त नष्ट होने योग्य भावों से...' भाव तो हैं, उन्हें भाव तो कहा; किन्तु वह नष्ट होने योग्य भाव (हैं, उनसे) भगवानआत्मा दूर है। पर्याय में द्रव्य आया ही नहीं है। आहा...हा...! पर्याय से दूर है दूर।

इन असंख्य प्रदेशोंमें से जितने क्षेत्रमें से पर्याय उत्पन्न होती है उतना क्षेत्र; और इस तरफ का क्षेत्र उससे दूर है। पर्याय का क्षेत्र भी द्रव्य के क्षेत्र से भिन्न है। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है। पर्याय का काल - परकाल, वह स्वकाल से भिन्न है ! पर्याय का भाव ही द्रव्यभाव से पर - भिन्न है। और द्रव्यभाव उससे (पर्यायभाव से) भिन्न है।

ऐसी बात है !! यह तो मूल चीज़ है, प्रभु ! 'धर्म' यह ! यह 'धर्म' ऐसे होता है कि : त्रिकाली द्रव्यस्वभाव (जो) सार है उसकी दृष्टि करे तो सम्यग्दर्शन होता है। बाकी सब कुछ थोथा - थोथा (निःसत्त्व) है। मार्ग 'यह' है। 'एक (ही) होवे तीन काल में, परमारथ का पंथ' (-'आत्मसिद्धि' गाथा-३६) परमारथ का पंथ तो 'यह' एक ही है। व्यवहार से तो होता नहीं है किन्तु भेदभाव से भी निश्चय नहीं होता। कुछ समझमें आया ?

जिज्ञासा :- आपने द्रव्य से पर्याय को भिन्न कहा तो पर्याय नष्ट (व्यय) होकर गई कहाँ ?

समाधान :- कहाँ जाय ? अंदर गई ! यह तो कईबार कहा है। यह बात कई बार आ गई है। ज़रा शांति से सुनो : जो पर्याय राग की है (उसका) व्यय हो गया, तो वह पर्याय गई कहाँ ? राग तो अंदर द्रव्य में जाता नहीं है, किन्तु

उसकी योग्यता द्रव्य में जाती है, तो उसका पारिणामिकभाव हो गया ! अथवा यहाँ सम्यग्दर्शन ले लो। सम्यग्दर्शन एक समय की पर्याय है। (वह) नाश होने योग्य है न...! तो यह पर्याय व्यय होकर गई कहाँ ? - अंदर में (गई)। किन्तु यहाँ सम्यग्दर्शन की पर्याय में (जो) उपशम, क्षयोपशम या क्षायिकभाव था, लेकिन (वह) जब अंदर में गई तब (वह) पारिणामिकभाव हो गया !

आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, प्रभु ! मार्ग क्या है (वह यहाँ) कह रहे (हैं)। यह तो जिनेश्वरदेव का मार्ग है ! ऐसा (अन्यत्र) कहीं नहीं है। अभी तो पहले सुनने भी नहीं मिलता ! बाहर की बात - यह...करो... और वह करो... और यह.. करो। (यही सुनने मिलती है)। प्रभु ! मार्ग तो (यह है)। जन्म-मरण रहित - भवच्छेद की बात तो 'यह' है।

जिज्ञासा :- ऐसी बात सुनने के बाद व्रत-तप करने के लिये कौन जाय?

समाधान :- व्रत-तप करे कौन ? भूमिका के अनुसार वह विकल्प आता है; किन्तु वह पर है, दुःख है। विकल्प आता है परंतु है दुःख(रूप), हेय पर। पूर्ण वीतराग न होवे तब तक व्यवहार आता है; किन्तु वह राग है, दुःख है, हेय है। बात तो ऐसी है ! (प्रश्न) तो फिर क्यों आते हैं ? (उत्तर :) कमज़ोरी है तो आते हैं। परंतु वे उपादेय नहीं हैं। आदरणीय नहीं हैं। वह तो (पहले) कह दिया न...! 'निज परमात्मा के अलावा अन्य कुछ भी उपादेय नहीं है।' (राग) आता है परंतु उपादेय नहीं है। (उपादेय) नहीं है उसे उपादेय कैसे कह देवें ?

प्रश्न :- व्यवहार तो आता है न ?

उत्तर :- व्यवहार न होवे तो वीतराग हो जाय ! मिथ्यादृष्टि को पर्याय में अनंत दुःख है, सुख का अंश नहीं है। केवलज्ञानी को अनंत सुख है, दुःख का अंश नहीं है। (किन्तु) साधक को आनंद का अंश भी है और दुःख का अंश भी है ! - दोनों हैं। अन्यथा (पूर्ण वीतराग) हो जाय। (किन्तु) पूर्ण तो नहीं है। पूर्णानंद नहीं है। थोड़ा दुःख है। रागादि आते हैं (उतना) दुःख है। परंतु (साधक) उनको हेय जानता है। समझमें आया ? भगवान को पूर्ण आनंद है, मिथ्यादृष्टि को पूर्ण दुःख है। साधक-सम्यग्दृष्टि को पूर्ण आनंद नहीं आया। अपूर्ण आनंद का वेदन है। जहाँ पूर्ण नहीं है वहाँ थोड़ा राग आये, दुःख भी आये। तो है तो सही, किन्तु हेयरूप है, उपादेयरूप नहीं है। यह तो कहा न...! 'अन्य कुछ उपादेय नहीं है।' तो दूसरी चीज़ है तो सही, नहीं है ऐसा नहीं। वास्तव में तो (जिसे) स्वद्रव्य का अनुभव हुआ, सम्यग्दर्शन

(हुआ) उसे, जो राग आता है उसे व्यवहार कहने में आता है। यदि निश्चय होवे तो व्यवहार कहने में आता है। निश्चय सम्यग्दर्शन न हो वहाँ व्यवहाराभास को व्यवहार कहना, यह कथनमात्र है। वस्तु है ही नहीं। व्यवहार को कोई मतलब है ही नहीं।

दूसरी तरह से कहें तो व्यवहार जो शुभराग है, वह अंधा है। क्योंकि, राग अपने को जानता नहीं है और ज्ञायक को जानता नहीं है। इस वज़ह से भगवान ने उसे अंधा व जड़ कहा। और भगवान(आत्मा को) जागृत व चैतन्य (कहा)। ये दोनों वस्तु भिन्न हैं। ऐसा यहाँ बताना है। अन्यथा दो वस्तुओं की सिद्धि नहीं होती।

'आप्तमीमांसा' न्याय के ग्रंथ में ऐसा कहा (है) : धर्मी व धर्म - दोनों को भिन्न गिना है। धर्मी व धर्म - ये भिन्न हैं। दोनों एक नहीं हैं। एक होवे तो (ऐसे) दो नाम नहीं बनते। दो वाच्य न होवे (तो) दो वाचक नहीं होते। फिर व्यवहार से कहने में आता है कि - इस धर्मी का यह धर्म। और इस धर्म का वह धर्मी। किन्तु दोनों निरपेक्ष भिन्न सत् हैं।

आहा...हा...! ये तो भगवान के शास्त्र हैं, प्रभु ! (इसकी) सीमा नहीं है। एक एक शब्द में आगम के इतने रहस्य भरे हैं कि उसका कोई पार नहीं है। यह तो संत ही पूरा कर पायें। गणधर पूरा कर सके। आहा...हा...! सीमा नहीं है, ऐसी बात है ! संत माने सच्चे संत हाँ ! भावलिंगी होवे वह।

यहाँ कहते हैं कि : 'जो समस्त नष्ट होने योग्य भावों से दूर है।' दूर है यानी पर्याय में द्रव्य नहीं आता। पर्याय से द्रव्य भिन्न रहता है। दूर का यह अर्थ निकाला !

यह तो 'समयसार' संवर अधिकार में लिया है न...! पुण्य-पाप के भाव हैं वे परवस्तु हैं, परक्षेत्र व परभाव हैं। उनका परक्षेत्र है। जितने में विकल्पअवस्था उत्पन्न होती है वह पर्याय है तो असंख्यप्रदेशी, किन्तु उन असंख्यप्रदेश में जितने में - अंतिम अंश में विकृत या अविकृत - निर्विकारी अवस्था उत्पन्न होती है - उन दोनों का क्षेत्र भिन्न है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

'चिद्विलास' में 'दीपचंदजी' ने लिया है - पर्याय का क्षेत्र भिन्न है। पर्याय का भाव व क्षेत्र भिन्न है। और द्रव्य का क्षेत्र भिन्न है। पर्याय का वीर्य भिन्न है। पर्याय का सूक्ष्म(त्व) भिन्न है।

यहाँपर तो कहते हैं कि परंतु ये सभी (भाव) नाश होने योग्य हैं। उनसे वस्तु दूर है। (अब कहते हैं -) '**जिसने दुर्वार काम को नष्ट किया है।**' काम उसमें है

ही नहीं। यों कहना है। परंतु भाषा ऐसी ली कि, वस्तु में तो काम की इच्छा ही नहीं है। परंतु इसका अर्थ है कि `जिसने दुर्वार' (अर्थात्) जिसका निवारण न हो सके, टाली ना जा सके ऐसी (दुर्निर्वार) विषयवासना (रूप) विकृतदशा; (ऐसे) `काम को नष्ट किया है।' (अर्थात्) उसमें (वस्तु में) है ही नहीं। उसका आश्रय करते हैं तो (काम) नष्ट होता है, तो उसका नाश किया ऐसा कहने में आता है। कुछ समझमें आया ? तीसरे (बोल का) विशेष विस्तार है।

(विशेष कहेंगे.....)

***

जिनसे ज्ञान मिला हो उनका विनय, शास्त्रका विनय करना चाहिए। ज्ञानीसे मर्म समझने पर भी यदि कहे कि हमारे शास्त्रोंमें भी ऐसी ही बात है व मैं भी ऐसा ही मानता था, हमारेमे भी निश्चय तथा व्यवहार दोनों ही हैं - ऐसा माननेवाला तो व्यवहारसे भी चोर है। आत्मभान न होनेसे वह निश्चयका तो चोर है ही। अतः ऐसा अविनय नहीं करना चाहिए। (परमागमसार - ९१०)

❁

प्रथम तो सत्य-समझनेकी जिज्ञासा होनी चाहिए। अनादिसे भूल होती आ रही है। परन्तु सच्ची बात-समझनेका प्रसंग मिले तो वह भूल मिटे। जो भूलको, भूल ही न माने तो वह भूल कभी नहीं टलती। (परमागमसार - ९११)

प्रवचन- ५, दि. ३-२-१९७८

(`नियमसार' श्लोक-५४) थोड़ा-सा फिर से। यह शुद्धभाव अधिकार है। शुद्धभाव (माने) त्रिकाली ध्रुवस्वरूप, जो त्रिकाल एकरूप रहनेवाला, अनंतगुण का एकरूप पिंड, उसे यहाँ शुद्धभाव कहने में आता है। यह शुद्धभाव, **`सर्व तत्त्वों में जो एक सार है।'** चाहे तो संवर, निर्जरा, मोक्ष हो या पुण्य-पाप के परिणाम हो, उसमें `सार' तो ध्रुव है। सम्यग्दर्शन का विषय यानी ध्येय - (यह) `सार' (है) सम्यग्दर्शन पर्याय है, यह तत्त्व है परंतु इस तत्त्व में सारतत्त्व तो त्रिकाली-ध्रुव है ! आहा...हा...!

(श्रोता :-) समझमें नहीं आ रहा । (उत्तर :-) समझमें नहीं आ रहा ? अधिक स्पष्ट करते हैं : वस्तु में पर्याय व द्रव्य - दो प्रकार हैं। पर के संबंध से तो कुछ लेना-देना नहीं है। इस जीव की एक समय की पर्याय में जो भेद पडते हैं - एक समय का पुण्य-पाप भाव, एक समय का आस्रव, संवर, निर्जरा व मोक्ष - ये सब पर्यायतत्त्व हैं। (इन) सभी तत्त्वों में `सार' एक ध्रुवतत्त्व है। जहाँ दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है। उसे मुक्ति का प्रयाण शुरु हो गया।

श्रेणिक राजा (को) चारित्र नहीं था। व्रतादि नहीं थे। किन्तु अंदर क्षायिक समकित प्रगट हुआ ! पहले तो समकित था किन्तु बाद में क्षायिक तो भगवान के समीप में अपनी योग्यता से उत्पन्न हुआ और तीर्थंकरगोत्र बाँधा ! (समकित होनेसे) पहले (सातवीं) नरक की आयु का बंध हो गया था। वह कम हो गया। आयुष्यकर्म तो छूटता नहीं है। जिस प्रकार लड्डुमें से घी वापिस निकालकर उसकी नयी पूडी बन नहीं सकती, उस प्रकार आयुष्य बंध गया हो (तो) वह गति बदलती नहीं है, परंतु स्थिति में फर्क पड़ सकता है। तो नरक की आयु का बंध तो हो गया था, उसके बाद समकित प्राप्त किया ! यह आत्मा आनंदकंद प्रभु ध्रुव ! वह सार है। - ऐसा अनुभव, (ऐसी) प्रतीति आनंद के अनुभव के साथ, अनुभूति के साथ सम्यग्दर्शन में

हुई। बाद में विकल्प आया तो तीर्थंकरगोत्र का बंध हो गया। इस समय नरक में है। आयुष्य की स्थिति कम हो गई। (केवल चौरासी हज़ार वर्ष की स्थिति रह गई।) पहले ३३ सागर का बंध हुआ था। फिर आत्मज्ञान हुआ, (सम्यक्)दर्शन हुआ। तो ऐसा भान हुआ कि : अनंतकाल में अनंतबार पंचमहाव्रतों का पालन किया फिर भी आत्मज्ञान के बिना लेशमात्र सुख नहीं पाया। 'मुनिव्रत धार अनंत बार ग्रीवक उपजायौ।' वह तो बिना आत्मज्ञान का कोरा क्रियाकांड है शुभराग है; वह तो एकबार नहीं अनंतबार किया है। ऐसा करने के 'पश्चात् तो अनंत पुद्गलपरावर्तन - स्वर्ग का व नरक का किया है।' आहा...हा...! नरक की गति तो नहीं बदल पाई किन्तु रस व स्थिति कम हो गये। नरक में तो गये परंतु आगामी काल में प्रथम तीर्थंकर बनेंगे। आहा...हा...!

यह बात यहाँपर कहते हैं : यह सार है। अनुभव करने में वह त्रिकालीद्रव्य सार है। '**जो समस्त नष्ट होने योग्य भावों से दूर है**' - इस पर्याय से द्रव्य दूर है। दूर का अर्थ : पर्याय में ध्रुव आता नहीं है। ध्रुव का पर्याय स्पर्श नहीं करती। और पर्याय का स्पर्श ध्रुव नहीं करता। - इस अपेक्षा से पर्याय से द्रव्य दूर है, ऐसा कहने में आता है। आहा...हा...! पर्याय, मोक्ष का मार्ग है किन्तु वह पर्याय, द्रव्य का स्पर्श नहीं करती !

'समयसार' गाथा-४९ ('अव्यक्त' के) छह बोल में यह समाविष्ट है : द्रव्य का पर्याय स्पर्श नहीं करती और पर्याय का द्रव्य स्पर्श नहीं करता। (और) 'प्रवचनसार' गाथा-१७२, 'अलिंगग्रहण' में भी आ गया है। आज कल में सभी सार-सार व्याख्यान हो चुके हैं।

यहाँ कहते हैं कि : 'जो समस्त नष्ट होने योग्य भावों से' यह भाव तो पर्याय है। पर्याय को भाव कहे, द्रव्य को भाव कहे, गुण को भाव कहे, विकार को भाव कहे और अविकारी पर्याय को भी भाव कहे। भवन - ('भू') - 'होना' है न...! तो भाव कहा। इन भावों से - इन भावों में 'सार' त्रिकाली है। इन भावों से त्रिकाली 'दूर' (है)। फिर (कहा कि :) '**जिसने दुर्वार काम को नष्ट किया है।**' इसमें अपेक्षित बात है। वह काम - कामवासना - इसमें है ही नहीं। त्रिकाली बतलाना है न...! इसमें कामवासना का विकल्प ही नहीं है। अतः इस अपेक्षा से कहा कि : 'जिसने दुर्वार काम को नष्ट किया है।' एक बात। जिसे काम की इच्छामात्र नहीं है (तो) ऐसे दुर्वार काम को नष्ट किया है, ऐसा कहने में आता है। दूसरी तरह कहें तो,

इस ध्रुवस्वरूप के आश्रय से राग का (काम का) नाश होता है। आहा...हा...! राग है वह संसार है - पुण्य व पाप दोनों। यहाँ दोनों को पाप कहेंगे। कुछ समझमें आया ? `जिसने दुर्वार' (यानी) निवारण (जिसका) हो न सके ऐसी वासना, विषय की वासना, इन्द्रियों के विषय की मीठास जो ज़हर है; इससे तो वस्तु दूर है। इन्द्रियों के सुख में सुख मानना, यह ज़हर को सुख मानना, यह मिथ्यात्वभाव है। किन्तु वस्तु तो मिथ्यात्वभाव से और (जिस) सम्यग्दर्शन (पर्याय) में आत्मा का भान हुआ इन पर्यायों से भी दूर है।

आहा...हा...! ऐसी बात है, प्रभु ! कितना दूर ? यह (बात) तो कल आ गई थी भाई ! - एक समय की पर्याय और ध्रुव है तो समीप। उसके असंख्य प्रदेश में जितने प्रदेशमें से पर्याय उठती है उतना क्षेत्र व उतना भाव; और ध्रुवक्षेत्र व ध्रुवक्षेत्र का भाव - दोनों भिन्न भिन्न हैं। तो उसके दो अर्थ लेना : एक तो इसमें - त्रिकाली में काम है ही नहीं। उस `सार' तत्त्व में काम है ही नहीं। दूसरी तरह से, वह त्रिकाली भगवान आनंदकंद प्रभु, नित्यानंद ध्रुव - उसके आश्रय से संसार अर्थात् काम का - काम की वासना का - नाश होता है। आहा...हा...! प्रथम - सम्यग्दर्शन की भूमिका कोई अलौकिक है। इसके बिना (सब थोथा ही थोथा (निःसार) है !

`समयसार' ४१३-गाथा में संस्कृत टीका में ये तीन शब्द आये हैं : `(वे) अनादिरूढ (अनाकिकाल से चले आ रहे) व्यवहार में मूढ (मोही) (प्रवर्तता हुआ,) प्रौढ विवेकवाले निश्चय (- निश्चयनय) पर अनारूढ (रहता हुआ) - अनादिसे ये व्यवहार, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के (भाव) करता आया है।' अनादिरूढ क्यों ? कि - ऐसे भाव तो अनंतबार किये। अनंतबार नौवीं ग्रैवेयक गया, तो वह अनादिरूढ है, कोई नयी चीज़ नहीं है !

दूसरी तरह से कहें तो निगोद में - एकेन्द्रिय में भी शुभभाव होते हैं। निगोद का जीव है, कभी भी निकला नहीं, त्रस हुआ नहीं, ऐसे निगोदजीव अनंत पड़े हैं; उनको भी क्षण में शुभ व क्षण में अशुभ हमेशा चलता है। - क्या कहा ? कि : जो कर्मचक्र है वह निगोद में भी शुभभाव के बाद अशुभभाव फिर शुभभाव... इस प्रकार अनादि से चलता है। (एवं) अनंतबार शुकललेश्या(पूर्वक) नौवीं ग्रैवेयक गया। शुकललेश्या... हाँ ! शुकलध्यान नहीं। शुकललेश्या - उज्जवल राग का भाव, तो अभवी को भी होता है। मिथ्यादृष्टि को भी होता है। वह तो अनंतबार मुनिव्रत धारण करके नौवीं ग्रैवेयक गया। (उसे) तो वहाँ (`समयसार' गाथा ४१३ में) अनादिरूढ

कहा है। वह तो अनादिरूढ है, व्यवहारमूढ है। क्योंकि (वह) व्यवहारआत्मा (है) उसे आत्मानुभव - सम्यग्दर्शन नहीं है। वहाँ व्यवहार को मूढ कहा। क्योंकि, व्यवहार को जाननेवाला जगा नहीं, वह तो मूढ है। ऐसी बात है ! कठिन लगे, परंतु क्या हो सकता है ? शुभभाव तो अनादिरूढ - अनादि से चला आ रहा है। नौवीं ग्रैवेयक गया तो भी शुभभाव। निगोद में गया वहाँ भी शुभभाव। इस तरह अनंतबार (शुभभाव) किये। इसमें नयी चीज़ क्या है ? अज्ञानी को अनादिरूढ, व्यवहारमूढ कहा है। क्योंकि आत्मा जागृत हुआ नहीं है और आनंद का अनुभव हुआ नहीं है। राग की - पंचमहाव्रतादि की क्रिया का जितना पालन करते हैं उन सबको मूढ बताया।

काम को नष्ट किया है अर्थात् वह वस्तु में नहीं है। अनादिरूढ का व्यवहार वह (भी) उसमें नहीं है। संस्कृत में (टीका में) तीन शब्द हैं : `तेऽनादिरूढव्यवहारमूढाः प्रौढविवेकं निश्चयमनारूढाः' -प्रौढ विवेकवाले निश्चय (-निश्चयनय) पर (वे) अनारूढ हैं। प्रौढ विवेक (अर्थात्) विकल्प से (राग से ज्ञान को) भिन्न करना। महा भेदविज्ञान। अतिशय राग से भेदज्ञान करना। ऐसे प्रौढ विवेकवाले निश्चय (-निश्चयनय) पर (जो) अनारूढ हैं; (वे) राग में आरूढ हैं, अनादिरूढ हैं, व्यवहारमूढ हैं (और) निश्चय में अनारूढ हैं। कुछ समझमें आया ?

यहाँ कहते हैं कि : `जिसने दुर्वार काम को नष्ट किया है।' उसका अर्थ यह कि : इसमें (वस्तु में काम) है ही नहीं। यहाँ तो त्रिकाली को बतलाना है। (वह) काम का नाश करनेवाला कहाँ है ? परंतु उसके अवलंबन से काम का नाश होता है। (अतः) यों कहने में आता है कि : त्रिकाली वस्तु काम का नाश करनेवाली है।

(अब कहते हैं :) `**जो पापरूप वृक्ष को छेदनेवाला कुठार है।**' `कुठारः' (माने कुल्हाडी।) पाप शब्द में पुण्य-पाप दोनों समाहित हैं। पुण्य - दया, दान, व्रत के परिणाम; पाप - हिंसा, झूठ (आदि के परिणाम); - ये दोनों पाप हैं !

`योगसार' (- गाथा-७१ में) `योगीन्द्रदेव'ने (कहा है न ...!) `पापरूप को पाप तो जाने सब कोई, पुण्यतत्त्व भी पाप है, कहे अनुभवी बुध कोई।' पाप को तो सब पाप कहते हैं; परंतु अनुभवीजन, सम्यग्दृष्टि जीव तो पुण्य को (भी) पाप कहते (हैं)। यह बात पहले आ चुकी - `अघ' कहते हैं। पुण्य व पाप - दोनों अघ हैं, पाप हैं ! आहा...हा...! बात कठिन लगे। क्या करें ?

सम्यग्दर्शन चीज़ कोई ऐसी है कि पुण्य व पाप जिसमें नहीं है ऐसी चीज़ (भगवान

आत्मा) का, वह अनुभव करता है। अथवा पुण्य-पाप (रूपी) वृक्ष को छेदनेवाला है। त्रिकाली के अवलंबन से पुण्य व पाप का छेदन होता है; इस कारण से पापरूपी वृक्ष को छेदनेवाला कहा है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

वहाँपर यों ले कि : पाप को छेदनेवाला है और पुण्य को रखनेवाला है, ऐसा है क्या ? (नहीं, ऐसा नहीं है)। पाप में पुण्य व पाप दोनों आ गये। 'अघ' कहते हैं न...! पुण्य-पाप दोनों को अघ - पाप कहते हैं।

आहा...हा...! अपना स्वरूप शुद्ध, चैतन्य, पवित्र, केवल पवित्रता का पिंड प्रभु; इससे विरुद्ध सभी भावों को भगवान तो पाप कहते हैं। (यहाँ) पापरूप वृक्ष लिया है न, वृक्ष ! पापरूप वृक्ष अनादि से फलाःफूला है। शुभ के असंख्य प्रकार। अशुभ के असंख्य प्रकार। उसके पेटाभेद (प्रभेद) लो तो अनंत प्रकार। - ऐसा शुभाशुभ का पापरूप वृक्ष, उसका छेदन करनेवाला कुठार है। आहा...हा...! वस्तु के अंदर तो यह नाश करने योग्य चीज़ (पुण्य-पाप) है ही नहीं। नाश करने की (प्रवृत्ति) तो पर्याय में करने योग्य है। परंतु उसके (वस्तु के) अवलंबन से नाश होती है। तो इस कारण से कहा कि : त्रिकाली चीज़ पापरूप वृक्ष का छेदन करनेवाला कुठार है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

यह 'दीपचंदजी' हो गये न...! 'अनुभवप्रकाश' के रचयिता, 'चिद्विलास' के रचयिता। उन्हों ने एक 'अध्यात्म पंच संग्रह' बनाया है। उसमें आखिर में लिखा है कि : अरे...रे ! इस समय देखें तो आगम के अनुसार सच्चे श्रद्धावाला कोई दिखता नहीं है। अध्यात्म का सत्य वक्ता भी कोई दिख नहीं रहा। मैं सत्य बात कहता हूँ तो (लोग) सुनते नहीं हैं। (अतः) मैं लिखकर जा रहा हूँ ! उस समय (ऐसा) लिख लिखा था ! कि : आगम अनुसार, स्वभाव के आश्रयपूर्वक जो अंतर में सम्यक्श्रद्धा चाहिए ऐसी कोई श्रद्धा कहीं भी दिखती नहीं है। और ऐसे सत्य वक्ता (जो कि ये कहे कि) 'त्रिकाली के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, व्यवहार से नहीं। व्यवहार बंध का कारण है; इस बंध के कारण से 'अबंधभाव' के अबंध परिणाम उत्पन्न नहीं होते; ऐसा कोई सत्य वक्ता दिख नहीं रहा। और (हम) अपने मुँह से कहते हैं तो कोई मानता नहीं है; ऐसा है। करणानुयोग में 'भिन्न साध्य-साधन' ऐसा लिखा है। परंतु यह किस अपेक्षा से लिखा है ? यह समझे नहीं। और (हम) कहें तो मानते नहीं हैं; अतः लिखकर जा रहा हूँ कि मार्ग कोई ओर चीज़ ही है !

यहाँ कहते हैं कि : 'जो पापरूप वृक्ष को छेदनेवाला है।' द्रव्य में तो पुण्य-

पाप की गंध भी नहीं है। (फिर भी अज्ञानी) उसका (पुण्य-पाप का) आश्रय लेता है, परंतु वह (द्रव्य) तो पुण्य-पाप का नाश करनेवाला है। पुण्य-पाप की उत्पत्ति करनेवाला द्रव्य नहीं है। आहा...हा...! 'पापरूप वृक्ष' - पुण्य, पाप दोनों हाँ ? शुभ व अशुभभाव दोनों पाप ! (और उसका छेदन करनेवाला) भगवानआत्मा !

('समयसार') 'जयसेन आचार्य' की टीका। पुण्य-पाप अधिकार की आखिर में ऐसा लिखा है कि : व्यवहार रत्नत्रय पाप है ! शिष्य का प्रश्न है कि यह तो पाप का अधिकार चल रहा है इसमें आप यहाँपर यह (बात) कहाँ से लाये ? (तो कहते हैं कि :) राग आता है तो स्वभाव से पतित होता है अतः पाप है ! ऐसा संस्कृत (पाठ) है :- 'यद्यपि व्यवहारमोक्षमार्गो निश्चयरत्नत्रयस्योपादेयभूतस्य कारणभूतत्वादुपादेयः परम्परया जीवस्य पवित्रताकरणात् पवित्रस्तथापि बहिर्द्रव्यालंबनत्वेन पराधीनत्वात्पतति नश्यतीत्येकं कारणं निर्विकल्पसमाधिरतानां व्यवहारविकल्पालंबनेन स्वरूपात्पतितं भवतीति द्वितीयं कारणं। इति निश्चयनयापेक्षया पापम्।' - दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम निश्चयनय से पाप हैं। कोई सारा याद रहता है ? यहाँ तो भाव खयाल में रहता है !

यहाँ कहते हैं : यह पाप-पुण्य व पाप दोनों - (रूप) वृक्ष को आत्मा छेदन करनेवाला है। अथवा इसमें (आत्मा में वह) है नहीं। अतः पुण्य-पाप के वृक्ष को छेदन करनेवाला कहा। और उसका आश्रय लेने से पुण्य-पाप का छेदन होता है अतः छेदन करनेवाला कहा।

(अब कहते है :) '**जो शुद्ध ज्ञान का अवतार है।**' आहा...हा...! यह (आत्मा) तो शुद्ध ज्ञानस्वरूपी है। अवतार (माने) जन्म लेता है न ! तो अवतार लिया। यह शुद्ध ज्ञान अवतार ही है। त्रिकाली शुद्धज्ञान अवतारी प्रभु है। वह कोई नया उत्पन्न होता है, ऐसा नहीं है। शुद्ध ज्ञान अवतार - त्रिकाली चीज़ शुद्ध ज्ञान का ही जन्म है। शुद्ध ज्ञान की उसमें उत्पत्ति (अर्थात् विद्यमानता) है। उत्पत्ति पर्याय में होती है, यह नहीं। (परंतु) शुद्ध ज्ञान अनादि से ही है। उसे यहाँपर सम्यग्दर्शन का विषय कह रहे हैं।

आहा...हा...! 'जो शुद्ध ज्ञान का अवतार है।' शुद्ध ज्ञान अवतार का अर्थ : शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। वह तो त्रिकाली शुद्ध स्वरूप है। भगवान ! पर्याय से दूर है। कहा न ? संवर-निर्जरा की पर्याय से भी दूर है। वह शुद्ध ज्ञानस्वरूपी है। पुण्य-पाप के विकल्प से - राग से (भिन्न है)। व्रत-तप का हो या उपवास करूँ और यह करूँ

और वह करूँ - ये सब विकल्प है; (यह) विकल्प, स्वरूप में तो नहीं है। गुण-गुणी का भेद लक्ष में लेना, यह भी एक विकल्प है, राग है; उस राग से भिन्न शुद्ध ज्ञान का अवतार है। शुद्ध ज्ञानस्वरूपी त्रिकाली है। आहा...हा...! 'जो शुद्ध ज्ञान का अवतार है।'

दो मुख्य बात ले रहे हैं। ज्ञान व सुख। (तो कहते हैं :) '**जो सुखसागर की बाढ़ है।**' आहा...हा...! सुखसागर की बाढ़ है। बाढ़ दो प्रकार से हैं - सम्यग्दर्शन-ज्ञान होनेसे पर्याय में सुखसागर की बाढ़ आती है। किन्तु वह वस्तु ही (स्वयं) सुखसागर की बाढ़ है; अंदर सुखसागर की बाढ़ आई है। आहा...हा...!

भाई ! प्रभु का मार्ग (यह है)। यहाँ तो भव का छेद करने की बात है। जिससे भव मिले वह तो अनंतबार मिला और अनंतबार किया, वह कोई चीज़ नहीं है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

क्या कहा ? पहले ज्ञान लिया फिर सुख लिया। दोनों मुख्य लिये हैं। 'जो सुखसागर की बाढ़ है' समंदर के किनारे जो बाढ़ आती है, वह तो पर्याय है। किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि : 'जो सुखसागर की बाढ़ है' - अंदर सुखसागर का ज्वार पड़ा है। आहा...हा...!

शुद्धभाव का अधिकार चल रहा है न...! शुद्धभाव (अर्थात्) ध्रुव, त्रिकाल। जो सम्यग्दर्शन का विषय (है)। कहते हैं कि (वह) तो सुखसागर की बाढ़ है। अतीन्द्रिय आनंद का पूंज है, प्रभु ! आहा...हा...! इस सक्करकंद में सक्करकंद के ऊपर का लाल छिलका न देखो, तो (वह) सक्कर की मीठास का पिंड है। उस प्रकार यहाँ पर्याय को न देखो तो वस्तु है उसमें तो अतीन्द्रिय सुखसागर की बाढ़ है। (इसमें) अतीन्द्रिय आनंद - सुखसागर पड़ा है। वह शुद्धभाव है। ध्रुवभाव है। नित्यभाव है। सामान्यभाव है। अबद्धभाव है। ज्ञायकभाव है। आहा...हा...!

एक समयमात्र में - अनुभव होने पर, समस्त संसार का अंत आ जाता है, बापू ! वह सम्यग्दर्शन क्या चीज़ है ? वह किस प्रकार उत्पन्न होता है ? और उत्पन्न होता है तो अंदर कैसी दशा होती है ? इसका तो पता तक नहीं है और बाहर से (शुभक्रियाएँ) करें। अनादि से करता है। और नौवीं ग्रैवेयक जाय ऐसे शुभभाव तो इस काल में होते भी नहीं हैं। वहाँ तो पंचमहाव्रत, २८ मूल गुण इत्यादिका पालन इस प्रकार किया कि चमडी उधेडकर नमक छिडक दे तो भी क्रोध न करे, ऐसा शुभभाव था। शुकललेश्या थी। ऐसी शुकललेश्या तो इस समय नहीं होती। आहा...हा...! ऐसी-ऐसी

शुक्ललेश्या व शुभभाव की कोई कीमत नहीं है। आहा...हा...! मूल्यहीन चीज़ों की कदर-कीमत (अनादि से की है।) !

('समयसार' गाथा-३१ में है न...!) 'णाणसहावाधियं मुणदि आदं' भगवानआत्मा, राग एवं वर्तमान पर्याय से भी भिन्न, सुखसागर की बाढ़ है, ज्ञान का गंज (है); उसे यहाँ शुद्धभाव, निश्चय आत्मा, वास्तविक आत्मा कहा गया है। आहा...हा...! 'जो सुखसागर की बाढ़ है।'

(अब, कहते हैं कि :) '**और जो कलेशोदधिका किनारा है।**' (कलेश (अर्थात्) दुःख, उदधि (अर्थात्) सागर)। दुःखरूपी सागर का तो वहाँ किनारा है। कलेश की (वहाँ) गंध नहीं है। राग की, कलेश की वहाँ गंध तक नहीं है। भव एवं भव के भाव की उसमें गंध (भी) नहीं है। कुछ समझमें आया ?

('समयसार') निर्जरा अधिकार कलश - १८२ में 'अमृतचंद्राचार्य' ने कहा है : शुभभाव करो तो करो, वह कलेश है, राग है, दुःख है। ('क्लिश्यंतां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम्')।

(यहाँ कहते हैं :) 'कलेशोदधि - कलेशरूपी सागर; उसका किनारा है, अंत है। जिसमें वह है ही नहीं। अथवा जिसके आश्रय से कलेशरूपी सागर का अंत आ जाता है। इसमें दो अर्थ लेने। संस्कृत में '**क्लेशवाराशिपारः**' शब्द है। समुच्चय अर्थ लिया 'जो कलेशोदधिका किनारा है, अंत है।'

आहा...हा...! '**वह समयसार (शुद्धात्मा) जयवंत वर्तता है।**' - ('जयवंत रहो' ऐसा नहीं कहा। पहला शब्द है : '**जयति समयसारः**' - वह समयसार जयवंत वर्तता 'है'। (जो) ध्रुवस्वरूप (है वह दुर्वार) काम की वासना का नाश करनेवाला, पापरूप वृक्ष का छेदनकरनेवाला, कलेशोदधिका किनारा (है) अर्थात् उसमें वह है ही नहीं; ऐसा शुद्धात्मा जयवंत वर्तता है। जयवंत वर्तता है। त्रिकाल जयवंत वर्तता है ! किन्तु किसको ? जिसको कि अनुभव पर्याय में हुआ उसे 'यह' त्रिकाल जयवंत वर्तता है। क्या कहा ? - सुखसागर, ज्ञानावतार जयवंत वर्तता है। परंतु किसको ? ज्ञान में अनुभव आया नहीं, ऐसा भान हुआ (नहीं) उसे (तो) यह चीज़ (ऐसी) है ऐसा (उसे) कहाँ से आया ? वर्तमान ज्ञानपर्याय में वह ज्ञेय का ज्ञान न हो तो 'वह जयवंत वर्तता है' ऐसा निर्णय किसने किया ? कुछ समझमें आया ? ऐसी बात है !

'जयवंत वर्तता है' ऐसा कहा न...! '**जयति समयसारः**' पहला शब्द है। '**जयति समयसारः**' विशुद्धभाव समयसार त्रिकाली... हाँ ! इसमें। द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मरहित

त्रिकाली चीज़ समयसार जयवंत वर्तती है ! आहा...हा...!

'बहिनश्री के वचनामृत' (बोल-३०६) में ऐसा शब्द पड़ा है। 'जागतो जीव विद्यमान है, वह कहाँ जायेगा ?' इसका अर्थ यह है। 'जागता जीव (अर्थात्) ज्ञायकभाव, ध्रुवभाव, त्रिकाली, वीतरागस्वभावभाव ऐसा जीव' 'विद्यमान' माने ध्रुव है। आहा...हा...! यह जयवंत वर्तता है। जागता (अर्थात्) ज्ञायकभाव ऐसा जीव ध्रुव है। 'वह कहाँ जाय ?' ध्रुव कहाँ जाय ? ओ हो...हो...! किन्तु किसको ? जिसको कि पर्याय में भान हुआ कि 'यह तो जागता जीव जयवंत वर्तता है,' ऐसा सम्यग्दर्शन हुआ, उसे 'जागता जीव जयवंत वर्तता है' ऐसा भान में आया। जिसे (यह) चीज़ खयाल में नहीं आई उसको 'जयवंत वर्तता है' - ऐसा किस प्रकार कहा जाय ? कुछ समझमें आया ?

आहा...हा...! यह जागता जीव माने ज्ञायकभाव अथवा सभी तत्त्वों में सार, समस्त नष्ट होने योग्य भावों से दूर, दुर्वार काम को नष्ट किया है, (पापरूपवृक्ष का छेदन करनेवाला), शुद्धज्ञान का अवतार, (सुखसागर की बाढ़, कलेशोदधिका किनारा) - ऐसा त्रिकाली (शुद्धात्मा) ज्ञान की पर्याय में और सम्यग्दर्शन की पर्याय में, (जयवंत वर्तता है)। द्रव्य पर्याय में आता नहीं है किन्तु पर्याय में द्रव्य का खयाल आया कि - यह द्रव्य ऐसा है, जयवंत है, त्रिकाल है, ध्रुव है, नित्य है, शुद्धज्ञानपूंज प्रभु ध्रुव, अस्तिरूप से जयवंत वर्तता है। पहले नास्ति से बात की : समस्त नष्ट होने योग्य भावों से दूर, जिसने दुर्वार काम को नष्ट किया है, पापरूप वृक्ष का छेदन करनेवाला है। और अस्तिसे : शुद्धज्ञान का अवतार है, (सुखसागर की बाढ़ है, जयवंत वर्तता है)। जिसे ऐसा खयाल आया उसको यहाँ कहते हैं कि 'जयवंत वर्तता है' ऐसा भान हुआ। परंतु जो पर्यायबुद्धि में, रागबुद्धि में, राग की रुचि में पड़ा है उसे (तो) 'जयवंत वर्तता है' ऐसी चीज़ तो खयाल में आई नहीं तो उसे जयवंत वर्तता है - ऐसा नहीं है, उसे तो राग जयवंत वर्तता है। आहा...हा...! मार्ग (ऐसा) है, भाई !

इतने बोल कहकर आखिर में यह लिया : **'जयति समयसारः'** यह चीज़ है वह जयवंत वर्तती है ! ऐसा पर्याय में अनुभव हुआ, श्रद्धा में ध्येय बनाकर श्रद्धा हुई, निर्विकल्प अनुभव हुआ, वह कहते हैं कि - यह चीज़ तो जयवंत वर्तती है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

यों तो ग्यारह अंग में 'आत्मा नित्य है, ध्रुव है' (क्या) नहीं सुना है ? अनंतबार ग्यारह अंग कंठस्थ किये। एक आचारांग में १८ हज़ार पद हैं और एक एक पद में ५१ करोड़ से अधिक श्लोक हैं ! तो ग्यारह अंग का अभ्यास किया उसमें

यह बात (क्या) नहीं आई ? धारणाज्ञान में व जानकारी में तो यह बात आई थी। किन्तु उसका अनुभव नहीं था। 'यह चीज़ है' ऐसा उसे अनुभव नहीं था।

('छह ढाला') में यों कहा न...! 'मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रैवेयक उपजायो; पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।' - इसका अर्थ क्या हुआ ? कि : पंचमहाव्रत अदि परिणाम सुख नहीं है, दुःख है। मुनिव्रत धारकर अनंतबार ग्रैवेयक में उत्पन्न हुआ। परंतु आत्मज्ञान बिना लेश भी सुख नहीं मिला अर्थात् वह दुःख था !

आहा...हा...! कठिन बात है, प्रभु ! 'कलश' में पहले यह बात आ चुकी है। बात कठिन तो है, असंभव नहीं है प्रभु ! तेरी चीज़ है न...!

अन्यमत में आता है : 'मेरी नज़र की आलससे जी, मैंने नीरखे न नयनसे हरि।' अपने यहाँ 'हरि' आत्मा को कहते हैं। 'पंचाध्यायी' में है। 'पापम् अघम् हरति इति हरिः' 'हरि' किसे कहते हैं ? जो (अन्यमति) हरि कहते हैं वह नहीं। (परंतु) जो पुण्य-पाप के भाव को हरति - नाश करे; पर्याय में स्वभाव की उत्पत्ति हो, संख्या में अनंतगुण, सभी गुणों का एक अंश व्यक्त हो; उसने आत्मा को नज़र से देखा। बाकी (अपने) नयनों के प्रमादवश जी, अपनी नजर के आलस्यवश (माने) नज़र पर्याय में व राग में रुक गई, (अतः) भगवान को देखा नहीं है। वहाँ (रागादि के) प्रेम में फस गया। आनंदघनजी तो यों कहते हैं, श्वेतांबर हैं फिर भी। बाद में दिगंबर शास्त्रों का थोड़ा पठन होगा ऐसा लगता है। संभवनाथजी की स्तुति में ऐसा कहते हैं - 'द्वेष अरोचक भाव।' राग के प्रेमी को (अर्थात्) व्यवहार रत्नत्रय के प्रेमी को स्वरूप के प्रति द्वेष है। 'आनंदघनजी' की २४ स्तुति हैं। बहुत समय पूर्व (संवत) ७८ में सब देखा है। उसमें है। 'संभवदेव ते धूर सेवो सेवे रे, लही प्रभु-सेवन भेद; सेवन - कारण पहिली भूमिका रे, अभय अद्वेष, अखेद।' १. भय चंचलता हो जे परिणामनी रे, द्वेष अरोचक भाव; खेद प्रवृत्ति हो करतां थाकी रे, दोष अबोध लिखाव। संभवदेव...(२)' जिसे दया, दान, व्रत, भक्ति आदि राग का प्रेम है उसे भगवान - आनंद के प्रति द्वेष है। 'द्वेष अरोचक भाव।' उसे (भगवान आत्मा) रुचता (पसंद) नहीं है, यह द्वेष है। और (उसे) राग रुचिकर लगता है। वहाँ का प्रेम छोड़कर यहाँ (आत्मा में) प्रेम हुआ, भान हुआ तो कहते हैं 'जयवंत वर्तता है।'

पूर्ण हुआ अब।

***

श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्यदेवप्रणीत

श्री नियमसार

श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित संस्कृत टीका

(शुद्धभाव अधिकार)

गाथा-५०

पुव्वत्तसयलभावा परदव्वं परसहावमिदि हेयं।
सगदव्वमुवादेयं अंतरतच्चं हवे अप्पा।।५०।।

पूर्वोक्तसकलभावाः परद्रव्यं परस्वभावा इति हेयाः।
स्वकद्रव्यमुपादेयं अन्तस्तत्त्वं भवेदात्मा।।५०।।

हेयोपादेयत्यागोपादानलक्षणकथनमिदम्।

ये केचिद् विभावगुणपर्यायास्ते पूर्वं व्यवहारनयादेशादुपादेयत्वेनोक्ताः शुद्धनिश्चयनयबलेन हेया भवन्ति। कुतः ? परस्वभावत्वात्, अत एव परद्रव्यं भवति। सकलविभावगुणपर्यायनिर्मुक्तं शुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपं स्वद्रव्यमुपादेयम्। अस्य खलु सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहज-परमवीतरागसुखात्मकस्य शुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपस्याधारः सहजपरमपारिणामिक-भावलक्षणकारण-समयसार इति।

❋

हिन्दी अनुवाद

अन्वयार्थ :- [पूर्वोक्तसकलभावाः] पूर्वोक्त सर्व भाव [परस्वभावाः] पर स्वभाव हैं, [परद्रव्यम्] परद्रव्य हैं, [इति] इसलिये [हेयाः] हेय हैं, [अन्तस्तत्त्वं] अंतः तत्त्व [स्वकद्रव्यम्] ऐसा स्वद्रव्य - [आत्मा] आत्मा - [उपादेयम्] उपादेय [भवेत्] है।

टीका :- यह, हेय-उपादेय अथवा त्याग-ग्रहण के स्वरूप का कथन है।

जो कोई विभावगुणपर्यायें हैं वे पहले (४९ वीं गाथा में) व्यवहारनय के कथन द्वारा उपादेयरूप से कही गई थीं किन्तु शुद्धनिश्चयनय के बल से (शुद्धनिश्चयनय से) वे हेय हैं। किस कारण से ? क्योंकि वे परस्वभाव हैं, और इसीलिये परद्रव्य हैं। सर्व विभावगुणपर्यायों से रहित शुद्ध - अंतःतत्त्वस्वरूप स्वद्रव्य उपादेय है। वास्तव में सहजज्ञान-सहजदर्शन-सहजचारित्र-सहजपरमवीतरागसुखात्मक शुद्ध-अंतःतत्त्वस्वरूप इस स्वद्रव्य का आधार सहजपरमपारिणामिकभावलक्षण (- सहज परम पारिणामिक भाव जिसका लक्षण है ऐसा) कारणसमयसार है।।५०।।

*

प्रवचन- ६, दि. ४-२-१९७८

`नियमसार' गाथा-५०। भेदज्ञान की विशेष बात है। एकदम सूक्ष्म (विषय) है। पहले जरा मूल पाठ (अन्वयार्थ) लें : `**पूर्वोक्त सर्व भाव**' - निर्मल पर्याय से लेकर राग व निमित्त - ये सब परद्रव्य हैं, परभाव हैं। `**पूर्वोक्त सर्वभाव परस्वभाव हैं, परद्रव्य हैं, इसलिये हेय हैं; अंतः तत्त्व ऐसा स्वद्रव्य**' - त्रिकाली ज्ञायकभाव, पूर्णानंदस्वरूप, ध्रुव - `**आत्मा उपादेय है।**' आहा...हा...!

टीका :- `यह हेय-उपादेय अथवा त्याग-ग्रहण के स्वरूप का कथन है।'

वास्तव में ऐसी बात है ! यह `कलशटीका' के कलश-५९ में की : `वाःपयसोः' `वाः' माने पानी। `पयसोः' माने दूध। यह दोनों भिन्न हैं। फिर कलश-६० में लिया कि : अग्निसंयोग से पानी गरम हुआ, किन्तु उष्णता अग्नि की है, पानी की नहीं। पानी तो स्वभाव से शीतल है। शीतलता पानी का स्वभाव है। किन्तु (ऐसा) दोनों का ज्ञान होता किसको है कि - पानी शीतल है और उष्णता अग्नि की है, पानी

अग्नि के निमित्त से उष्ण हुआ है ? (`गर्म पानी') अपेक्षा से कहा गया (फिर भी) उष्णता अग्नि की है, ऐसा भेदज्ञान किसे हो ? अर्थात् ऐसा यथार्थरूप से किसको जानने में आता है ? (कि -) स्वरूपग्राही ज्ञानी को ! आहा...हा...! क्या कहा ? `आत्मा आनंदस्वरूप है' ऐसा जिसे अनुभव हुआ, उसे स्वरूपग्राही ज्ञान, कहते हैं। (यह ज्ञान) उपादेय - स्वरूपग्राही ज्ञान हुआ। उसको पानी, शीतल व (उसमें) उष्णता अग्नि के निमित्त से है, (ऐसा) उसका भेद अर्थात् यथार्थ ज्ञान, स्वरूपग्राही ज्ञानी को होता है। क्या कहा ? कुछ समझमें आया ? उष्णता अग्नि की है, पानी स्वभाव से शीतल है); इसका भी ज्ञान - व्यवहारज्ञान - जिसे आत्मज्ञान हुआ हो (उसको होता है) अर्थात् उसे - स्वरूपग्राही ज्ञानी को - व्यवहार का सच्चा ज्ञान होता है। यूँही पानी शीतल है और उष्णता अग्नि के निमित्त से हुई है, (क्या) ऐसा भेद, अज्ञानपने में होता है ? - नहीं होता ! यों कहते हैं। `कलश' ६० में देखो : `अग्नि व पानी की उष्णता व शीतलता का भेद निजस्वरूपग्राही ज्ञान से प्रगट होता है।' - क्या कहना है ? (कि :) पर का वास्तविक ज्ञान भी जिसे अपना होता है, उसीको होता है। आहा...हा...! पानी शीतल (है) व उष्णता अग्नि के निमित्त से हुई, ऐसा परद्रव्य का भेद भी जिसे अपना आत्मज्ञान हुआ है (उसे ही होता है)। राग से भिन्न होकर आनंद का अनुभव हुआ, उस आनंद का अनुभवी जीव, स्वरूपग्राही ज्ञान से उसको (-शीतलता व उष्णता को) भिन्न जानता है। (कोई) कहे कि : (क्या) लौकिक (जन) नहीं जानते ? तो कहते हैं कि : ना, किन्तु इसमें (`कलश' में) है कि नहीं ? कारण है कि नहीं ? `मोक्षमार्गप्रकाशक' में (भी) लिया है : अज्ञानी के तीन विपर्यास होते हैं - कारणविपर्यास, स्वरूपविपर्यायस और भेदाभेदविपर्यास। यह तो अज्ञानी को होते ही हैं। यों कहते हैं कि : अज्ञानी, (अर्थात्) जिसे आत्मा आनंदस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, ऐसा ज्ञान जिसको हुआ नहीं है; और (ज्ञान) राग से भिन्न है, ऐसा भान जिसको हुआ नहीं है वह, परद्रव्य को जानने में भी तीन (विपर्यास)में से कोई न कोई भूल तो करता ही है। कुछ समझमें आया ? पाठ (कलश) तो यों है : `ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था।' यह ज्ञान माने स्वरूपग्राही (बाद में अर्थ लिया है - निजस्वरूपग्राही) ज्ञान - `मैं ज्ञानस्वरूपी हूँ, राग से भिन्न हूँ,' ऐसा भेदज्ञान - जिसे हुआ हो वही पानी की शीतलता व अग्नि की उष्णता का यथार्थ बोध कर सकता है। अज्ञानी के तो कुछ न कुछ भूल होती (ही) है। (जो) जीव राग की रुचि में पड़ा है (उसे तो) अंतर आनंदरूप अपना स्वरूप उपादेय नहीं हुआ। आहा...हा...!

ऐसी बातें हैं !! वास्तव में तो स्व के ग्राही - स्वरूपग्राही ज्ञानी को ही उष्णता व शीतलता का - पर का - ज्ञान होता है। आहा...हा...! बहुत सूक्ष्म बात ! क्या कहा ? समझमें आया ? स्वरूप जो चैतन्य आनंदकंद प्रभु है, ध्रुव सहजात्मस्वरूप (जिसे) स्वसंवेदन में आया है, स्ववस्तु वेदन में आई है, स्वसंवेदन - स्व=अपने+सम्= प्रत्यक्ष+वेदन - में आत्मा आया है, उसे ही शीतलता व उष्णता का ज्ञान - पर का ज्ञान - यथार्थ होता है। दो बोल लिये हैं। बाद में लिया है कि : 'नमकीन व्यंजन' ऐसा जानने में आये वह - झूठा है। व्यंजन से भिन्नत्वपूर्वक 'नमकीन लवण (नमक) का स्वभाव' ऐसा जानपना निजस्वरूप के जानपने द्वारा (प्रगट) होता है। कुछ समझमें आया ?

एकबार ऐसा हुआ कि, राणपुर के पास हडमतिया है, वहाँ 'श्रीमद् राजचंद्र' आये थे। उस समय 'श्रीमद् राजचंद्रजी' की (अंतर्) स्थिति बहुत ऊँची थी ! उस समय हिन्दुस्तान में ऐसा कोई आत्मा नहीं, ऐसी (उनकी) स्थिति थी। किन्तु वे गृहस्थाश्रम में थे ! (लोग) तो बाह्य त्याग को मानते हैं न...? अब उस एकांत गाँव में २५-५० लोग इकट्ठे हुए। सब्जी (परोसने में) आया तब उन्होंने कहा कि : (इसमें) नमक ज्यादा है। बिना चखे ही हाँ...! (किसीको लगा कि साहेब ने तो) सब्जी छोंकते हुए देखा नहीं है। चखा नहीं है तो कैसे जाना ? तब कहते हैं कि, लौकीका जो शाक है उसे यदि पानी में उबाले तो उसके रेसे तूटते नहीं हैं, किन्तु रेसे टूट गये हैं, अतः उसमें खार (नमक) ज्यादा पड़ा है। इस तरह हमने देखकर कहा कि : नमक ज्यादा है। (फिर जब) लोगों ने चख लिया तो (सब्जी) खारी (थी)। किस प्रकार जाना ? भाई ! मैंने अपने ज्ञान से जाना ! इसमें कुछ समझमें आया ? उस समय 'श्रीमद् राजचंद्रजी' की शक्ति बहुत थी। किन्तु लोग पहिचान नहीं पाये। पत्नी, परिवार थे; किन्तु उसमें समकिती को क्या ? समकिती को ज्ञानधारा व कर्मधारा दोनों होती हैं - आत्मज्ञानधारा भी होती है और साथ में राग भी होता है, अशुभ भी होता है (ऐसी) कर्मधारा होती है। दोनों साथ में (होती हैं)। जब तक (पूर्ण) वीतराग न हो तब तक दोनों धाराएँ चलती हैं।

(यहाँ कहा :) व्यंजन खारी नहीं है; किन्तु व्यंजन में खारापन लवण का है, सब्जी है वह खारी (नमकीन) नहीं है। (नमकीनपना) भिन्न चीज़ है। देखो यहाँ ('कलश'-६० में) यह कहा कि : निजस्वरूप के जानपने द्वारा प्रगट होता है। 'व्यंजन नमकीन नहीं है, और नमकीन लवण है' ऐसा भेदज्ञान - पर का ज्ञान हाँ ! - वह भी 'ज्ञानात्'

(अर्थात्) निजस्वरूप के जानपने द्वारा प्रगट होता है। आहा...हा...! गज़ब बात है !! जिसे अपना ज्ञान हुआ हो, चैतन्य स्व-परप्रकाशक के आनंद का वेदन हुआ हो, राग से भिन्न होकर सम्यग्दर्शन हुआ हो उसे नमकीनपना नमक का है और सब्जी नमकीन नहीं है, इसका ज्ञान भी स्वरूप (ग्राही) ज्ञानी को ही होता है। कुछ समझमें आया ?

यहाँपर अपना यह चलता है : `यह हेय-उपादेय' (के स्वरूप का कथन है)। परंतु `हेय' का ज्ञान किसे होता है ? दो शब्द पड़े हैं न...! `हेय' `उपादेय' परंतु `हेय' का ज्ञान, यथार्थ किसे होता है ? (कि -) जिसे अपना आनंदस्वरूप, पूर्णानंद ज्ञायकभाव, ध्रुव उपादेयरूप से अनुभव में आया है उसे रागादि परद्रव्य, पर्याय आदि (के हेयपने का यथार्थ ज्ञान होता है)। यहाँ पर्याय को भी परद्रव्य गिनने में आई है। (यद्यपि) निर्णय करती है पर्याय; किन्तु पर्याय का विषय ज्ञायक-त्रिकाली है। इसका ज्ञान जिसे हुआ हो (उसे) उसके उपादेयपने का ज्ञान हुआ होता है, और उसे (ही) परद्रव्य माने पर्याय (के हेयपने का ज्ञान यथार्थ होता है)। आहा...हा...! पर्याय (मात्र) परद्रव्य है ! राग-व्यवहार, यह तो परद्रव्य, बहुत दूर रह गया ! और निमित्त परद्रव्य (वह भी) बहुत दूर रह गया !

`यह हेय-उपादेय अथवा त्याग-ग्रहण के स्वरूप का कथन है।' हेय माने त्याग। और ग्रहण माने उपादेय। यह राग का त्याग व स्वरूप की उपादेयता अर्थात् स्वरूप का ग्रहण यानी कि त्याग - ग्रहण के स्वरूप का कथन है। इस ५० वीं गाथा में स्वरूप का कथन है।

बहुत सूक्ष्म बात है, भगवान ! यह तो धैर्यवानों का काम है। यूँ तो नौवीं ग्रैवेयक तक चला गया; पंचमहाव्रत धारण करके साधु हुआ, निरतिचार - आंशिकरूप में भी अतिचार नहीं, ऐसे व्रत (पालन किये) फिर भी मिथ्यादृष्टि ! क्योंकि (उसे) अंदर में बहुत गहराई में उस राग के अंश की उपादेयता (विद्यमान) है। क्योंकि, उसकी दृष्टि वहाँ (राग पर) पड़ी है न...! कुछ समझमें आया ? और सम्यग्दृष्टि को (तो पर्यायमात्र हेयरूप भासित होती है)।

आहा...हा...! कहा न...? `श्रेणिक राजा' ने सिर फोडा या चाहे जिस प्रकार से मरण किया न...! किन्तु वह रागधारा (है, उससे) भिन्न ज्ञान(धारा) है। `राग' परद्रव्य का दोष है। वह समकित का दोष नहीं है, चारित्रदोष है। चारित्र-दोष से श्रद्धा-सम्यग्दर्श में कोई दोष नहीं लगता ! क्योंकि दोनों गुण भिन्न हैं। (यदि चारित्र-दोष से) सम्यग्दर्शन में दोष लगें, तो चारित्र पूर्ण होवे तब सम्यग्दर्शन पूर्ण होवे,

(किन्तु) ऐसी तो (वस्तुस्थिति) नहीं ! चारित्र पूर्ण होवे तब सम्यग्दर्शन पूर्ण होवे ऐसा तो नहीं बनता। (सम्यक्त्व प्रथम पूर्ण होता है।)

'गोम्मटसार' में कहा है : अविरत (अव्रती) सम्यग्दृष्टि हैं, वे इन्द्रिय से (इन्द्रियों के विषय से) व हिंसादि से विरक्त नहीं हैं। 'वे अभी विरक्त नहीं है' यह किस अपेक्षा से ? कि - वे 'आसक्ति की अपेक्षा से' विरक्त नहीं हैं। बाकी सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से तो वे इन्द्रियों से विरक्त हैं।

'समयसार' गाथा-३१ (में तो यों कहा है कि :) 'जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।' जिसने इन्द्रियों को जीता है। 'जीता है' का अर्थ क्या ? कि - द्रव्यइन्द्रिय, भावइन्द्रिय व इन्द्रिय के विषय (- इन तीनों को जीता है)। इन्द्रिय के विषयभूत पदार्थ में भगवान की वाणी (भी समाविष्ट है, ऐसा) कहते हैं तो बेचारे लोगों को कठिन लगता है कि : आप भगवान की वाणी को इन्द्रिय का (विषय) कहते हो ? यहाँ तो (उसे भी) इन्द्रिय में शामिल किया गया है। चाहे तो जड़ इन्द्रिय हो, चाहे तो भावेन्द्रिय हो, चाहे तो इन्द्रिय के विषयभूत पदार्थ हो - भगवान की वाणी इत्यादि हो - इन तीनों को इन्द्रिय कहा है। इन तीनों इन्द्रियों को जीतना, 'जो इंदिये जिणिता' इन्द्रिय को जीतने का अर्थ (यह है) कि : पर की ओर का लक्ष छोडकर, स्व-अतीन्द्रिय आत्मा की दृष्टि करना, अनुभव करना - उसे (यहाँपर) इन्द्रियों को जीता, यों कहा जाता है।

और 'गोम्मटसार' में जो कहा कि : 'समकिती इन्द्रियों से विरक्त नहीं हैं' वह (बात) इस प्रकार से नहीं है। समकिती इन्द्रियों में आसक्त तो हैं। उन्हें राग भी है, विषयवासना भी उठती है, लडाई भी होती है। समकिती को, क्षायिकसमकिती को लडाई ?! तीर्थंकर-शांतिनाथ, कुंथुनाथ और अरनाथ - चक्रवर्ती, तीन ज्ञान, तीन दर्शन व क्षायिक समकिती, उनके ९६ हज़ार रानीयों के भोग और लडाई ! आहा...हा...! ज़रा-सा राग होता है। किन्तु (वे) उस राग को कर्मधारा जानकर, स्व के ग्राहक हैं। वे तो उसे (राग को) हेयरूप जानते हैं। उससे मुझे लाभ है और.. .मेरे में है, ऐसा (वे) नहीं जानते। आहा...हा...! अब यह अंतर (फर्क) किसे मालूम पड़े ? बहुत मुश्किल !

'समयसार नाटक' में तो, 'बनारसीदास' ने ऐसा कहा कि : ऐसे समकिती को हमारी वंदना है। 'भेदविज्ञान जग्यो जिन्ह के घट, शीतल चित्त भयौ जिम चंदन। केलि करै सिव मारग मैं, जग माहिं जिनेसुर के लघु नंदन। सत्यसरूप सदा जिन्हकै,

प्रगटयो अवदात मिथ्यात-निकंदन। सांतदसा तिन्हकी पहिचानि, करै कर जोरि बनारसि वंदन।' हाथ जोड़कर `बनारसीदास' वंदन करते हैं। सम्यग्दृष्टि की स्तुति (मंगलाचरण का छठा पद) है। जब राग से भिन्नत्व का भेदज्ञान किया, जिस राग में आकुलता थी उससे अनाकुल भगवान का भेदज्ञान हुआ तब जिस प्रकार चंदन शीतल है उस प्रकार शांति (अर्थात्) अकषाय का अंश प्रगट हुआ। (वह) `केलि करै सिव मारगमैं, जगमांहि जिनेसुरके लघु नंदन।' यह बात समकिती - चौथे गुणस्थान की है। अपना आत्मा अबंधस्वरूप केलि करता है। अंदर में एकाग्र है न...! भले (एक अंश में) राग होवे, `सत्यसरूप सदा जिन्हकै, प्रगटयो अवदात मिथ्यात -निकंदन।' यहाँ तो मिथ्यात्व का नाश किया। `सांतदसा तिन्ह की पहिचानि, करै कर जोरि बनारसि वंदन।' इतना महात्म्य किया है !

मिथ्यादृष्टि नौवीं ग्रैवेयक गया। निरतिचार व्रतपालन किये। हज़ारों रानीयाँ छोड़ी। कई बार बालब्रह्मचारी रहा, अनंतबार भी रहा। (किन्तु) उससे हुआ क्या ? वह तो बाहर की क्रिया है।

यह अंतर वस्तु जो चैतन्यघन प्रभु; उसका जब अंतर में दृष्टि करके, राग से भिन्न होकर, भान हुआ, तब इन सम्यग्दृष्टि को राग वास्तव में हेय है। (उनको) उसका (राग का) यथार्थ ज्ञान होता है। और उनको कर्मधारा का (भी) वास्तविक ज्ञान होता है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? (विषय) सूक्ष्म तो है, प्रभु ! क्या करें ? मार्ग तो ऐसा है ! सम्यग्दर्शन हुआ तब भव का अंत आ गया। भव का छेद हो गया। क्योंकि, वस्तु में भव व भव के कारण का अभाव है; अतः जब वस्तु की दृष्टि हुई तब भव का छेद हो गया। इसके (समकित के) बिना (किसी भी प्रकार से निस्तार नहीं है)।

`समयसार नाटक' में तो वहाँ तक कहते हैं कि - वे (समकिती) चलते हैं तब भी समाधि है। मौन हैं वह समाधि है। बोलते हैं वह समाधि है। क्योंकि (राग को) हेयरूप जानते हैं; अतः उसको राग का स्वामित्व नहीं है। इस वज़ह से कहते हैं कि, उनको राग आता है फिर भी समाधि है। राग के कारण नहीं, किन्तु राग से भिन्न रहते हैं अतः अंतर में उनको समाधि है। आहा...हा...! चलते हैं, फिर भी अडोल हैं ! राग हो रहा है फिर भी अंदर में समाधि है। समकिती गृहस्थाश्रम में बसे हो या बाहर जंगल में बसे हो, वे तो अपने में (ही बसे हैं)। अपने शांत स्वभाव के स्वाद में, कहीं पर राग आये तो उसका स्वाद अपनेरूप नहीं दिखता,

ज़हर दिखता है। ज्ञानी शुभराग को भी ज़हर देखते हैं। काला नाग देखते हैं। 'समयसार नाटक' में आता है - काला सर्प। कुछ समझमें आया ?

(यहाँ कहते हैं कि) जिसे अंतर में ज्ञायकरूप चिदानंदघन, ध्रुव ऐसा स्वद्रव्य उपादेयरूप होता है। उपादेय माने यह द्रव्य उपादेय है ऐसा विकल्प नहीं, किन्तु दृष्टि द्रव्य पर जाती है तब द्रव्य उपादेय हो गया ऐसा कहने में आता है। यह द्रव्य है और मैं उपादेय करूँ, ऐसा विकल्प भी (वहाँ) नहीं है। कुछ समझमें आया ?

यह तो यहाँ पहले शीर्षक में दिया है : 'यह, हेय-उपादेय अथवा त्याग-ग्रहण के स्वरूप का कथन है।' आहा...हा...! गज़ब बात है, प्रभु तेरी !! तू कौन है ? कहाँ है ? कितना बड़ा है ? इसकी तुझे खबर नहीं है।

अब, दूसरी पंक्ति : '**जो कोई विभावगुणपर्यायें हैं।**' इसका स्पष्टीकरण : जो कोई विभावगुणपर्यायें हैं - विभावगुणपर्यायें सारी हाँ...! चारों पर्याय विभावभाव में। इसलिये विभावगुणपर्याय। '**वे पहले (४९ वीं गाथा में: व्यवहारनय के कथन द्वारा उपादेयरूप से कही गई थी।**' उपादेय माने जानने योग्य, ग्रहण करने योग्य। यहाँ ग्रहण करना माने जानना। समझमें आया ?

'पंडित टोडरमलजी' ने ('मोक्षमार्ग प्रकाशक' में) सातवें अधिकार में कहा है कि : 'जिनमार्ग में किसी ज़गह तो निश्चयनय की मुख्यता सहित व्याख्यान है (उसे तो 'सत्यार्थ' ऐसा ही है यों जानना) और किसी ज़गह व्यवहारनय की मुख्यता सहित व्याख्यान है उसे 'ऐसा नहीं हैं।' किन्तु निमित्तादि की अपेक्षापूर्वक उपचार किया है, ऐसा जानना। इस प्रकार से जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है।' ग्रहण का मतलब ऐसा नहीं लेना कि यह भी ग्रहण करने लायक है और यह भी ग्रहण करने लायक है। ग्रहण माने जानना... बस ! कुछ समझमें आया ?

'समयसार' गाथा-१२ में यह आया है : 'ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरसे ट्ठिदा भावे' (जो जीव अपरमभाव से अर्थात् श्रद्धा तथा ज्ञान-चारित्र के पूर्ण भाव तक नहीं पहुँच सके हैं, साधक अवस्था में ही स्थित हैं वे व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।) जो अपरमभाव में (स्थित) हैं उन्हें व्यवहार में - पर्याय में अपूर्णता है, शुद्धि कम है और अशुद्धता का अंश है उसे 'तदात्वे' जाना हुआ, उस काल में प्रयोजनवान है। ऐसा पाठ संस्कृत में (टीका में) है। 'तदात्वे' में बहुत गंभीरता है। समय समय का ज्ञान जानने लायक है... बस ! पहले समय में शुद्धि ऐसी (कम) थी, और बाद में शुद्धि की वृद्धि हुई और अशुद्धि कम हुई, अतः उस समयपर उस प्रकार से जानना-

ग्रहण है। पर्याय की उत्पत्ति ही ऐसी होती है,'तदात्वे' जिस समय की बात है उस समय जानने लायक है। कुछ समझमें आया ? (बाकी) सब ऐसा अर्थ करते हैं कि 'निम्न दशा में व्यवहार का उपदेश' करना। (किन्तु) ऐसा अर्थ ही नहीं है। अर्थ करने में बहुत विपरीतता हो गयी'।

यहाँपर ऐसा कहा कि : 'जो कोई विभावगुणपर्याय हैं वे पहले व्यवहारनय के कथन द्वारा उपादेयरूप से कहे गये थे' '**परंतु शुद्ध निश्चयनय के बल से (शुद्धनिश्चयनय से) वे हेय हैं।**' शुद्ध निश्चयनय के बल से... आहा...हा...! अपना शुद्ध चैतन्य भगवान, वह निश्चयनय का विषय, उसे यहाँपर 'शुद्ध निश्चयनय के बलसे...' नय तो ज्ञान की पर्याय है परंतु यहाँ शुद्ध निश्चयनय के विषय को शुद्धनय कहा है, शुद्धनिश्चयनय के बल से... आहा...हा...!

'समयसार' ११ वीं गाथा में कहा न...! 'ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।' शुद्धनय से भूतार्थ बताया। त्रिकाल है उसे हम शुद्धनय कहते हैं। 'ववहारोऽभूयत्थो' पर्यायमात्र अभूतार्थ है। 'भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।' भूतार्थ... भूतार्थ त्रिकाल भगवान, शुद्ध ध्रुव, नित्यानंद प्रभु वही शुद्धनय है। नय तो ज्ञान का अंश है; और भूतार्थ है वह तो उसका विषय है। परंतु अध्यात्म की शैली में विषय में भेद नहीं करके उस भूतार्थ को (ही) शुद्धनय कहा है। फिर तीसरे पद में ले लिया : 'भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो।'

यहाँ ('नियमसार' गाथा-४९ में) व्यवहारनय के कथन द्वारा (विभावगुणपर्यायों को) उपादेय यानी जाननेयोग्य कह दिया था; परंतु यहाँपर शुद्धनिश्चयनय के बल से, शुद्धनय के बल से वे हेय हैं। - कौन ? कि : वह क्षायिकसमकित की निर्मल समकितपर्याय उसे यहाँ परद्रव्य, परभाव कहकर हेय कहा है। व्यवहाररत्नत्रय तो शुभराग है, वह तो हेय है, उसकी बात तो (दूर रही) परंतु जिस प्रकार परद्रव्यमें से (स्वद्रव्य की) पर्याय आती नहीं है उस प्रकार एक समय की पर्यायमें से नयी पर्याय नहीं आती। सम्यग्दर्शन हुआ, अनुभव हुआ, परंतु शुद्धि की वृद्धि परद्रव्यमें से नहीं आती। परद्रव्य के लक्ष से नहीं आती। और पर्यायमें से भी नहीं आती। वह शुद्धि की वृद्धि द्रव्यमें से आती है। पर्यायमें से शुद्धि की वृद्धि नहीं आती। जिस प्रकार (शुद्धि व शुद्धि की वृद्धि) परद्रव्यमें से नहीं आती उस प्रकार पर्यायमें से (भी) नहीं आती अतः उस पर्याय को भी परद्रव्य कह दिया। आहा...हा...! ऐसी सूक्ष्म बातें हैं ! वस्तु की स्थिति अंदर में तो ऐसी है ! गहन... गहन विषय है।

इस शुद्धनिश्यनय के बल से वे हेय हैं। ये चारभाव हैं वे हेय हैं। क्षायिकभाव, उपशमभाव, क्षयोपशमभाव ये भी हेय हैं। क्योंकि चारों भावों को विभावभाव कहे हैं।

वहाँ 'पंचास्तिकाय' गाथा-५८ में चार भाव को कर्मजनित (कृत) कहे हैं। वहाँ फिर ले लिया कि यदि कर्मजनित हैं तो फिर आत्माने क्या किया ? तो कहते हैं कि विकारभाव हैं तो आत्मा के ही अज्ञान से। वे कोई कर्म से नहीं हुए। किन्तु कर्म के लक्ष से - निमित्त से उपाधि हुई है। इस वज़ह से कहने में आता है कि चार भाव निमित्त से हुए।

यहाँपर चार भाव को हेय कहे है। क्षायिक समकित को भी हेय कहा है।

जिज्ञासा :- केवलज्ञान को भी हेय कहा है ?

समाधान :- केवलज्ञान तो इस समय है ही नहीं इसलिये मैंने नहीं कहा। सारी बातें खयाल में हैं। (यहाँ) केवलज्ञान है नहीं, अतः श्रुतज्ञानी को हेय है; यह तो एक नय से विचार करने पर हेय है, परंतु वर्तमान तो है नहीं। वर्तमान तो (जोड़नी) क्षायिकसमकित होता है; उपशमभाव होता है, क्षयोपशमसमकित (होता है); औदयिकभाव होता है, वह तो ठीक, औदयिकभाव तो विकार है। वर्तमान में तो क्षायिकभाव हो नहीं सकता; परंतु उस क्षायिक की जोड़नी (संधि) हो सकती है। भगवान के श्रीमुख से क्षायिक के दो भेद आये हैं : एक मूल क्षायिक और (दूसरा) वह जो कि क्षयोपशम है वह क्षायिक होनेवाला है, गिरनेवाला नहीं है, वह जोड़नी क्षायिक। इस जोडणीक्षायिक का अर्थ भगवान के श्रीमुख से आया है। क्षायिक तो क्षायिक ही है। परंतु जिसे क्षयोपशम (इस प्रकार का हो उसे जोडणीक्षायिक कहा जाता है)।

'प्रवचनसार' गाथा-९२ (की टीका में) 'अमृतचंद्राचार्य' कहते हैं कि : हमारे मिथ्यात्व का नाश आगम कौशल्य से व आत्मज्ञान से हुआ है। अतः मिथ्यात्व पुनः उत्पन्न होगा ही नहीं। है तो क्षयोपशम समकिती। फर्क पडेगा नहीं। ऐसा पाठ है। परंतु प्रभु ! आप तो छद्मस्थ हो ! भगवान का विरह हुआ है। हज़ार वर्ष बाद हुए। और भगवान के पास तो 'कुंदकुंदाचार्य' गये थे। आप तो गये नहीं थे। (किन्तु कहते हैं) हमारी आत्मा पुकार रही है !

('समयसार') गाथा-३८ में है। उसमें (भी) यों लिया है कि : हमें जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ वह कभी भी गिरेगा नहीं ! क्यों ? कि - हमारा आत्मा पुकार रहा है। यह तो क्षयोपशम (समकित) है (परंतु) वह क्षायिक लेगा। आहा...हा...! हमारे आत्मा की साक्षी है।

आहा...हा...! पूरा समंदर भरा पड़ा है। `समयसार' `प्रवचनसार' `नियमसार' `पंचास्तिकाय', `गोम्मटसार' - कोई भी शास्त्र लो, अंदर गंभीर भाव भरे पड़े हैं !

उन्हों ने (`अमृतचंद्राचार्य' ने) कहा। क्या कहा ? (कि -) हमें मिथ्यात्व नहीं होगा, यों कहते हैं कि बिलकुल नहीं होगा। हम क्षयोपशममें से क्षायिक लेंगे, लेंगे और लेंगे ही। हमारा अप्रतिहत भाव है, ऐसा कहते हैं। आहा...हा...हा...! (यह बात) कई गाथाओं में आती है।

यहाँ तो कहते हैं कि : यह क्षयोपशमभाव है वह भी हेय है। क्षयोपशम में ऐसा निर्णय हुआ है कि, हम गिरनेवाले नहीं हैं। (इस क्षेत्र में) इस समय क्षायिक तो है नहीं। भगवान के समीप जाय तो क्षायिक होता है। (वह भी) यहाँ के जीव को तो होता नहीं है; वहाँ (विदेहक्षेत्र के) जीव को होता है। `कुंदकुंदाचार्य' (भगवान के समीप तो) गये किन्तु उनको (क्षायिक) हुआ नहीं। किन्तु यह भाव हुआ था : हमें जो मुनिपना आया, वह चारित्र तो देह के अंत तक रहेगा। स्वर्ग में जायेंगे वहाँ चारित्र नहीं रहता। किन्तु हमें जो सम्यग्दर्शन है व सम्यक्ज्ञान है वह तो अप्रतिहत है, वह तो निश्चित क्षायिक लेकर, केवलज्ञान लेकर ही रहेगा ! आहा...हा...! ऐसी वस्तुस्थिति बापू ! कुछ समझमें आया ? यहाँ तो उन भावों को भी हेय कहा ! आहा...हा...! संतलोग केवलज्ञानी के पथपंथी (आड़तिया) हैं, (ऐसे) दिगंबर संतों की वाणी तो अंतरमें से आई है। लेकिन उस वाणी का मर्म समझना बहुत कठिन, प्रभु ! वह वाणी तो वाणी है, जड़ है, वह (कोई) चेतन नहीं है। वह हेय है। किन्तु उस हेय का ज्ञान भी स्वरूप के अनुभवी को होता है।

मैं शुद्ध चैतन्यघन आनंदकंद प्रभु हूँ, ऐसा स्वरूप का ज्ञान है, वहाँ (सच्चा) ज्ञान है। शुद्धोऽहं... बुद्धोऽहं... शुद्ध हूँ। बुद्ध हूँ उदासीन हूँ। मैं त्रिकाल ऐसा हूँ। और सभी जीव, सर्व काल अंदर में ऐसे ही हैं। इस पर व्याख्यान हो चुके हैं। (`समयसार') बंध अधिकार और सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में आखिर में है और `परमात्मप्रकाश' में (भी) अंत में है; इस तरह से (यह बात) तीन ज़गह हैं। मैं उदासीन हूँ, ज्ञायक हूँ... और सभी जीव ऐसी ही हैं। वस्तुतः सभी जीव ऐसे ही हैं। अभव्य जीव भी ऐसे हैं। पर्याय में भले उसे प्रगट न होवे; किन्तु हम तो सभी जीवों को भगवानस्वरूप जानते हैं। सर्व जीव सर्व काल (ऐसे ही हैं)। क्योंकि हमारी पर्यायदृष्टि छूट गई और द्रव्यदृष्टि हुई अतः हम तो पर को भी द्रव्यदृष्टि से देखते हैं कि वे (सभी) भगवानस्वरूप ही हैं। पर्याय में भूल होवे तो भले होवे उसके पास। कुछ

समझमें आया ?

यहाँ तो बहुत कठिन बात है - चारों भावों को हेय कहा ! क्षायिक(ज्ञान), केवलज्ञान से नीचे (वालों को) नहीं है। परंतु (क्षायिक) समकित तो नीचे (के गुणस्थान में भी है)। चौथे पाँचवें, छठे (गुणस्थान में) क्षायिक समकित है। और क्षायिकसमकिती श्रेणी चढ़ता है, कोई उपशम श्रेणी भी चढ़ता है। कोई क्षायिकसमकिती हो और श्रेणी उपशम चढ़े तो फिर गिर जाय किन्तु समकित से च्युत नहीं होते। और क्षायिकसमकित हो और क्षपक श्रेणि चढे वह तो केवलज्ञान ले लेवे। परंतु क्षायिकसमकित हो और उपशम श्रेणी चढे वहाँ पुरुषार्थ की - स्थिरता की मंदता है अतः वह उपशम श्रेणी चढे तो फिर गिर जायेगा, और यदि उपशम श्रेणी में मृत्यु हो जायेगी तो सर्वार्थसिद्धि में जायेंगे। कुछ समझमें आया ?

(यहाँ) तो कहते हैं कि - उपशम हो चाहे क्षायिक हो, (वह हेय है।) आहा...हा...! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बंधे वह भाव तो उदयभाव है, वह तो हेय ही है। पंचमहाव्रतादि के विकल्प आते हैं वे भी हैं तो हेय। जब क्षायिक-उपशमभाव हेय है तो उदयभाव की बात क्या करनी ? कुछ समझमें आया ? (पहले जो क्षायिक आदि को) उपादेय कहा था, वह शुद्ध निश्चयनय के बल से हेय है। आप किस कारण से (उसे) हेय कहते हो ? उसका कोई तर्क या न्याय है या नहीं ? यह विशेष कहा जायेगा...

***

जीव अजीवके भेदोंको जाननेका हेतु भेदविज्ञान करना हे । आस्रव, पुण्यादिके कथनोंका हेतु भी पुण्य-भाव करावाना नहीं है, बल्कि वीतराग-भावकी उत्पत्ति होना है। जैन-दर्शनका मर्म द्रव्यानुयोगमें है, अतः यथार्थ प्रकारके द्रव्यानुयोगको समझना चाहिए। (परमागमसार - ९१३)

प्रवचन- ७, दि. ५-२-१९७८

'नियमसार' गाथा-५०। टीका। फिर से थोड़ा ले लें। '**यह, हेय-उपादेय अथवा त्याग-ग्रहण के स्वरूप का कथन है।**' जिसे पर्याय का ज्ञान ही नहीं है या 'पर्याय है ही नहीं' उसे तो द्रव्य का भी ज्ञान यथार्थ होता (ही) नहीं। (यहाँपर) हेय-उपादेय दो का भेद बताया न...? 'है' एवं 'हेय' भी चीज़ है न...! आत्मा की पर्याय में क्षायिकभाव, क्षयोपशमभाव, केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि सभी पर्याय हैं, वह व्यवहारनय से है ! आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, भगवान ! व्यवहारनय से यानी पर्यायदृष्टि से वे (पर्यायें) हैं। और पर्याय में विकार भी है। इतना ज्ञान जिसे नहीं है उसे त्रिकाली ज्ञायकभाव का ज्ञान सच्चा होता नहीं है ! 'है' यानी आश्रय करने योग्य है, ऐसा नहीं है। कुछ समझमें आया ? अतः दो शब्दों का उपयोग किया है न...! हेय-उपादेय। यहाँ पर्यायभाव हेय है। वह आश्रय करने योग्य नहीं है। आहा...हा...! उदय, उपशम, क्षयोपशम व क्षायिक - ये चार भाव हैं, यह व्यवहारनय का विषय है। (इसका) ज्ञान जिसे नहीं है उसे तो द्रव्य का भी ज्ञान यथार्थ नहीं है, अर्थात् (वहाँ) निश्चयाभास हो जाता है। वेदांत है न...! वे लोग पर्याय को मानते ही नहीं हैं। उस कारण से यहाँ हेय-उपादेय यह दो बातें ली हैं। 'पर्याय' हेय करने लायक है। पर्याय में विकार भी है और निर्विकारी पर्याय भी उत्पन्न होती है। (यदि) वह है नहीं तो उसे हेय किस प्रकार (कहें) ? हेय किसे करें ? कुछ समझमें आया ?

यह तो कल कहा था न कि : अग्नि उष्ण है व पानी ठंडा है ऐसा परपदार्थ का ज्ञान भी सच्चा (यथार्थ) किसे होता है कि जिसे स्वरूपग्राही ज्ञान हो उसे। स्वरूप अर्थात् त्रिकाली ज्ञायकभाव; जिसमें चार भाव नहीं हैं।

यह 'शुद्धभाव' अधिकार है न...! यह 'शुद्धभाव' त्रिकालीध्रुव को ही कहा है, यह 'शुद्धभाव' पर्याय की बात नहीं है। यह 'शुद्धभाव' - परमज्ञायकभाव, भूतार्थभाव, परमपारिणामिकभाव; जिसमें 'पर्याय' है ही नहीं ! 'पर्याय' पर्याय में है ! (परंतु) यदि

ऐसी 'पर्याय' पर्याय में है ही नहीं, विकृतअवस्था है ही नहीं और निर्मल अवस्था है ही नहीं, तो (वह निर्णय किया किसने ?) उस निर्णय को करनेवाली तो पर्याय है। कुछ समझमें आया ?

आहा...हा...! अंतर भगवान पूर्णानंदस्वरूप ध्रुव; उसमें तो क्षायिक पर्याय भी नहीं है। केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतआनंद, अनंतवीर्य - अनंतचतुष्टय, वह भी वस्तु में नहीं है। वह तो परम पारिणामिकभाव, ज्ञायकभाव, ध्रुवभाव, भूतार्थभाव - वह सम्यग्दर्शन का विषय - उसका आश्रय करने से शुद्धि उत्पन्न होती है, उसके आश्रय से शुद्धि टिकती है, उसके आश्रय से शुद्धि की वृद्धि होती है और उसीके (ही) आश्रय से शुद्धि की पूर्णता होती है। - यह एक ही सिद्धांत ! (फिर) भले मोक्षमार्ग से मोक्ष हुआ ऐसा कहा; किन्तु वह 'मोक्षमार्ग से मोक्ष हुआ' यह तो व्यवहार हुआ। वास्तव में तो त्रिकाली परम स्वभावभाव की दृष्टि व अनुभव हो, आश्रय हो तो समकित - मोक्षमार्ग होता है। मोक्षमार्ग भी इस ध्रुव के आश्रय से होता है। और मोक्ष भी ध्रुव के आश्रय से होता है। निश्चयमोक्षमार्ग हाँ ! व्यवहारमोक्षमार्ग तो कोई वस्तु ही नहीं है। वह तो विकल्प है। वह कोई मार्ग है ही नहीं। परंतु निश्चयमोक्षमार्ग जो कि सत्यमार्ग है। (- वह भी) जो परम पारिणामिकस्वभावभाव, अस्तिरूप संबंध, महाप्रभु चैतन्यामृत, चैतन्य के अमृत की बाढ़ से भरा हुआ भगवान, अनंत चतुष्टय की शक्ति - सामर्थ्य से - बल से - स्वभाव से भरा हुआ भगवान (है) - उसमें (नहीं है) ! (उसमें) तो चार भाव भी नहीं हैं !

एक भाई ने करणानुयोग बहुत पढ़ा है। उसमें से यों कहते हैं कि देखो - लब्धि से यह (समकित) होता है। किन्तु वहाँ लब्धि है वह शुभभाव है। और शुभभाव से अंदर (समकित) होता है (ऐसा वास्तव में है नहीं)। अरे भगवान ! जो पाँच लब्धि हैं उनको तो यहाँ क्षयोपशमभाव में शामिल कर दिया है, और (कहते हैं कि :) वह क्षयोपशमभाव वस्तु में नहीं है। अरे...रे...! जिसमें (जो) है नहीं उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान हो जाय ?

'गोम्मटसार' में करणलब्धि, देशनालब्धि आदि पाँच लब्धि आती हैं न...! प्रथम समकित प्राप्त करने से पहले पाँच लब्धि आती हैं। इसमें भी ('नियमसार') गाथा-४१ में आता है। इसमें ज़रा फर्क किया है। उसमें जो क्षयोपशम ली उसे यहाँ पर काललब्धि ली है। दो जगहपर हैं। काललब्धि, करणलब्धि, उपदेशलब्धि (यह देशनालब्धि), उपशमलब्धि और प्रायोग्यतालब्धि - ये पाँचों लब्धि हैं; किन्तु ये पाँचों

लब्धि वस्तु में नहीं हैं। इन पाँचों लब्धि से (समकित) प्राप्त हो यह भी व्यवहार है। भाई ! ऐसी बातें हैं !!

मुम्बई में करणानुयोग के प्रश्न रखे थे - इसका कैसे और इसका किस प्रकार से ? परंतु भाई ! यह चर्चा का विषय नहीं है, वाद-विवाद का विषय नहीं है, भगवान !

(यहाँ कहते हैं कि :) एक समय की पर्याय चाहे तो केवलज्ञान हो, या चाहे तो सिद्ध(दशा) हो (परंतु) वह अंदर परमस्वभाव(भाव) नहीं है।

जिज्ञासा :- इसके अलावा पूरी चीज़ में वह पर्याय है ही हीं ?

समाधान :- वह चीज़ (परमस्वभावभाव) सम्यग्दर्शन का विषय है। सम्यग्दर्शन है पर्याय, किन्तु वह पर्याय उसमें नहीं है। उसके (परमस्वभावभाव के) आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। लेकिन करणलब्धि से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है ऐसा तो व्यवहार से कहा गया है।

यहाँपर करणलब्धि को क्षयोपशम(भाव) में शामिल कर दिया है। दो जगहपर है। (`नियमसार') गाथा-४१ में है; काललब्धि, करणलब्धि, उपदेशलब्धि, उपशमलब्धि, और प्रायोग्यतालब्धि - ये भेद क्षयोपशमभाव के हैं। वे आत्मा में नहीं हैं। और दूसरी ज़गह गाथा-१५६ में है : `णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी। तम्हा वणयविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो।।' - इसमें भी (टीका में) पाँच लब्धियाँ ली हैं। काल, करण, उपदेश, उपशम और प्रायोग्यतारूप भेदों के कारण (लब्धि) पाँच प्रकार की हैं। आहा...हा...! क्या कहना है ? (यों कहना है) कि ये करणलब्धि व देशनालब्धि भी हेय हैं। ऐसा आया... न भाई ! काललब्धि यहाँपर क्षयोपशम है न...! पाँच लब्धि में क्षयोपशमलब्धि में यहाँ काललब्धि को लिया है। `जिस समय जो होना होगा वह होगा' यह काललब्धि। यहाँपर उसे क्षयोपशमभाव में लिया है। फिर भी वह कालब्धि वस्तु में नहीं है। (पुनश्च आचार्यदेव फरमाते हैं कि :) वचनविवाद स्वसमयों व परसमयों के साथ मत करना, भाई ! प्रभु ! यह तो अंतर की चीज़ है। तुझे वादविवाद से समझमें नहीं आयेगी। वादविवाद स्वसमयों के साथ करना नहीं और परसमयों के साथ करना नहीं। क्यों ? उस (वादविवाद की) मना है।

त्रिकाली द्रव्य ही परमपारिणामिक प्रभु, पूर्णानंद व पूर्णज्ञान, पूर्ण शक्ति का भंडार; जिस पर नज़र करने से, अनुभव करने से सम्यग्दर्शन होता है। आहा...हा...! उस चीज़ का तो खयाल नहीं है और बाहर की चीज़ में यों करो और त्यों करो और ऐसे करो। भाई ! भगवंत ! यह बात तो ऐसी है ! तेरी चीज़ ऐसी है कि : एक

समय की जितनी पर्यायें हैं - केवलज्ञान, केवलदर्शन व करणलब्धि ये भी (पर्याय की जाति हैं; तेरी जाति नहीं)। अतः (वहाँ) (करणलब्धि से) लेकर केवलज्ञान (तक) की सभी पर्यायें हेय हैं, (ऐसा कहा है) परंतु किसको ? 'हेय' का ज्ञान किसे यथार्थरूप में होता है ? यह बात बता रहे हैं।

यह तो गंभीर (विषय) है, भगवान ! यह दिगंबर संतों की वाणी कोई साधारण नहीं है। यह तो केवलज्ञान के पथपंथी (आड़तियाओं) के (अंतर) अनुभवों से यह बात आई है। आहा...हा...!

'यह, हेय-उपादेय अथवा त्याग-ग्रहण (के स्वरूप का कथन है)।' पर्याय का त्याग व वस्तु का ग्रहण। आहा...हा...! पर के त्याग व ग्रहण से भगवान शून्य है। भगवान माने आत्मा। भग=लक्ष्मी-ज्ञान-आनंद+वान(=वंत)=भग+वान। वह ज्ञान व आनंद की बाढ़ पड़ी है, वह लक्ष्मी-वान= आत्मा, उसका नाम भगवान कहते हैं।

आहा...हा...! समझमें आये इतना समझना, प्रभु ! यह मार्ग तो अलौकिक है, बापू ! यह कोई (ऊपर-ऊपर चलने से) हाथ आ जाय ऐसा नहीं है। यहो तो अंदर बड़ा महान भगवान पड़ा है।

हेय का ज्ञान व त्याग का ज्ञान। यहाँपर दो शब्द हैं न...! हेय कहो या त्याग कहो और उपादेय कहो या ग्रहण कहो (एकार्थ है)। जिसे अंतर में - पर्याय में (ऐसी मान्यता है कि) पर्याय बिलकुल है ही नहीं, और पर्याय में, विकार है ही नहीं, उसे तो व्यवहारज्ञान भी सच्चा नहीं है।

यहाँ तो जिसे व्यवहारज्ञान सच्चा है। किसे ? कि : जिसे भगवान पूर्णानंद, परमपारिणामिकस्वभाव, ज्ञायकभाव, भूतार्थभाव, पर्याय से रहित भाव का पर्याय में अनुभव हुआ (अर्थात्) पर्याय से रहित भाव को पर्याय में - अनुभव में लिया, (उसे व्यवहार का सच्चा ज्ञान होता है)।

आहा...हा...! ऐसी बात है, प्रभु ! तेरा भगवंत स्वरूप है, नाथ ! तू छोटा नहीं है। (तू) सिद्ध सदृश है ! वह गाथा आ चुकी न...! सिद्ध सदृश। पर्याय सदृश नहीं किन्तु सिद्ध सदृश जैसा स्वभाव सिद्ध का है वैसा तेरा द्रव्यस्वभाव। ('समयसार नाटक' में) आता है न...! 'चेतनरूप अनूप अमूरति, सिद्धसमान सदा पद मेरौ। मोह महातम आतम अंग, कियौ परसंग महा तम घेरौ। ग्यानकला उपजी अब मोहि, कहौं गुन नाटक आगमकेरौ। जासु प्रसाद सधै सिवमारग, वेगि मिटै भववास बसेरौ।'

आहा...हा...! इस घट (शरीर) में - मांस व हड्डीयाँ - इसमें रहना, भगवान !

कलंक है । 'गधे के सड़े हुए चर्म में मेसूब !' एक सेर चने का आटा (बेसन) और चार सेर घी, उसे मेसूब कहते हैं और एक सेर गेहूँ का आटा और चार सेर घी उसे सक्कपारा कहते हैं।

सकरकंद (सक्करकंदी) के छिलके को मत देखो, तो वह सक्कर की मीठास का पिंड है, उस प्रकार पर्याय को न देखो तो अंदर आत्मा में पूर्णानंद - अखंडानंद भरा है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

सूक्ष्म बात है, प्रभु ! मार्ग तो बहुत सूक्ष्म है। ये पैसेवाले, अरबपति और धूलपति सभी बेचारे दुःखी हैं। 'कलशटीका' में शब्द है - 'वराका'। वराका अर्थात् रंक - भिखारी हैं।

अपनी चीज़ भगवान (भग माने आनंद व ज्ञान) पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण वस्तु है। प्रभु ! आनंद व ज्ञान व शांति से लबालब भरा है। भगवान, जिसमें कि पौने सोलह आना नहीं है, ऐसे भगवान का आश्रय लेना व पर्याय का आश्रय छोड़ना। किन्तु आश्रय छोड़ने का ज्ञान किसे होता है ? कि, जिसने स्वरूप का आश्रय लिया व ज्ञान हुआ, उसको। पर्याय - हेय है' ऐसा यथार्थ ज्ञान होता है।

आहा...हा...! ऐसी सूक्ष्म बात है। इसमें तो जितना निकालो उतना निकले, ऐसा है ! यह तो प्रभु की वाणी है। बापू ! यह किसी साधारण - पामर का काम नहीं है। अंदरमें से यह बात मुनिजन - संतजन करते होंगे और सर्वज्ञ परमात्मा के श्रीमुख से दिव्यध्वनि आती होगी, आहा...हा...!

'श्रीमद् राजचंद्रजी' ने (पत्रांक-१६६) में कहा है कि : 'सत्पुरुष के प्रत्येक वाक्य में, प्रत्येक शब्द में अनंत आगम निहित हैं।' आहा...हा...! एक वाक्य में अनंत आगम ! अस्ति-नास्ति, पर्याय-द्रव्य, शुद्ध-अशुद्ध आदि अनेक प्रकार उसमें से निकलते हैं। हेय-उपादेय बहुत प्रकार एक-एक वाक्यमें से निकलते हैं !

यहाँ क्या कहना है ? 'पर्याय ही नहीं है' (ऐसी मान्यतावाले को) तो हेय का व उपादेय का ज्ञान भी सच्चा नहीं है। वह तो निश्चयाभासी है। आहा...हा...! पर्याय है ! विकल्प अवस्था भी है ! मिथ्यात्व के कारण उस राग की व पुण्य की क्रिया को मैं करता हूँ, ऐसा मानकर तू (अपने) स्वरूपसमंदर का भान भूल गया है। राग, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि शुभभाव पर्याय में हैं किन्तु उतना-सा ही मैं हूँ ऐसी पर्यायबुद्धि के कारण ऐसा मानकर संतुष्ट हो गया कि, मैंने दया का पालन किया, व्रत किये, ऐसा किया - वैसा किया - उसमें संतुष्ट हो गया (अतः) वह मिथ्यादृष्टि

है। यहाँ तो वह है उसे जानना; किन्तु है उसमें संतुष्ट हो जाना कि - वह ठीक है, मुझे शुभभाव हुआ, इतना किया... इतना किया, ब्रह्मचर्य का पालन किया, महाव्रतों का पालन किया, ऐसा किया और वैसा किया तो जो हेय हैं उनका भी उन्हें यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता है।

आहा...हा...! हेय-उपादेय और त्याग-ग्रहण - दोनों एक ही हैं। देखो ! ४९-गाथा में नीचे फुटनोट है :- `प्रमाणभूत ज्ञान में शुद्धात्मद्रव्य का तथां उसकी पर्यायों का - दोनों का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए।' `स्वयं को कथंचित् विभावपर्यायें विद्यमान है' ऐसा स्वीकार ही जिसके ज्ञान में न हो उसे शुद्धात्मद्रव्य का भी सच्चा ज्ञान होनहीं सकता। इसलिये `व्यवहारनय के विषयों का भी ज्ञान तो ग्रहण करने योग्य है।' ऐसी विवक्षासे ही यहाँ व्यवहारनय को उपादेय कहा है। (- जानने की अपेक्षा से), `उनका आश्रय ग्रहण करने योग्य है' ऐसी विवक्षा से नहीं। व्यवहारनय के विषयों का आश्रय (आलंबन - झुकाव-सन्मुखता - भावना) तो छोड़ने योग्य ही है ऐसा समझाने के लिये ५० वीं गाथा में व्यवहारनय को स्पष्टतरूप से हेय कहा जायेगा। जिस जीव के अभिप्राय में शुद्धात्मद्रव्य के आश्रय का ग्रहण और पर्याय के आश्रय का त्याग हो, उसी जीव को द्रव्य का तथा पर्यायों का ज्ञान सम्यक् है ऐसा समझना, अन्य को नहीं।' कुछ समझमें आया ?

यहाँ तो `हेय' भी है कि नहीं ? - है। यह हेय जिसे है उसे हेय है या नहीं है उसे होता है ? - पर्याय है, राग भी है, पर्याय में विकल्प भी है, राग व क्षयोपशम भी है। पुनःश्च आगे चलकर तो (साधक को) क्षायिकभाव भी होता है। शुरू से क्षायिकभाव में क्षायिकसमकित होता है। परंतु उसका आश्रय ग्रहण (करने) लायक नहीं है। आहा...हा...! मोक्षमार्ग है, किन्तु उसका आश्रय करने योग्य, ग्रहण करने योग्य नहीं है, ऐसा कहा है। आहा...हा...! गज़ब बात है, प्रभु !! मोक्षमार्ग है, पर्याय है; किन्तु उसका आश्रय ग्रहण करना, उसकी सन्मुखता से लाभ हो - ऐसी वस्तु की स्थिति नहीं है ! आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? थोड़ा कठिन (तो) है, भगवान ! परंतु वस्तु तो यह है !

(यहाँ) कहते हैं कि : `यह, हेय-उपादेय अथवा त्याग-ग्रहण के स्वरूप का कथन है।' **`जो कोई विभावगुणपर्यायें हैं'** - यहाँ तो केवलज्ञान को भी विभावगुणपर्याय कह रहे हैं। तो फिर करणलब्धि के पहले अधःकरण, अपूर्वकरण (और) अनिवृत्तिकरण आते हैं न...! उसकी तो बात बहुत दूर रह गई। उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है,

ऐसा नहीं है। जो क्षायिकसमकित हुआ - स्व के आश्रय से हाँ ! आश्रय तो स्व का (है) - उस क्षायिक सम्यक्त्व का भी आश्रय लेना, ऐसा नहीं है। क्योंकि पर्याय का आश्रय लेगा तो विकल्प उत्पन्न होंगे। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, प्रभु ! परम सत्य है !

आहा...हा...! भगवान अंदर विराजमान है न...! वह तो चार भाव से निराला है ! वास्तव में तो (जो) चार भाव हैं वे तो परम पारिणामिक स्वभाव को स्पर्श तक नहीं करते।

- क्या कहा ? 'समयसार' गाथा-४९ में 'अव्यक्त' के छह बोल हैं न...! उसमें से पाँचवें बोल में आया न... कि : 'व्यक्तता एवं अव्यक्तता दोनों मिश्रितरूप से उसको प्रतिभासित होने पर भी वह व्यक्तता का स्पर्श नहीं करता अतः अव्यक्त है।' (उसमें पहला बोल तो ऐसा है कि : 'छह द्रव्यरूप लोक ज्ञेय है, व्यक्त है उससे भिन्न आत्मा अव्यक्त है।' आहा...हा...! उसे यहाँपर 'शुद्धभाव' कहा और वहाँ 'अव्यक्त' कहा। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? थोड़ा-थोड़ा करके तो ले रहे हैं बापू ! किन्तु सूक्ष्म तो है। क्या करें ? बाहर तो कहीं यह इतना सारा (इतना सूक्ष्मः नहीं ले सकते; परंतु यहाँ सोनगढ़ में तो चल रहा है बहुत (सूक्ष्म)। (श्रोता :) आपने काफी सरल कर दिया है ! (उत्तर :) भाषा तो सरल है, प्रभु ! मार्ग तो ऐसा ही है। क्या करें ?

यहाँपर क्या कहा ? वह मोक्षमार्ग की पर्याय है वह हेय है। परंतु वह हेय किसके लिये हुई ? कि, जिसको द्रव्य के आश्रय से मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है उसको। त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से द्रव्य को ग्रहण किया उसे मोक्षमार्ग की पर्याय उत्पन्न हुई है, उसको मोक्षमार्ग की पर्याय का भी आश्रय ग्रहण करना है ऐसा नहीं है। आहा...हा...! वह कहा न कि 'विभावगुणपर्यायें।' केवलज्ञान-क्षायिकभाव भी विभावपर्याय है। (यहाँ) विभाव माने विकार, ऐसा नहीं। विभाव अर्थात् विशेष भाव। विकार भी विशेष भाव है और क्षायिकभाव भी विशेष भाव है। जो परमपारिणामिकभाव त्रिकाली है वह सामान्यभाव है और पर्यायमात्र विशेषभाव है। कुछ समझमें आया ?

जिज्ञासा :- विभावगुणपर्याय कहने का तात्पर्य क्या ?

समाधान :- गुणपर्याय - सभी पर्याय। गुण की पर्याय है वह। उस पर्याय को भी गुण कहा जाता है। शास्त्र में ऐसा है। सम्यग्दर्शन गुण ऐसा कहते हैं न...! सिद्ध को आठ गुण प्रगट हुए, ऐसा कहते हैं न...! क्या वे गुण हैं ? गुण प्रगट

होते हैं ? गुण तो त्रिकाल रहते हैं। वह तो भाषा (कथन) है : अवगुण की पर्याय का व्यय हुआ वहाँ गुण प्रगट हुआ, ऐसा कहा जाता है। (परंतु) गुण प्रगट नहीं होते। गुण तो त्रिकाली ध्रुव हैं। प्रगट होती है वह तो पर्याय है और नाश होती है वह भी पर्याय है। भगवान (आत्मा) उत्पाद-व्यय से भिन्न ध्रुव है। उसे यहाँ शुद्धभाव कहा गया है। आहा...हा...! क्या हो ? उस 'विभावगुणपर्याय' - गुण को भी पर्याय कहा गया है। वह गुण का भेद नहीं है, परंतु वह पर्याय का भेद है।

आहा...हा...! (जो कोई विभावगुणपर्यायें हैं) '**वे पहले (४९ वीं गाथा में) व्यवहारनय के कथन द्वारा उपादेयरूप से कही गई थी किन्तु शुद्धनिश्चयनय के बल से...**' यह विषय ४२ वीं गाथा के अंत में आया न...! 'ये सभी, उस भगवान परमात्मा को शुद्धनिश्चयनय के बल से (-शुद्धनिश्चयनय से) नहीं है।' आहा...हा...! (उदय-उपशम-क्षयोपशम-क्षायिक) चार भाव आदि, अरे ! चौदह मार्गणा हैं न...! मति-श्रुत-अवधि आदि ऐसे भेद - इस स्वरूप में नहीं हैं। चौदह जीवस्थान, जीव में नहीं हैं; चौदह गुणस्थान, जीव में नहीं हैं; चौदह मार्गणास्थान ये भी जीवमें नहीं हैं। - ऐसा जीव कौन है ? यह 'शुद्धभाव', ध्रुव, यही आत्मा है। पर्याय में तो व्यवहार - अभूतार्थ आत्मा हो गया। कुछ समझमें आया ? यहाँ गाथा-४२ में कहा न...! 'ये सब, उस भगवान परमात्मा को शुद्धनिश्चयनय के बलसे (-शुद्धनिश्चयनय से) नहीं हैं - ऐसा भगवान सूत्रकर्ता का अभिप्राय है।' 'पद्मप्रभमलधारिदेव' ने टीका में लिखा है। आखिर में देखो : 'एतानि सर्वाणि च तस्य भगवतः परमात्मनः शुद्धनिश्चयनयबलेन न सन्तीति भगवतां सूत्रकृताम-भिप्रायः।'

आहा...हा...! उसे दूसरी तरह से कहें तो आखरी गाथा-१८७ में इस प्रकार आता है न...! 'णियभावणाणिमित्तं' 'कुंदकुंदाचार्य' कहते हैं कि, निजभाव के निमित्त से - मेरी भावना के लिये 'मए कदं णियमसारणामसुदं' 'नियमसार' नाम का शास्त्र बनाया है। आहा...हा...! 'कुंदकुंदाचार्य' जो तीसरे नंबर पर हैं - 'मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी। मंगलं कुंदकुंदार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।।' वे आचार्य ऐसा कहते हैं कि, प्रभु ! यह शास्त्र मैंने अपनी भावना के लिये बनाया है, कोई तुम्हारे लिये नहीं (बनाया)। आहा...हा...! है ! 'णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं। णच्चा जिणोवदेसं पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं।।' (- पूर्वापर दोषरहित जिनोपदेश को जानकर मैंने निजभावना के निमित्त से नियमसार नाम का शास्त्र बनाना है।) मैंने तीनलोक के नाथ तीर्थंकर के उपदेश को जानकर आगे-पीछे किसी भी तरह के दोषसे रहित - अविरोधरूप

से आगम कहा है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? है कि नहीं (पाठ में) ? यह शब्द अन्यत्र कहीं आया नहीं है। `समयसार' गाथा-१ में ऐसा आया : `वंदितु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते। वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं।।' वहाँ तो फिर टीका में `अमृतचंद्राचार्य' ने दो अर्थ निकाले - केवली एवं श्रुतकेवली। पाठ में तो `सुयकेवलीभणियं' ऐसा आया है। और `नियमसार' गाथा-१ में ऐसा आया - `केवलिसुदकेवलीभणिदं' गाथा है न...! `णमिऊण जिणं वीरं अणंतवरणाणदंसणसहावं। वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदकेवलीभणिदं।।' यहाँ दोनों स्पष्ट कर दिये हैं - केवली एवं श्रुतकेवली से सीधा सुना है वह कह रहा हूँ ! कोई कहता है कि, शास्त्र में (ऐसी बात) कहीं भी नहीं है; किन्तु कहते हैं कि - `केवलि' और `सुदकेवलीभणिदं।' और (`समयसार' में) इतना लिया कि - `सुयकेवली भणियं।' किन्तु टीका में तो `अमृतचंद्राचार्य' ने केवली एवं श्रुतकेवली दोनों लिये हैं। यहाँ तो कहते हैं : `केवलि सुदकेवलीभणिदं' - मैंने केवली - भगवान की समीप से सीधा सुना है। और मैंने श्रुतकेवली जो बारह अंग के अनुभवी, ऐसे श्रुतकेवली की समीप से सुना है। और मैंने अपनी भावना के निमित्त - `णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं' - `नियमसार' नाम का शास्त्र बनाया है)। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

यहाँ कहते हैं कि : विभावगुणपर्याय - ये शुद्धनिश्चयनय के बल से - शुद्धनय के बलसे इसका अर्थ : शुद्धनिश्चयनय से - (हेय हैं)। शुद्धनिश्चयनय है तो पर्याय, निश्चयनय है तो पर्याय; किन्तु यहाँ पर्याय का विषय व पर्याय दोनों को एक करके शुद्धनिश्चयनय के बल से ऐसा कहा गया है। कुछ समझमें आया ? जिस प्रकार कल कहा था न...!

`समयसार' ११ वीं गाथा - `भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ' - भूतार्थ ते शुद्धनय है। `ववहारोऽभूयत्थो' - पर्यायमात्र अभूतार्थ है। `देसिदो दु सुद्धणओ' भूतार्थ को दिखाया शुद्धनय, उस भूतार्थ को शुद्धनय कहा। `शुद्धनय का विषय भूतार्थ' केवल इस प्रकार वहाँ नहीं लिया। उस तरह यहाँ भी इसी प्रकार ही लिया। यहँ ऐसा कहा कि - शुद्धनिश्चय के बल से, माने शुद्धनय तो ज्ञान की पर्याय है, परंतु उस ज्ञान की पर्याय का विषय जो ध्रुव - त्रिकाली है उसके बल से... आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? सूक्ष्म बात तो है, प्रभु !

यहाँ क्या कहा ? - `(जो कोई विभावगुणपर्यायें हैं वे पहले (४९ वीं गाथा में) व्यवहारनय के कथन द्वारा) उपादेयरूप से कही गई थी परंतु शुद्धनिश्चयनय के बल

से (**शुद्ध निश्चयनय से**) **वे हेय हैं।**' आहा...हा...! व्यवहारनय से केवलज्ञान है, सिद्धपद है। व्यवहारनय से संसारदशा है, मोक्षदशा है। - वह सारा व्यवहारनय का विषय है। परंतु शुद्धनिश्चयनय के बल से वे समस्त पर्यायें हेय हैं। उदयभाव-व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प - वह तो हेय है ही; वह तो असद्भूत है। परंतु जो सद्भूत पर्याय-निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पन्न हुई उसे भी यहाँ तो (शुद्ध) निश्चय के बल से - यानी त्रिकाली भगवान के आश्रय के कारण, त्रिकाली भगवान के ग्रहण के कारण - हेय कहा है। कुछ समझमें आया ? पहले खुलासा हो गया है। उदय के कई बोल, क्षयोपशम के, क्षायिक के और उपशम के बोल कहकर फिर कह दिया के वे सभी हेय हैं।

आहा...हा...! भगवान परिपूर्ण प्रभु, भगवत्स्वरूप, साक्षात् जिनस्वरूप है। ('श्रीमद् राजचंद्रजी' ने 'अभ्यंतर परिणाम अवलोकन - हस्त लिखित ७/१४ में लिखा है कि -)' 'जिन सो ही है आत्मा, अन्य होई सो कर्म;' अथवा (अन्य है वह) जिनका स्वरूप नहीं है। (एवं 'श्रीमद् राजचंद्र' पत्रांक-९५८ में आता है -) 'जिनपद निजपद एकता, भेदभाव नहीं कांई,' आहा...हा...! निजपद व जिनपद दोनों एकस्वरूप हैं। एक पर्याय में है और एक वस्तु में है। उस वस्तु को उपादेय-ग्रहण करने के लिये प्रथम कक्षा में पर्यायमात्र को हेय कहा। परंतु 'हेय' किसे होवे ? 'हेय' का ज्ञान किसे होवे ? यह बात अब बताते हैं कि - जिसे शुद्धस्वरूप, ध्रुव भगवान; पर्याय में - दृष्टि में - अनुभव में आया हो उसे हेय का ज्ञान यथार्थ होता है।

(पर्यायमात्र) आदरणीय नहीं है; परंतु ज्ञान करने के लिये तो वह चीज़ (पर्याय) है कि नहीं ? ज्ञेय तो है कि नहीं ? - 'व्यवहार' हेयरूप से ज्ञेय है और 'निश्चय' उपादेयरूप से ज्ञेय है। ज्ञेय तो दोनों हैं। 'ज्ञेय नहीं है' ऐसा नहीं। इसलिये कहा कि : शुद्धनिश्चय से (पर्यायमात्र) हेय है। ये तो गंभीर बातें, बापू ! पार पाया न जा सके ऐसी बात है !!

जिसे निमित्त की दृष्टि छोड़नी है, राग-व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प - की दृष्टि छोड़नी है, (उसके लिये यह मार्ग है)। परंतु ये (लोग) कहते हैं कि : 'शुभ करो। व्यवहार करते करते निश्चय होगा। व्यवहार सुधारो। अशुभ से बचने के लिये शुभ करो तो शुभ से लाभ होगा।' - बिलकुल नहीं। वह मिथ्या शल्य है। मिथ्यादर्शन शल्य है। वह जिनमार्ग नहीं है। आहा...हा...! मार्ग ऐसा है, भाई !

यहाँ कहते हैं कि : वे भाव (विभावगुणपर्यायें) सब हेय हैं। '**किस कारण से**

(**हेय हैं**) **?**' '**क्योंकि वे परस्वभाव हैं।**' यह शब्द लिया है : 'परस्वभाव हैं।' आहा...हा...! केवलज्ञान परस्वभाव है। - किस अपेक्षा से ? - त्रिकाली ज्ञायकभाव की अपेक्षा से पर्याय(मात्र) को परस्वभाव कहा गया है। कुछ समझमें आया ? 'परस्वभाव हैं' ले ! परद्रव्य के भाव को परस्वभाव कहे, राग को परस्वभाव कहे (यह तो ठीक, परंतु) यहाँ तो निर्मल पर्याय को परस्वभाव कहा ! ऐसी बात है, प्रभु !

आहा...हा...! त्रिलोकनाथ चैतन्य, पूर्ण भगवान - एक समय की पर्याय के पीछे - अंदर विराजमान है। उसकी दृष्टि करना। इसके बिना सम्यग्दर्शन कदापि होता नहीं है। लाख क्रियाकांड करके मर जाय...न, और ज्ञान का क्षयोपशम करके ११ अंग व नौं पूर्व तक का अभ्यास कर लेवे, उसमें क्या आया ? आहा...हा...! यहाँ इस परमभगवान, परमस्वभावभाव की अपेक्षा से पर्यायमात्र को परस्वभाव कहा गया है।

विशेष कहेंगे।

***

अज्ञानीकी उदासीनतामें केवल शोक ही होता है, क्योंकि उसे यह पता ही नहीं है कि एक पदार्थकी पर्यायमें अन्य पदार्थकी पर्याय अकिंचित्कर है। अतः वह परद्रव्यकी पर्यायको बुरा जानकर, द्वेषपूर्वक उदासीनभाव करता है। परन्तु परद्रव्यके गुण-दोष ही न दिखना ही वास्तविक उदासीनता है। यानी ज्ञानी परद्रव्यको गुणका अथवा दोषका कारण ही नहीं मानते । अपनेको निजरूप तथा परको पररूप जाने, वही सच्ची उदासीनता है । (परमागमसार - ८९०)

प्रवचन- ८, दि. ६-२-१९७८

`नियमसार' ५०-गाथा। `जो कोई विभावगुणपर्यायें हैं' - यहाँ क्षायिकभाव को भी विभावगुणपर्याय कह रहे हैं ! एक समय की पर्याय से भिन्न ऐसा जो त्रिकाली ज्ञायकभाव, पर्याय का स्पर्श तक नहीं करता। उदय तो राग-विकार है वह तो बहुत दूर रह गया। द्रव्यस्वभाव ऐसा ही त्रिकाली चैतन्यरसकंद, उसकी अपेक्षा से यहाँ कहते हैं कि : क्षायिकभाव हो, उपशम हो, या क्षयोपशम हो, ये सब पर्यायें विभावगुणपर्यायें हैं।

इससे पहले ४९ वीं गाथा में व्यवहारनय के कथन द्वारा (विभावगुणपर्यायों को) उपादेय अर्थात् जानने लायक कहा गया था। उपादेय का अर्थ ग्रहण करना। और ग्रहण का अर्थ जानना। यह विषय `मोक्षमार्ग प्रकाशक' सातवें अध्याय में निश्चयाभास-व्यवहारभास में आ गया है - व्यवहारनय को ग्रहण करने का कहा है न...! वहाँ ग्रहण का अर्थ जानना है।

यहाँ कहते हैं : `परंतु शुद्ध निश्चयनय के बल से,' माने त्रिकाली शुद्ध स्वभाव के नय अर्थात् नय का विषय, उसके बल से (वे (विभावगुणपर्यायें) हेय हैं।)

नय तो श्रुतज्ञान का एक हिस्सा है। श्रुतज्ञान प्रमाण है। भावश्रुतज्ञान हाँ ! है पर्याय; परंतु वह प्रमाण है, अवयवी है; और उसमें निश्चय व व्यवहारनय दो अवयव हैं। निश्चयनय भी एक अवयव है और व्यवहारनय भी एक अवयव है। प्रमाण है तो पर्याय। जिसमें त्रिकाली भगवानआतमा जानने में आया, ध्रुवस्वरूप-निर्विकल्प-शांति में - वेदन में - जानने में आया, उसे यहाँपर भावश्रुतज्ञान कहा वह भावश्रुतज्ञान है प्रमाण, किन्तु है पर्याय। निश्चय व व्यवहार उसके दो भेद - अवयव हैं। उस प्रमाण के दो भेद हैं। नय है वह अवयवह है और प्रमाण है वह अवयवी है। हैं तो दोनों पर्याय। कुछ समझमें आया ?

यहाँ तो शुद्धनिश्चयनय भी प्रमाण का एक अंश है। वह अंश भी त्रिकाली को

पकड़ता है। उसे यहाँ निश्चयनय कहा गया है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

बहुत साल पहले, ८३ की साल पहले की बात है। ५१ वर्ष पहले, एक सवाल उठा था। एक सेठने यों कहा कि : यह मूर्ति का पूजन तो मिथ्यदृष्टि को होता है, सम्यग्दर्शन होने के बाद मूर्ति की पूजा करने का नहीं होता। तब (मैंने) ऐसा कहा : भाई ! शांतिपूर्वक सुनो। नय है वह श्रुत(ज्ञान) प्रमाण का अवयव है, भाग है। और निक्षेप है वह ज्ञेय का भाग (हिस्सा) है। यह तो अंदर से बात आई थी। हम तो (उस समय) उसमें (स्थानकवासी श्वेतांबर संप्रदाय में) थे न...! तो उन्हों ने समझा कि, यह हमारे अनुसार मान जायेंगे। (परंतु) हम किसी संप्रदाय में नहीं थे। हम तो जो थे सो थे। उसने कहा कि : जब तक मिथ्यादृष्टि होवे तब तक मूर्तिपूजा (का भाव) होता है। मैंने कहा : जब श्रुतज्ञान होता है - सम्यग्दर्शन होता है तब त्रिकाली ध्रुवस्वभाव का अनुभव - आनंद का भाव आया। 'आनंद का भाव' उस समय नहीं था, परंतु उस समय यह शब्द था कि जो श्रुतज्ञान हुआ, त्रिकाली द्रव्यस्वभाव के अवलंबन से जो श्रुतज्ञान हुआ उसके दो भेद हैं - निश्चय व व्यवहार। यहाँ उसे अवयव कहा न...! अतः जो व्यवहारनय हुआ वह समकिती को व्यवहारनय होता है और इन समकिती को निक्षेप के-ज्ञेय के नाम, स्थापन, द्रव्य और भाव चार भेद - व्यवहारनय का विषय - 'निक्षेप' - मूर्तिपूजा होती है। यहाँ तो किसीकी बात (टीका) नहीं है। भाई ! सत्य तो यह है। न्याय समझमें आया ? नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव जो निक्षेप हैं वे ज्ञेय के भेद हैं। और नय है वह श्रुतज्ञान का भाग है - ज्ञान का भाग है। यह (नय) ज्ञान का भाग है और वह (निक्षेप) ज्ञेय का भाग है। जिसे शुद्धज्ञान हुआ हो, (सम्यग्दर्शन में हाँ ! मात्र श्रुत को सुने ऐसा नहीं), इस नय का विषय जो त्रिकाली स्वभाव है उसका भान हुआ हो, उसे भावश्रुतज्ञान उत्पन्न होता है; और भावश्रुत (ज्ञान) का भेद - निश्चय व व्यवहार है, अतः यह जो व्यवहारनय का विषय जो स्थापना निक्षेप है, वह ज्ञेय का भेद अर्थात् व्यवहारनय का यह विषय, वह उसको (समकिती को) है। अज्ञानी के व्यवहारनय का विषय नहीं होता ! आहा...हा...! यह तो ५०-५१ वर्ष पहले की बात है। भाई ! हम तो अंतर में भावभासन होवे उसे (ही) मान सकते हैं। यूँ ही मान लेवें, ऐसा नहीं है। हम (पूर्व में दोष करके) संप्रदाय में आ गये, मुँहपत्ती में, अतः उसे (संप्रदाय की मान्यताओं को) मानना, उसमें से हम नहीं हैं। हमें तो अंदर से भासित होवे - सत्य होवे, तो उसे हम मानें ! परंतु अन्य जीव स्थानकवासी में (आ गये) हैं तो उस तरह मानेंगे, (किन्तु ऐसा है

नहीं)। न्याय समझमें आया ?

यहाँ कहते हैं : 'निश्चयनय के बल से' वह निश्चयनय भी एक अंश है, और उसका विषय भी एक अंश है। लो ! यह क्या कहा ? क्योंकि नय है वह अंश है और प्रमाण है वह अंशी है। प्रमाण है पर्याय) श्रुतज्ञाननयप्रमाण पर्याय है; किन्तु है विषयी; यानी विषय करनेवाला श्रुत(ज्ञान) प्रमाण है न...! समस्त द्रव्य एवं पर्याय दोनों को विषय करे वह श्रुत(ज्ञान) प्रमाण है। यहाँ आदरणीय का प्रश्न नहीं है। व्यवहारनय का विषय है। व्यवहारनय है, उसे जाननेवाला व्यवहारनय भी है। आहा...हा...! परंतु किसको ? कि - जिसे शुद्धनिश्चयनय (है उसे) नय है। उसका विषय अंश ही है।

प्रश्न :- 'अंश' का अर्थ क्या ?

समाधान :- यहाँपर जो त्रिकाली ध्रुव कहा वह अंश है। और क्षायिकभाव आदि है वे भी एक अंश हैं। अतः वे क्षायिकभाव आदि हैं वे व्यवहारनय का विषय - अंश है।

यहाँ तो भगवान ! सब भगवान हैं। निश्चयनय से तो उसका भगवानस्वरूप ही है; परंतु वे भी भगवानस्वरूप है उसका जो नय है वह नय भी प्रमाण का भाग है, और उसका विषय भी एक अंश है। पर्यायअंश है वह उसका (निश्चयनय का) विषय नहीं है। आहा...हा...! चाहे तो नय भूतार्थ को ग्रहण करे किन्तु वह भूतार्थ भी अंश है। किस अपेक्षा से ? कि - उसमें पर्याय शामिल नहीं है उस अपेक्षा से। कुछ समझमें आया ? भाषा तो सादी है, भगवान ! परंतु ज़रा खयाल में रखे तो वस्तु तो अंदर ऐसी है ! आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं - 'शुद्धनिश्चयनय के बल से' परंतु इस निश्चयनय का बल भी एक अंश को पकड़ता है। अंश को अर्थात् ध्रुव को। उसे अंशी कहा जाता है परंतु 'नय का विषय' अंश ही है। (ध्रुव को) अंशी कहा जाता है। समूचा ध्रुव अंशी है, स्वद्रव्य है। अभी तो आगे इसे (विस्तार से) लेंगे। स्वद्रव्य का आधार परमपारिणामिकभाव है, ऐसा भी लेंगे। यह तो धीरे-धीरे (विषय) चल रहा है।

'नय' समकिती को ही होता है। और उसे ही व्यवहारनय होता है। 'बनारसीदास'ने ('बनारसीविलास' में) कहा न...! 'जिन प्रतिमा जिन सारखी' वह इस अपेक्षा से कहा। 'जिन - प्रतिमा जिन - सारखी, कही जिनागम माहिं।' जिसे निश्चयनयपूर्वक वेदन-अनुभव हुआ हो, उसे जब तक (पूर्ण) वीतरागता न हो तब तक व्यवहार आता है।

परंतु वह व्यवहारनय, उसका विषय, वह भी व्यवहारनय का विषय हुआ। वह विषय है ! भगवान, देव, गुरु, शास्त्र, (यह) सम्यक्व्यवहारश्रद्धा का विषय है। (`समयसार') ३१ वीं गाथा में तो यहाँ तक कहा : `जो इंदिये जिणित्ता' जो भगवान है और भगवान की वाणी है वे इन्द्रिय हैं। शांति से समझना। यह जड़ इन्द्रिय, और एक एक विषय को जानती हैं वे भावेन्द्रिय, और इन्द्रिय का विषय - तीनों को जीत लेते हैं। आहा...हा...! भगवानने तो ऐसा लिया। ३१ वीं गाथा में भगवान कहते हैं कि - हम भी तेरी अपेक्षासे इन्द्रिय में शामिल होते हैं; अतीन्द्रिय में नहीं। ऐसा पाठ है न...! `जो इंदिये जिणित्ता' - द्रव्य, भाव और इन्द्रिय का विषय - तीनों को जीते। जीते का अर्थ - उस ओर का लक्ष छोड़कर।

यहाँ कहते है - जो ध्रुव परमस्वभावभाव, जिसे छठी गाथा में ज्ञायकभाव कहा, जिसे ११ वीं में भूतार्थ कहा अथवा पंचम(भाव), पारिणामिकभाव कहा, वह उन (उदय-उपशम-क्षयोपशम-क्षायिक) चार भाव से भिन्न हैं। आहा...हा....! वे चार भाव हैं तो सही। उसका नय है और नय का विषय है तो सही; परंतु वह आदरणीय नहीं; जानने लायक है। (फिर भी) उसे निकाल दो तो एकांत हो जायेगा। कुछ समझमें आया ?

यहाँ कहते हैं कि : निश्चयनय एक अंश है। प्रमाण का विषय दोनों अंश के साथ है - द्रव्य और पर्याय। इस निश्चयनय का विषय तो एक त्रिकाली ज्ञायकभाव, ध्रुव, पर्यायरहित का है; उसे भी एक अंश कहा जाता है। आहा...हा...! यह तो गंभीर बात - भाषा है, प्रभु ! यह तो किसकी टीका है !!

`बहिन ने' `(बहिनश्री चंपाबहिनने)' `बहिनश्री के वचनामृत' बोल-१०५ में लिखा है - `आत्मा ने तो परमार्थ से त्रिकाल एक ज्ञायकपने का ही वेष धारण किया है। ज्ञायक तत्त्व के परमार्थ से कोई पर्यायवेष नहीं है।'

`समयसार' में मोक्ष को भी पर्याय का वेष (स्वांग) माना है न...! आहा...हा...! बंध वेश है। संवर वेष है। निर्जरा वेष है। - पर्याय है न...! किन्तु द्रव्य का तो वेष ज्ञायकभाव ही है।

आहा...हा...! वह भगवान(आत्मा) परिपूर्ण परमात्मा, चैतन्यामृत-चैतन्य अमृत से भरा पड़ा परिपूर्ण प्रभु - वह है तो अंश; वह प्रमाण का विषय नहीं है, (शुद्धनिश्यनय का विषय है)। अतः ऐसा कहते हैं कि : `इस शुद्धनिश्चयनय के बल से वे (-विभावगुणपर्यायें) हेय हैं।' (हालाँकि) वह (विभावगुणपर्याय) व्यवहारनय का विषय है, किन्तु है वह हेय !

आहा...हा...! (`समयसार') श्लोक-४ में आता है न...! `उभयनयविरोधध्वंसिनिः' दोनों

नय को विरोध है, (अर्थात्) जो निश्चयनय का विषय है वह व्यवहारनय का विषय नहीं है, और जो व्यवहार का विषय है वह निश्चयनय का विषय नहीं, (इस प्रकार) दोनों विरुद्ध हैं। जब दोनों विरुद्ध हैं, तो दोनों उपादेय हो नहीं सकते। विरुद्ध हैं न... इन (विभावगुणपर्यायों को) हेय क्यों कहा ? निश्चयनय से व्यवहारनय का विषय विरुद्ध है, भिन्न है। भिन्न है (फिर भी) दोनों को आदरणीय कहो तब तो दोनों विरुद्ध नहीं रहते। और (यदि) दोनों को हेय कहो तो भी दो नय नहीं रहते। (अतः वे ज्ञेय हैं, (ऐसा) कहा)। कुछ समझमें आया ? आहा...हा...! दिगंबर संतों का ऐसा मार्ग !! ज्ञेय, हेय रूप में ज्ञेय है और त्रिकाली उपादेयरूप में ज्ञेय है। दोनों में विरोध है न...! दोनों के (विषय में) विरोध है, अतः व्यवहार भी आदरणीय और निश्चय भी आदरणीय - ऐसा हो नहीं सकता। (क्योंकि ऐसा करने पर) दोनों नय का विरोध (-विषय का भेद है वह) नहीं रहता। आहा...हा...! वीतराग की वाणी विरोध का ध्वंस करनेवाली है - `उभयनयविरोधध्वंसिनि।'

यहाँ कहा : क्षायिकभाव (हेय है)। आहा...हा...! गज़ब बात है ! यहाँ तो आगे कहेंगे कि : वह क्षायिकभाव पुद्गल है। आहा...हा...! जो अनंतज्ञान, (अनंतदर्शन), अनंत आनंद, अनंत बल-वीर्य-अनंत चतुष्टय शक्तिरूप से पड़े थे वे व्यक्तरूप हुए, फिर भी उसे यहाँ व्यवहारनय का विषय व पुद्गल कहा ! यहाँ परद्रव्य सिद्ध करना है न...! और (इस गाथा के बाद जो श्लोक-७४ है उसमें तो) वे सब पुद्गलद्रव्य के भाव हैं, ऐसा कहेंगे। कलश है न...! `शुद्ध जीवास्तिकाय से अन्य, ऐसे जो सब पुद्गलद्रव्य के भाव वे वास्तव में आत्मा नहीं हैं।' (किस अपेक्षा से ? कि -) एक भगवान चैतन्यमूर्ति की अपेक्षा से।

प्रश्न : उस पर्याय को पुद्गल क्यों कहा ?

समाधान :- पर्याय का आश्रय करने पर विकल्प उठते हैं अतः उस अपेक्षा से उसे पुद्गलपरिणाम तो कहा किन्तु पुद्गल (भी) कहा है। कुछ समझमें आया ?

(`समयसार') कर्ता-कर्म अधिकार की पाँच गाथा : ७५, ७६, ७७, ७८, ७९ में वहाँपर पुद्गलपरिणाम कहकर बाद में सभी परिणामों को पुद्गल कह दिया है। परंतु वहाँ विकार को (पुद्गल) कहा है। और यहाँ तो सभी को (पुद्गल) कहा है। आहा...हा...! ऐसी बात !!

भगवान चेतन उदासीन है। उसकी परिभाशा यही है। `उदासीनोऽहं।' अभी व्यख्यान हो चुके हैं। `समयसार' बंध अधिकार में आखिर में है - `बंधविनाशार्थं' क्या भावना

करनी ? 'परमात्मप्रकाश' में अंत में है। और सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में आखिर में है। 'समयसार' जानकर क्या करना ? 'उदासीनोऽहं, सर्वविशुद्धोऽहं' उदासीन का अर्थ है : उद्+आसन=मेरा आसन ध्रुव में है। मैं पर्याय से उदास हूँ। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

कहा था न...! संवत १९६४-६५ होगी। हमारी दुकान पालेज में थी। हम तो १७ साल की उम्र से दुकान चलाते थे। वडोदरा माल लेने के लिये गये थे। माल ले लिया। १९-२० साल की उम्र। रात को नाटक देखने गये। 'अनसूया सती' का नाटक था। लम्बा नाटक था। बारह आनेका टिकट था। और पुस्तक बारह आनेका। भाई ! आप क्या बोल रहे हो वह पता न लगे और वह खयाल में आये बिना खाली देखना क्या ? अतः बारह आने और ले लो और पुस्तक दो (पुस्तक लिया। उस (नाटक) में एक महिला थी। वह शादि किये बिना स्वर्ग जा रही थी तब स्वर्ग में निषेध हुआ। वेदांत में आता है न... 'अपुत्रस्य गति नास्ति' अपुत्रवान रहता है उसकी (सद्)गति नहीं होती। तो (महिला ने पूछा कि) फिर (मुझे) क्या करना चाहिए ? (तब कहा कि :) नीचे गिरजा और नीचे जहाँ गिरे उसके साथ शादी कर। वहाँ नीचे एक अंधा ब्रह्माण था। उसके साथ शादी की। बच्चा हुआ। लोरी गाती थी - बेटा ! 'शुद्धोऽसि... बुद्धोसि... निर्विकल्पोऽसि... उदासीनोऽसि...!' ऐसा तू है ! काफी शब्द थे किन्तु इतने ही याद रह गये हैं - 'उदासीनोऽहं... शुद्धोऽहं... बुद्धोऽहं।' परंतु वो तो कितने साल हो गये ? ६५ की साल। ६९ वर्ष किन्तु ये शब्द बोले जाते थे, तब भान तो कहाँ कुछ था ?

देखो, अपने यहाँ शब्द आता है न...! 'समयसार' बंध अधिकार में और सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में आखिर में एवं 'परमात्मप्रकाश' में अंत में आता है। 'बंध अधिकार' संस्कृत है ना...! अभी व्याख्यान हो चुके हैं। 'तस्य बंधस्य विनाशार्थं विशेषभावनामाह - सहजशुद्धज्ञानानंदैकस्वभावोऽहं, निर्विकल्पोऽहं, उदासीनोऽहं' - मैं तो पर्याय में रह नहीं सकता, मेरा आसन तो ध्रुव में है। आहा...हा...! अपने यहाँ उस 'अव्यक्त' के छठे बोल में आता है : 'स्वयं अपनेसे ही बाह्य-अभ्यंतर स्पष्ट अनुभव में आ रहा होने पर भी व्यक्तता के प्रति उदासीनरूप से, प्रद्योतमान (प्रकाशमान) है अतः अव्यक्त है' उस रमणता के प्रति भी उदासीन है, आनंद का रमण है उसके प्रति भी उदासीन है। उसका आसन अव्यक्त में है। 'समयसार' गाथा-४९ में छह बोल है न...! उसके ऊपर भी अभी व्याख्यान हो चुके हैं। यहाँ इतना लेना है बस ! (उदासीनोऽहं) और

तो वहाँ कहाँ था कुछ भी ! किन्तु इतने शब्द मैंने उस समय (`अनसूया सती' के नाटक में) सुने थे। अहो...हो...! क्या कहते हैं यह तो `निर्विकल्पोऽहं... शुद्धोऽहं... बुद्धोऽहं... वह `अहं' तो अपने यहाँ है। वहाँ तो बोलते थे - शुद्धोसि... बुद्धोसि... निर्विकल्पोसि... (उदासीनोसि) - इस प्रकार बोलते थे। यहाँ इस संप्रदायवालों को भी पता नहीं लगता कि क्या कह रहे हैं ये !

(यहाँ है -) `निरंजननिजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धाज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्प समाधिसंजातवीतरागसहजानंदरूप सुखानुभूतिमात्रलक्षणेन स्वसंवेदनज्ञानेन संवेद्यो गम्यः प्राप्यः' मैं तो स्वसंवेदन से प्राप्य हूँ मैं तो अनंत आनंद के नाथ के आनंद के वेदन से प्राप्त हूँ। अन्य रीति से मेरी प्राप्ति नहीं है। आहा...हा...! `भरितावस्थोऽहं', अवस्थ शब्द (इसमें) पड़ा है (इससे) पर्याय नहीं लेना। अवस्थ=अव+स्थ भरी हुई अवस्था, निश्चय से `स्थ' - मेरे अंदर पूर्ण गुण `स्थ', निश्चय से `स्थ'। `राग-द्वेष-मोह-क्रोध-मान-माया-लोभ-पंचेन्द्रियविषयव्यापार, मनोवचनकायव्यापार, भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म-ख्याति-पूजा-लाभ-दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानमायामिथ्याशल्यत्रयादिसर्वविभावपरिणामरहितः शून्योऽहं, जगत्त्रये कालत्रयेपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयेन, तथा सर्वे जीवाः इति निरंतर भावना कर्त्तव्या।' आहा...हा...! ? `सर्व जीवाः' - अभवी होवे तो भी वे सभी। वस्तुरूप से तो वस्तु है न...! `सर्वे जीवाः' एक बात; - तीन काल, दो बात; तीन लोक, तीन बात; पूर्ण ऐसे हैं, ऐसी भावना करना। आहा...हा...! यह `जयसेन आचार्य' की टीका है, `अमृतचंद्राचार्य' की टीका नहीं है। दो जगह हैं (एक यह और दूसरी) सर्वविशुद्ध (ज्ञान अधिकार) के बाद में।

ऐसा यहाँ (कहते हैं) देखो : शुद्ध निश्चयनय से वे (-विभावगुणपर्यायें) हेय हैं। ज्ञान में तो हैं ! जानने में तो हैं ! क्षायिकपर्याय आदि हैं ! किन्तु हेयरूप में ज्ञेय हैं ! व्यवहार का विषय और व्यवहार न होवे तो मात्र निश्चयाभास हो जाता है। और व्यवहार को आदरणीय माने तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है। कठिन बात है ! आहा...हा...! शुद्धनिश्चयनय से हेय हैं। `किस कारण से ? क्योंकि वे परस्वभाव हैं।' यहाँ तक कल आया था। वे - क्षायिकभाव, उपशमभाव, क्षयोपशमभाव - परस्भाव हैं। वे परस्वभाव हैं। आहा...हा...! मेरा त्रिकाली स्वभाव जो सम्यग्दर्शन का विषय है उसका मुझे जो अनुभव हुआ तो मैं कह रहा हूँ कि - वे सभी (क्षायिक आदि भाव) परस्वभाव हैं। क्योंकि मेरे ध्यान के ध्येय में तो ध्रुव आया है। वह मैं हूँ ! और उस कारण से वे (विभावगुणपर्यायें) परस्वभाव हैं (वह मैं नहीं हूँ) !

आहा...हा...! यह कभी सुना न हो ऐसी बातें हैं ! भगवान का मार्ग (ऐसा है) ! प्रभु यह तो तीनलोक के नाथ, सर्वज्ञदेव, वीतराग ऐसा कह रहे हैं। अरे ! जिसे सुनने में भी न आवे, अरे प्रभु ! वे (बेचारे) क्या करें ? बहुत आग्रह में पड़ जाते हैं किन्तु नुकसान तो उनको ही है। सत्य का विरोध करता है परंतु वह सत्य का विरोध नहीं है, किन्तु उसके अपने सत् का विरोध करता है ! यहाँ (क्षायिकआदि भाव को) हेय कहा है किन्तु यहाँ (संप्रदाय में तो अभी शुभभाव में मोक्षमार्ग मनाना है ! अखबार में आया है न...! 'शुभ का मार्ग मोक्षमार्ग है' ऐसा दिगंबर के एक बड़े विद्वान के - प्रतिपक्ष में दूसरे विद्वान ने Challenge (चुनौती) दी है। यहाँ से जाहिर हुआ कि, 'शुभ का मार्ग मोक्षमार्ग है ही नहीं' अतः उसका विरोध करो। बस ! एक ही बात ! भगवान ! इस प्रकार विरोध (नहीं करना चाहिए !) अरे भगवान ! क्या तुझे (वीतराग मार्ग का विरोध करना है ?)

यहाँ तो शुभभाव तो बहुत दूर रह गया... परंतु यहाँ तो क्षायिकभाव को और पर्यायभाव को हेय कहा, प्रभु ! इस अपेक्षा से हाँ ! कि मूल त्रिकाली (स्वभाव) उपादेय है न...! इस अपेक्षा से वे हेय हैं। क्योंकि, वहाँ से लक्ष छुड़ाना है न...! लक्ष छोड़ना है न... अतः उपादेय नहीं होनेके कारण उसे हेय कहा। ऐसा सूक्ष्म है ! (वीतराग की) बात यह है ! प्रभु ! उसे (शुभ के आग्रही को) कठिन पड़ता है !

यहाँ तो उन (क्षायिक आदि) भावों को पुद्गल कहे हैं। क्योंकि उन पर्यायों का आश्रय करने जाय तो राग उत्पन्न होता है। राग भी पुद्गल है अतः उसे (क्षायिकादि को) भी पुद्गल कह दिया। आहा...हा...! 'समयसार' गाथा : ७५-७६-७७ में राग को तो पुद्गल कहा है न...! पुद्गल है वह तो आता है, जाता है; आता है और जाता है; पूरता है और गलता है; पूरे और गले; यह ऐसी चीज़ है। राग पुद्गल है। यहाँ तो 'पद्मप्रभमलधारिदेव' उसका लक्ष छुड़ाने के लिये परस्वभाव को पुद्गल कहेंगे। (कलश-७४ में कहेंगे) बाकी ये (भाव) हैं तो अपनी पर्याय में, वे कोई पर में नहीं है; किन्तु पर्यायबुद्धि छुड़ाने के लिये और द्रव्यदृष्टि (करने के हेतु ऐसा कहा है)। इसके बिना तुझे सम्यग्दर्शन होगा नहीं। इस कारण से वे (विभावगुणपर्यायें) परस्वभाव हैं, अतः हेय हैं। - ऐसा कहते हैं। यहाँ पाठ में 'हेय' बाद में है। 'पुव्वत्तसयलभावा परदव्वं परसहावमिदि हेयं।' किन्तु टीका में 'हेय' पहले लिया है। और बाद में कारण बताया है। मूल पाठ में पहले परद्रव्य, बाद में परस्वभाव और तत्पश्चात् हेय लिया है। किन्तु टीका में बदल दिया है - पहले हेय कहा और बाद में उसका कारण

बताते हुए कहा कि, `**वे परस्वभाव हैं, और इसलिये परद्रव्य हैं।**' ऐसा कहा। कुछ समझमें आया ? एक एक शब्द की कीमत है। व्याकरण में एक अक्षर - डंडे की - मात्रा की भी कीमत है।

`किस कारण से (हेय है) ? वे परस्वभाव हैं,' इसलिये हेय हैं। - ऐसा कहा। यहाँ (संप्रदाय में) तो शुभभाव को हेय मानने में पसीने उतर जाते हैं। शुभ भाव करते करते शुद्ध नहीं होगा ? जब शुद्ध होता है तब अंतिम (भाव) शुभभाव होता है। वहाँ शुभ से हटकर शुद्ध होता है। आखरी (भाव) अशुभ हो और वहाँ से हटकर शुद्ध हो ऐसा तो बनता नहीं है। आखिर का शुभभाव होता है और वहाँ से हटने पर शुद्धभाव होता है, तो फिर इसमें क्या परेशानी है ? (भाई) ऐसा नहीं है ! कुछ समझमें आया ? अतः यहाँ पहले हेय कहकर, कारण कहा कि वे परस्वभाव हैं। प्रभु ! उन परस्वभाव का आश्रय करने जायेगा तो तुझे राग होगा, विकल्प होगा, क्योंकि वे पुद्गल हैं।

भाई ! यह तो निस्पृह आदमी हो, जिसे आग्रह न हो उसकी बातें हैं प्रभु ! यह तो सत्य ही ऐसा है। वहाँ भगवान ने कहा, उसका संतोंने - मुनियों ने ऐसा वर्णन किया। संतजन कहते हैं ऐसी ही चीज़ है। अनुभव में आये, तो उसे खयाल में आये कि, यह चीज़ ही ऐसी है ! आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

`हेय' क्यों कहा ? निश्चयनय के बल से वे हेय हैं। क्योंकि वे परस्वभाव हैं। फिर कहते हैं कि : `और इसीलिये परद्रव्य हैं।' आहा...हा...! गज़ब बात है न...! क्षायिक आदि चार भावों को परस्वभाव कहा, परंतु क्यों ? पहले कहा कि किस कारण से ? कि वे परस्वभाव हैं, अतः परभाव हैं और इसलिये परद्रव्य हैं ! आहा...हा...! क्षायिकभाव की पर्याय, परद्रव्य है। सुनना तक कठिन लगे। मार्ग तो ऐसा है, भाई ! अनंत तीर्थंकर, अनंत केवली, अनंतकाल से ऐसा कहते चले आये हैं। यह कोई नयी चीज़ नहीं है ! आहा...हा...! निश्चयनय के बल से, स्वभाव के आश्रय के बल से उसका (विभावगुणपर्यायों का) लक्ष छूट जाता है - उसका लक्ष रहता नहीं है इसलिये (वे) हेय हैं। `हेय' क्यों हैं ? कि : वे परस्वभाव होनेके कारण हेय हैं। और परस्वभाव हैं इसलिये वे परद्रव्य हैं। आहा...हा...! पहले `हेय' कहा (फिर कहा कि) किस कारण से ? के `वे परस्वभाव हैं, और इसीलिये परद्रव्य हैं।'

आहा...हा...! यह बात तो देखो ! इन दिगंबर संतों के अलावा यह बात हिन्दुस्तान में कहीं भी मिलनेवाली नहीं है। दिगंबर संतगण माने केवलीभगवान के पथपंथी

(आड़तिया)। तीसरे भाव में केवलज्ञान लेनेवाले हैं। भले पंचमकाल के मुनि होवे। यहाँ से स्वर्ग में जायेंगे और (तत्पश्चात्) मनुष्य होकर केवलज्ञान प्राप्त करेंगे, ऐसी ताक़त !

आहा...हा...! एक बार सुन तो सही नाथ ! तेरी चीज़ त्रिकाली आनंद का नाथ, अतीन्द्रिय, आनंदकंद प्रभु !; उसकी दृष्टि के बल से, निश्चयनय के बल से, वे (विभावगुणपर्यायें) हेय हैं। 'किस कारण से ? क्योंकि वे परस्वभाव हैं, और इसीलिये परद्रव्य हैं।' वे स्वद्रव्य नहीं हैं। कुछ समझमें आया ?

भगवान का मार्ग न्याय-लोजिक (तर्कपूर्वक) से है। जैसे-तैसे नहीं है। न्यायपूर्वक है। 'प्रवचनसार' गाथा-२३४ की टीका में कहा है न...! भगवान की वाणी अर्थात् आगम में जो पदार्थ-वस्तु का स्वरूप कहा वह स्पष्ट तर्कपूर्वक सिद्ध होता है। (बिना समझे) ऐसे ही मान लेना ऐसा नहीं। परंतु तर्क से - न्याय से सिद्ध होता है। यही चीज़ है। दूसरी (अन्यथा) कोई चीज़ नहीं है। आहा...हा...! कोई सारा याद नहीं रहता है ज्यादा, परंतु भाव खयाल में रहता है।

(यहाँ कहा कि - जो विभावगुणपर्यायें हैं वे हेय हैं। 'किस कारण से ? क्योंकि वे परस्वभाव हैं, और) इसीलिये परद्रव्य है।' इतना कहकर अब स्वद्रव्य के (विषयक) कहते हैं। इतना तो - यहाँ तक कि (क्षायिकभाव को) परद्रव्य कह दिया। हेय है, परस्वभाव है, परद्रव्य है !

एक भाई ने कहा कि आप 'समयसार' की बहुत तारीफ करते हो, 'मैंने तो पंद्रह दिन में पढ़ लिया।' मैंने कहा, 'बापू ! (इस तरह पढ डालना) इसमें कोई बात नहीं बनती।' आहा...हा...! उसके एक एक शब्द में, भाई ! (बहुत गंभीरता है)। बापू ! एक पंक्ति, उसके एक शब्द के भाव, उसके स्पष्टीकरण की कोई सीमा नहीं, ऐसी महाप्रभु महान चीज़ है !!'

यहाँ अब कहते हैं कि : '**सर्वविभावगुणपर्यायों से रहित (शुद्ध) अंतःतत्त्व(स्वरूप)**' कौन है ? वे (विभावगुणपर्यायें) हेय हैं, ऐसा कहकर, कहा कि : परस्वभाव हैं और इसीलिये परद्रव्य हैं; तब फिर स्वद्रव्य कौन है ? स्वद्रव्य क्या है ? यह बताते हैं : वास्तव में '**सर्वविभावगुणपर्यायों से रहित, शुद्धअंतःतत्त्वस्वरूप है**' वह '**स्वद्रव्य**' है, वह '**उपादेय है।**' शुद्धअंतःतत्त्वस्वरूप त्रिकाल, त्रिकाली वस्तु, ध्रुव, आनंदकंद प्रभु; पर्याय से भिन्न; ऐसा शुद्धअंतःतत्त्वस्वरूप स्वद्रव्य है वह उपादेय है। आहा...हा...! सम्यग्दृष्टि को - धर्मी को, एक त्रिकाली शुद्धअंतःतत्त्व ही उपादेय है।

विशेष कहेंगे।.....

***

प्रवचन- ९, दि. ७-२-१९७८

'नियमसार'। 'कुंदकुंदाचार्य' कहते हैं कि : यह शास्त्र, मैंने तो अपनी भावना के लिये बनाया है। आहा...हा...! (गाथा-१८७ में) आखरी शब्द है न...! 'मए कदं' ऐसा शब्द अन्यत्र कहीं ('समयसार', 'प्रवचनसार', आदि में) नहीं है। यहाँपर यह शब्द पड़ा है : मैंने निजभावना निमित्त 'नियमसार' नाम का शास्त्र बनाया है। 'मैंने रचा है' ऐसा लिखा है, तो इससे कोई ऐसा कहे कि, देखो ! शब्द को वे बनाते हैं कि नहीं ? - ऐसा नहीं है। यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि... 'किया है,' वह तो भाषा का भाव है। मैंने अपनी भावना - अंदर आनंदस्वरूप भगवान; उसकी बारंबार की एकाग्रता; - इसके लिये यह (शास्त्र) बनाया है। आहा...हा...! आखिर में है न : 'मए कदं।' भावना के लिये मैंने किया, ऐसा शब्द है।

आहा...हा...! यह ५० वीं गाथा तो अलौकिक है। पहले आ चुका न...! जो कोई भी विभावगुणपर्यायें हैं, वे व्यवहारनय से जानने लायक हैं, ऐसा कहा था। 'परंतु शुद्धनिश्चय के बल से वे हेय हैं।' जाननेलायक तो हैं, परंतु हेय हैं। व्यवहार आता है, पर्याय है, वह सब जाननेलायक तो है परंतु हेय है। कुछ समझमें आया ? यदि पर्याय को न जाने तब तो यथार्थ द्रव्य के आश्रय का ही पता नहीं है ! एकांत हो जायेगा ! पर्याय है, व्यवहार है, वह जानने लायक है ! परंतु किसको ? - जिसको कि अपने स्वरूप का अनुभव, आनंदस्वरूप भगवान (का अनुभव विद्यमान है उसको) ! (यानी कि :) जिसे आनंदस्वरूप, प्रभु, ध्रुव, नित्यानंद का अनुभव है, उसे तो सिर्फ चैतन्य त्रिकाली द्रव्य का आश्रय और उसका सेवन, एक ही उपादेय है, (बाकी सर्व अन्यभाव हेय हैं)। आहा...हा...! किस कारण से ? क्योंकि : '(वे) परस्वभाव हैं।' आहा...हा...! यहाँ तो पर्याय - क्षायिक भाव को भी परस्वभाव कहा ! (वह) त्रिकाली की अपेक्षा से। यूँ तो पर्याय है अपने में; परंतु उस पर्याय का द्रव्य स्पर्श नहीं करता, इस अपेक्षा से (उसे) परस्वभाव कहा। कुछ समझमें आया ? (हालाँकि) यह जो पर्याय

है वही `द्रव्य' का निर्णय करती है, अनुभव करती है; फिर भी वह पर्याय, `द्रव्य' का स्पर्श नहीं करती। इस कारण से उसे हेय कहा, परस्वभाव कहा। आहा...हा...!

संस्कृत टीका में ऐसा है न...! **`कुत ?' `परस्वभावत्वात्', `अत एव परद्रव्यं भवति।** '- किस कारण से ? क्योंकि वे परस्वभाव हैं, और इसीलिए परद्रव्य हैं। आहा...हा...! वे तो परद्रव्य हैं ! उसका अर्थ ऐसा भी होता है कि : जिस प्रकार परद्रव्यमें से मेरी नयी पर्याय आती नहीं है, रागमें से भी आती नहीं है, उस प्रकार पर्यायमें से भी नयी पर्याय आती नहीं है इस प्रकार से वर्तमान क्षयोपशम, क्षायिक आदि पर्याय को भी परद्रव्य कह दिया है। आहा...हा...! परम सत्य तो यह है, प्रभु ! वे (पूर्वोक्त सभी भाव) परद्रव्य हैं । मेरी जो नयी (शुद्ध) पर्याय, जो मेरे आश्रय से उत्पन्न हुई और उसीसे टिकी है और उसीके आश्रय से वृद्धि को प्राप्त होती है; वह पर्याय के आश्रय से न उत्पन्न होती है, न टिकती है, न वृद्धिगत होती है। आहा...हा...! यह तो अंदर की बात है, भाई ! कुछ समझमें आया ? आहा...हा...! परद्रव्य है।

अब स्वद्रव्य (के बारे में) कहते हैं : `सर्व विभावगुणपर्यायों से रहित शुद्धअंतःतत्त्वस्वरूप;' उसे स्वद्रव्य कहेंगे, और बाद में स्वद्रव्य के आधार (के बारे में) कहेंगे। स्वद्रव्य कौन ? कि : शुद्ध अंतःतत्त्व। तत्त्व अर्थात् भाव।

`तत्त्वार्थ' आता है न...! `तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' (-`मोक्षशास्त्र'/अध्याय-१, सूत्र-२)। वहाँ `अर्थ' माने द्रव्य, गुण और पर्याय। और `तत्त्व' माने भाव। यह स्पष्टीकरण `मोक्षमार्ग प्रकाशक' में आया है : तत्त्व+अर्थ = तत्त्वार्थ। `तत्त्व' क्या ? और `अर्थ' क्या ? द्रव्य, गुण व पर्याय तीनों को `अर्थ' कहते हैं। और उसके भाव को `तत्त्व' कहते हैं। यहाँपर वह शैली ली है। उसे स्वद्रव्य कहेंगे।

क्या कहा ? `शुद्धअंतःतत्त्वस्वरूप' - शुद्धअंतःतत्त्व - अंतःभावस्वरूप। इस प्रकार लेना। : अंतःभावस्वरूप, शुद्धअंतःतत्त्वस्वरूप, शुद्धअंतःभावस्वरूप - उसे स्वद्रव्य कहेंगे। और स्वद्रव्य के आधार को परमपारिणामिकभाव कहेंगे। आहा...हा...! गूढ बात है, भगवान !

आहा...हा...! `शुद्धअंतःतत्त्वस्वरूप यह स्वद्रव्य' - शुद्धअंतःस्वभावस्वरूप यह स्वद्रव्य। शुद्धअंतःभावस्वरूप यह स्वद्रव्य। यहाँ त्रिकाली द्रव्य को नहीं लिया है परंतु पहले `भाव' को लिया है। जब क्षायिक, औपशमादिक पर्याय को परद्रव्य कहा तो यहाँ अंतःतत्त्व - भावस्वरूप को स्वद्रव्य कहा। उस पर्याय को जब परद्रव्य कहा तो अंतः तत्त्व जो स्वभावभाव, त्रिकालभाव; भाव...हाँ ! (वह स्वद्रव्य।) भाववान बाद में लिया। आहा...हा...! शुद्धअंतःभावस्वरूप यह स्वद्रव्य, वह उपादेय है। `उपादेय' का अर्थ :

वह अनुभव करने लायक है। ऐसा आगे चलकर कहेंगे।

अब कहते हैं : '**वास्तव में सहजज्ञान**' - जो अंतःतत्त्व - अंतःभाव कहा न...? अब उस भाव की व्याख्या करते हैं। कैसा भाव ? कि : सहजज्ञान। त्रिकाली ज्ञानस्वभाव। त्रिकाली ज्ञान। ध्रुवभाव। सहजज्ञान त्रिकाली। त्रिकाली स्वाभाविक वस्तु। किसीके द्वारा निर्मित नहीं, ऐसा सहजज्ञान। '**सहजदर्शनसहजचारित्र**' - सहजचारित्र त्रिकाल।

एक बार प्रश्न उठा था कि : 'सिद्ध को चारित्र नहीं होता' (परंतु ऐसा नहीं है)। संयम (रूप) चारित्र नहीं होता, परंतु सिद्ध में चारित्र है। अपना परिणमन सिद्ध में है। चारित्र तो स्वरूपशक्ति अंदर है वह सिद्ध में (पूर्ण) प्रगट होती है। इसलिये चारित्र तो है ! सहजचारित्र स्वभाव है ! उसे यहाँ स्वद्रव्य में लेना है। और जो बाद में परिणमन होगा उसे परद्रव्य में लेना है। वह इस अपेक्षा से। कुछ समझ में आया ?

'सहजचारित्र' - स्वाभाविक त्रिकाली चारित्र। अर्थात् स्वाभाविक त्रिकाली वीतरागता। स्वाभाविक त्रिकाली अकषायस्वभावभाव, उसका नाम चारित्र।

आहा...हा...! 'समयसार नाटक' में कहा न...! 'जिनपद नांहि शरीर कौ, जिनपद चेतनमांहि; जिनवर्नन कछु और है, यह जिनवर्नन नांहि।' आहा...हा...! भाई ! जिनवर्नन कछु और है। जिनपद नांहि शरीरकौ, जिनपद चेतनमांही। ज्ञानानंद भगवान ध्रुव, वह जिनपद है। उसे जिनपद कहो या वीतरागभाव कहो या त्रिकाली अकषायभाव कहो या चारित्र कहो (एकार्थ है)। कुछ समझमें आया ? 'सहजचारित्र।' यहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र व सुख लेना है; अब उस सुख की व्याख्या ज़रा विस्तार से की।

'**सहजपरमवीतरागसुखात्मक**' - कैसा है आनंद ? कि : सहजपरमवीतरागसुखस्वरूप (है)। अंदर त्रिकाली भगवान, आनंदकंद, परम सहज - स्वाभाविक - परमउत्कृष्ट वीतरागसुखस्वरूप त्रिकाल है। आहा...हा...! भगवान चैतन्य अमृत के सागर से भरा है, प्रभु ! चैतन्यामृत है वह (स्वद्रव्य है;) पर्याय नहीं है। आहा...हा...! यहाँ तो कहते हैं कि : सहज स्वाभाविक माने : नहीं निर्मित, नहीं बना हुआ, स्वाभाविक परमवीतरागसुखस्वरूप है। भगवानआत्मा तो सहज स्वभाव परमआनंदरूप प्रभु है। आहा...हा...! यह आश्रय करने लायक की बात करनी है न...! अतः यह स्वद्रव्य उपादेय उसकी व्याख्या करते हैं। पहले कहा न...? स्वद्रव्य उपादेय है। तो कहते हैं कि : 'स्वद्रव्य' किसे कहा ? उसके भाव को हम स्वद्रव्य कहते हैं। (क्षायिक आदि) पर्याय को और विभाव आदि को परद्रव्य कहा और उस अपेक्षा से (उसे)

परभाव कहा। तो यहाँ त्रिकाली स्वभावभाव को 'स्वद्रव्य' कहा। अभी स्वद्रव्य की विशेष व्याख्या आयेगी।

'स्वद्रव्य' किसके आधार से है ? - स्वद्रव्य 'आधेय' है और त्रिकाली स्वभावभाव परमपारिणामिकभाव 'आधार' है। आहा...हा...! थोड़ा है पर बहुत है, भाई ! इस चीज़ के अवलंबन से जो अनुभव होता है (वह पर्याय को 'आधेय' नहीं मानता।)

'स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा' गाथा-३१३ में तो यहाँ तक कहा कि : ऐसा सम्यग्दर्शन का अनुभव होवे, यह पर्याय(भाव) है, और त्रिकाली है वह द्रव्यभाव है। बाद में लेंगे कि : भाव का आश्रय व परमपारिमाणिकभाव (है)। परमपारिणामिकभाव तो पूर्ण परमात्मस्वरूप (प्रभु) है। परंतु सम्यग्दृष्टि के जब पर्याय में अनुभव हुआ तब वह पर्याय को तृणावत् मानता है। क्योंकि : वह ऐसा जानता है कि : कहाँ यह मेरी अल्प पर्याय ! और कहाँ चारित्र की पर्याय, और कहाँ केवलज्ञान की पर्याय ?! उसे अपनी (प्रगट हुई पर्याय का) गर्व नहीं है। राग का गर्व नहीं है कि 'मेरा राग है।' परंतु 'मैं' पर्याय के बराबर नहीं हूँ, इसलिये उसका भी गर्व नहीं है। आहा...हा...! सम्यग्दृष्टि जीव अपनी पर्याय में पामरता देखाता है और पूर्णता में (स्वरूप में) प्रभु देखता है। आहा...हा...! मुख्य तो वह (प्रभु) एक ही है। यह (पर्यायभाव) तो जानने लायक चीज है। और उस पर्याय में सम्यग्दृष्टि ऐसा मानता है कि, मैं तो तृणवत् हूँ। अपने को) तिनके समान समझता है।

आहा...हा...! क्या कहते हैं ? कि : मैं सहजपरमवीतरागसुखात्मक भावरूप, त्रिकाल वीतरागपरमसुखस्वरूप हूँ। परंतु जब पर्याय को देखता हूँ तो तृणतुल्य लगता हूँ। आहा...हा...! कहाँ चारित्र की पर्याय और कहाँ वीतराग केवली की पर्याय ! पर्याय में पामरता देखता है और वस्तु में प्रभुता देखता है।

आहा...हा...! भाषा तो सादी है, प्रभु ! समझमें आ जाय ऐसी यह वस्तु है। ये अलौकिक बातें हैं, बापू ! आजकल तो ऐसी गड़बड़ हो गई है कि आदमी को कठिन पड़े ! अभी तो मूल सम्यग्दर्शन और उसका विषय - ये क्या चीज़ हैं ? और अनुभव होने पर सम्यग्दर्शन में क्या अनुभव में आता है ? और वह अनुभव-पर्याय है, या गुण है, या द्रव्य है ? (- इसका कुछ भान नहीं है)। (भाई !) वह पर्याय है ! यहाँ तो इस अपेक्षा से उसे परद्रव्य में ही शामिल कर दिया है।

आहा...हा...! (कहाँ वह प्रगट अल्प शुद्धपर्याय ?) और कहाँ सर्वज्ञ की पर्याय ? कहाँ स्वसंवेदन - चारित्र की पर्याय ? मुनि को तो प्रचुर स्वसंवेदन जिस का ट्रेडमार्क

(महोरछाप) है, ऐसा पाठ 'समयसार' गाथा-५ में है। स्वसंवेदन = स्व अर्थात् अपना+सम अर्थात् प्रत्यक्ष आनंद का+वेदन, यह हमारे अनुभव (की) महोरछाप है। जिस प्रकार कागज (पर) डाकवाले महोरछाप (लगाते हैं तो पत्र (डाक में) चलता है, उस प्रकार यह प्रचुर स्वसंवेदन, अतीन्द्रिय आनंद, यह हमारे अनुभव की महोरछाप है। फिर भी यहाँ पर उसे भी 'परद्रव्य' कह दिया है। क्योंकि, स्व का - त्रिकाली का आश्रय लेने पर ही, त्रिकाली का सेवन करने पर ही सम्यग्दर्शन; त्रिकाली का आश्रय करने पर ही सम्यग्ज्ञान; त्रिकाली का आश्रय करने पर ही चारित्र; त्रिकाली का आश्रय करने पर ही शुक्लध्यान; त्रिकाली का आश्रय करने पर ही केवलज्ञान (प्रगट होता है) ! (- ऐसी सभी पर्यायों को यहाँ 'परद्रव्य' कहा।) आहा...हा...! ऐसी बात है !! और सहजपरमवीतरागसुखात्मक '**शुद्ध अंतःतत्त्वस्वरूप,**' शुद्धअंतःतत्त्व अर्थात् शुद्धअंतःभावस्वरूप, उसे 'स्वद्रव्य' कहा। किसे 'स्वद्रव्य' कहा ? - 'भाव' को अर्थात् स्वाभाविक ध्रुव ज्ञान, स्वाभाविक आनंद, स्वाभाविक दर्शन, स्वाभाविक चारित्र, वह नित्य, ध्रुव, रसकंद, सामान्यस्वरूप, अभेद, भूतार्थ, ज्ञायक - इसका जो भाव, वह शुद्धअंतःतत्त्वस्वरूप 'स्वद्रव्य' है ! आहा...हा...! (पाठ में) है...! '**शुद्ध अंतःतत्त्वस्वरूप यह स्वद्रव्य** !'

अब, इस (स्व) द्रव्य का फिर 'आधार' कहेंगे। आहा...हा...! भाव का आधार ! फिर स्वद्रव्य का आधार ! इस 'भाव' को तो 'अंतःद्रव्य' कहा। कुछ समझमें आया ? त्रिकाली स्वभावभाव जो ज्ञान, दर्शन, आनंद आदि अनंत गुण हैं उसे अंतःतत्त्व - 'स्वद्रव्य' कहा। तो उस 'स्वद्रव्य' का फिर आधार ! आहा...हा...! अनंत अनंत गुण हैं उनका एक आधार परमपारिणामिकभाव है ! यहाँ तो एकरूप लेना है न...? वह तो अनंत है; सहजज्ञान-सहजदर्शनादि बहुत भाव आये न...! उन्हें अंतःतत्त्व - अंतःभावस्वरूप स्वद्रव्य कहा है उस स्वद्रव्य का आधार ?! - यह तो बापू ! अंतर की बातें हैं, भाई ! क्या करें ? उसे द्रव्य नहीं, 'भाव' कहा। यहाँ स्वद्रव्य के आश्रय से वे भाव हैं। ऐसा कहा। अर्थात् अंतःतत्त्व - भावस्वरूप को स्वद्रव्य कहा। 'भगवान' जो त्रिकाली है, उसकी बात फिर लेंगे। कुछ समझमें आया ?

है कि नहीं अंदर टिका में ? है...! '**अस्य खलु सहजज्ञान-सहजदर्शन-सहजचारित्र-सहजपरमवीतरागसुखात्मकस्य शुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपस्याधारः**' यह तो शब्द का अर्थ ही है। उसका - स्वद्रव्य का आधार ! किन्तु वह द्रव्य माने अंतःतत्त्व भाव। त्रिकाली शक्ति, त्रिकाली भाव को स्वद्रव्य का गुण कहा। क्योंकि अनेकरूप है न...! तो उसे भाव कहकर उसका आधार एक है, ऐसा लेना है। भगवान परमपारिणामिकभाव, ज्ञायकभाव,

भूतार्थभाव, वह शुद्धअंतःतत्त्वस्वरूप स्वद्रव्य का ही आधार है। गुण-स्वभाव अंतःतत्त्व स्वद्रव्य वह आधेय है। और उसे (स्वद्रव्य का) आधार है। परंतु यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि : उस 'आधार-आधेय' का लक्ष-भेद छोड़ दे ! स्वाभाविक अनंतज्ञान, परमवीतरागआनंद आदि त्रिकाली और उसका आधार परमद्रव्य, ऐसा भेद भी छोड़ने हेतु यह बात बता रहे हैं। भाव और भाववान, आधेय और आधार - अंतःतत्त्व 'आधेय' और पूरी वस्तु त्रिकाली एकरूपभाव 'आधार' - ऐसा भेद भी जिसे नहीं है, यह बताने के लिये 'दृष्टि के विषय' की यह बात है ! आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

'शुद्धअंतःतत्त्वस्वरूप यह स्वद्रव्य...' देखो ?! यह स्वद्रव्य, इसका आधार (कौन) ? आहा...हा...! सूक्ष्म पड़े। (**श्रोता :-**) संस्कृत टीका में 'शुद्धअंतःतत्त्व' शब्द नहीं आया !? (**उत्तर :**) किसने कहा कि नहीं आया ? '**शुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपं स्वद्रव्यमुपादेयम्**' है न...! अंदर है ! परंतु पढ़ते नहीं है। संस्कृत का अभ्यास नहीं है। ऊपर कहा न...? '**सकलविभावगुणपर्यायनिर्मुक्तं शुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपं स्वद्रव्यमुपादेयम्।**' परंतु यहाँ आया न...? 'स्वद्रव्य उपादेय है' उसकी तो यह व्याख्या है। पहले 'स्वद्रव्य' कहा बाद में '**अस्य खलु**' है न...! '**सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजपरमवीतरागसुखात्मकस्य शुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपस्याधारः**' '**अस्य**' अर्थात् 'कौन'। '**खलु**' अर्थात् वास्तव में। इसका अंतःतत्त्वस्वरूप इस स्वद्रव्य का वास्तव में आधार कौन ? आहा...हा...!

दिगंबर संतों (के वचन) !! गज़ब है न...! 'पद्मप्रभमलधारिदेव' तो आचार्य नहीं थे, वे तो मुनि थे। एक दिगंबर पंडित ने 'खांनिया तत्त्व-चर्चा' के समय कहा कि, हमें तो आचार्य के वचन चाहिए। तो सामने पंडितजी ने कहा कि, हमें तो आचार्य व पंडित दोनों के वचन चाहिए। (अर्थात् हमें तो सर्व स्वानुभूति विभूषित धर्मात्माओं के प्रत्येक वचन मान्य है) ! आहा...हा...! यह तो कोई टीका है !! इसकी ('नियमसार' की) टीका करते हुए प्रारंभ में पाँचवें श्लोक में कहा है : 'गुण के धारण करनेवाले गणधरों द्वारा रचित और श्रुतधरों की परंपरा से भलीभाँति व्यक्त किये गये इन परमागमों के अर्थसमूह का कथन करनेवाले हम मंदबुद्धि कौन होते हैं ? पामर ! ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! गणधर माने गुण के धारक ऐसे गणधरों द्वारा रचित है। यह तो टीका, ये भाव, कोई मैंने किये हैं, ऐसा नहीं है। श्रुतधरों की परंपरा से - अरिहंत से (शुरु कहकर) चलते-चलते वर्तमान तक भली भाँति व्यक्त - प्रगट किये गये हैं। यह इन परमागम के अर्थसमूह का कथन करनेवाले हम मंदबुद्धि कौन होते हैं ? आहा...हा...! (पाठ है न...!) 'गुणधरगणधररचितं श्रुतधरसन्तानतस्तु सुव्यक्तम्। परमागमार्थसार्थं

वक्तुममुं के वयं मन्दाः' ।।५।।' आहा...हा...! बापू ! हम कौन ? मुनि ऐसा कहते हैं : 'हमारे मुख से परमागम झर रहे हैं' - यह शब्द दो जगह आता है; वे ऐसा कहते हैं कि : इस टीका के करनेवाले 'हम कौन होते हैं ?' फिर छठे श्लोक में कहते हैं : 'अभी हमारा मन परमागम के सार की पुष्ट रुचि से पुनः पुनः अत्यंत प्रेरित होता है। (उस रुचि से प्रेरित होनेके कारण 'तात्पर्यवृत्ति' नाम की यह टीका रची जा रही है)।' आहा...हा...! ये मुनि - ये दिगंबर संत, अतीन्द्रिय आनंद में किल्लोल करते हैं। अंदर अतीन्द्रिय आनंद की हिलोरें उठती हैं। जिस प्रकार समंदर के किनारे ज्वार उठता है उस प्रकार मुनि को अतीन्द्रिय आनंद का ज्वार उठता है। यूँ तो सम्यग्दृष्टि को भी आनंद का अनुभव है किन्तु वह अंशतः है। और यहाँ (मुनि को) तो आनंद की भारी बाढ़ आती है, अंदर आनंद उछलता है। यह तो टीका बन गई, वरना हम तो कौन मात्र हैं ? किन्तु हमें ऐसा विकल्प आता रहता है कि 'इस नियमसार की पुष्टि हो,' इस कारण से टीका हो जाती है।

आहा...हा...! यहाँ तो कहा : '**शुद्धअंतःतत्त्वस्वरूप इस स्वद्रव्य का आधार**' आहा...हा...! गहन बात है, भाई ! पहले सहज अंतःतत्त्वस्वद्रव्य कहा और स्वद्रव्य का आधार उसे 'स्वद्रव्य' क्यों कहा ? क्यों कि, उसे - पर्याय को परद्रव्य कहा न...? तो उस अपेक्षा से इस भाव को 'स्वद्रव्य' कहा।

वैसे तो 'द्रवति इति द्रव्यम्।' द्रव्य किसे कहे ? 'पंचास्तिकाय' में ९ वीं गाथा में दो बोल हैं : 'दवियदि', 'गच्छदि'। 'दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं जं। दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो' ।।९।। वहाँ 'दवियदि' (स्वभावपर्यायों को द्रवित होता है) शुद्ध परिणति ली है। और 'गच्छदि' (विभावपर्यायों को प्राप्त होता है) विभाव परिणति ली है। दोनों शब्दों में भेद किया है। 'दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं जं।' वह सद्भाव(रूप) पर्याय है। भले विकार होवे परंतु वह पर्याय तो उसकी है न...! अस्तिकाय सिद्ध करना है न...? (पर्याय) उसके अस्तित्व में है। और (वह) विकार पर के अस्तित्व में नहीं है। अन्वयार्थ देखो : 'उन उन सद्भावपर्यायों को जो द्रवित होता है - प्राप्त होता है, उसे (सर्वज्ञ) द्रव्य कहते हैं कि जो सत्ता से अनन्यभूत है।' अर्थात् सत्ता से एकमेक है। द्रव्य कोई सत्ता से भिन्न नहीं है इतना सिद्ध किया। कुछ समझमें आया ?

(यहाँ कहते हैं :) शुद्धभाव जो त्रिकाल है, वह स्वद्रव्य; उसका आधार 'सहजपरमपारिणामिकभावलक्षण' - स्वाभाविक परमपारिणामिकभावलक्षण। आहा...हा...!

देखो : स्वाभाविक परमपारिणामिकभाव। (यों तो) परमाणु में भी परमपारिणामिकभाव कहा है। परंतु यहाँ तो वह ज्ञायकभाव लिया (`समयसार') छठी गाथा में। वरना बताना तो है परमपारिणामिकज्ञायकभाव को। परंतु पारिणामिकभाव तो प्रत्येक द्रव्य में है ही। लेकिन यहाँ जो `पारिणामिकभाव' कहा यह वहाँ (`समयसार' गाथा-६ में) नहीं कहा; किन्तु वहाँ तो `ज्ञायक' कहा। क्योंकि जीव को परमपारिणामिकभाव यानी ज्ञायकभाव त्रिकाल है। उसे यहाँ परमपारिणामिकभाव कहते हैं। यहाँ तो स्पष्ट भाषा कर दी है। यहाँ सहजज्ञान, सहजदर्शन आदि भाव लिये तो ये भाव अन्य (द्रव्यो में) परमाणु आदि में तो है ही नहीं। क्या कहा ? कुछ समझमें आया ? वहाँ छठी गाथा में `ज्ञायकभाव' कहा है। यहाँ परमपारिणामिकभाव कहा; किन्तु परमपारिणामिकभाव तो परमाणु आदि प्रत्येक द्रव्य में (होने के कारण) द्रव्यस्वभाव तो परमपारिणामिकभावरूप ही है। अतः वह परमपारिणामिक कहने पर आत्मा न समझमें आये इसलिये आत्मा को ज्ञायकभाव कहा। और यहाँ तो पहले सहजज्ञान, सहजदर्शन आदि भाव कहे और उसका `आधार' परमपारिणामिक है यों कहेंगे। कुछ समझमें आया ? यहाँ जो सहजज्ञान, दर्शन, आनंद आदि भाव कहे वे भाव चैतन्य के हैं, अतः उसका आधार परमपारिणामिकभाव कहा।

जिज्ञासा : आधारःआधेय दो हो गये या एक ही है।

समाधान : दोनों एक है। पहले यों भेद किये। हैं दो। किन्तु दृष्टि में दो नहीं है। दृष्टि में आधार-आधेय नहीं है। आधार - आधेय तो दो हैं... भाव अनेक हैं, वस्तु एक है। इसलिये `भाव' आधार और `(भाववान)' आधेय है। किन्तु दृष्टि के विषय में दो भेद नहीं है। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, भाई ! कुछ समझमें आया ?

यहाँ `परमपारिणामिकभाव' कहा। और वहाँ (`समयसार' गाथा-६ में) `ज्ञायकभाव' कहा। वहाँ आत्मा को लेना है इसलिये ज्ञायकभाव कहा। यहाँ आत्मा को तो लिया है परंतु (परम)पारिणामिकभाव कहने से पहले उसके ज्ञान, दर्शन (आदि) त्रिकालभाव लिये। वे भाव तो अन्य (द्रव्यो में) नहीं हैं। आहा...हा...! आश्चर्यकारी टीका है !

`शुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपस्याधारः सहजपरमपारिणामिकभावलक्षणकारणसमयसार'** आहा...हा...! **`कारणसमयसार' कहो, कारणजीव कहो, ज्ञायक कहो, भूतार्थ कहो, (एकार्थ है) परंतु यहाँ तो शुद्धभाव शब्द पड़ा है न...! तो शुद्धभाव में पहले शुद्धभाव तो त्रिकाली को कहते है; परंतु उसका भाव सहजज्ञानादि शुद्ध त्रिकालीभाव, उसका आधार परम पारिणामिकभाव है, (ऐसा कहा)। कुछ समझमें आया ? देखो ! `स्वद्रव्य' का आधार परमपारिणामिकभाव (ऐसा कारणसमयसार है)।

पर्याय को भी पारिणामिकभाव कही है। `जयधवल' में तो मिथ्यात्व-रागद्वेष के परिणाम को भी पारिणामिकभाव कहा, परमपारिणामिक नहीं, राग-द्वेष, पुण्य-पाप की पर्याय परमपारिणामिकभाव की पर्याय है इस अपेक्षा से पारिणामिकभाव कहा। उपशमभाव, यह पारिणामिकभाव; क्षायिकभाव वह पारिणामिकभाव, क्षयोपशमभाव, वह पारिणामिकभाव और त्रिकाली वह परमपारिणामिकभाव ! इस अपेक्षा से राग को भी पारिणामिकभाव कहा। `जयधवल' में पाठ है।

परंतु यहाँ परमपारिणामिक क्यों लिया ? अन्यथा परमपारिणामिकभाव तो छओं द्रव्यों में है। परंतु पहले भाव बताया कि यह द्रव्य है, और उसका आधार परमपारिणामिक है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? ज़रा (सूक्ष्म पड़े) ऐसी बात है, भाई ! `सहजपरमपारिणामिक' हाँ...! है न...? परमपारिणामिक, उसे परिणामिक कहा।

`पंचास्तिकाय' में `परिणामे भवति पारिणामिकः' पाठ है न...! पारिणामिकभाव को परिणाम कहा। यहाँ तो सहजज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि भाव कहे, और उसे स्वद्रव्य कहा। तो उसका `आधार' परमपारिणामिकभाव, ज्ञायकभाव, त्रिकाली द्रव्य ! आहा...हा...! यह ज्ञायकभाव है। जाननेवाला भाव, जाननभाव (है)।

यहाँ यह जो सहजज्ञान त्रिकाली है उसका आधार सहजपरमपारिणामिकभावलक्षण। किसका लक्षण ? कि : कारणसमयसार का ! जो सम्यग्दर्शन का विषय है ! वहाँ तो आधार-आधेय, ऐसा भेद भी नहीं है। किन्तु जब समझाना हो तब क्या करे ? भेद पाड़कर समझाना पड़ता है। कुछ समझमें आया ? आहा...हा...! सहजपरमपारिणामिकभाव लक्षण; `लक्ष' - कारणसमयसार। वहाँ वह लक्षण - `परमपारिणामिकभाव'। उसका लक्ष - `कारणसमयसार' - ऐसी बातें हैं !! शास्त्र तो समुद्र है ! और सम्यग्दर्शन का विषय महासमंदर है ! अर्थ किया न...! सहज परम पारिणामिकभाव जिसका त्रिकाल लक्षण है। किसका (लक्षण) ? कि : कारणसमयसार का। वह कारणसमयसार है, वह सम्यग्दर्शन का विषय है। त्रिकाल कारणसमयसार है।

(अब, टीकाकार मुनि `पद्मप्रभमलधारिदेव' स्वयं आधार देते हैं कि :- इसी प्रकार (**आचार्यदेव**) **`श्रीमद् अमृतचंद्रसूरि' ने (श्री `समयसार' की `आत्मख्याति' नामक टीका में १८५ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि :**

(शार्दूलविक्रीडित)

'सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम्।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि।।'

(श्लोकार्थ :-) जिनके चित्त का चरित्र उदात्त (-उदार, उच्च, उज्जवल) है ऐसे मोक्षार्थी इस सिद्धान्त का सेवन करो कि - 'मैं तो शुद्ध चैतन्यमय एक परम ज्योति ही सदैव हूँ; और यह जो भिन्न लक्षणवाले विविध प्रकार के भाव प्रगट होते हैं वह मैं नहीं हूँ, क्योंकि वे सब मुझे परद्रव्य हैं।'

'**जिनके चित्त का चरित्र**' अर्थात् ज्ञान का आचरण माने, ज्ञान अर्थात् प्रभु आत्मा, उसका जिन्हें आचरण है; उनका अभिप्राय क्या ? कि जिनके ज्ञान का चरित्र अर्थात् आचरण '**उदात्त**' (है)। आहा...हा...! जिन के अभिप्राय में स्वरूप के, ज्ञान का आचरण हुआ है अर्थात् ऐसे ज्ञान के आचरणवंत उदात्त माने '**उदार, उच्च, उज्जवल हैं ऐसे मोक्षार्थी**' अर्थात् 'सकल कर्म का क्षय होने पर होता है अतीन्द्रिय सुख, उसे उपादेयरूप अनुभव करते हैं' (-'कलश टीका' में) मोक्षार्थी की व्याख्या की। मोक्ष है वह परमानंदरूप है उसके अर्थी को, उसके आनंद का स्वाद आया है वह मोक्षार्थी है, ऐसा कहते हैं। सकल कर्म का क्षय होने पर होता है अतीन्द्रिय सुख, उसे उपादेयरूप अनुभव करते हैं, वह मोक्षमार्थी। (परंतु) जिसे अभी अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद नहीं आया है वह मोक्षार्थी कहाँसे होवे ? ऐसा कहते हैं। यह (अतीन्द्रिय) सुख की पूर्णता (-पूर्ण प्राप्ति) का जो अर्थी वह मोक्षमार्थी '**इस सिद्धांत का सेवन करो कि - 'मैं तो शुद्ध चैतन्यमय एक परम ज्योति ही सदा हूँ; और यह जो भिन्न लक्षणवाले विविध प्रकार के भाव प्रगट होते हैं वह मैं नहीं हूँ, क्योंकि वे सब मुझे परद्रव्य हैं।**"

यह व्याख्यान पूरा हुआ।

***

प्रवचन- १०, दि. ८-२-१९७८

इस (५० वीं) गाथा में आधार-आधेय ज़रा (फिर से) लेना हैं। यह जो गुण हैं - त्रिकाल ज्ञान, दर्शन, आनंद स्वभाव - इनको यहाँ 'आदेय' कहा है और द्रव्य को 'आधार' कहा है। पाठ में है न...! 'शुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपं स्वद्रव्यमुपादेयम्' - मूल-अंतःतत्त्व तो अनंत दर्शन - आनंदादि गुण हैं उनको अंतःतत्त्व कहकर स्वद्रव्य कहा। क्योंकि जब पर्याय को परद्रव्य कहा तब गुणों को स्वद्रव्य कहा (वह) अंतःतत्त्व। अब (कहते हैं कि :) परमपारिणामिकभावलक्षण, ऐसा (कारण) समयसार, त्रिकाली चीज़, जो सम्यग्दर्शन का विषय है, वह गुणों का 'आधार' है। और वे गुण जो अंतःतत्त्व हैं वे 'आधेय' हैं।

('समयसार') 'संवरअधिकार' में जो आधार-आधेय लिया है वह इससे भिन्न चीज़ है। शांति से सुनो, क्या चीज़ है ? वहाँ तो ऐसा कहना है : **'उपयोगे उपयोगः'** अर्थात् उपयोग में उपयोग है। ऐसा पाठ है। उसका अर्थ ऐसा लिया कि : अंदर आत्मा ज्ञानस्वरूप - आनंदस्वरूप है, वह वस्तु। (वह) ज्ञानक्रिया (अर्थात्) जो निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की क्रिया, उससे जानने में आता है। इस कारण से ये जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्विकल्प-वीतरागी 'पर्याय' है वह आधार है और 'द्रव्य' आधेय है। आहा...हा...! सुनो ! इन (दोनों) बातों में बहुत फर्क है। वहाँ तो आगे राग का क्षेत्र व भाव भिन्न गिना है। व्यवहाररत्नत्रय का जो राग है, विकल्प है, उसका क्षेत्र भी भिन्न और भाव भी भिन्न (है); उसके साथ आधार-आधेय संबंध नहीं है। अर्थात् उस राग से स्वभाव की दृष्टि होती है और संवर होता है, ऐसा नहीं है। तब कहते हैं कि : संवर-दशा (उत्पन्न) किस प्रकार हुई ? कि : वह निर्मलपर्याय, वीतरागी आत्मा के आश्रय से उत्पन्न हुई। (किन्तु) अभी उस बात को (एक तरफ) कर दो। परंतु वीतरागी पर्याय में - उपयोग में उपयोग है ! उपयोग अर्थात् वीतरागी

पर्याय जो मोक्षमार्ग की उत्पन्न हुई उसमें आत्मा है ! उस संवर अधिकार का आधार-आधेय अलग है और यहाँ (`नियमसार') का आधार-आधेय अलग है। - दोनों में बिल्कुल पूरब-पश्चिम का फर्क है। वहाँ जो कहा वह तो द्रव्य को आधेय कहा और निर्मलपर्याय को आधार कही। सूक्ष्म बात है, बापू ! यह तो अंतर का मार्ग बहुत सूक्ष्म है ! `उपयोगे उपयोगः' अर्थात् उपयोग में उपयोग है। ऐसा कहा न...! पहले उपयोग में, यानी निर्मल-वीतरागी-शुद्धोपयोग में आत्मा है। यानी, उस आधार से आत्मा जानने में आता है। कुछ समझमें आया ? भेदज्ञान में - राग से भिन्न करके - शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय द्वारा `आत्मा ज्ञानस्वरूपी है' ऐसा जानने में आता है। इस कारण से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय को शुद्धोपयोग कहा और उसमें आत्मा रहता है; अर्थात् उससे (द्रव्य) जानने में आया; इस वज़ह से `सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की परिणति' को आधार कहा और `द्रव्य (आत्मा)' को आधेय कहा। ऐसी बातें हैं !! भाई ! अभी यह तो थोड़ी-थोड़ी (बात) आ रही है। जो आती है सो आ जाती है। यह विषय (ही) ऐसा (गहन) है !! अन्यत्र भी आता है। किन्तु इस समय उससे कोई मतलब नहीं है। (यहाँ `नियमसार' में अलग विषय है)।

`प्रवचनसार' में तो ऐसा आता है कि : पर्याय `कारण' है और द्रव्य `कार्य' है। वहाँ यह सिद्ध करना है : पर्याय से द्रव्य लक्ष में आता है। अतः `पर्याय' कारण और `द्रव्य' कार्य। और फिर वहाँ ही ऐसा भी लिया है कि : द्रव्य `कारण' व पर्याय `कार्य'। क्योंकि, द्रव्य के आश्रय से पर्याय उत्पन्न होती है; अतः `द्रव्य' कारण व `पर्याय' कार्य, ऐसा लिया। और `पर्याय' कारण व `द्रव्य' कार्य - यह वस्तु की (अर्थात्) अस्तिकाय की सिद्धि करने के लिये ऐसा कहा।

(`समयसार') संवर अधिकार में जो `आधार-आधेय' कहा - `उपयोगे उपयोगः'- उपयोग में उपयोग है। आहा...हा...यह शब्द `कुंदकुंदाचार्य' का है। शुद्धवीतरागी शुद्धउपयोग में `आत्मा' है। अर्थात् शुद्धउपोयग से `आत्मा' जानने में आता है। इस कारण से, शुद्धउपयोग को आधार कहकर द्रव्य शुद्ध जो त्रिकाली है उसे आधार कहा। कुछ समझमें आया ? वहाँ तो, (आत्मा) व्यवहाररत्नत्रय से जानने में नहीं आता; (चाहे तो) व्यवहार, दया, दान, व्रत, भक्ति, लाख-करोड-अरब करे, करोडों जन्मों तक करे, फिर भी वह तो राग है, उससे आत्मा का लक्ष हो जाय ऐसा नहीं है; यह बताना है। और (साथ-साथ) भेदविज्ञान-संवर की (विधि का भी प्रकाशन किया है)। (वहाँ `कलश' - १३१ में भेदविज्ञान का महत्त्व बतलाते हुए कहा है कि :)

'भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन।।'

'(श्लोकार्थ : जो कोई सिद्ध हुए हैं वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं; जो कोई बंधे हैं वे उसीके अभाव से बंधे हैं।)' - अब तक जिसने भी मुक्ति प्राप्त की है, वह भेदविज्ञान से। **'भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन'** निश्चय से जो सिद्ध हुए हैं वे सभी, राग से भिन्न होकर अपना अनुभव करके सिद्ध हुए हैं। **'अस्यैवाभावतो बद्धा'** भेदविज्ञान के अभाव से बंधन में है; कर्म के कारण नहीं। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? अतः वहाँ पहली गाथा में ही, उसकी टीका में ऐसा कहा कि :

आत्मा को, राग के साथ आधार-आधेय संबंध नहीं है। तब फिर किसके साथ संबंध है ? कि : शुद्धउपयोग जो कि आत्मा के सन्मुख होकर हुआ, (उसके साथ संबंध है)। शुभाशुभ राग अशुद्ध है; उनके द्वारा आत्मा खयाल में आता नहीं है; इसलिये संवर नहीं होता। परंतु जो रागरहित शुद्धोपयोग है उससे (आत्मा) खयाल में आता है; इसलिये शुद्धोपयोग को 'आधार' कहा और द्रव्य को 'आधेय' कहा।

आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, भाई ! संप्रदाय में यूँ ही (उल्टा-सीधा) चलता है। उस प्रकार से तो यह (विषय) कठिन पडे ऐसा है, बापू ! यहाँ जो है वह अनोखी चीज़ है।

यहाँ तो अंतःतत्त्व आत्मा (वह स्वद्रव्य); और अंतर जो भाव-पर्यायमात्र को अर्थात् पवित्रपर्याय जो मोक्ष के मार्ग की उसे भी, परद्रव्य कहा। (यानी कि :) जो त्रिकाली भाव (सहज) ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि है वह अंतःतत्त्वस्वरूप, अंतःभावस्वरूप स्वद्रव्य है, तो वे (पूर्वोक्त सर्व भाव) परद्रव्य है, ऐसा कहा था। और बाद में कहा कि : वह अंतःतत्त्व जो अंतःभावस्वरूप स्वद्रव्य है उसका आधार, कारणसमयसार जो एकरूप त्रिकाली द्रव्य है वह है। वह (स्वद्रव्यरूप भाव का आधाररूप) भाव था।

'तत्त्वार्थसूत्र' का वह (सूत्र) है : 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' - द्रव्य के आश्रय से गुण हैं, गुण के आश्रय से गुण नहीं हैं। 'निर्गुणा गुणाः' ऐसा क्यों कहा ? कि : गुण के आश्रय से गुण नहीं हैं, द्रव्य के आश्रय से गुण हैं।

'संवर अधिकार' में अपने निर्मल परिणाम से ('आत्मा') खयाल में आया तो वहाँ (ऐसे परिणाम को) 'आधार' कहा। और यहाँ जो भाव, त्रिकाली स्वभावभाव उसे 'आधेय' कहकर परम (पारिणामिकभाव जिसका लक्षण है ऐसे) कारणसमयसार प्रभु को 'आधार' कहा। कुछ समझमें आया ?

एक यह 'असद्भाव' की बात दिमाग में आई ! सुनो ! यहाँ जो अंतःतत्त्व(रूप) गुण कहा है उसे 'आधेय' कहा। वस्तु को 'आधार' कहा। फिर भी उस द्रव्य को और गुण को अतद्भावरूप अन्यत्व है। कल एक बात, 'प्रवचनसार' गाथा-१०७, सज्जाई (स्वाध्याय) में आई थी। वहाँ यों कहा : 'सत् द्रव्य', 'सत् गुण', और 'सत् पर्याय', यह 'सत्' का विस्तार है। अब गाथा-१०८ में ऐसा आया कि : द्रव्य और गुण के बीच जो चार अभाव - प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव अत्यन्ताभाव (-उनको यहाँ) नहीं लेना; परंतु द्रव्य और गुण के बीच अतद्भावरूप अन्यत्व है। (यानी) द्रव्य में गुण नहीं है और गुण में द्रव्य नहीं है। यहाँ जो कहा कि : गुण आधेय है और द्रव्य आधार है। फिर भी दोनों के बीच फर्क है। क्या ? कि : द्रव्य व गुण अतद्भावरूप गिने गये हैं। जो भाव द्रव्य का है वह भाव गुण का नहीं है। एवं जो भाव गुण का हैं वह भाव द्रव्य का नहीं। अरे.....! जो भाव पर्याय का है वह द्रव्य का नहीं और जो भाव द्रव्य का है वह पर्याय का नहीं है। अतः पर्याय व द्रव्य के बीच अतद्भावरूप अन्यत्व है; अभावरूप अन्यत्व नहीं है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? थोड़ा सूक्ष्म (विषय) है, भाई ! यह तो वीतरागमार्ग, बापू ! सूक्ष्म बहुत ! आहा...हा...! मूल वस्तु (ऐसी है !!)

वहाँ ऐसा कहा : गुण व द्रव्य में प्रदेशभेद नहीं है। वहाँ प्रदेशभेद को पृथक् कह रहे हैं। पृथक् कह रहे हैं न...? और उसमें यह प्रदेशभेद नहीं। परंतु (जो) द्रव्य (है) वह गुण नहीं है और गुण (है) वह द्रव्य नहीं है, इस अपेक्षा से दोनों के बीच अतद्भावरूप अन्यत्व गिनने में आया है। आहा...हा...! आधार-आधेय में भी यह (बात) है।

वहाँ 'संवर अधिकार' में जो निर्मलउपयोग (आत्मा को) पकड़ने का हुआ, (अर्थात्) स्वसंवेदन की दशा हुई, उसे आधार कहकर द्रव्य को आधेय कहा फिर भी 'आधार-आधेय' में अतद्भाव है। उस प्रकार यहाँ अंतःतत्त्वरूभाव' आधेय और परमपारिणामिकभाव जिसका लक्षण है ऐसा कारणसमयसार 'आधार'; अर्थात् 'गुण' आधेय और 'द्रव्य' आधार है; फिर भी दोनों के बीच अतद्भाव है, दोनों के बीच अतद्भावरूप अन्यत्व है। ऐसी बात है, बापू ! कुछ समझमें आया ?

'प्रवचनसार' गाथा-१०८, वह 'ज्ञेय अधिकार' है न...! 'ज्ञेय' का स्वरूप गाथा-९३ से शुरु किया। तो उस ज्ञेय का स्वरूप इस प्रकार बताना है कि : जो भाव है और जो द्रव्य है यानी जो गुण है और जो द्रव्य है उनके बीच, ज्ञेय का ऐसा

स्वभाव है कि, अतद्भाव है। आहा...हा...! सूक्ष्म बात, भाई ! लोगों को (अंतर का) परिचय नहीं है; अभ्यास नहीं है; और बाह्य से (ऊपर ऊपर से) मानकर अनंतकाल से भटककर मरता रहा है।

'संवर अधिकार' में पर्याय को 'आधार' कहा, क्योंकि पर्याय से वह (द्रव्य) जानने में आता है। द्रव्य के द्वारा द्रव्य कोई जानने में नहीं आता। और वीतरागपर्याय जो स्वसन्मुख हुई, उससे (आत्मा) अनुभव में आया; अतः वीतरागीपर्याय को 'उपोयग' कहा और उसमें, उपयोग - 'आत्मा' है; (यानी उपयोग में उपयोग है); और उसके (उपयोग के) 'आधार' से आत्मा है, ऐसा कहा। क्योंकि : उसके द्वारा (उपयोग द्वार 'आत्मा') जानने में आया। जानने में न आये तब तक 'यह आत्मा है, और यह गुण-पर्याय है' ऐसा कहाँ से आ सकता है ? कुछ समझमें आया ?

'समयसार' गाथा-१७-१८ में तो ऐसा आया न...! भगवान आत्मा आबालगोपाल सभी को सदाकाल ज्ञान की पर्याय में जानने में आता है। आहा...हा...! ज्ञान का स्वभाव स्वपरप्रकाशक है उस कारण से जो ज्ञान की पर्याय है उसमें ज्ञेय जो स्वद्रव्य है वही आबालगोपाल सभी को (अर्थात्) बालक से लेकर वृद्ध सभी जीवों को जानने में आता है। 'वस्तु' पर्याय में नहीं आती; परंतु (पर्याय में) जानने में आता है कि : यह द्रव्य ऐसा है; ऐसा पर्याय में जानने में आता है। सभी को जानने में आता है; फिर भी, ऐसा क्यों है ? सभी को पर्याय में 'द्रव्य' जानने में तो आता है। फिर भी अज्ञानी की दृष्टि बंध के बस में है, रागवश है, उस कारण से 'पर्याय द्रव्य को जानती है' ऐसी दृष्टि, उसे (अज्ञानी को) नहीं है। आहा...हा...! ऐसी सब बातें हैं !! कुछ समझमें आया ? यहाँ तो जो आधार-आधेय कहा, वह सूक्ष्म बात है।

(गाथा-१७-१८ में) क्या कहा ? कि : अज्ञानी को भी ज्ञान की पर्याय में, पर्याय का सामर्थ्य इतना है (अर्थात्) स्व-पर प्रकाशक है। अतः (उसे भी) स्वज्ञेय - द्रव्य 'पर्याय' में जानने में तो आता ही है। अज्ञानी को भी हाँ...! परंतु अज्ञानी की पर्याय में स्वद्रव्य जानने में आने पर भी उसकी दृष्टि राग-दया, दान और विकल्प - के ऊपर पड़ी है, वह बंध नहीं (परंतु) भावबंध है, उस भावबंधवश पड़ा है; हालाँकि उसको अबंधस्वभाव जानने में तो आता है परंतु उसकी दृष्टि बंध के ऊपर है; अतः वह मिथ्यादृष्टि है; अतः उसे (स्वज्ञेय) जानने में आया नहीं। कुछ समझमें आया ?

आहा...हा...! बहुत सूक्ष्म है, बापू ! ऐसा...है ! परंतु उसे समझना पड़ेगा कि नहीं ? सत्य को सत्य की रीति से (समझना चाहिए कि) यह बात किस प्रकार

है ? बापू ! अभी तो (बहुतों को सुनना भी) मुश्किल पड़े ऐसी (बात) है। संप्रदाय में तो यह बात चलती तक नहीं है। ये तो बिना सम्यग्दर्शन ही, यह व्रत करो और त्याग करो और पडिमा (प्रतिमा) ले लो न... ऐसी बातें चलती हैं। वह मार्ग वीतराग का नहीं !

१७-१८ गाथा में (ऐसा कहा कि :) अज्ञानी को जो पर्याय है उसमें पर्याय का प्रकाश स्व-पर प्रकाशक होनेके कारण द्रव्य ही (- द्रव्य भी) ज्ञान में आता है परंतु उस ओर उसकी 'दृष्टि' नहीं है; अतः (द्रव्य) खयाल में नहीं आता। अर्थात् अज्ञानी की दृष्टि (स्वद्रव्य के ऊपर नहीं है), अतः उसकी दृष्टि राग के ऊपर है, पर्याय के ऊपर है। और संवर अधिकार में ऐसा कहा कि : निर्मलपर्याय (शुद्धोपयोग) 'आधार' है और आत्मा 'आधेय' है। और इस (चल रहे) अधिकार में 'गुण' को आधेय कहा और 'द्रव्य' को आधार कहा। और ('प्रवचनसार' गाथा-१०७ में) गुण और द्रव्य के बीच अतद्भाव कहा। द्रव्य का भाव, गुण के भाव में नहीं है। और गुण का भाव, द्रव्य (भाव) में नहीं है; अतः (उनको अतद्भाव है, जिसके कारण उनको अन्यत्व है)। द्रव्य एवं गुण के प्रदेशभेद नहीं होने पर भी संख्या, संज्ञा, लक्षण और प्रयोजनादि भेद होने से द्रव्य व गुण भिन्न हैं। (दोनों के बीच) अतद्भाव है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

जिज्ञासा :- ४७ नय में 'आत्मा' को राग का अधिष्ठाता कहा है न ?

समाधान :- वहाँ ऐसा लिया है। सब कुछ खयाल में है। पूरा शास्त्र दिमाग में है। वहाँ तो ऐसा लिया है कि : अनंत नय हैं। अतः अनंत नय के विषय अनंत हैं। गुण-पर्याय-विकारी, अविकारी पर्याय और अविकारी गुण - इन सब के अनंत नय हैं। उनका विषय है। उनका स्वामी - अधिष्ठाता आत्मा है। ज़रा सूक्ष्म बात है। फिर से कहें : वहाँ साधक की बात है, सम्यग्ज्ञानी की बात है; अज्ञानी की नहीं। वहाँ ४७ नय लेनेसे पहले दो प्रश्न हैं। शिष्य ने प्रश्न किया कि, प्रभु ! 'यह आत्मा कौन है (- कैसा है) और किस प्रकार प्राप्त होता है ?' ऐसा प्रश्न है। आचार्यदेव ऐसा कहते हैं कि : ऐसी जिज्ञासा जिसे अंतर में उठी है तो हम उसे उत्तर दे रहे हैं। साधारण प्राणी बेगार की भाँति बात सुनने आया हो तो उसके लिये हमारा उत्तर नहीं है। देखो, संस्कृत टीका है : 'ननु कोऽयमात्मा कथं चावाप्यत इति चेत्' - ऐसा प्रश्न जिस शिष्य के हृदय में होवे तो, उसे हम उत्तर देंवे। 'प्रथम तो, आत्मा वास्तव में चैतन्य सामान्य द्वारा व्याप्त अनंत धर्मों का अधिष्ठाता एक द्रव्य

है।' `तावच्चैतन्यसामान्यव्याप्तानन्तधर्माधिष्ठात्रेकं।' ऐसा पाठ है।

`कर्ता-कर्म' गाथा : ७३ में `अधिष्ठाता' - `स्वामी' ऐसा लिया है कि : विकार का स्वामी कर्म है। ऐसा वहाँ भेद दिखाने के लिये कहा। और यहाँ तो जितनी विकारी और अविकारी पर्यायें, उन सभी पर्यायों का स्वामी आत्मा है, इतना बताना है। वहाँ (कर्ता-कर्म में) दृष्टिप्रधान कथन है। और यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है। इसलिये नय में ऐसा भी लिया कि : आत्मा राग का कर्ता है। ज्ञानी का (आत्मा) हाँ...! अज्ञानी की बात नहीं है। सम्यग्दृष्टि को स्वानुभव हुआ है फिर भी जितना राग का परिणमन है उतना उसे उसका कर्ता कहें और भोक्ता है तो उसे भोक्ता भी कहें। और कर्ता भी नहीं है और भोक्ता भी नहीं है, ऐसा भी कहते हैं। (कर्तृनय, अकर्तृनय भोक्तृनय, अभोक्तृनय इस प्रकार चार नय हैं। सब मिलकर ४७ नय हैं। वहाँ ऐसा कहा कि कर्ता आत्मा है तो उस कर्तानय का स्वामी आत्मा है। परंतु यहाँ `समयसार' में ना करते हैं कि (आत्मा) कर्ताफर्ता नहीं ! कितनी अपेक्षाएँ आती हैं !! (और वहाँ ४७ नय के पूर्व, शिष्य के प्रश्न के उत्तर में ऐसा कहा कि :) अनंत नयों का - धर्मों का अधिष्ठाता एक द्रव्य है। क्यों ? कि : अनंत धर्मों में व्याप्त होनेवाले जो अनंत नय, उसमें व्याप्त होनेवाला जो एक श्रुतज्ञानरूप प्रमाण है वह उसे (आत्मद्रव्य को) जानता है। नय है वह एक एक गुण को और एक एक पर्याय को जानता है। और उस अनंतनयों के श्रुतज्ञानरूप प्रमाण चीज़, उसका विषय विकारी और अविकारी पर्याय, दोनों समकिती के हैं। पूर्ण हुआ नहीं है और साधक की बात है, तो दोनों का स्वामी आत्मा है। उस विकार का अधिष्ठाता - स्वामी आत्मा है ! क्योंकि विकार कोई कर्म से हुए नहीं हैं और कर्म में नहीं हैं। यह (बात) आयेगी। `कलश-टीका' में आयेगा : `विकार यह चेतना के परिणाम हैं !' आहा...हा...! एक ओर कहे कि विकार हैं यह पुद्गल के परिणाम हैं। वे तो निकल जाते हैं इस अपेक्षा से। (अर्थात्) स्वभाव के दृष्टिवंत को (वह विकार) निकल जाता है, अतः उसे पुद्गल के परिणाम कहे। परंतु यदि उसको वैसा ही मान ले कि : (विकार) पुद्गल के परिणाम हैं, मेरे नहीं हैं; (तो मिथ्या एकांत हो जाय)। तो ४७ नय में कहा कि : जितनी विकृत या अविकृत अवस्था होती हैं और जो अनंत गुण हैं - उन सबका स्वामी आत्मा है। सबका अधिष्ठाता आत्मा है। कुछ समझमें आया ?

आहा...हा...! ऐसी बातें !! सूक्ष्म पड़े, (परंतु) क्या करें ? इस (संप्रदाय में) तो (मानते हैं कि) `इच्छामी पडिकमयामी' इत्यादि बोले और सामयिक हो गई ! (परंतु

उसमें) धूल में भी सामायिक नहीं है ! आहा...हा...! `सामायिक' किसे कहें ? यह तो तुझे अभी पता नहीं है। सामायिक = सम+आय=वीतरागता का लाभ। तो वीतरागता का लाभ कब हो ? कि : जब अपने आनंदस्वभावमें से स्वरूप का वेदन हुआ हो। स्वरूप का ज्ञान व ज्ञेय भी (वह), (यानी) जहाँ अपनी ज्ञानपर्याय में द्रव्यरूपी ज्ञेय का ज्ञान हुआ हो ! `वह ज्ञेय' पर्याय में नहीं आता। परंतु पर्याय में `द्रव्यज्ञेय' का ज्ञान होता है। इस प्रकार श्रद्धा की पर्याय में पूर्ण द्रव्य की प्रतीति आती है परंतु श्रद्धा की पर्याय में `पूर्ण द्रव्य' नहीं आता।

ऐसी (निर्मल) पर्याय द्वारा, पर्याय में, (`आत्मद्रव्य') जानने में आया इसलिये उसे `आधार' कहा। वह पर्याय, उसमें (द्रव्य में) है; अतः (द्रव्य को) उसका स्वामी कहा। कुछ समझमें आया ? ऐसी बात है !! बापू ! क्या करें ?

(यहाँ ४७ नय में कहते हैं कि :) `प्रथम तो आत्मा वास्तव में चैतन्य सामान्य द्वारा व्याप्त अनंत धर्मों का अधिष्ठाता (एक द्रव्य है।)' वह राग भी धर्म है। धर्म अर्थात् धारण करके रखना। अपनी पर्याय में धारण करके रखा है इसलिये धर्म। यहाँ धर्म माने वीतरागीपर्याय ऐसा नहीं। अनंत धर्मों का अधिष्ठाता (एक द्रव्य !) कुछ समझमें आया ?

आहा...हा...! समझमें आये इतना समझना, बापू ! मार्ग तो ऐसा है, भाई ! सर्वत्र त्रिलोकनाथ परमात्मा की वाणी में - दिव्यध्वनि में ऐसा आया है। यह संतलोग कहते हैं। और ऐसा अनुभव में आना चाहिए।

यहाँ विकार में मिथ्यात्व नहीं लेना। यहाँ जो अनंत नयों का - अनंत धर्मों का अधिष्ठाता कहा उसमें मिथ्यात्व नहीं लेना। यहाँ तो सम्यक्दृष्टि को, जिसे अंतर की जिज्ञासा होकर अनुभव हुआ है उसे उत्तर दिया जा रहा है। ऐसा लिखा है। यहाँ तो `नय' है न...? `नय' है वह कोई अज्ञानी को नहीं होता। `नय' श्रुतज्ञानी को होता है। तो `श्रुतज्ञानी' कब होवे ? कि : द्रव्य का अनुभव हो तब `श्रुतज्ञानी' होता है। नय तो श्रुतज्ञान का अवयव है। और श्रुतप्रमाण यह अवयवी है। नय अवयव है। तो वह (श्रुतज्ञानी) सभी - रागादि - अवयव को जाननेवाला है। समकिती को भी दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम आते हैं परंतु (उसे जाननेवाला श्रुतप्रमाणज्ञान है)। कुछ समझमें आया ?

यहाँ ऐसा कहा : (क्योंकि अनंत धर्मों में व्याप्त होनेवाले जो अनंत नय उनमें व्याप्त होनेवाला) जो एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभव द्वारा (वह

आत्मद्रव्य प्रमेय होता है (- जानने में आता है)' अनंत नयों में विकृत व अविकृत दोनों अवस्था आ गई उनका स्वामी है। क्योंकि - श्रुतप्रमाण में द्रव्य व पर्याय दोनों का ज्ञान आ गया। और श्रुतज्ञानप्रमाण से स्वानुभव - अंतरअनुभव करने से (वह आत्मा) प्रमेय होता है। ज्ञान में ज्ञेय का ज्ञान होता है। श्रुतप्रमाण होता है इसलिये विकृत और अविकृत सभी पर्याय व गुण प्रमेय होते हैं। (अर्थात्) श्रुतप्रमाणज्ञान में विकारीअवस्था भी प्रमेय होती है, निर्विकारी अवस्था भी प्रमेय होती है, त्रिकाली गुण भी प्रमेय होते हैं और समुच्चय समुदाय - एकरूप द्रव्य (भी) प्रमेय होता है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? बाद में तो खुलासा किया कि : वह आत्मद्रव्य द्रव्यनय से (चिन्मात्र) है। अभी सारे व्याख्यान हो चुके। यहाँ तो हमें इतना लेना था।

(**प्रश्न :-**) यह परमपारिणामिकभाव `लक्षण' और `लक्ष' कारणसमयसार; ऐसा भेद है ?

(**समाधान :-**) वहाँ ऐसा नहीं कहना है। वहाँ तो परमपारिणामिकस्वभाव एक वस्तु; उसे `आधार' कहकर, अनंत सहजज्ञान-दर्शन जो त्रिकाली अनंत स्वभावभाव; उसे `आधेय' कहकर, `दृष्टि' कारणसमयसार के ऊपर ले जानी है। यह दिखाना है। कुछ समझमें आया ?

`प्रवचनसार' जयसेन आचार्य की संस्कृत टीका, उसमें एक - १३६ (गाथा) अलग से रखी है, मूल नहीं है। किन्तु उनको कहीं से मिली है। वह अंदर रखी है। गाथा :

`एदाणि पंचदव्वाणी उज्झियकालं तु अत्थिकाय त्ति।
भण्णंते काया पुण बहुप्पदेसाण पचयत्तं।।'

अत्र `पंचास्तिकाय' के बीच में जीवास्तिकाय उपादेय। जीवास्तिकाय जो शुद्ध चैतन्य भगवानस्वरूप विद्यमान है वह उपादेय है। एक जीव नहीं। संस्कृत टीका में है : `अत्र पञ्चास्तिकायमध्ये जीवास्तिकाय उपादेयस्तत्रापि पञ्चपरमेष्ठिपर्यायावस्था,' उपादेय में विशेष लो तो पंचपरमेष्ठी (है)। पंचपरमेष्ठीमें से भी अर्हंत व सिद्ध (उपादेय हैं)। उसमें से भी एक सिद्ध, और उसमें से भी वह एक (निज शुद्धात्मा ही) उपादेय है। सारा सार निकालकर (कहा कि : वह एक मूल तो जीवास्तिकाय पूरा भगवानस्वरूप परमानंदमूर्ति (उपादेय है)। `वस्तुतस्तु रागादिसमस्तविकल्पजालपरिहारकाले सिद्धजीवसदृशा स्वकीयशुद्धात्मावस्थेति भावार्थः' पहले `पंचास्तिकाय' में जीवास्तिकाय उपादेय है ऐसा कहा। यहाँ (लोक में) अनंत जीव हैं। सभी भगवान। यहाँ एक अंगुल के असंख्यातवें

भाग में असंख्य निगोदशरीर और एक शरीर में अनंत निगोद के जीव हैं ऐसा समस्त लोक (निगोद के जीवों से) भरा है। सिद्धभगवान बिराजमान हैं वहाँ भी निगोद के जीव हैं। सभी भगवान हैं। जीवास्तिकाय के रूप में उपादेय हैं, ऐसा कहते हैं। द्रव्यरूप से हाँ...! उसमें फिर (उपायेदरूप से) पंचपरमेष्ठी लेना; फिर उसमें से भी अर्हंत-सिद्ध लेना, फिर उसमें से भी सिद्ध लेना; और उसमें से भी अपना शुद्ध आत्मा लेना। (**श्रोता :-** (इन) सभी कथनों का तात्पर्य क्या है ? (**उत्तर :-**) तात्पर्य यह है कि : अंदर में अंतर्दृष्टि करना और अनुभव करना। बाकी तो सब बातें हैं। कुछ समझमें आया ? लो ! आधार-आधेय में इतना आया।

अब, हम इस श्लोक (- `समयसार' कलश : १८५) जिनके (चित्त का अर्थात्) ज्ञान का चरित्र माने आचरण (यानी) ज्ञान का आचरण उदात्त है, उदार है, उच्च है, उज्जवल है, ऐसे मोक्षमार्थी (इस सिद्धांत का सेवन करो। अर्थात् शुद्धात्मा का आश्रय करो।)

अभ मोक्षार्थी की व्याख्या : मोक्ष (माने) परमानंदस्वरूपदशा, (अर्थात्) आत्मा के अतीन्द्रिय परमानंद का लाभ, वह मोक्ष। कुछ समझमें आया ? `नियमसार' में शुरुआत की गाथा में है कि `मोक्ष' माने क्या ? कि : अतीन्द्रिय अनंत आनंद का लाभ, वह मोक्ष। यहाँ कहते हैं कि : उस मोक्ष का अर्थी (वह मोक्षार्थी)। अर्थात् जिसे उस आनंद का वेदन हुआ है, आनंद अनुभव में आया है, वह मोक्षार्थी है। वह भले फिर गृहस्थाश्रम में हो, (उसे अभी) रागादि होवे, परंतु अनंतानुबंधी और मिथ्यात्व का नाश हो गया है उसके स्थान पर सम्यग्दर्शन व स्वरूपाचरण - स्थिरता का आनंद आया है; उस जीव को मुमुक्षु कहते हैं, उस जीव को योगी कहते हैं। कुछ समझमें आया ? मोक्षार्थी की यह व्याख्या है ! जिसे (मोक्ष का) यानी पूर्ण आनंद का प्रयोजन है। उसे आनंद का नमूना तो आया है। आहा...हा...! मुमुक्षु तो उसे कहे कि जो मोक्ष का अर्थी है। अर्थी माने प्रयोजन(वंत)। जिसका प्रयोजन है उसका नमूना तो आया है। उस नमूने पर से प्रयोजन तो (पूर्णता का अर्थात्) मोक्ष का है। कुछ समझमें आया ?

जिज्ञासा :- नमूना न आये उसे मोक्षार्थी नहीं कह सकते ?

समाधान :- परमार्थ से मोक्षार्थी नहीं (कहा जा सकता)। उसका (यथार्थ) निर्णय और अनुभव करने के लिये यदि (आत्मा) सन्मुख होवे तो (उसे) समकित - सन्मुख मिथ्यादृष्टि कहा जाता है।

जिज्ञासा :- उसे (भी) मोक्षार्थी नहीं कहा जाता ?

समाधान :- नहीं, अनुभव का (-आनंद का) अर्थ (- प्रयोजन) आया (सिद्ध हुआ) नहीं है न...! जो मोक्ष (अर्थात् प्रयोजन पूर्णानंद है उसका नमूना वहाँ आया नहीं)।

उसका अर्थ कल बताया था न...? (देखो, इसी कलश में है, कलश-१८५ : 'सकल कर्म का क्षय होने पर होता है अतीन्द्रिय सुख, उसे उपादेयरूप अनुभव करते हैं।' उसके द्वारा वह सिद्धांत यानी वस्तु (स्थिति) है कि : मोक्षार्थी माने पूर्ण अतीन्द्रिय आनंद का जिसे प्रयोजन है - अन्य कोई प्रयोजन नहीं है, और जिसका प्रयोजन है उसका नमूना आ गया है, सम्यग्दृष्टि हुआ है। आहा...हा...! ऐसा मोक्षार्थी - योगी अर्थात् स्वस्वरूप में जिसका योग - जुड़ान हो गया है, उसका ध्रुव ऊपर का ध्येय एक समय (मात्र) भी खिसकता नहीं है। आहा...हा...! सम्यग्दृष्टि का धेयय 'ध्रुव' है। चाहे तो किसी भी विकल्प में हो, या व्यवसाय-व्यापार में दिखे, परंतु अपना ध्येय जो 'ध्रुव' है वहाँ से उसकी नजर (दृष्टि) खिसकती नहीं है। क्योंकि वह मोक्षार्थी है और उसे प्रयोजन आनंद का है।

आहा...हा...! ऐसे मोक्षार्थी इस सिद्धांत का सेवन करो। सिद्धांत अर्थात् वस्तु। यानी शुद्धात्मा का आश्रय करो।

इसके बारे में विशेष आयेगा।

***

पर-क्षेत्र आत्माको गुणकारक नहीं है। परद्रव्यके कारणसे आत्मामें शान्ति रहे - ऐसा मानना तो मूढ़ता है। अन्तर आत्मामें निमग्न हो जाना ही ध्यान है। बाह्य-कारणोंसे ध्यान या शान्ति नहीं होती। सोनगढ़-क्षेत्रके वातावरणसे आत्मामें शान्ति होती है - यह बात भी मिथ्या है । (परमागमसार - ८९२)

प्रवचन- ११, दि. ९-२-१९७८

`नियमसार' गाथा-५० का श्लोक (- `समयसार' मोक्षअधिकार का श्लोक - १८५) है।

`**जिनके (चित्त का)**' अर्थात् ज्ञान का `(**चारित्र**' माने) आचरण `**उदात्त**' है। वहाँ से (यह विषय) शुरु किया है। उसका अर्थ क्या ? कि : आत्मा आनंदस्वरूप; उसका जिसे आश्रय है उसे ज्ञान का आचरण है, यानी कि आत्मा का आचरण है। यहाँ `ज्ञान' शब्द से `आत्मा' लेना है। आहा...हा...! सम्यग्दृष्टि के स्वद्रव्य का आश्रय होता है। जब तक (पूर्ण) वीतराग न हो तब तक (उसे) राग होता है; व्यवहार होता है, फिर भी उसे आश्रय करने लायक तो निजात्मा है। उसका कर्तव्य तो ज्ञान का आचरण (अर्थात्) आत्मा का आचरण करना - यह है। प्रारंभ से ही ऐसा लिया है न...? जिनके चित्त अर्थात् ज्ञान का चारित्र अर्थात् आचरण उदार (उदात्त) है। आहा...हा...! स्वचैतन्य भगवान, सहजात्मस्वरूप का आचरण जिसका उदार है; राग का आचरण होवे वह कोई उदार, (यानी) मूल चीज़ नहीं है, वह व्यवहार तो छठे गुणस्थान तक आता है; परंतु उस राग से भिन्न होकर, जिसके आत्मा का - शुद्ध चैतन्य ऐसे ज्ञान का - चरित्र अर्थात् आचरण उदार है, उच्च है, उज्जवल है। अर्थात् आत्मा ज्ञानानंद शुद्धस्वरूप प्रभु है; उसका जिसे श्रद्धा, ज्ञान व आचरण उच्च है, उदार है (ऐसे) मोक्षार्थी हैं; ऐसा लिया है।

आहा...हा...! यह तो पंचमकाल के मुनि कह रहे हैं ! यह तो हज़ार वर्ष पूर्व के `अमृतचंद्राचार्य' कह रहे हैं ! और पंचमकाल के गृहस्थों से - जीवों से कह रहे हैं ! कि : धर्मी को (अर्थात् मोक्षार्थी को) तो करने लायक हो तो `यह' है !

`**ऐसे मोक्षार्थी**' - इसलिये टीकाकारने ऐसा लिया। भगवान के तो आठ कर्म का नाश होकर अनंत आनंद (प्रगट) हुआ है, किन्तु जिसे उस आनंद का अंशतः

लाभ हुआ है वह आत्मार्थी है। जिसे आत्मा का संपूर्ण अनुभव-ज्ञान-आनंद का लाभ हुआ हो उसे मोक्ष; और जिसे उसका अंश प्रगट हुआ है और जो पूर्णानंद का अभिलाषी है उसे यहाँ मोक्षार्थी कहा जाता है। ऐसा है भाई ! और क्या हो सकता है ?

टीका में तो ऐसे शब्द लिये हैं : मोक्षार्थी-मुमुक्षु-योगी। आहा...हा...! मुमुक्षु-योगी, जिनका आत्म-आचरण राग से भिन्न होकर जिसे धर्माचरण हुआ है; (यानी कि) धर्म अर्थात् शुद्ध चैतन्य - आनंद स्वभाव; इसका आचरण जिनको हुआ है जिनकी शुद्धस्वरूप में एकाग्रता है; ऐसे मुमुक्षु, वे '**इस सिद्धांत का सेवन करो।**' आहा...हा...! यह तो आदेश दे रहे हैं। आचार्य है न...! इस वस्तु का सेवन करो। सिद्धांत अर्थात् वस्तु। जो आनंदकंद प्रभु है वह सिद्धांत; वह आत्मा आनंदस्वस्वरूप (है) वह शुद्ध वस्तु; उसका सेवन करो अथवा उस वस्तु का आश्रय करो।

'प्रवचनसार' गाथा-१० में लिया है कि : (वस्तुरूप आश्रय के बिना परिणाम किसके आधार से रहेंगे ?) व्यवहार से ९ वीं गाथा में ऐसा कहा कि : 'शुभ या अशुभ में परिणमन करते हुए शुभ या अशुभ आत्मा बने, शुद्धरूप परिणमन करते हुए शुद्ध, परिणामस्वभावी होने से।' ये तीनों लिया न...! जिस प्रकार पर्याय परिणमन करती है उस रूप (द्रव्य) पर्याय में तन्मय हो जाता है। फिर १० वीं में कहा कि, ये जो परिणाम हैं उसका आश्रय द्रव्य है। 'आश्रय' का प्रश्न था न ? उस परिणाम के बिना द्रव्य नहीं होता। परिणमन करती है वह पर्याय है, परिणाम है। तो उसका 'आश्रय' कौन ? (कि - द्रव्य।) वरना वैसे तो विकार का आश्रय तो निमित्त है; (विकार) पर के लक्ष से (होता है)। परंतु यहाँ वह नहीं लेना है। यहाँ तो परिणमित होनेवाला स्वयं ही उसका आश्रय है। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं : अहो ! सिद्धांत का सेवन करो। समस्त बारह अंगों का सार ! वस्तु भगवान (आत्मा) तो शरीर वाणी की क्रिया से बिल्कुल भिन्न है; परंतु (जो) दया, दान, व्रत के विकल्प हैं उनसे भी वस्तु भिन्न है। (ऐसी जो वस्तु) उसका आश्रय करो; उसका सेवन करो अर्थात् उसमें एकाग्र होओ ! टीका में तो आश्रय-सेवन करने को कहते हैं। 'आश्रय' का अर्थ ही स्वभाव की ओंर की एकाग्रता। जो एकाग्रता अनादि से राग में, मिथ्यात्व में है, (जिससे) भगवान चिदानंदस्वरूप एक तरफ रह जाता है। (अर्थात् तिरोभूत हो जाता है), उसके (बजाय) राग को एक ओर कर दे ! आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? ऐसी बात है, प्रभु ! सूक्ष्म बात है परंतु क्या करें ? वस्तु तो यह है। छठे गुणस्थान तक व्यवहारचारित्र आये; परंतु उसे

व्यवहार तब कहें कि, जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का अंश (साथ में) होवे। फिर उसे (व्यवहार को) छोड़कर सातवे में जाता है, अर्थात् निश्चय(रत्नत्रय) होता है। आहा...हा...! वस्तु तो यह है, प्रभु !

`छहढाला' में आया न...! `लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ; तोरि सकल जग दंद-फंद, नित आतम ध्याओ।' लाख बात की बात... लाख शब्द रखा है, परंतु अनंत बात की बात कहो... (यह है कि :) जगत दंद-फंद (यानी) अंदर आत्मा व राग का (जो) द्वैतपना (हो रहा है) उसे, किसी भी तरह छोड़कर; अरे ! गुणी व गुण ऐसा द्वैतपना छोड़कर; आत्मा - त्रिकाली ज्ञायकभाव - आनंदभाव - का आश्रय करो, उसमें एकाग्र होओ ! ध्रुव के ध्यान से एक समय भी खिसकना नहीं, (ऐसा करो) !

एक क्षुल्लक थे। बेचारे मर गये। यहाँ (सुनने के लिये) कई बार आते थे। लोग पूछे तो बहुत थोड़ी-सी बात बताते थे : `पर से हट (खिसक), स्व में बस; टूँकुं टच (छोटी-सी बात), इतना बस।' सार तो यह है, भाई ! पर से खिसक, खिसक माने हट जा। `पर से हट, स्व में बस; इतना बस, टूँकुं टच।' आहा...हा...! सभी सिद्धांत (का सार यह है)। (बाकी तो) पर से (शास्त्र आदि से) जानपना (क्षयोपशमज्ञान) करे या चाहे जितनी लाख (क्रियाएँ) करें परंतु (वह कर्तव्य नहीं है) करने लायक तो यह चीज़ है (- पर से हट, स्व में बस)। वस्तु तो यह है।

(यहाँ कहते हैं :) इस सिद्धांत का सेवन करो कि : `**मैं तो...**' `मैं' शब्द में कितना (वज़न है ! कि : मैं) प्रत्यक्ष (हूँ। जैसे कि आँखों के सामने) इन्सान खडा हो वैसे। ऐसा कहते हैं। मैं भगवान आनंदस्वरूप प्रभु ! मैं पर की - राग की, व्यवहार की - अपेक्षा छोड़कर अपनी निर्मलपर्याय में प्रत्यक्ष (प्रगट) होनेवाला हूँ। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

`तत्त्वार्थसूत्र' (अध्याय-१, सूत्र-९) में है कि : मतिज्ञान को पाँच इन्द्रियाँ व मन द्वारा (अर्थात् निमित्त से) कहा है। और मतिज्ञान द्वारा (जाने हुए पदार्थों को विशेषरूप से जानना वह) श्रुतज्ञान है, ऐसा कहा है। (यह कथन) व्यवहारनय से है। सूत्र याद नहीं रहता, भाव दिमाग में रहता है। मति(ज्ञान) में मन व इन्द्रियाँ निमित्त। और श्रुत(ज्ञान) में मन निमित्त। यह व्यवहारसे।

यह प्रश्न बहुत साल पहले १९८२ की साल में राजकोट में चला था कि : शास्त्र में तो मति और श्रुत, मन व इन्द्रियों द्वारा होता है, तो उससे तो आत्मा जानने

में आता नहीं है। (फिर भी) यहाँ पर आप ऐसा कहते हो (कि : आत्मा को जानो !) 'तत्त्वार्थसूत्र' में ऐसा आता है : मति(ज्ञान) में मन व इन्द्रियाँ निमित्त। श्रुत(ज्ञान) में अनइन्द्रिय - मन (निमित्त)। यहाँ तो वह भी नहीं। यह बात वहाँ गौण रही है। व्यवहार साथ में है न...! यहाँ तो (आत्मा का अनुभव - स्वसंवेदन) प्रत्यक्षरूप से मति व श्रुतज्ञान में आता है।

'समयसार' गाथा-१४४ में 'प्रत्यक्ष' लिया है। (आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये,) विकल्प को हेय जानकर उसे छोड़कर, मति व श्रुत-बुद्धियों को आत्मतत्त्व में लाओ ! आहा...हा...! श्रुततत्त्व को आत्मा की ओर लाओ।

ऐसा यहाँपर है : '**मैं तो शुद्ध चैतन्यमय**' - केवल ज्ञानमय ! आहा...हा...! 'मैं तो शुद्ध चैतन्यमय !' (यहाँ) 'चैतन्यवाला' - ऐसा भी नहीं कहा। क्योंकि : चैतन्यवाला (कहने में) भी द्वैत पड़ जाता है अतः 'चैतन्यमय' कहा। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

'**मैं तो शुद्ध चैतन्यमय एक परम ज्योजि**' - मति आदि का भेद भी लक्ष में नहीं लेना। आहा...हा...! '**मैं तो शुद्ध चैतन्यमय एक परम ज्योति ही सदा हूँ।**'

आहा...हा...! मैं चैतन्यज्योति का धाम (हूँ) !! एक (चैतन्य)स्वरूपी परम धाम हूँ। 'श्रीमद्' में ('आत्मसिद्धि' गाथा-११७ में) यह कहा है : 'शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यघन, स्वयंज्योति सुखधाम; अन्य कहें कितना ? कर विचार तो पाम।' शुद्ध अर्थात् पवित्र, बुद्ध अर्थात् ज्ञान का सागर। वह 'शुद्ध चैतन्यमय' - शुद्ध में वह शुद्ध आया और चैतन्य में वह बुद्ध आया। शुद्ध बुद्ध चैतन्यमय स्वयं ज्योति सुखधाम, वह परमज्योति। आहा...हा...!

'बहिनश्री के वचनामृत' ३८० - बोल में आता है न...! 'जिस प्रकार सुवर्ण को जंग नहीं लगती, अग्नि को दीमक नहीं लगती, उसी प्रकार ज्ञायकस्वभाव में आवरण, न्यूनता या अशुद्धि नहीं आती।'

ऐसा यहाँ कहते हैं : ऐसा शुद्ध चैतन्यमय एक परम ज्योति; जो दृष्टि का विषय, उसमें - अनुभव में भेद भी नहीं है। आहा...हा...! एक परम ज्योति ! 'परम' क्यों कहा ? कि : अग्नि की ज्योति, दीपक की ज्योति, चंद्र की ज्योति; उन सबको ज्योति कहते हैं। ज्योति माने प्रकाश। परंतु यह तो परम ज्योति, चैतन्यमय परम ज्योति, त्रिकाल एकरूप ज्योति ही... ज्योति ही... एकांत लिया। निश्चयनय का विषय सम्यक् एकांत है। सदा हूँ... सदा हूँ.... ऐसा ही हूँ। सत्+एव=सदैव। सद्+एव= त्रिकाल। सत् तो यही है। सदा अर्थात् त्रिकाल। सत् तो यही है।

आहा...हा...! **`और यह जो भिन्न लक्षणवाले'** भिन्न के तीन अर्थ किये हैं : भिन्न लक्षणवाले, विपरीत लक्षणवाले व अज्ञानभाव। रागादिभाव अज्ञानभाव है। टीका में है। मेरा चैतन्यस्वरूप जो ज्ञायकभाव एकरूप ज्योति; उससे भिन्न लक्षणवाले ये रागादि व्यवहार(भाव) चाहे जिस प्रकार के हो वे स्वभाव से विपरीत लक्षणवाले (हैं)। स्वभाव का लक्षण तो पहले कहा है। रागादि - दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोधादिक के परिणाम स्वभाव से विपरीत लक्षणवाले, भिन्न लक्षणवाले हैं। मैं ज्ञानज्योतिस्वरूप। तो ये रागादि अज्ञानस्वरूप। राग में ज्ञान का - चेतना का अंश नहीं है। कुछ समझमें आया ?

(`समयसार') अजीव अधिकार में राग को अजीव का कहा। अजीव कहा। पुद्गल-परिणाम कहा। आहा...हा...! रागादि भिन्न लक्षणवाले हैं। रागादि विकल्प चाहे तो भगवान की भक्ति के हो या गुण-गुणी के भेद हो, परंतु वे मेरे स्वरूप के लक्षण से तो अन्य लक्षणवाले हैं; अज्ञानमय हैं। `सर्वविशुद्ध अधिकार' में पहले भिन्न करते करते फिर अंत में अज्ञान (अज्ञानस्वभावत्वात्) शब्द है। (`परम अध्यात्म तरंगिणी मोक्षाधिकार' कलश-६ में आता है कि :) `अयं सिद्धांतः सिद्धः - निष्पन्नः अंतः - धर्मः स्वभावो वा यस्य सः तात्पर्य वा सेव्यतां आश्रयितां, कै ? मोक्षार्थि भिः - मुमुक्षुभिर्योगिभिः, किंभूतैः? उदात्तचित चरितैः.....यतः यस्मातकारणात् पृथग्लक्षणाः आत्मनः विपरीतलक्षणाः अज्ञानस्वभावत्वात्।'

अब हमें तो यहाँ लेना है : `पृथग्लक्षणाः आत्मनः विपरीतलक्षणाः' - संस्कृत टीका है। राग तो अज्ञानस्वभाववाले हैं। यह तो `समयसार' कर्ताकर्म अधिकार, गाथा-७२ में कहा न...! कि : राग जड़ है। क्योंकि, राग अपने को नहीं जानता और आत्मा को नहीं जानता। और भगवान(आत्मा) अपने को जानता है और राग को भी जानता है। वह (राग) जड़ है। और यह (आत्मा) चैतन्य है। यहाँ कहा : (ये रागादि) भिन्न लक्षणवाले हैं। अज्ञान लक्षणस्वरूप हैं और विपरीत लक्षणस्वरूप (अर्थात्) स्वरूप से विपरीत लक्षणवाले हैं। एक बात। पुनश्च, विविध प्रकार के हैं। यानी एक प्रकार के नहीं हैं। पहले आया था कि : शुद्ध चैतन्यमय `एक' परमज्योति; उसके सामने `विविध' आया। कुछ समझमें आया ? आहा...हा...! मैं तो शुद्ध चैतन्यमय एक परमज्योति ही सदा हूँ। उसके सामने (ये रागादि) भिन्न लक्षणवाले हैं, विविध प्रकार के हैं; (अर्थात्) शुभविकल्प व अशुभविकल्प अनेक प्रकार के हैं। अशुभ तो ठीक ! परंतु शुभविकल्प भी असंख्य प्रकार के हैं। वे (सब) प्रगट भिन्न लक्षण, अज्ञान लक्षण व विपरीत लक्षणवाले

हैं। वे प्रगट भिन्न लक्षणवाले विविध प्रकार के (रागादि) भाव हैं। (अर्थात्) हैं तो सही। वे भाव अस्ति है। (किन्तु) हेयरूप से; परंतु हैं कि नहीं ? तो कहा कि : `**विविध प्रकार के भाव प्रगट होते हैं**' निमित्ताधीन - वश होकर अथवा स्वतंत्र षट्कारक परिणमन से मेरी पर्याय में प्रगट होते हैं। विकार, पर्याय में प्रगट होते हैं; वे वस्तु में और वस्तु के स्वभाव में नहीं हैं। `**वह (विकार) मैं नहीं हूँ।**' प्रगट होते हैं, वे मैं नहीं हूँ। स्व के आश्रय में हेय-उपादेय दोनों का ज्ञान भी व्यवहार है। (अर्थात्) हेय-उपादेय दोनों का ज्ञान, वह व्यवहारज्ञान कहलाता है। और केवल चैतन्य का ज्ञान, उसे निश्चयज्ञान कहते हैं। (हेय-उपादेय को) जानना बीच में आता है। - `यह मैं नहीं' इस प्रकार से। समझाना हो तो क्या समझाये ? `यह राग सो मैं नहीं हूँ' ऐसा कहे तो भी विकल्प उठता है। परंतु समझाना हो, तो कैसे समझाये ? `मैं तो (शुद्धचैतन्यमय लक्षणवाला एक परम ज्योति धाम सदा हूँ।' `और यह जो भिन्न लक्षणवाले (विविध भाव प्रगट होते हैं) वह मैं नहीं हूँ।' इस प्रकार उसमें नास्ति (साथ में) होती है। उसकी, स्वभाव में नास्ति है। परंतु उनमें (अपने में) वे अस्ति हैं। आहा...हा...! `वह मैं नहीं हूँ।' इतना तो सिद्ध किया कि : यह हैं, वे (मेरे में) हैं ही नहीं। (यदि) रागादि बिलकुल होते ही नहीं (तो) उन्हें छोडो - हेय किस प्रकार हैं ? विकल्प आता है। वह है। वह भाव है। परंतु वह भगवानआत्मा से अन्य लक्षणवाला, अज्ञानभाव व विपरीत भाववाला है, वह मैं नहीं हूँ ! उसमें तो `मैं यह (- शुद्ध चैतन्यमय) ज्योति सदा हूँ' ऐसा कहा था न...! यहाँ कहा : यह (विविध प्रकार के भाव) प्रगट होते हैं वह मैं नहीं हू। `**क्योंकि वे सब मुझे परद्रव्य हैं।**'

यहाँ तो रागादि को ही परद्रव्य कहा है हाँ ! और (`नियमसार') ५० वीं गाथा में तो निर्मलपर्याय को भी परद्रव्य कही है। आचार्य ने बात को जरा (-आत्मा उपादेय है, उसे) सिद्ध करने हेतु थोड़ी-सी यह बात ली है। यहाँ तो सिर्फ रागादि विकल्प व्यवहाररत्नत्रय, वह परद्रव्य (है, ऐसा कहा।) ५० वीं गाथा में तो राग को जाननेवाली, अपनी पर्याय में स्व-पर प्रकाशक की पर्याय जो एक समय का भाव; उसे भी त्रिकाली भाव की अपेक्षा से परद्रव्य कहा। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

यहाँ तो (कहते हैं :) `वे सब मुझे परद्रव्य हैं।' (कौन ? कि :) (जो भिन्न लक्षणवाले विविध प्रकार के भाव) यह सब असंख्य प्रकार के विकल्प मुझे (मेरे लिये) तो परद्रव्य हैं। वह मेरी चीज़ में नहीं हैं। और उनमें मैं नहीं हूँ। आहा...हा...! यह पुरुषार्थ ! कुछ कम है ? पुरुषार्थ कहीं बाहर में स्फुरित होता है क्या ?

(लोगों) गजरथ निकालते हैं और बड़ी रथयात्राएँ निकालते हैं और रथ पर चढ़कर भगवान को यों... यों... चमर ढोरते हैं न...! कैसा दिखावा लगता है कि यह क्या कर रहे हैं ! परंतु यह आत्मा मैं कहाँ है ? विकल्प उठा है, वह परद्रव्य है। वह तो क्रिया परद्रव्य से होती है। रथ के ऊपर भगवान को बिराजमान करना है। कौन विराजमान करें ? बोली बोलते हैं : हज़ार... पंद्रहसौ... दो हज़ार.. पाँच हज़ार... दस हज़ार बोले उसमें जाने... (क्या कर लिया) ! वह तो होता है। किन्तु वह शुभभाव है, वह परद्रव्य है। ऐसे सभी (भाव) मेरे लिये परद्रव्य हैं। आहा...हा...! वे अनेक प्रकार के, विविध प्रकार के भाव, 'वे सब मेरे लिये परद्रव्य हैं।'

आहा...हा...! एक वचन में कितना भरा दिया है। 'श्रीमद्' तो (पत्रांक : १६६ में) कहते हैं न...! कि : 'सत्पुरुष के (ज्ञानी के) प्रत्येक वाक्य में, (एक-एक शब्द में) अनंत आगम निहित हैं।'

यहाँ (इसमें कितना कुछ भरा है !) निकालना चाहें तो कितना कुछ निकाल (सकते हैं। जैसे कि :) अस्ति व नास्ति; एक पर्याय में अनंती सप्तभंगी, क्योंकि - एक पर्याय पर्यायरूप है, वह (गुण)रूप नहीं है, द्रव्यरूप नहीं है, निमित्तरूप नहीं है, पूर्वपर्यायरूप नहीं है, और बाद की (उत्तर) पर्यायरूप भी नहीं है; इस प्रकार एक एक पर्याय में (अनंती) सप्तभंगी उठती हैं। आहा...हा...! ऐसी महान चीज़ !

यहाँ कहते हैं कि : मैं यह (भिन्न लक्षणवाले भाव) नहीं हूँ; मैं तो शुद्ध चैतन्यज्योति हूँ। वही मुझे आश्रय करने लायक, सेवन करने लायक है। और ध्येय बनाकर एकाग्र होने लायक है तो यही चीज़ है बस ! - इस प्रकार यह समकिती की दृष्टि-दशा है। कुछ समझमें आया ?

और, (इस ५० वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :-

तथा हि -

(शालिनी)

'न ह्यस्माकं शुद्धजीवास्तिकायादन्ये सर्वे पुग्दलद्रव्यभावाः।
इत्थं व्यक्तं वक्ति यस्तत्त्ववेदी सिद्धिं सोऽयं याति तामत्यपूर्वाम्।।७४।।'

(श्लोकार्थ :-) `शुद्ध जीवास्तिकाय से अन्य ऐसे जो सब पुद्गलद्रव्य के भाव वे वास्तव में हमारे नहीं हैं।' - ऐसा जो तत्त्ववेदी स्पष्टरूप से कहते हैं वे अति अपूर्व सिद्धि को प्राप्त होते हैं। ७४।

यह टीका करनेवाले मुनि हैं। यह श्लोक बनाया है। इस गाथा के (प्रणेता) तो आचार्य (`कुंदकुंददेव') हैं। और इस टीका के (करनेवाले) `पद्मप्रभमलधारिदेव' मुनि हैं।

आहा...हा...! **`शुद्ध जीवास्तिकाय से अन्य'** (देखो) `शुद्ध जीव से अन्य' ऐसा नहीं लिया क्यों ? कि : अस्तिकाय असंख्यप्रदेशी जीव है वह सर्वज्ञ के अलावा (अन्य) कहीं भी - किसी में (धर्म-दर्शन में) नहीं है; अतः पूरा अस्तिकाय लिया है। `शुद्ध अकेला जीव' ऐसा नहीं लिया; `शुद्ध जीवास्तिकाय' (लिया)। शुद्ध जीवास्तिकाय असंख्यप्रदेशी है। यह सर्वज्ञ जिनेश्वर के अलावा किसीने जाना नहीं है और किसी ने कहा नहीं है। कुछ समझमें आया ? वस्तु ऐसी असंख्यप्रदेशी चौड़ी है।

`पंचास्तिकाय' में (जीव को) लोकप्रमाण एकप्रदेशी (द्रव्य अखंड है इस अपेक्षा से) कहा है। और (`समयसार') ४७ - शक्ति में असंख्यप्रदेशी (कहा है)। नियतशक्ति अर्थात् निश्चयशक्ति असंख्यप्रदेशी है, ऐसा लिखा है। यहाँ यह कहा : शुद्ध जीवास्तिकाय। शुद्ध जीव है परंतु वह असंख्यप्रदेश का काय अर्थात् समूह है। वह काय (असंख्यप्रदेशी) उसकी है। कुछ समझमें आया ?

**`शुद्ध जीवास्तकाय से अन्य ऐसे जो'** (यहाँ) `अन्य ऐसे जो' (ऐसा कहा) और वहाँ (- कलश-१८५ में) `ये जो भिन्न लक्षणवाले' कहा था न...? और `मैं परम ज्योति हूँ' ऐसा कहा था। इसे यहाँ संक्षिप्त कर डाला। `सब पुद्गलद्रव्य के भाव' आहा...हा...! ऐसी बात है !! वे सब पुद्गलद्रव्य के भाव हैं। यहाँ एक समय की निर्मलपर्याय को भी परद्रव्य कही है। निमित्त से भेद पड़ा न...! इसलिये कहते हैं : पुद्गल तो निमित्त है उससे भेद लक्ष में आता है। निमित्त से भेद लक्ष में आता है इसलिये भेद है वह पुद्गल है, (ऐसा कहा)। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

आहा...हा...! (लोगों को) कठिन पडे। 'त्रिकाली वस्तु' पहले कहीं थी न...! वह शुद्ध जीवास्तिकाय से अन्य ऐसे जो सब पुद्गलद्रव्य के भाव - उसमें पूरण-गलन अर्थात् राग का उत्पाद-व्यय होता है। पर्याय में उत्पाद-व्यय भी हो रहा है कि नहीं? तो उस उत्पाद-व्यय को भी (यहाँ) पूरण-गलन कहकर उसे पुद्गल का भाव कह दिया है। कुछ समझमें आया ? यह (विषय) तो सूक्ष्म है, भाई ! '**ऐसे जो सब पुद्गलद्रव्य के भाव वे वास्तव में हमारे नहीं हैं।**' वे (भाव) वास्तव में भगवानआत्मा में है ही नहीं। द्रव्य में तो पर्याय है ही नहीं। केवलज्ञान की पर्याय भी द्रव्य में नहीं है। पर्याय-क्षायिकभाव तो एक अंश है। द्रव्य तो परमपारिणामिकस्वभावभाव है। परमस्वभावभाव में क्षायिकभाव नहीं है।

आगे 'शुद्धभाव अधिकार' गाथा-४१ में यह आया न...! 'णो खइयभावठाणा' मेरे में यानी जीवास्तिकाय - ध्रुव - त्रिकाली - शुद्धभाव में क्षायिकभाव के स्थान नहीं हैं। 'णो खयउवसमसहावठाणा' - क्षयोपशमस्वभाव के स्थान नहीं हैं; 'ओदइयभावठाणा णो' - वह तो विकृत है, यह तो ठीक; परंतु 'णो उवसमणे सहावठाणा' - उपशमस्वभाव के स्थान (भी) नहीं हैं। आहा...हा...! फिर (गाथा-४२) में तो कहा कि : (गति के भाव, कुल) योनि, चौदह जीवस्थान और चौदह मार्गस्थान और चौदह गुणस्थान - ये सब मेरे में नहीं हैं। 'मैं तो अकेला ध्रुव, सनातन सत् प्रभु हूँ।' और ये सब तो पुद्गलद्रव्य के भाव हैं वे वास्तव में हमारे नहीं हैं। आहा...हा...! वे हैं तो सही, परंतु पुद्गलद्रव्य के भाव हैं, वे (वास्तव में) मेरे नहीं हैं। क्षायिकभाव के स्थान भी मेरे नहीं हैं।

प्रभु ! यह (सुनकर) तो चिल्ला पड़ता है चिल्ला। एक स्थानकवासी ने तो इकतालीसवीं गाथा पढ़ी। यहाँ से निकला है न... तो कई स्थानकवासी पढ़ते हैं। गाथा में आया न...! 'णो खइयभावठाणा' - जीव को क्षायिकभाव के स्थान नहीं हैं। तो कहते हैं कि अरे ! क्षायिकभाव तो सिद्ध में भी है; (फिर भी) आत्मा में नहीं? (परंतु) बापू ! किस अपेक्षा से, प्रभु ! सिद्ध तो पर्याय है। सिद्ध कोई द्रव्य-गुण नहीं है। वह तो पर्याय है, तो वह पर्याय द्रव्य में नहीं है।

शुद्धभाव है न...! त्रिकाल शुद्ध, ध्रुव, चैतन्यभाव ध्रुव, (वह) सम्यग्दर्शन का ध्येय है। यहाँपर सम्यग्दर्शन की पर्याय को तो क्षायिक और क्षयोपशम में डाल दी है; वह तो उसमें (ध्रुव में) है ही नहीं। यों कहते हैं। आहा...हा...! उसका (ध्रुव का) निर्णय करनेवाली पर्याय उसमें (ध्रुव में) नहीं है। यह नहीं है... यह नहीं है; परंतु

वह निर्णय तो पर्याय करती है या ध्रुव निर्णय करता है ? मेरे में नहीं है, मेरे में नहीं है; परंतु `यह नहीं है' (वह) कौन ? कि - जब ज्ञान की पर्याय अंदर स्वसन्मुख हुई तो वह ज्ञान की पर्याय यों कहती है कि, `यह (पर्याय) मेरे में नहीं है।' वह पर्याय कहती है कि, `मैं भी इसमें (ध्रुव में) नहीं हूँ।' - मेरे में वह (ध्रुव) नहीं है, और उसमें (ध्रुव में) मैं नहीं हूँ।

वह तो `समयसार' गाथा-३२०, `जयसेन आचार्य' की टीका में आया है न...! ध्याता पुरुष खंडखंड ज्ञान का ध्यान नहीं करता। टीका बहुत ऊँची ! **टीका :- `किं च विवक्षितैकदेशशुद्धनयाश्रितेयं भावना निर्विकारस्ववंदनलक्षणक्षायोपशमिकन्यत्वेनयद्यप्येकदेशव्यक्तिरूपा भवति तथापि ध्याता पुरुषः यदेव सकल निरावरणमखंडैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयमविनश्वरं शुद्धपारिणामिकपरमभावलक्षणं निजपरमात्मद्रव्यं तदेवाहमिति भावयति, न च खंडज्ञानरूपमिति भावार्थः।'** मतिश्रुतज्ञान-पर्याय भी खंडज्ञान है। ध्यातापुरुष (यानी) ध्यान करनेवाला सम्यग्दृष्टि, वे किसका ध्यान करता हैं ? कि : सकल निरावरण अखंड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर, शुद्ध पारिणामिक परमभावलक्षण निज परमात्मद्रव्य का ध्यान करते हैं। अभी (इस टीका पर ग्यारह) व्याख्यान हो गये हैं। सब बाहर आयेगा। विस्तार से बात आयेगी। व्यवहार की रुचिवाले को कठिन पड़े ऐसा है। व्यवहार से (निश्चय) होता है, (शुभ) करते करते (शुद्ध) होता है - उसे (ऐसी मान्यतावाले को) कठिन पड़े, प्रभु ! क्या करें ?!

(यहाँ कहते हैं कि : ऐसे जो सब पुद्गल के अर्थात्) पर के भाव वे वास्तव में हमारे नहीं हैं। - **`ऐसा जो तत्त्ववेदी'** (अर्थात्) तत्त्व को जाननेवाला, तत्त्व का वेदन करनेवाला, **`स्पष्टरूप से कहता है'** पाठ में तीसरा पद ऐसा है न...! **`इत्थं व्यक्तं वक्ति यस्तत्त्ववेदी'** - इस प्रकार जो तत्त्ववेदी स्पष्टरूप से कहता है, स्पष्टतया कहता है, इसका मतलब : स्पष्टरूप से जानता है, कहता है, यह तो वाणी है, भाषा है; उसकी प्ररूपणा भी ऐसी होती है; परंतु उसका भाव ऐसा होता है; ऐसा कहना है। कुछ समझमें आया ? यह प्रश्न एक भाई लाये थे कि : `ऐसा जो तत्त्ववेदी स्पष्टरूप से कहता है' तो वाणी तो कह नहीं सकती (फिर भी कहा कि) `कहता है'। (उत्तर :) अंदर वस्तुतत्त्व को स्पष्टरूप से जानता है। उपदेश भले आता हो, वह तो वाणी का भाव है। कुछ समझमें आया ? पाठ तो ऐसा है : **`इत्थं व्यक्तं वक्ति यस्तत्त्ववेदी'**. - ऐसा जो तत्त्ववेदी स्पष्टरूप से कहते हैं। **`वह अति अपूर्व सिद्धि को प्राप्त करता है।'** आहा...हा...! `कहता हैं' इसका अर्थ `जानता है' ऐसा किया। `कहता है' यह

तो वाणी-भाषा है। (परंतु) उसका जो वाच्य है उसका वेदन करता है इसलिये ऐसा कहनेमें आया कि : 'ऐसा जो तत्त्ववेदी कहता है।'

('समयसार' गाथा-१ में) 'कुंदकुंदाचार्य' कहते हैं : 'वोच्छामि समयपाहुडं' और दूसरी ओर 'प्रवचनसार' में 'अमृतचंद्राचार्य' कहे कि : मैं वाणी का कर्ता नहीं हूँ। और मेरी वाणी से आपके ज्ञान हुआ इस प्रकार (मोहपूर्वक) नाचो मत। क्योंकि वाणी जड़ है और तुम्हारी ज्ञानपर्याय तुम्हारे में होती है। आखरी श्लोक है : 'वास्तव में पुद्गल ही स्वयं शब्दरूपी परिणमन करते हैं, आत्मा उनका परिणमन करवा नहीं सकता' (अर्थात्) 'मैं कह रहा हूँ' ऐसा नहीं, वह तो भाषा हुई; आत्मा उसको (भाषा को) परिणमन नहीं करवा सकता; (यानी) भाषा की पर्याय को आत्मा कर नहीं सकता। 'एवं वास्तव में सर्व पदार्थ ही स्वयं ज्ञेयरूप से - प्रमेयरूप से परिणमन करते हैं,' अर्थात् पदार्थ जो है वही स्वयं प्रमेयरूप से, ज्ञेयरूप से, ज्ञानरूप से परिणमन करता है, 'शब्द उनको ज्ञेय बनाकर - समझा नहीं सकते।' यानी जो शब्द हैं उन शब्दों की चीज़ भिन्न है और इसकी (जीव की) ज्ञान-पर्याय भिन्न है। शब्द टीका करते हैं तो उनमें से (जीव को) ज्ञान किस प्रकार हो ? (अर्थात् ज्ञान तो ज्ञानमें से होता है।) इसलिये 'आत्मा सहित विश्व (-छओं द्रव्य) वे व्याख्येय (समझाने योग्य) हैं; वाणी का गठन वह व्याख्या (स्पष्टीकरण) है और 'अमृतचंद्रसूरि', वे व्याख्याता (व्याख्या करनेवाले, समझानेवाले) हैं' इस प्रकार मोहपूर्वक लोगों मत नाचो (- न फूलो)। आहा...हा...! इस प्रकार, हे जीवों ! भ्रमणा से मत नाचो। वाणी वाणी के कारण से निकलती है। और तुम्हारे ज्ञान का परिणमन तुम्हारे कारण ही होता है। मैं समझानेवाला हूँ और शब्दों से तुम्हें ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है। '(परंतु) स्याद्वादविद्या के बल से विशुद्ध ज्ञान की कला द्वारा इस एक समस्त शाश्वत स्वतत्त्वको प्राप्त करके आज अव्याकुलतापूर्वक नाचो (- परमानंदपरिणामरूप परिणम जाओ)।' 'आज ही' शब्द श्लोक-२१ में भी आया है। हे जीवो ! यह टीका शब्दों से हुई है; मैंने बनाई है ऐसा नहीं है। और टीका से तुम्हें ज्ञान होता है ऐसा (भी) नहीं।

'समाधिशतक' में तो 'पूज्यपाद स्वामी'ने यहाँ तक कहा है कि : मैं दूसरों को समझाता हूँ ऐसा विकल्प उन्माद है। विकल्प व राग, (अन्य को) समझा नहीं सकता; उससे वे (अन्य जीव) समझते नहीं हैं। आहा...हा...! सूक्ष्म बातें बहुत, भगवान ! मैं समझानेवाला हूँ ऐसा (समझाने का) विकल्प (है) वह उन्माद है। वह तो राग है न, भाई ! वह तो स्वरूप से विपरीत है, प्रगट लक्षण भिन्न है। मार्ग तो ऐसा है, प्रभु !

इसका अर्थ (लोग) ऐसा करते हैं कि : (आचार्यदेव) ऐसा कहकर अपनी निराभिमानता दिखा रहे हैं; है तो उनके द्वारा (रचित) टीका। परंतु वह तो निमित्त से कहा जाता है। इसका अर्थ निमित्त पर में कुछ करता नहीं है। कुछ समझमें आया ?

यहाँ तो यह कहा : `तत्त्ववेदी स्पष्टरूप से कहता है' यानी स्पष्टरूप से प्रत्यक्ष आत्मा का अनुभव करता है। स्पष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष। स्पष्टरूप से कहता है माने स्पष्टतया प्रत्यक्ष जानता है। `वह अति अपूर्व सिद्धि को प्राप्त करता है।' अनंतकाल में कभी भी सिद्धपर्याय नहीं हुई, ऐसी अपूर्व सिद्धपर्याय को प्राप्त होता है। अपूर्व शब्द लिया है न...! अपूर्व माने अभूतपूर्व, अर्थात् पूर्व में कभी भी हुई नहीं, ऐसी अति अपूर्व सिद्धपर्याय को प्राप्त करता है, सिद्धि को प्राप्त होता है। आहा...हा...! ५० वीं गाथा हुई।

अब, यह पाँच (गाथा) ले लेनी हैं, भाई ! क्योंकि उसमें व्यवहार-निश्चय दोनों आयेंगे। पहले व्यवहार बतायेंगे और बाद में निश्चय और देशनालब्धि किसे होती है उसका जरा स्पष्ट कथन है। मिथ्यादृष्टि द्वारा देशना हो नहीं सकती, ऐसा कथन है। कुछ समझमें आया ? वे पाँच गाथा हैं :-

श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्यदेवप्रणीत

श्री नियमसार

श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित संस्कृत टीका

(शुद्धभाव अधिकार)

गाथा-५१-५५

विवरीयाभिणिवेसविवज्जियसद्दहणमेव सम्मतं।
संसयविमोहविब्भमविवज्जियं होदि सण्णाणं।। ५१ ।।
चलमलिणमगाढत्तविवज्जियसद्दहणमेव सम्मतं।
अधिगमभावो णाणं हेयोवादेयतच्चाणं।। ५२ ।।
सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी।। ५३ ।।
सम्मत्तं सण्णाणं विज्जदि मोक्खस्स होदि सुण चरणं।
ववहारणिच्छएण दु तम्हा चरणं पवक्खामि।। ५४ ।।
ववहारणयचरित्ते ववहारणयस्स होदि तवचरणं।
णिच्छयणयचारित्ते तवचरणं होदि णिच्छयदो।। ५५ ।।

विपरीताभिनिवेशविवर्जितश्रद्धानमेव सम्यक्त्वम्।
संशयविमोहविभ्रमविवर्जितं भवति संज्ञानम्।। ५१ ।।
चलमलिनमगाढत्वविवर्जितश्रद्धानमेव सम्यक्त्वम्।
अधिगमभावो ज्ञानं हेयोपादेयतत्त्वानाम्।। ५२ ।।
सम्यक्त्वस्य निमित्तं जिनसूत्रं तस्य ज्ञायकाः पुरुषाः।
अन्तर्हेतवो भणिताः दर्शनमोहस्य क्षयप्रभृतेः।। ५३।।
सम्यक्त्वं संज्ञानं विद्यते मोक्षस्य भवति शृणु चरणम्।
व्यवहारनिश्चयेन तु तस्माच्चरणं प्रवक्ष्यामि।। ५४ ।।
व्यवहारनयचरित्रे व्यवहारनयस्य भवति तपश्चरणम्।
निश्चयनयचारित्रे तपश्चरणं भवति निश्चयतः।। ५५ ।।

रत्नत्रयस्वरूपाख्यानमेतत्।

भेदोपचाररत्नत्रयमपि तावद् विपरीताभिनिवेशविवर्जितश्रद्धानरूपं भगवतां सिद्धिपरंपराहेतुभूतानां पंचपरमेष्ठिनां चलमलिनागाढविवर्जितसमुपजनित-निश्चलभक्तियुक्तत्वमेव। विपरीते हरिहिरण्यगर्भादिप्रणीते पदार्थसार्थे ह्यभिनिवेशाभाव इत्यर्थः। संज्ञानमपि च संशयविमोहविभ्रमविवर्जितमेव। तत्र संशयः तावत् जिनो वा शिवो वा देव इति। विमोहः शाक्यादिप्रोक्ते वस्तुनि निश्चयः। विभ्रमो ह्यज्ञानत्वमेव। पापक्रियानिवृत्तिपरिणामश्चारित्रम्। इति भेदोपचाररत्नत्रयपरिणतिः। तत्र जिनप्रणीतहेयोपादेयतत्त्वपरिच्छित्तिरैव सम्यग्ज्ञानम्। अस्य सम्यक्त्वपरिणामस्य बाह्यसहकारिकारणं वीतरागसर्वज्ञमुखकमलविनिर्गतसमस्तवस्तुप्रतिपादनसमर्थद्रव्यश्रुतमेव तत्त्वज्ञानमिति। ये मुमुक्षवः तेऽप्युचारतः पदार्थनिर्णयहेतुत्वात् अंतरंगहेतव इत्युक्ताः दर्शनमोहनीयकर्मक्षयप्रभृतेः सकाशादिति। अभेदानुपचाररत्नत्रयपरिणतेर्जीवस्य टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावनिजपरमतत्त्वश्रद्धानेन, तत्परिच्छित्तिमात्रांतर्मुखपरमबोधेन, तद्रूपाविचलस्थितिरूपसहजचारित्रेण अभूतपूर्वः सिद्धपर्यायो भवति। यः परमजिनयोगीश्वरः प्रथमं पापक्रियानिवृत्तिरूपव्यवहारनयचारित्रे तिष्ठति, तस्य खलु व्यवहारनयगोचरतपश्चरणं भवति। सहजनिश्चयनयात्मकपरमस्वभावात्मकपरमात्मनि प्रतपनं तपः। स्वस्वरूपाविचलस्थितिरूपं सहजनिश्चयचारित्रम् अनेन तपसा भवतीति।

***

हिन्दि अनुवाद :

मिथ्याभिप्राय विहीन जो श्रद्धान वह सम्यक्त्व है।
संशय, विमोह, विभ्रान्ति विरहित ज्ञान सुज्ञानत्व है।।५१।।
चल, मल, अगाढ़पने रहित श्रद्धान वह सम्यक्त्व है।
आदेय, हेय पदार्थ का अवबोध सुज्ञानत्व है।।५२।।
जिनसूत्र समकितहेतु है, अरु सूत्रज्ञाता पुरुष जो।
वह जान अंतर्हेतु जिसके दर्शन-मोहक्षयादि हो।।५३।।
सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान अरु चारित्र मोक्ष उपाय है।
व्यवहार निश्चयसे अतः चारित्र मम प्रतिपाद्य है।।५४।।

व्यवहारनयचारित्रमें व्यवहारनय तप जानिये।
चारित्र निश्चयमें तपश्चर्या नियत-नय मानिये।।५५।।

गाथा-५१-५५

अन्यवार्थ :- (**विपरीताभिनिवेशविवर्जितश्रद्धानम् एव**) विपरीत अभिनिवेश रहित श्रद्धान ही (**सम्यक्त्वम्**) सम्यक्त्व है; (**संशयविमोहविभ्रमविवर्जितम्**) संशय, विमोह और विभ्रम रहित (**ज्ञान**) वह (**संज्ञानम् भवति**) सम्यग्ज्ञान है।

(**चलमलिनमगाढत्वविवर्जितश्रद्धानम् एव**) चलता, मलिनता और अगाढ़ता रहित श्रुद्धान ही (**सम्यक्त्वम्**) सम्यक्त्व है; (**हेयोपादेयतत्त्वानाम्**) हेय और उपादेय तत्त्वों को (**अधिगमभावः**) जाननेरूप भाव वह (**ज्ञानम्**) (सम्यक्) ज्ञान है।

(**सम्यक्त्वस्य निमित्तं**) सम्यक्त्व का निमित्त) (**जिनसूत्रं**) जिनसूत्र है; (**तस्य ज्ञायकाः पुरुषाः**) जिनसूत्र के जाननेवाले पुरुषोंको (**अन्तर्हेतवः**) (सम्यक्त्वके) अंतरंग हेतु (**भणिताः**) कहे हैं, (**दर्शनमोहस्य क्षयप्रभृतेः**) क्योंकि उनको दर्शनमोहके क्षयादिक हैं।

(**श्रृणु**) सुन, (**मोक्षस्य**) मोक्षके लिये (**सम्यक्त्वं**) सम्यक्त्व होता है, (**संज्ञानं**) सम्यग्ज्ञान (**विद्यते**) होता है, (**चरणम्**) चारित्र (भी) (**भवति**) होता है, (**तस्मात्**) इसलिये (**व्यवहारनिश्चयेन तु**) मैं व्यवहार और निश्चयसे (**चरणं प्रवक्ष्यामि**) चारित्र कहूँगा।

(**व्यवहारनयचरित्रे**) व्यवहारनयके चारित्रमें (**व्यवहारनयस्य**) व्यवहारनयका (**तपश्चरणम्**) तपश्चरण (**भवति**) होता है; (**निश्चयनयचारित्रे**) निश्चयनयके चारित्रमें (**निश्चयतः**) निश्चयसे (**तपश्चरणम्**) तपश्चरण (**भवति**) **होता है।**

टीका :- यह रत्नत्रयके स्वरूपका कथन है।

प्रथम, भेदोपचार-रत्नत्रय इसप्रकार है :- विपरीत अभिनिवेश रहित श्रद्धानरूप ऐसा जो सिद्धिके परंपराहेतुभूत भगवंत पंचपरमेष्ठीके प्रति उत्पन्न हुआ चलता-मलिनता-अगाढ़ता रहित निश्चल भक्तियुक्तपना वही सम्यक्त्व है। विष्णुब्रह्मादिकथित विपरीत पदार्थसमूहके प्रति अभिनिवेशका अभाव ही सम्यक्त्व है - ऐसा अर्थ है। संशय, विमोह और विभ्रम रहित (ज्ञान) ही सम्यग्ज्ञान है। वहाँ, जिन देव होंगे या शिव देव होंगे (- ऐसा शंकारूपभाव) वह संशय है; शाक्यादिकथित वस्तुमें निश्चय (अर्थात्

बुद्धादि कथित पदार्थका निर्णय) वह विमोह है; अज्ञानपना (अर्थात् वस्तु क्या है तत्सम्बन्धी अजानपना) ही विभ्रम है। पापक्रियासे निवृत्तिरूप परिणाम वह चारित्र है। ऐसी भेदोपचार - रत्नत्रयपरिणति है। उसमें, जिनप्रणीत हेय-उपादेय तत्त्वोंका ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। इस सम्यक्त्वपरिणामका बाह्य सहकारी कारण वीतरागसर्वज्ञके मुखकमलसे निकला हुआ समस्त वस्तुके प्रतिपादनमें समर्थ ऐसा द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान ही है। जो मुमुक्षु हैं उन्हें भी उपचारसे पदार्थनिर्णयके हेतुपनेके कारण (सम्यक्त्वपरिणामके) अंतरङ्गहेतु कहे हैं, क्योंकि उन्हें दर्शनमोहनीयकर्मके क्षयादिक है।

अभेद-अनुपचार-रत्नत्रयपरिणतिवाले जीवको, टंकोत्कीर्ण ज्ञायक जिसका एक स्वभाव है ऐसे निज परम तत्त्वको श्रद्धा द्वारा, तदुज्ञानमात्र (-उस निज परम तत्त्वके ज्ञानमात्रस्वरूप) ऐसे अंतर्मुख परमबोध द्वारा और उसरूपसे (अर्थात् निज परम तत्त्वरूपसे) अविचरलरूपसे स्थित होनेरूप सहजचारित्र द्वारा अभूतपूर्व सिद्धपर्याय होती है। जो परमजिनयोगीश्वर पहले पापक्रियासे निवृत्तिरूप व्यवहारनयके चारित्रमें होते हैं, उन्हें वास्तवमें व्यवहारनयगोचर तपश्चरण होता है। सहजनिश्चयनयात्मक परमस्वभावस्वरूप परमात्मामें प्रतपन सो तप है; निज स्वरूपमें अविचल स्थितिरूप सहजनिश्चयचारित्र इस तपसे होता है।

प्रवचन- १२, दि. १०-२-१९७८

`नियमसार' गाथा : ५१ से ५५। (शुद्धभाव अधिकार की) अंतिम गाथाएँ हैं। उनकी टीका : `**यह, रत्नत्रयके स्वरूपका कथन है।**' इसमें निश्चय व व्यवहार दोनों समुच्चय लेना है। इनमेंसे पहले व्यवहाररत्नत्रय की बात करते हैं। परंतु व्यवहाररत्नत्रय होता है किसको ? कि : जिसे अंदर निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि होवे उसे ही व्यवहार होता है। `रत्नत्रय' दो प्रकार के हैं इसलिये कहा : `**तावद्**' माने प्रथम, व्यवहाररत्नत्रय

की व्याख्या करते हैं। परंतु वह होता है किसको ? कि : जिसे निश्चय होता है उसे। छठे गुणस्थान आदि में व्यवहार होता है। सातवे में व्यवहार का अभाव होकर निश्चयचारित्र - स्थिरता हो जाती है।

`**प्रथम, भेदोपचार-रत्नत्रय इस प्रकार है**' - प्रथम, जहाँ अभेद-अनुपचार (माने निश्चय) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है वहाँ स्थिरता कम है इसलिये उसे (साधक को) (अपनी) अस्थिरता (वश) वहाँ भेद-उपचार (माने) व्यवहारसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आता है। कुछ समझमें आया ? (व्यवहार में) भेद-उपचार (कहा) और निश्चय में अभेद-अनुपचार कहेंगे। उसे (व्यवहार को) भेदोपचार; और उसे (निश्चय को) अभेद-अनुपचार। ऐसी बात है।

कैसा है `**भेदोपचार-रत्नत्रय**' - इस प्रकार है :- `**विपरीत अभिनिवेशरहित श्रद्धानरूप ऐसा जो सिद्धिके परंपराहेतुभूत**' - मुक्ति का परंपराहेतुभूत - प्रथम श्रद्धान करता है। ऐसी श्रद्धा (है) वह व्यवहारश्रद्धा है। (वह परंपरा कारण है)। अर्थात् निश्चयसम्यग्दर्शन वह तो साक्षात् कारण है और उसके साथ जो व्यवहारश्रद्धा है वह परंपराकारण है। क्योंकि उस (व्यवहार) का अभाव करके पूर्ण होगा। मात्र व्यवहार वह परंपरा कारण नहीं है। (**श्रोता :-**) अकेला व्यवहार होता ही नहीं है, ऐसा आप फरमाते हो न ? (**उत्तर :-**) वह (अकेला) होता ही नहीं है। फिर भी उसे (भी) व्यवहार कहा जाता है। `बंध अधिकार' में ऐसा कहा है न...! `अभव्य को जिनप्रणीत किया हुआ व्यवहार है' (-ऐसे) व्यवहाराभास को व्यवहार कहें। परंतु वह निश्चय से (वास्तव में) व्यवहार है ही नहीं। क्योंकि ऐसा (व्यवहार करके) तो अनंतबार नौवीं ग्रैवेयक गया। ऐसा व्यवहार तो इस समय (यहाँ) है ही नहीं। व्यवहारश्रद्धा, व्यवहारज्ञान और पाप (क्रिया से) निवृत्तिरूप व्यवहार(चारित्र) को अंगीकार करके वह मिथ्यादृष्टि नौवीं ग्रैवेयक गया; फिर भी सम्यग्दर्शन के बिना उससे कुछ भी लाभ हुआ नहीं। उसके (व्यवहार के) कारण से परंपरा से (सिद्धि) मिली नहीं है। (क्योंकि) ऐसा (व्यवहार) कोई परंपराहेतुभूत (होता) नहीं है। परंपराहेतुभूत तो उसे कहते हैं कि : जहाँ अपने स्वभाव का अनुभव हो। वह यहाँ कहते हैं : विपरीत अभिनिवेशरहित श्रद्धानरूप ऐसा जो (व्यवहार वह) मुक्ति के परंपराहेतुभूत (है)। (परंतु) जिसे अकेला व्यवहार है वह (तो) मूढ है।

यह (बात) `समयसार' गाथा-४१३ में आई है : वे अनादिरूढ, व्यवहार में मूढ, प्रौढ विवेकवाले निश्चयपर अनारुढ हैं। क्योंकि जिसे अपने आश्रय से निश्चयसम्यग्दर्शन -

अनुभव नहीं हुआ हो वह तो व्यवहारमूढ है; उसे भेदोपचार (रत्नत्रय) लागू नहीं होता। भेदोपचार (रत्नत्रय) तो उसे लागू होता है कि जिसे अभेद-अनुपचार (-रत्नत्रयपरिणति) अंशतः प्रगट हुई हो। यानि : भगवानआत्मा अभेद, शुद्ध चैतन्य, अखंड (है; उसकी) जिसे अभेद - अनुपचार, कोई उपचार नहीं है ऐसी (रत्नत्रयपरिणति अर्थात्) अंतर में निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आंशिक स्थिरता उत्पन्न हुई हो उसे वह भेदोपचार-रत्नत्रय परंपराहेतुभूत (है)।

`**भगवंत पंचपरमेष्ठी के प्रति उत्पन्न हुआ चलता-मलिनता - अगाढता रहित निश्चल भक्तियुक्तपना वही सम्यक्त्व है।**' (- व्यवहारसम्यक्त्व की परिभाषा :) भगवंत पंचपरमेष्ठी के प्रति उत्पन्न हुई श्रद्धा कि जो चलता (चलायमानता), मलिनता व अगाढता रहित निश्चल भक्तिरूप है, (वही सम्यक्त्व है)। निश्चल हाँ.... निश्चय नहीं, निश्चल व्यवहारभक्ति अर्थात् भगवान के प्रति की निश्चल भक्ति ! जिसे निश्चय सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है और आंशिक स्थिरता भी है उसे यह भेदोपचार - रत्नत्रय (जो मुक्ति का परंपराहेतुभूत है, वह विद्यमान - प्रवर्तमान रहता है।) क्या कहा ? चलता, मलिनता और अगाढता रहित निश्चल भक्तियुक्तता - यही सम्यक्त्व है। व्यवहार हाँ ! वह है तो शुभराग, परंतु उसे भेद का उपचार करके समकित कहा। कुछ समझमें आया ? अब फिर नास्ति से बात करते हैं : `**विष्णुब्रह्मादिकथित विपरीत पदार्थसमूह के प्रति अभिनिवेश का अभाव ही सम्यक्त्व है - ऐसा अर्थ है।**' आहा...हा...! निश्चयसमकित तो स्वरूप के आश्रय से होगा। उसे यहाँ जो व्यवहार आता है उसमें (जो) पंचमपरमेष्ठी के प्रति (निश्चल) भक्ति - प्रेम - अनुराग है वह ब्रह्माविष्णु द्वार कथित पदार्थ से अभाव रूप है; वह श्रध्धा, व्यवहारश्रद्धा है। उसे निश्चय (श्रद्धा) है, ऐसा आगे कहेंगे। (पुनःश्च) परमजिनयोगीश्वर (पहले) पापक्रिया से निवृत्तिरूप (व्यवहारनय के चारित्र में होते हैं) - ऐसा भी आगे कहेंगे। (अर्थात् जो) परमजिनयोगीश्वर है उसे पाप (क्रिया से) निवृत्तिरूप व्यवहार है (- ऐसा आगे कहेंगे)। कुछ समझमें आया ?

`समयसार' गाथा-४१३ में तो ऐसा कहा न...! कि : `आत्मज्ञान और आत्मदर्शन, आनंद के अनुभव के भान के बिना जो व्यवहार है वह तो व्यवहारमूढ है। क्योंकि जाननेवाले उसके ज्ञान को निश्चय का आश्रय आया नहीं है, (अतः) वह तो व्यवहारमूढ है। ज्ञानी व्यवहारमूढ नहीं है। (वे) व्यवहार को जाननेवाले हैं। (वहाँ) १२ वीं गाथा में कहा न...! `जाना हुआ प्रयोजनवान है' वह यह बात (है)।

(यहाँ कहा कि :) विष्णुब्रह्मादिकथित विपरीत पदार्थसमूह प्रति के अभिनिवेश

(- अभिप्राय) का अभाव वही (व्यवहार) समकित है - ऐसा अर्थ है। पहले अस्ति से कहा फिर नास्ति से कहा। (यह) व्यवहारसमकित की बात है। (उक्त) विकल्प - राग को व्यवहारसमकित कहते हैं। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

`मोक्षमार्गप्रकाशक' सातवें अधिकार में कहा न...! जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन है, उसे साथ में (जो) देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा (विद्यमान है, ऐसे) भाव को व्यवहारसम्यक्त्व कहा जाता है। समकित का निरूपण दो प्रकार से हैं। समकित दो प्रकार से नहीं हैं। उसका कथन दो प्रकार से होता है - अभेद व भेद। अपना शुद्धचैतन्य भगवान (आत्मा); उसके अवलंबन से अतीन्द्रिय आनंद का ज्ञान व आस्वाद आया; ऐसे अभेद समकित (के साथ, जो) देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का भाव - राग है उसे भी व्यवहारसमकित कहा जाता है।

(अब व्यवहारसम्यग्ज्ञान की परिभाषा कहते हैं :) `**संशय, विमोह और विभ्रमरहित (ज्ञान) वही (व्यवहार) सम्यग्ज्ञान है।**' यह तो अभी सिर्फ इतनी बात कही। विशेष तो आगे कहेंगे।

(**संशय :-**) `**वहाँ, जिन देव होंगे या शिव देव होंगे (-ऐसा शंकारूप भाव) वह संशय है।**' निश्चयसमकिती को व्यवहारसमकित में ऐसी शंका नहीं होती। कुछ समझमें आया ?

(**विमोह :-**) `**शाक्यादिकथित वस्तु में निश्चय (अर्थात् बुद्धादि द्वारा कथित पदार्थ का निर्णय) वह विमोह है।**' उससे रहित व्यवहारसमकित है।

(**विभ्रम :-**) `**अज्ञानपना (अर्थात् वस्तु क्या है तत्संबंधी अजानपना।**'

इन तीनों से रहित, (व्यवहारसम्यग्ज्ञान होता है)। निश्चयसम्यग्दृष्टि, व्यवहारसमकित में चलता-मलिनता-अगाढता - इन तीनों से (और संशय, विमोह और विभ्रम) रहित है।

(अब व्यवहारचारित्र की परिभाषा कहते हैं :) `**पापक्रिया से निवृत्तिरूप परिणाम वह चारित्र है।**' व्यवहार लेना है न...! परंतु वह किसको ? (इस विषय में) नीचे दूसरे परिच्छेद की पाँचवीं पंक्ति में है :- `जो परमजिन योगीश्वर पहले पापक्रिया से निवृत्तिरूप व्यवहारनय के चारित्र में होते हैं।' आहा...हा...! हैं तो परमजिनयोगीश्वर। उनको प्रथम (अर्थात्) छठे गुणस्थान में पापक्रिया से निवृत्तिरूप व्यवहारनय है। छठे गुणस्थान में अभी शुभभाव से निवृत्ति नहीं है; पापक्रिया से निवृत्ति है। परंतु हैं परमजिनयोगीश्वर। जिनको स्वरूप में जुडान - योग तो हो गया है (वे) जिन हैं,

वीतराग हैं, परमयोग में ईश्वर हैं; उन्हें पापक्रिया से निवृत्तिरूप व्यवहारचारित्र होता है। कुछ समझमें आया ?

लोगों को कठिन पड़ता है। लोगों को ऐसा ही लगता है कि : भले समकित न होवे फिर भी, पहले यह व्यवहार - दया, दान, व्रतादि - करते करते (हित) होगा कि नहीं ? किन्तु व्यवहार का जितना पालन करके नौवीं ग्रैवेयक तक गया उतना व्यवहार तो इस समय है ही नहीं। देवलोक में (छठे से शुक्ल लेश्या है। और नौ ग्रैवेयक - ऊपर के ग्रैवेयक - उसमें (तो) शुक्ल लेश्या बहुत ऊँची, तब तो नौवीं ग्रैवेयक तक जाता है। शुक्ल 'लेश्या' हाँ ! शुक्ल 'ध्यान' नहीं। शुक्ल लेश्या तो अभवी को भी होती है और मिथ्यादृष्टि को भी होती है।

'छहढाला' में यह कहा है : 'मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रैवेयक उपजायो' - वह शुक्ल लेश्या, पंचमहाव्रतादि के परिणाम बहुत ऊँचे (उत्कृष्ट) होवे तो मिथ्यादृष्टि भी नौवीं ग्रैवेयक तक जाता है। परंतु वहाँ दृष्टि मिथ्या है। 'पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ।' वे पंचमहाव्रतादि, अट्ठाईस मूलगुण दुःख हैं। आहा...हा...! इतना करने पर भी दुःख है।

'प्रवचनसार' में आता है : देव में दुःख है। ('देवेन्द्र-असुरेन्द्र-नरेन्द्र के वैभवक्लेशरूप बंध प्राप्त होता है। अनिष्ट फलवाला होनेके कारण सरागचारित्र छोड़ने योग्य है।' - गाथा-६ की टीका) तो अब कमाने की चिंता में और धूल में (- धनादि संपत्ति में) क्या है ? फिर गाथा-७७ में यही कहा : ('इस प्रकार पुण्य व पाप के बीच फर्क नहीं है, ऐसा जो नहीं मानता है वह मोहाच्छादित प्रवर्तमान होता हुआ घोर अपार संसार में परिभ्रमण करता है।') इससे पहले ऐसा कहा कि : पाप के फल में व पुण्य के फल में दुःख ही है। तो फिर पाप-पुण्य में फर्क मानना गलत है। (उसमें फर्क माननेवाला) मिथ्यादृष्टि है। (कहते हैं कि :) पाप-पुण्य में विशेष माने कि : पुण्य करते करते भी लाभ होगा, ऐसा माने; (तथापि) पाप से निवृत्ति लेकर पुण्य करते-करते (हित होगा)। इस प्रकार पुण्य-पाप में फर्क माने; तो वह घोर संसार में भटकेगा।

आहा...हा...! कठिन बात है, भाई ! वर्तमान (संप्रदाय) में बहुत कठिन लगती है। परंतु क्या करें ? मार्ग तो यह है ! लोगों को एकांत लगे। (लोग) श्वेतांबर में श्वेतांबर (मान्यता) अनुसार; और दिगंबर में दिगंबर (-वर्तमान प्रचलित मान्यता) अनुसार बाह्य व्रत, तप और नियमादि करे; तब तो वे संप्रदाय में कहे (माने) जाते हैं न...

उसके बिना (कैसे) माने जाय ? (परंतु) इस प्रकार से (चारित्र) नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं : जिसे अंतर वस्तु का आनंद व आत्मज्ञान (प्रगट) हुआ है, उस परम जिनयोगीश्वर को पहले पंचमहाव्रतादि पापक्रिया से निवृत्तिरूप व्यवहारनय (का चारित्र) होता है। यहाँ कहा : `पापक्रिया से निवृत्तिरूप परिणाम वह चारित्र है।' परंतु वह किसको ? कि : अभेद-अनुपचार-रत्नत्रयपरिणतिवाले जीव को, भेदोपचार - रत्नत्रयपरिणति है। (अर्थात् उसे) पूर्णानंद के नाथ का - अभेद का आश्रय (अर्थात् अभेद-अनुपचार-रत्नत्रयपरिणति) है (परंतु) उसे जब तक अंदर पूर्ण स्थिरता नहीं है तब तक ऐसे भेदोपचाररूप श्रद्धा, ज्ञान व पापक्रिया से निवृत्तिरूप परिणाम आते हैं। (उसे) **`ऐसी भेदोपचार-रत्नत्रयपरिणति है।'**

पहले श्रद्धा और संशयादिरहित सम्यग्ज्ञान की बात कही थी न...? अब उसे बहुत संक्षिप्त भाषा में कहते हैं : **`उसमें, जिनप्रणीत हेय-उपायेदतत्त्वों का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।'** है तो वह (भी) व्यवहारसम्यक्(ज्ञान)। आहा...हा...! अपने भगवान के आनंद का सम्यक् वेदन हुआ (अर्थात्) उसे जो (निज) चैतन्य का ज्ञान वह निश्चय सम्यग्ज्ञान (है); और हेय-उपादेय (तत्त्वों का) ज्ञान वह व्यवहारसम्यग्ज्ञान है); इस प्रकार दो हो गये। जिनप्रणीत तत्त्वों में भी हेय व उपादेय हैं। ऐसे ज्ञान को व्यवहार (सम्यक्) ज्ञान कहते हैं। कुछ समझमें आया ? सम्यग्ज्ञान की व्याख्या पहले आ गई थी : संशय, विमोह और विभ्रमरहित ज्ञान वही सम्यग्ज्ञान है। यहाँ ये हेय व उपादेय तक भी व्यवहार सम्यक्ज्ञान है। दो हुए न...! यह हेय व उपादेय। समकिती को निश्चयज्ञान अपने स्वभाव का है, उसे हेय-उपादेय का ज्ञान व्यवहारज्ञान है, परंतु वह जिनप्रणीत (हेय-उपादेय तत्त्वों का...) हाँ ! अन्यमति के कहे हेय-उपादेय नहीं। सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ, उन्हों ने हेय-उपादेय (तत्त्व) कहे हैं। दो भेद हो गये न...! हेय व उपादेय; अर्थात् व्यवहार ! आहा...हा...!

(**`इस सम्यक्त्वपरिणाम का बाह्य सहकारी कारण वीतरागसर्वज्ञ के मुखकमल से निकला हुआ समस्त वस्तु के प्रतिपादन में समर्थ ऐसा द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान ही है।'** (क्या कह रहे हैं ?) कि : इस सम्यक्त्वपरिणाम का बाह्य सहकारी कारण, (अर्थात्) व्यवहार समकित का बाह्य सहकारी कारण... समकिती को हाँ...! निश्चयसमकिती को व्यवहारसमकित (वह) बाह्य सहकारी कारण (अर्थात्) बाह्य सहकार माने साथ में रहा हुआ कारण - (वीतराग - सर्वज्ञप्रणीत द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान है)

यह `मोक्षमार्गप्रकाशक' सातवें अध्याय में कहा : `व्यवहार' क्यों है ? कि : सहकारी

है, (इसलिये) व्यवहार है। उसे उपचार से समकित व ज्ञान कहा जाता है। सातवें अध्याय में जहाँ निश्चय व व्यवहाराभास का कथन है वहाँ यह (बात) है।

यहाँपर ऐसा कहा कि : सम्यक्त्वपरिणाम, जो व्यवहारसम्यक्त्वपरिणाम है; उसका बाह्य सहकारी कारण वीतराग - सर्वज्ञ के मुखकमल से निकला... आहा...हा...! यहाँ तो व्यवहार (सम्यक्) ज्ञान में भी बाह्य सहकारी कारणरूप में वीतराग को कहा है। ज़रा सूक्ष्म बात है, प्रभु ! श्वेतांबर शास्त्र को भी बाह्य-व्यवहार सहकारी कारण नहीं कहते। (श्वेतांबरो को) उनको ऐसा निश्चय (सम्यग्ज्ञान) तो होता ही नहीं है; परंतु व्यवहार समकित के परिणाम में भी श्वेतांबर प्ररूपित शास्त्र निमित्त नहीं हो सकते, क्योंकि : श्वेतांबर के शास्त्र सर्वज्ञप्रणीत नहीं हैं, कल्पित बनाये हुए हैं; अतः वे शास्त्र व्यवहारसमकित में निमित्त हो नहीं सकते, सूक्ष्म बात है, भाई ! कुछ समझमें आया ?

यह तो संत कह रहे हैं कि : यह तो सर्वज्ञ भगवान, पूर्णानंद को प्राप्त संतगण, पूर्ण महात्माओं के मुखकमल से निकला हुआ (तत्त्व है)। `मुखकमल से (निकला हुआ)' ऐसा क्यों लिया ? भगवान के तो मुखकमल से वाणी निकलती नहीं है। भगवान की जो वाणी होती है वह तो पूरे शरीरमें से ॐकारनाद के रूप में उठती है। होठ बंद, तालु बंद, फिर भी मुखकमलमें से लिया ! क्योंकि लोग जानते हैं न... कि मुख से वाणी निकलती है, अतः उस अपेक्षा से लिया है। `पंचास्तिकाय' में पहली छह गाथाओं में लिया है : `मुखकमल से निकलती है।' (यों तो) भगवान की वाणी मुखकमल से नहीं निकलती। किन्तु लोग यों देखते हैं न कि : `इस तरह बोलते हैं, इसलिये `मुखकमल' लिया है। बाकी तो `सर्वांगी वाणी' निकलती है। होठ हिलते नहीं हैं, कंठ हिलता नहीं है, जीभ हिलती नहीं है, होठ बंद होते हैं ! यह तो शब्द-शब्द में समझने की चीज़ है, भाई ! `पंचास्तिकाय' के (प्रवचनों) के दौरान बहुत स्पष्ट किया था। `पंचास्तिकाय' में `मुखकमल से निकली हुई' ऐसा `कुंदकुंदाचार्य' का पाठ है। परंतु मूल लोग ऐसा जानते हैं न कि `वाणी मुख से होती है' और वाणी शरीर से होती है ! अतः इस अपेक्षा से वहाँ ऐसा कहा है। वही बात यहाँ पर कही : वीतराग - सर्वज्ञ के मुखकमल से निकला (समस्त वस्तु के प्रतिपादन में समर्थ ऐसा द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान ही इस व्यवहार) सम्यक्त्वपरिणाम का बाह्य सहकारी कारण है)

`पंचास्तिकाय' गाथा-२ है। मूल पाठ - `समणमुहुग्गदमट्ठं' संस्कृत पाठ : `श्रमणमुखोद्गतार्थं।' और (गुजराती) हरिगीत : `जिनवदननिर्गत' - श्रमण के मुख से

निकली हुई (अर्थमय) 'चदुग्गदिणिवारणं सणिव्वाणं' - चार गति का नाश करनेवाली (और निर्वाण की कारणभूत) - ऐसी भगवान की वाणी है। 'स्वर्ग को प्राप्त करवाये' वह भी भगवान की वाणी नहीं। 'ऐसोपणमिय सिस्सा समयमियं सुणह वोच्छामि।' - ऐसे उस समय को सिरसा (मस्तक से) नमन करके मैं उसका कथन करता हूँ उसका श्रवण करो। ऐसा उसमें भी 'नियमसार' गाथा-८ में है : तस्स मुहुग्गदवयणं पुव्वावग्दोसविरहियं सुद्धं' - 'उनके श्रीमुख से निकली हुई वाणी' - ऐसा है न...!

द्रव्य को तत्त्व भी कहा है और द्रव्य भी कहते हैं। ('नियमसार') गाथा-८ में और ९ में 'तच्चत्था' कहा। परंतु फिर भी कुछ लोग तकरार करते हैं। 'द्रव्य को तत्त्वार्थ नहीं कहा जा सकता', 'तत्त्व और द्रव्य भिन्न हैं।' परंतु यह तो नौवीं गाथा में कहा न...! 'तच्चत्था इदि भणिदा।' है ! 'जीव पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं। तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता।।' है तो द्रव्य परंतु उसे तत्त्वार्थ कह रहे हैं। इसमें भी तकरार। एक-एक शब्द में विरोध उठाते हैं कि तत्त्वार्थ नहीं, द्रव्य को तत्त्व नहीं कहा जाता। द्रव्य को द्रव्य (ही) कहा जा सकता है। यहाँ कहा : हम छओं द्रव्य को तत्त्वार्थ कहते हैं। यहाँ तो एक-एक शब्द की अलग अलग सारी व्याख्या हो चुकी है।

यहाँ कहते हैं कि : इस सम्यक्त्वपरिणाम का बाह्य सहकारी कारण (वीतराग) - सर्वज्ञ के मुखकमलमें से निकला समस्त वस्तु के प्रतिपादन में समर्थ (ऐसा द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान ही है)।

'समयसार' निर्जरा अधिकार की पहली गाथा (-१९३) है न...! 'सम्यग्दृष्टि जीव जो इन्द्रियों द्वारा अचेतन तथा चेतन द्रव्यों का उपभोग करता है वह सर्व निर्जरा का निमित्त है।' एक ओर प्रभु ऐसा कहते हैं कि परद्रव्य को भोगा नहीं जाता, फिर भी यहाँ कहा : ज्ञानी चेतन व अचेतन को भोगता है, वह सर्व (भोग) निर्जरा का कारण है। आहा...हा...! दुनिया यह देखती है न कि : यह अचेत-सचेतन को, स्त्री को भोग रहे हैं, देखो ! लड्डु खा रहे हैं; फिर भी ज्ञानी को भोग निर्जरा का हेतु है ! 'भोग' का अर्थ : ज्ञानी (भोग को) भोगते हैं (ऐसा नहीं है)। वे भोग को भोगते नहीं हैं, परंतु जरा राग आसक्ति (वश आ जाता है तो उस संबंधित) राग को भोगते हैं। परंतु यहाँ तो ऐसा कहने में आया : अचेतन तथा चेतन द्रव्यों का उपभोग करते हैं। (परंतु) परद्रव्य का तो स्पर्श तक नहीं करते (तो फिर) परद्रव्य को भोगे, ऐसा कहाँ से आया ? 'समयसार' का पाठ तो ऐसा है : 'सम्यग्दृष्टि जीव

जो इन्द्रियों द्वारा अचेतन तथा चेतन द्रव्यों का उपभोग करता है,' आहा...हा...! बापू ! यह तो अपेक्षा से कथन किया है, ऐसा जानना चाहिए। शब्द को पकड़ के रखे ऐसा नहीं चलेगा। वहाँ फिर उसे (सम्यग्दृष्टि को) भोग निर्जरा का हेतु होवे ? फिर तो भोग छोड़कर स्वरूप में - चारित्र में रमणता करनी नहीं, भोग से निर्जरा हो जायेगी - ऐसा नहीं है। वह तो दृष्टि की प्रधानता से अधिकता - विशेषता बताने के लिये, तथा अंतर आनंद का (और) स्वरूप में अंतर्मुखता में बल बहुत है, उस कारण से उसका भोग भी दृष्टि की अपेक्षा से निर्जरित हो जाता है ऐसा कहा गया। बाकी तो भोग का भाव तो पाप है। (उससे) तो उसे बंधन होता है। समकिती को तो क्या परंतु मुनि को छठे गुणस्थान में महाव्रत के जो परिणाम हैं वे हैं तो शुभ, परंतु (उनसे) उन्हें बंध होता है। कुछ समझमें आया ? (फिर भी) ऐसा ले लेवे कि, समकिती को कोई आस्रव व बंध है ही नहीं, ऐसा नहीं है। भाई ! वह (बात) किस अपेक्षा से चली है ? सरदारशहर के साथ भारी चर्चा चली है न...! समकिती को बंध व आस्रव है ही नहीं; (परंतु) ऐसा किस अपेक्षा से कहा ? (वह तो उसे) अनंतानुबंधी व मिथ्यात्वसंबंधित आस्रव व बंध नहीं है (- यों कहा गया है)। अरे बापू ! यदि सर्वथा बंध न होवे तो (फिर ऐसा क्यों कहा कि) दसवें गुणस्थान में लोभ है इसलिये वे छह कर्म बांधते हैं। (प्रभु !) एकांत खींचे तो (भी वस्तु स्थिति) उस प्रकार हो नहीं सकती।

यहाँ कहते हैं : वीतराग-सर्वज्ञ के मुखकमल से निकला हुआ समस्त वस्तु का प्रतिपादन.... आहा...हा...! देखा ! एक तो भगवान के मुखमें से निकला हुआ कहा। और (दूसरा) समस्त वस्तु का प्रतिपादन (अर्थात्) सभी चीज़ का कथन उनकी वाणी में आता है, यों कहते हैं।

आहा...हा...! (यहाँ कहते हैं कि :) समस्त वस्तु के प्रतिपादन में समर्थ ! और दूसरी ओर `श्रीमद् (राजचंद्रजी)' `अपूर्व अवसर' में ऐसा कहते हैं कि : `जो पद देखा श्री सर्वज्ञ ने ज्ञान में, कह सके नहीं वह भी श्री भगवान जो।' (एवं) `गोम्मटसार' भी है : जैसा ज्ञान में जाना वैसा वाणी में (आये नहीं, परंतु उसके) अनंतवें भाग का आये। (अर्थात्) जितना ज्ञानी में आया उसके अनंतवें भाग का तो वाणी में आता है और उसके अनंतवें भाग का गणधर को खयाल में आता है।

आहा...हा...! यहाँ तो ऐसा कहा : मुखकमलमें से निकला हुआ समस्त वस्तु का प्रतिपादन (- वह) पूर्ण ही है। वह भी `समयसार' में आ जाता है : भगवान

के मुख से पूर्ण स्वरूप ही आता है, पूर्ण स्वरूप कहते हैं; वह आता है। यहाँपर ऐसा भी कहा : समस्त वस्तु के प्रतिपादन में समर्थ ऐसा द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान, वह निमित्त है। - यानी - मुखकमलमें से निकली हुई भगवान की जो वाणी वह समस्त पदार्थ को कहनेवाली है, वह वाणी व्यवहारसमकिती को निमित्त है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

(क्या कहते हैं ?) कि : `ऐसा द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान ही है।' भगवान के मुखकमलमें से निकला हुआ समस्त वस्तु के प्रतिपादन में समर्थ ऐसा द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान ही है। वही व्यवहार-सम्यग्दर्शन में बाह्य-सहकारी निमित्तकारण कहा जाता है। आहा...हा...! ऐसा है प्रभु ! इसमें (और) क्या हो सकता है ? अब (विवादास्पद) विषय आता है:

(`**जो मुमुक्षु हैं उन्हें भी उपचार से पदार्थ निर्णय के हेतुपने के कारण (सम्यक्त्व परिणाम के) अंतरंग हेतु कहे हैं, क्योंकि उन्हें दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयादिक हैं।**') क्या कह रहे हैं ? कि : जो मुमुक्षु हैं उनको भी उपचार से पदार्थनिर्णय के हेतुपने के कारण (अर्थात् :) धर्मात्मा समकिती ज्ञानी होवे, वे स्वयं अंतरंग हेतु हैं; और उनकी द्रव्यश्रुतरूप वाणी बाह्य (सहकारी कारण) है। वे हैं तो दोनों बाह्य (हेतु)। परंतु देखो : मुमुक्षु हैं उनको भी उपचार से पदार्थनिर्णय के हेतुपने के कारण, व्यवहार से पदार्थ के निर्णय के हेतुपने के कारण, सम्यक्त्वपरिणाम के अंतरंग हेतु कहे हैं।

इसमें (पंडितलोग) विरोध उठाते हैं। ऐसा कि : `जो समकिती बन जाता है उसे कर्मादिक का क्षय होता है,' परंतु ऐसा यहाँ उस प्रकार से नहीं है। यहाँ तो व्यवहारसम्यक्त्व के जो परिणाम हैं उन्हें द्रव्यश्रुत बाह्य निमित्त है, तब श्रुत का कथन करनेवाले सामने समकिती हैं। अर्थात् : देशनालब्धि में समकिती की ही (देशना) निमित्त होती है। अज्ञानी की (देशना), देशनालब्धि में निमित्त होती ही नहीं है। `तत्त्वार्थ राजवार्तिक' में यह बहुत आया है।

यहाँ कहते हैं : मुमुक्षु है (अर्थात्) मोक्ष का अभिलाषी जीव है, उसे भी उपचार से पदार्थनिर्णय के - यथार्थ व्यवहार के हेतुत्व के कारण (द्रव्यश्रुतरूप तत्त्व ज्ञान को और दर्शनमोहनीयकर्म के क्षयादि को) अंतरंग हेतु कहा है। जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन है उसे व्यवहारसम्यग्दर्शन में जिनवाणी - द्रव्यश्रुत बाह्य सहकारी, कारण - निमित्त है। बाह्य सहकारी कारण (तत्त्वज्ञान); और व्यवहार से सम्यग्दर्शन वह अंतरंग हेतु है। सामने ज्ञानी - समकिती जीव हैं; वे इस (मुमुक्षु) जीव को अंतरंग हेतु कहे गये

हैं। क्योंकि वे निमित्त हैं। अंतरंग निमित्त हैं न...? ज्ञानी जीव का अभिप्राय (आशय) जो कहा जाता है वह अंतरंग निमित्त है। है तो वह बाह्य। (समकित व द्रव्यश्रुत) दोनों निमित्त हैं, वह व्यवहार में है, निश्चय में नहीं है; उसे परंपरा से कारण कहा। निश्चय से तो स्व से ही (स्व का) आश्रय हुआ है; और वे (दोनों निमित्त) तो व्यवहार हैं। निश्चयवाले का यह व्यवहार उसे तो परंपरा से कारण है। इतना निमित्त हुआ है उसे छोड़कर निश्चय-स्थिरता होगी।

जिज्ञासा :- निश्चय समकित में व्यवहार कौन ?

समाधान :- उसमें कोई व्यवहार जैसा नहीं है। वह तो निरपेक्ष है। कहा है न...! निश्चयमोक्षमार्ग तो परम निरपेक्ष है। `नियमसार' गाथा-२ में कहा न...! `निज परमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप शुद्धरत्नत्रयात्मक मार्ग परम निरपेक्ष होनेके कारण मोक्ष का उपाय है।' (अर्थात्) उसे व्यवहार की अपेक्षा नहीं है।

जिज्ञासा :- फिर भी, कथन में व्यवहार आता है कि नहीं ?

समाधान :- यहाँ `नियमसार' में कहा : व्यवहार निमित्त है। परंतु उससे (निश्चय होता है ऐसा कहा) नहीं।

जिज्ञासा :- निरूपण दो प्रकार से होता है न...?

समाधान :- निरूपण को तो पहले व्यवहार कहा। व्यवहार का कारण व्यवहार निश्चय का कारण व्यवहार है ही नहीं।

जिज्ञासा :- व्यवहार कारण लेना हो तो ?

समाधान :- नहीं... नहीं... नहीं। व्यवहार तो उपचार से (कारण) कहा जाता है। यहाँ तो कहा न... वह तो उपचार से (अंतरंग हेतु) कहा है। उसका अर्थ वास्तव में है ही नहीं। परंतु निश्चय हुआ हो उसे व्यवहार-निमित्त को परंपरा (कारण) कहा है। उसका अभाव करके (पूर्ण निश्चय प्रगट होगा)। क्योंकि निश्चय से वह पूर्ण है; फिर भी (जब तक पूर्णता प्रगट न हो तब तक बीच में) व्यवहार आता है।

(यहाँ कहते हैं कि :) व्यवहारसमकित के परिणाम में, भगवान के श्रीमुख से निकला हुआ तत्त्वज्ञान वह बाह्य सहकारी - निमित्त कारण (है)। और समकिती जीव हो है उसे मोक्ष की परिणति उत्पन्न हो गई है। समकित में उसे उपचार से अंतरंग हेतु कहा है। सिर्फ अंतर्हेतु कहाँ (कहा) ? - वह तो बाह्य चीज़ है।

जिज्ञासा :- व्यवहारसमकित का कारण कहा !

समाधान :- व्यवहार और निमित्त है। निश्चय को निरपेक्ष कहा न...! उसे व्यवहार

की कोई अपेक्षा ही नहीं है। वह तो एकदम स्व के आश्रय होता है। एक ही बात है। आहा...हा...! परम निरपेक्ष है। निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-अनुष्ठान (रूप शुद्धरत्नत्रयात्मक मार्ग) परम निरपेक्ष है।

आहा...हा...! निश्चय के साथ, जब तक पूर्ण वीतराग न हो तब तक, व्यवहार आता है कि नहीं ? तो उस व्यवहारसमकित में बाह्य निमित्त-सहकारी कारण वाणी और उस वाणी के कहनेवाले ज्ञानी-धर्मात्मा (हैं) वे उपचार से अंतरंग हेतु हैं। अन्यथा (वैसे) तो वे भी बाह्य हैं। आहा...हा...! इसका वज़न (महत्त्व) दिया है। उसका आत्मा जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त है उस आत्मा को इसके (मुमुक्षु के) ज्ञान - समकित में अंतरंग हेतु उपचार से कहा जाता है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

आहा...हा...! दूसरी गाथा में तो (संस्कृत टीका में) है न... `परमनिरपेक्षतया निजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानशुद्धरत्नत्रयात्मकमार्गो मोक्षोपायः।' परंतु अपनी तो यहाँ (अंतरंग) - बाह्य हेतुओं की) बात चल रही है। आहा...हा...! कितने पहलू हैं और कितनी बातें !! ऐसी बातें हैं, भाई ! प्रभु का मार्ग गंभीर है ! निश्चय को (तो) कोई अपेक्षा ही नहीं है। व्यवहार को निमित्त कहने में आया । निमित्त पर का -निश्चय का कुछ करता ही नहीं है तब (तो व्यवहार को) निमित्त कहने में आया न...? यह (तत्त्वज्ञान एवं ज्ञान भी निमित्त हैं,) वे (वास्तव में) व्यवहारसम्यक्त्व में कुछ करते नहीं हैं; परंतु ऐसा (ही) निमित्त होता है।

देखो : अंदर (पाठ) है : `ये मुमुक्षवः तेऽप्युपचारतः पदार्थनिर्णयहेतुत्वात् अंतरंगहेतव इत्युक्ताः दर्शनमोहनीयकर्मक्षयप्रभृतेः सकाशादिति।' उसमें से (कुछ पंडित) ऐसा अर्थ निकालते हैं कि - दर्शनमोहादि का जो क्षयोपशम है वह समकित पाने का अंतर्हेतु है। परंतु ऐसा अर्थ है ही नहीं। ऐसा अर्थ पहले ब्र. शीतलप्रसादजीने भी किया है। उनको कहीं भंडारमें से (`नियमसार') मिला। उन्हों ने ही सर्वे प्रथम हिन्दी टीका बनाई है। परंतु पंडितजी ने (श्री`हिंमतभाई'ने) (मूल) पाठ का अनुसरण करके ऐसा अर्थ किया है देखो : `जो मुमुक्षु हैं' माने कौन `मुमुक्षु' ? कि : जो मोक्षार्थी हैं `उनको भी....' `उनको भी' क्यों ? (समकिती के लिये तो) जो (धर्मात्माओं की वाणी) को अर्थात् द्रव्यश्रुत को बाह्य सहकारी कारण कहा (परंतु यहाँ) मुमुक्षु हैं `उनको भी'... `उनको भी' कब आयेगा ? कि : जहाँ द्रव्यश्रुत तो है परंतु जो मुमुक्षुजीव हैं उनको भी उपचार से पदार्थनिर्णय के हेतुपने के कारण सम्यक्त्वपरिणाम के अंतरंग हेतु कहे हैं। आहा...हा...! अंदर (टीका में) पाठ ऐसा है : `अस्य सम्यक्त्वपरिणामस्य

बाह्यसहकारिकारणं वीतरागसर्वज्ञमुखकमलविनिर्गतसमस्तवस्तुप्रतिपादनसमर्थद्रव्यश्रुतमेव तत्त्वज्ञानमिति। ये मुमुक्षवः तेऽप्युपचारतः' मुमुक्षु को भी उपचार से - मुमुक्षु कौन ? - अन्य समकितीजीव। उनको भी `पदार्थनिर्णयहेतुत्वात् अंतरंगहेतव इत्युक्ताः' - `उपचारतः' (क्योंकि) बाह्य है न...! वह है तो दोनों उपचार। परंतु (१) श्रुत के शब्दों को बाह्य सहकारी कहा और (२) उसके (ज्ञानी के) आत्मा को उपचार से अंतरंग हेतु कहा। कुछ समझमें आया ? ऐसी वस्तुस्थिति है, भाई !

जिज्ञासा :- ज्ञानी का जो आश्रय है, उसे अंतरंग हेतु कहा ?

समाधान :- उसका (ज्ञानी का) आशय है न...! उसका कहने का जो भाव है, वह भाव उसे (मुमुक्षु को) समझने में आता है। आता है (समझमें) अपने से। परंतु उसमें उसका (उस ज्ञानी के आत्मा का) निमित्तत्व है। उसके अभिप्राय के निमित्त, (उसे) अंतरंग हेतु कहा गया।

आहा...हा...! वस्तु(स्थिति) तो यह है ! बाह्य सहकारी कारण कहा न...! `यह सम्यक्त्वपरिणाम का बाह्य सहकारी कारण वीतराग-सर्वज्ञ के मुखकमलमें से निकला समस्त वस्तु के प्रतिपादन में समर्थ ऐसा द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान ही है।' - वह निमित्त है। और जो मुमुक्षु हैं उनको भी यानी जिस प्रकार वाणी को (निमित्त) कहा उस प्रकार मुमुक्षु को अर्थात् जो मोक्षार्थी है, धर्मात्मा है उसे भी उपचार से, बाह्य समकित जो व्यवहारसमकित है उसे उस, बाह्य (अन्य) समकितीजीव के परिणाम अंतरंग हेतु हैं, ऐसा कहने में आया है। कुछ समझमें आया ? `हेतुपने के कारण (सम्यक्त्वपरिणाम के) अंतरंग हेतु कहा है, क्यों ? कि : उनको दर्शनमोहनीयकर्म का क्षयादिक है' किसका ? कि : जिसके आत्मा के परिणाम, बाह्य (अन्य) समकिती को उपचार से अंतरंग हेतु कहा, उस जीव को दर्शनमोह का क्षय-क्षयोपशम होता है। उसके आत्मा का अभिप्राय, देशनालब्धि को अंतरंग हेतु है और शब्द बाह्य हेतु है; (- ऐसा कहा गया है।) ऐसा है ! कुछ समझमें आया ? क्योंकि `उनको' माने किसको ? - मुमुक्षु को। `मुमुक्षु' कौन ? - धर्म प्राप्त करनेवाला नहीं, परंतु धर्म प्राप्त (किये हुए) हैं (वे)। उनकी वाणी द्रव्यश्रुत बाह्य सहकारी कारण; और उनका अभिप्राय (- है तो वह पर - निमित्त - बाह्य है, परंतु -) उपचार से अंतरंग हेतु (है)। क्योंकि `उनको' अर्थात् किसको ? कि : मुमुक्षु को (अर्थात्) धर्म प्राप्त करनेवाले को नहीं, धर्म प्राप्त किये हुए हैं वें, धर्म प्राप्त करनेवाले के व्यवहारसमकित में उपचार से अंतरंग हेतु कहे गये हैं। (**श्रोता :-**) पंडित लोग, दोनों को बाह्य कारण कहते हैं ? (**उत्तर :-**) बाह्य कारण

कहते हैं न...! वह मालूम है। उस जीव को वह (द्रव्यश्रुत) बाह्य - सहकारी कारण (है) उसे ही अंतरंग कहा है। इसलिये यहाँपर कहा है न कि : जो मुमुक्षु हैं उनको भी द्रव्यश्रुत तो है, उनकी वाणी ज्ञानी की वाणी है, वह तो द्रव्यश्रुत है; वह व्यवहारसमकित में बाह्य सहकारी कारण - निमित्त है परंतु उनका जो अभिप्राय है अर्थात् उनका जो आत्मा है, वह मुमुक्षु को भी (अर्थात्) बाह्य - व्यवहारसमकिती जीव को (भी) उपचार से अंतरंग हेतु है। (अर्थात् :) यहाँ उस मुमुक्षु धर्मात्मा को भी (उपचार से) अंतरंग हेतु कहा गया है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? ऐसा है ! क्योंकि उनको अर्थात् मुमुक्षुओं को भी दोनों माने द्रव्यश्रुत है और यह भी बाह्य निमित्त है; इस प्रकार उनको दर्शनमोहनीयकर्म का क्षयादिक हैं।

जिस दर्शनमोहनीय का क्षय-उपशम हुआ है तो वह आत्मा - समकिती को, व्वहारसमकित में वाणी, बहिरंग-सहकारी कारण है। और वह आत्मा और उसका अभिप्राय उपचार से अंतरंग हेतु कहा गया है। निश्चयसमकित में तो कोई अपेक्षा है ही नहीं। ऐसा है, भाई ! क्या करें ? निश्चय को तो अपेक्षा है ही नहीं। यह तो पहले (दूसरी गाथा में) कहा गया कि : (परम) निरपेक्ष है। उसे कोई अपेक्षा है ही नहीं। तीन लोक का नाथ, आनंद का सागर, प्रभु का आश्रय लेकर (निश्चयसमकित) हुआ उसे कोई अपेक्षा है ही नहीं।

व्यवहारसमकित को निमित्त कहा; परंतु निमित्त कुछ करता नहीं है। उसकी अपेक्षा नहीं है। व्यवहारसमकित को भी वाणी बाह्य-सहकारी कारण है, फिर भी वह वाणी उसे कुछ व्यवहारसमकित कर देगी, ऐसा नहीं। उसे तो निमित्त कारण कहा।

पुनःश्च, निश्चयसमकिती हैं, उन्हें व्यवहारसमकित हुआ है, वे धर्मप्राप्त हैं, उन्हें दर्शनमोहनीयकर्म का क्षयादिक हैं वह जीव; और उस जीव के परिणाम अर्थात् धर्मी जीव के परिणाम; उसे अर्थात् धर्म पानेवाले व्यवहारसमकिती को (वह) उपचार से (अंतरंग हेतु कहा है।) वाणी के मुकाबले उसके (ज्ञानी के) अभिप्राय का ज़ोर (- की विशेषता दर्शाने हेतु) के लिये उसे अंतरंग हेत कहे गये हैं। कुछ समझमें आया ?

जिज्ञासा :- ऐसा लेने में आये कि : बहिरंग में मुमुक्षु, मुमुक्षु की वाणी, अंतरंग में कर्म आदि का क्षयोपशम तो इसमें क्या बाधा आये ?

समाधान :- क्षयोपशम तो अपने से होता है। व्यवहारसमकित भी अपने से होता है, यह तो उपादान (की बात है) यहाँ तो निमित्तकारण की बात है।

जिज्ञासा :- निमित्त में ऐसा लेनेमें आये कि : अंतरंग में कर्म का क्षयोपशम ?

समाधान :- नहीं... नहीं... नहीं। कर्म का क्षय (अंतरंग) हेतु हो, (ऐसी) यह बात यहाँपर है ही नहीं... वह तो अपेक्षा लागू हो गई। वह बात यहाँ नहीं है। जिसे निश्चय होवे उसे कर्म का क्षयोपशम - क्षय होता है। वह तो - व्यवहारसमकित तो राग है; वह कोई समकित नहीं है। निश्चयसमकित का व्यवहारसमकित में आरोप किया है। कुछ समझमें आया ?

देखो : (`मोक्षमार्गप्रकाशक' अधिकार सातवाँ, प्रकरण : `उभयाभासी मिथ्यादृष्टि') `अंतरंग में स्वयं निर्धार करके यथावत् निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग को पहिचाना नहीं है, परंतु जिनाज्ञा मानकर निश्चय-व्यवहाररूप दो प्रकार का मोक्षमार्ग मानते हैं; अब मोक्षमार्ग तो कोई दो नहीं हैं, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपित किया हो वह `निश्चयमोक्षमार्ग' है। और जहाँ जो मोक्षमार्ग तो नहीं है परंतु मोक्षमार्ग का निमित्त है और सहचारी है उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहें वह `व्यवहारमोक्षमार्ग' है। क्योंकि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है।' आहा...हा...! यह तो बहुत भारी स्पष्टीकरण किया है। सामान्य बात में आचार्य का (पेट) खोलकर स्पष्टीकरण किया है। आहा...हा...!

यह `सातवाँ अधिकार' तो पहले १९८२ की साल में पढ़ा था... न ! जब वहाँ इतना कहा ओहो...हो...हो...! वस्तु की स्थिति यह है। यों तो किसीके पास पुस्तक माँगते नहीं थे। पास में पुस्तक रखने की या `दे दो' ऐसा कहने की बात थी नहीं। फिर संवत १९८४ में हम बगसरा गये। वहाँ `श्रीमद्जी' के, कल्याणजीभाई नाम के एक भक्त थे। उनके वहाँ `मोश्रमार्गप्रकाशक' था तो माँगा कि भाई, मुझे पढ़ना है। तो (उन्हों ने) कहा कि, पुस्तक ले जाईए। मैंने कहा कि, पूरा पुस्तक नहीं ले जाना है। फिर उसमें से सातवाँ अध्याय जीवणलालजी ने शीशपेन से लिख लिया। पूरा सातवाँ अध्याय लिखा हुआ हमारे पास रखा है। पृष्ठ रखते थे, पूरा पुस्तक नहीं। पचास साल पहले के लिखे हुए वे पृष्ठ रखे हैं।

यहाँ कहते हैं : क्योंकि `उनको' अर्थात् सामने मुमुक्षु - धर्मात्माएँ हैं `उनको दर्शनमोहनीयकर्म के क्षयादिक हैं।' `क्षयादिक हैं' ऐसा कह रहे हैं। यह समकित मानेवाले व्यवहारसमकिती को (दर्शनमोहनीय कर्म का) क्षयादिक हैं। उन्हें तो क्षयादिक हैं; फिर बात क्या करनी ? वे तो निश्चयसमकिती हैं ही। व्यवहारसमकित के परिणाम में जिसके दर्शनमोहादिक का क्षय हुआ है उनका आत्मा (उपचार से) अंतरंग हेतु

है। है तो वह बाह्य चीज़, अतः अंतरंग हेतु भी उपचार से `अंतरंग हेतु' कह रहे हैं। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? इस परिच्छेद में व्यवहाररत्नत्रय की बात की है। अब निश्चयरत्नत्रय :-

व्यवहाररत्नत्रय में भेदोपचार -रत्नत्रय शब्द थे। अब यहाँ `अभेद-अनुपचार' (शब्द है)। आत्मा के आनंद का अनुभव (अर्थात्) अभेद का ज्ञान हुआ, श्रद्धा हुई, अनुभव हुआ, तो वह अभेद, वह अनुपचार है। उसमें कोई उपचार नहीं है। भेद तो उपचार था। इसलिये (`मोक्षमार्गप्रकाशक' सातवें अध्याय में) कहा न कि : उपचार से व्यवहारसमकित कहा गया है। आहा...हा...! **`अभेद-अनुपचार-रत्नत्रयपरिणतिवाले जीवको'** - निश्चयअनुभव (अर्थात्) उपचाररहित, रत्नत्रयपरिणति (अर्थात्) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की परिणति (अर्थात्) पर्यायवाले (जीव को)। (उस जीव को ही) भेद-उपचार (व्यवहार) रत्नत्रय की परिणति है; उस परिणति का क्या अर्थ : कि : भेद-उपचार-रत्नत्रय की परिणति वह राग है। और यह (निश्चयरत्नत्रय की परिणति वह) अरागी परिणति है।

`अभेद-अनुपचार-रत्नत्रयपरिणतिवाले जीव को, टंकोत्कीर्ण ज्ञायक जिसका एक स्वभाव है ऐसे निज परम तत्त्व की श्रद्धा द्वारा' - टंकोत्कीर्ण जैसा है वैसा प्रभु भगवान, ध्रुवस्वरूप प्रभु, ज्ञायकभाव जिसका एक स्वभाव है, ऐसे निज परमतत्त्व की श्रद्धा - यह निश्चय रत्नत्रय की परिणति है, वह वीतराग (परिणति) है। और (वहाँ) व्यवहाररत्नत्रय की परिणति वह राग है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

आहा...हा...! ज्ञायक जिसका एक स्वभाव है ऐसा निज परम तत्त्व, त्रिकाली ज्ञायक की श्रद्धा द्वारा अभूतपूर्व सिद्धपर्याय होती है। उसके (परिणति के) फल की बात कही। भेद-उपचार-(परिणति) में वह बात नहीं थी। यहाँपर यह कहा : अभेद-अनुपचार-परिणति द्वारा अभूतपूर्व सिद्धपर्याय उत्पन्न होती है। (पाठ में नीचे है) वहाँ तक जोड़ कर लेना।

यहाँपर उसके द्वारा अर्थात् व्यवहार द्वारा (सिद्धपर्याय हो) ऐसा नहीं कहा था। आहा...हा...! क्या कहा ? - `अभेद-अनुपचार-रत्नत्रयपरिणतिवाले जीव को, टंकोत्कीर्ण ज्ञायक जिसका एक स्वभाव है ऐसे निज परम तत्त्व की श्रद्धा द्वारा... सिद्धपर्याय होती है।

विशेष कहेंगे।

***

प्रवचन- १३, दि. ११-२-१९७८

'नियमसार' शुद्धभाव अधिकार की अंतिम (५१ से ५५) पाँच गाथा। पहले व्यहाररत्नत्रय की बात चल गई। अब निश्चयरत्नत्रय की बात करते हैं। जिसे निश्चय होता है उसे ही व्यवहार होता है। जिसे निश्चय नहीं है उसे (व्यवहार) भी नहीं है। कहा न...! जो व्यवहार में मूढ़ है यानी जिसे ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा का भान नहीं है, वह 'राग को जाननेवाला' कहाँ से हुआ ? कुछ समझमें आया ? 'समयसार'; १२ वीं गाथा में है न....! 'व्यहारनयो... तदात्वे प्रयोजनवानः।'...बस ! यह बात स्पष्ट है। आत्मा अंतर वस्तु है। बात तो सूक्ष्म बहुत !

सुबह प्रश्न हुआ था न.. कि : पर्याय का आधार कौन ? परंतु उस समय वह (चलता हुआ) विषय नहीं था। वास्तव में तो ऐसी चीज़ है कि : प्रत्येक पदार्थ की जो अवस्था है वह जिस समय होनेवाली है उस समय वह ही होगी, वह उसकी काललब्धि है। एक बात। दूसरी बात : जिस समय जिस द्रव्य की पर्याय उत्पन्न होती है, उपजती है, उसे (व्यय की, एवं) ध्रुव की भी अपेक्षा नहीं है।

'प्रवचनसार' गाथा-१०१ की संस्कृत टीका में ऐसा पाठ है - (उत्पाद उत्पन्न होनेवाले भाव के आश्रित है, अर्थात् :) उत्पन्न होता है वह (उत्पन्न होनेवाले भाव के) आश्रय से उत्पन्न होता है। यह तो बहुत सूक्ष्म बात है, प्रभु ! अंतर में मार्ग ऐसा है ! इसके लिये बहुत पात्रता चाहिए, बापू ! फिर गाथा-१०२ में ऐसा कहा कि : जिस समय जो पर्याय काललब्धि की कही वह, जिस समय उत्पन्न होती है वह उसकी निज (जन्म) क्षण है। वह उसका काल ही है। बात सूक्ष्म बहुत, भाई ! (पहले कहा कि :) जिस समय जो पर्याय उत्पन्न होती है उसे व्यय की अपेक्षा नहीं है, ध्रुव की अपेक्षा नहीं है; उत्पन्न होती है वह उत्पन्न हो रहे (भाव) के आश्रय से उत्पन्न होती है। व्यय के आश्रय से व्यय होता है। और ध्रौव्य के आश्रय से ध्रौव्य है।

आहा...हा...! ('प्रवचनसार = प्र+वचन+सार) वह 'प्रवचन' माने वीतराग सर्वज्ञ भगवान

के प्रवचन; `प्र' माने विशेषरूप से, `वचन' माने दिव्यध्वनि और उसका यह `सार' है। बात बैठे चाहे न बैठे, दुनिया स्वतंत्र है। उस `तंत्र' का अर्थ क्या ? कि : `व्यवस्थित पर्याय हो' इसलिये तंत्र। यहाँ `स्व-तंत्र' अर्थात् पर्याय `स्व' के कारण से अपने द्वारा उत्पन्न होती है, वह उसका `तंत्र' है। उसका भाव `सत्' है। मंत्र, तंत्र, जंत्र, - इन तीनों के अर्थ कहीं पर आते हैं।

(पर्याय) उत्पाद होती है, उस तरह व्यय भी होती है। और ध्रौव्य है। - इन तीनों में किसीको किसीकी अपेक्षा नहीं है। आहा...हा...! और `चिद्विलास' (पृष्ठ-८९) में ऐसा कहा है कि : गुण के बगैर (ही), पर्याय स्वयं से उत्पन्न होती है।

यहाँपर तो आज दूसरी बात कहनी है : प्रत्येक गुण में षट्कारक का रूप है। ज्ञानगुण है उसमें भी दूसरी षट्कारक की शक्ति साथ में है। कर्ता-कर्म-करण आदि ४७ शक्ति हैं, वे गुण हैं। वह जो कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण षट्कारक है, उसका रूप, इस ज्ञानगुण में भी है। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, प्रभु ! क्या करें ? अब, इन छह कारक गुण का कारण-रूप गुण में रहा। और पर्याय का परिणमन षट्कारक से अपने में रहा। अर्थात् : उस एक समय की पर्याय में भी षट्कारक का परिणमन स्वतंत्र - अपने से है। अर्थात् परमार्थ से `पर्याय का आधार' द्रव्य नहीं है। क्योंकि `पर्याय' स्वयं कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण - आधार से स्वयं से हुई है। `उसका आधार' द्रव्य-गुण भी नहीं। कुछ समझमें आया ?

`४७-शक्ति' में `भाव' नाम की एक शक्ति है। यानी `भाव' नाम का गुण आत्मा में है। तो उसका अर्थ क्या ? कि : `भाव' गुण है, इसलिये गुण की निर्मल परिणति होती है, करनी नहीं पड़ती। ऐसा स्वभाव, भावगुण का है। उसका भवन, उसकी निर्मल पर्याय है। निर्मल हैं ! (विकारी नहीं)। यहाँ शक्ति में विकार की बात ही नहीं है। निर्मलपरिणति उस भावशक्ति से होती ही है। ज्ञानी की दृष्टि अपने स्वभाव पर है। स्वभाव में `भाव' नाम का गुण है। तो उस `भाव' गुण के कारण पर्याय में निर्मलपर्याय होती ही है। एक बात। और एक (क्रियाशक्ति) ४० वीं शक्ति ऐसी है कि : (कारकों अनुसार होनेपनेरूप (-परिणमित होनेपनेरूप) जो भाव उस - मयी क्रियाशक्ति)।

जिस षट्कारकरूप पर्याय विकृतरूप परिणमन करती है वह (बात) `पंचास्तिकाय' गाथा-६२ में (की है)। उसकी चर्चा २१ वर्ष पहले वर्णीजी के साथ हुई थी कि :

विकारी पर्याय भी स्वतंत्र अपने षट्कारक से परिणमन करती है; द्रव्य-गुण के आश्रय से नहीं। क्योंकि : द्रव्य-गुण तो शुद्ध है। और निमित्त पर है। अतः वह विकृतअवस्था भी कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण - अपने कारण से होती है।

परंतु अपने में एक क्रियाशक्ति - क्रिया नाम का गुण है, ४० वाँ। जिस प्रकार ज्ञानगुण है, दर्शनगुण है, आनंदगुण है (उस प्रकार। एवं) प्रत्येक गुण में षट्कारक का रूप भी है। (तो) वह `क्रियाशक्ति' (एक) भिन्न गुण है। उस `क्रियाशक्ति' का कार्य क्या ? कि : षट्कारकरूप से जो विकृतअवस्था होती है उससे रहित, निर्मलपरिणमन होना अर्थात् उससे रहित वह क्रियाशक्ति - गुण का कार्य है।

आहा...हा...! यह तो `पर्याय का आधार' पूछा था न...! इसलिये थोड़ा (स्पष्टीकरण दिया है)। परंतु उस (प्रश्न) समय विषय दूसरा चल रहा था, इसलिये यह (बात) कोई उसके साथ नहीं चल सकती थी; (विषयांतर हो जाता)।

`पंचास्तिकाय' में कहा कि : अवस्था विकृत हो तो वह विकार-पर्याय (स्वयं) कर्ता, विकार कर्म, विकार करण, विकार साधन, विकार से विकार हुआ, विकार के आधार से विकार हुआ और विकार होकर अपने में रहा है। उस विकार का परिणमन एक समय की पर्याय में - कर्ता-कर्म आदि (अपने) षट्कारक से - स्वतंत्र है।

यहाँ (४७ शक्ति में) ऐसा लिया कि : (पर्याय) विकृत होवे ऐसा कोई गुण नहीं है। परंतु पर्याय में जो विकार होता है, उससे रहित होना ऐसा एक `क्रिया' नाम का गुण आत्मा में है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

प्रश्न :- `क्रिया' कितनी ?

समाधान :- एक तो जड़ की-परकी पर्याय वह `क्रिया' है। राग की पर्याय वह भी एक `क्रिया' है। निर्मलपर्याय होना वह भी एक `क्रिया' है (और विकाररहित निर्मलपरिणमन होना ऐसा एक `क्रिया' नाम का गुण है। आहा...हा...! चार क्रियाएँ कही। उसमें एक तो त्रिकाली `क्रिया' नाम का गुण है जो कि विकृतपरिणमन षट्कारक से होता है उससे रहित परिणमन होना; वह क्रिया नाम का गुण है। और (निर्मल) परिणति हुई उसे भी क्रिया कहते हैं, पर्याय है न...? और राग को भी विकारी क्रिया कहते हैं। और परद्रव्य की जो पर्याय है उसे भी क्रिया कहते हैं।

यहाँपर आत्मा के आश्रय से निर्विकारी सम्यग्दर्शन अर्थात् अंतर्दृष्टि हुई तो दृष्टि के विषय में अनंतगुण का पिंड (आत्मा) जो है वह दृष्टि में आया। उसमें एक ऐसा

गुण है जो भाव नाम का है, उसके कारण निर्मलपर्याय होना अर्थात् उसका भवन होना... होना... होना ऐसा वह भाव नाम का, उसका (आत्मा का) गुण है। और एक 'क्रिया' नाम का गुण है। वह तो गुण का वर्णन है। गुण में एक के बाद एक (अर्थात् होना... होना... होना उस प्रकार) नहीं है। गुण तो वहाँ (आत्मा में) एकसाथ अनंत हैं। उनमें एक क्रिया नाम का गुण है जो कि उस समय पर जो विकृतअवस्था अपने कारण से षट्कारक से परिणमित हो रही थी, उससे रहित परिणमन करना ऐसी आत्मा में क्रिया नाम की शक्ति है, गुण है, सत्त्व है, भाव है, स्वभाव है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

बातें सूक्ष्म बहुत, बापू ! यह मार्ग (है) बापू ! सर्वज्ञ से - अनुभव से सिद्ध है ! जिसकी जो पर्याय जिस समय उत्पन्न होनेवाली है उसमें उसके उत्पाद में ध्रौव्य का भी आश्रय नहीं है। व्यय का आश्रय व्यय को। उत्पाद का आश्रय उत्पाद को और ध्रुव का आश्रय ध्रुव को। आहा...हा...! यह बात !! द्रव्य की - वस्तुस्वरूप की मर्यादा ही ऐसी है !

ऐसा अनंतगुण का पिंड प्रभु, पूर्ण आनंद व पूर्ण ज्ञान (स्वरूप है), और एक एक गुण में अनंत गुण का रूप है, इसलिये प्रत्येक गुण भी षट्कारक का रूप लेकर विद्यमान है; उसकी दृष्टि हुई तो वह पर्याय भी - षट्कारकरूप की परिणति की पर्याय - षट्कारक से अपने से है। क्या कहा ? षट्कारक जो है उसकी परिणति - पर्याय स्वतंत्र अपने षट्कारक की परिणति से है। (उस प्रकार ज्ञानगुण में भी (है) परंतु उस समय दूसरे गुण में जो षट्कारक की परिणति है वह इस (ज्ञानगुण के षट्कारक के) कारण से नहीं है। अर्थात् गुण में दूसरा गुण नहीं है। गुण के आश्रय से गुण नहीं है। द्रव्य के आश्रय से गुण है। दूसरा गुण उस समय जो षट्कारकरूप परिणमन करता है वह 'षट्कारकशक्ति' का परिणमन है उस कारण से नहीं। यह ऐसी सूक्ष्म बात है !

आहा...हा...! वस्तुस्थिति ही ऐसी है ! सर्वज्ञ भगवान ने देखी ऐसी कही और ऐसी है ! अब इसे समझे बिना, लाख-करोड अन्य क्रियाकांड करके मर जाये न... (तो भी उससे भव का अंत होवे, ऐसा नहीं है)। कुछ समझमें आया ? द्रव्य का स्वभाव ही ऐसा है और पर्याय का स्वभाव ही ऐसा है। पर की अपेक्षा से अपना उत्पन्न होना नहीं है। पर माने द्रव्य-गुण। (इसके अतिरिक्त) पर की - निमित्त की तो बात ही नहीं है। निमित्त तो स्पर्श तक नहीं करता।

'समयसार' तीसरी गाथा में आया न...! कोई भी द्रव्य अपने धर्म का चुंबन करता है। अपना धर्म अर्थात् द्रव्य, गुण व पर्याय। तीनों उसका चुंबन करते हैं, पर का चुंबन नहीं करते अर्थात् परद्रव्य को कभी भी स्पर्श नहीं करते। आहा...हा...! यह तो कोई (गज़ब) बात है ! अग्नि का स्पर्श पानी ने किया ही नहीं है और पानी गरम होता है। ऐसा है, भगवान ! ये होठ हैं, और यह है (जीभ वे दूसरे) रजकण हैं, तो वे उनका कभी भी स्पर्श करते ही नहीं हैं। और रोटी का टुकडा होता है तो दाँत के रजकण (रोटी के) टुकडे का स्पर्श नहीं करते। ऐसी बात है।

यहाँ कहते हैं कि : पर्याय द्रव्य का स्पर्श नहीं करती। वहाँ (तीसरी गाथा में) ऐसा नहीं कहा है। वहाँ कहा कि : अपने धर्म - द्रव्य-गुण-पर्याय का चुंबन करते हैं। वह तो पर से भिन्न करने के लिये बताया। अब अपने में भी दो प्रकार हुए : गुण व द्रव्य एक हैं, गुण भी शाश्वत है और द्रव्य भी शाश्वत है। गुण के प्रदेश हैं वे द्रव्य के प्रदेश हैं। (परंतु) पर्याय के प्रदेश कुछ (अपेक्षा से) भिन्न हैं। इसलिये कहते हैं कि पर्याय द्रव्य का स्पर्श नहीं करती। और द्रव्य है वह पर्याय का स्पर्श नहीं करता, आलिंगन नहीं करता। इस प्रकार (दोनों) अस्तित्व का सत्त्व स्वतंत्र स्वतंत्र है। कुछ समझमें आया ?

एक (वर्तमान) दिगंबर साधु ने 'स्वतंत्र' का अर्थ ऐसा किया है : 'स्व' अर्थात् अपना आत्मा; 'तंत्र' अर्थात् अनुभूति। स्वतंत्र की व्याख्या : स्व की अनुभूति। वह तो बराबर है। **सत्य चाहे जो कोई कहे - सत्य कहे तो वह बराबर है।** कुछ समझमें आया ? पर्याय निर्मल होती है वह स्वतंत्र है। अनुभूति द्रव्य के लक्ष से होती है परंतु लक्ष्य का समर्थ्य तो पर्याय में है। अतः उस (द्रव्य) और लक्ष किया वह सामर्थ्य तो पर्याय का है। वह अनुभूति जो पर्याय है वह द्रव्य का स्पर्श नहीं करती। और द्रव्य है वह अनुभूति की पर्याय का स्पर्श नहीं करता। ऐसी स्वयंसिद्ध वस्तु है !

प्रश्न :- परंतु उन सबका 'तात्पर्य' क्या ?

समाधान :- इन सबका तात्पर्य 'वीतरागता' है।

प्रश्न :- वीतरागता कब उत्पन्न होवे ?

समाधान :- जो अनंतगुण के पिंडरूप द्रव्य है उसकी ओर आश्रय - लक्ष करे तो वीतरागता उत्पन्न होती है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? सारे कथनों का तात्पर्य आखिर में यह आया।

अब, यहाँपर कहते हैं : देखो, (टीका का) दूसरा परिच्छेद '**अभेद-अनुपचार-**

रत्नत्रयपरिणतिवाले जीव को - है...! अभेद रत्नत्रयपरिणतिवाले जीव को; जीव है वह द्रव्य लिया। परंतु कैसा है ? कि : अभेद रत्नत्रयपरिणतिवाला। क्योंकि यह बात तो निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय की चल रही है न...! व्यवहाररत्नत्रय है तो बंध का कारण। परंतु यहाँ तो रत्नत्रय में गिना गया है। तो उससे यह कहा कि, निश्चयरत्नत्रय जिसे उत्पन्न हुआ उसे व्यवहाररत्नत्रय (होता है)। यहाँ छठे गुणस्थान में व्यवहाररत्नत्रय लिया - जिन परमयोगीश्वर पंचमहाव्रत में पापक्रिया से निवृत्त है, वह व्यवहार। निश्चय से तो (उनकी) दृष्टि ज्ञायक के ऊपर है। वे जिन परमयोगीश्वर पापक्रिया से निवृत्तिरूप व्यवहार में है। उसे व्यवहार कहने में आता है। परंतु जिसे जिन योगीश्वर परमगुरु (अर्थात् निजशुद्धात्म) स्वरूप की दृष्टि जुड़ान नहीं है उसे तो व्यवहार भी किस तरह कहें ? वह तो व्यवहारमूढ है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? `अभेद-अनुपचार-रत्नत्रयपरिणतिवाले जीव को' यह परिणति है वह पर्याय है। ऐसी परिणतिवाले जीव को **`टंकोत्कीर्ण ज्ञायक जिसका एक स्वभाव है'** ऐसी ध्रुव चीज़ भगवान, नित्यानंद प्रभु, ध्रुवधाम, ज्ञायकभाव लेना है न...!

यह `समयसार' छठी गाथा में कहा न...! `ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो। एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव।।' फिर टीकाकार ने कहा कि : अप्रमत्त-प्रमत्त क्यों नहीं है ? कि : ज्ञायकभाव है वह शुभाशुभभावरूप से परिणमन करता ही नहीं है; क्योंकि शुभाशुभभाव हैं वे अचेतन हैं, और ज्ञायकभाव चैतन्यस्वरूप त्रिकाल है; वह उस-रूप (- शुभाशुभभावरूप) परिणमन नहीं करता अर्थात् ज्ञायकभाव में प्रमत्त-अप्रमत्त अवस्था नहीं है। `अमृतचंद्राचार्य' ने अर्थ में लिखा है : ज्ञायकभाव त्रिकाली है वह शुभाशुभरूप परिणमन नहीं करता। शुभाशुभभावरूप ज्ञायकभाव नहीं है। यदि (ज्ञायकभाव) शुभाशुभरूप परिणमन करता हो तो उसमें प्रमत्त-अप्रमत्त के भेद पड़े। अतः वहाँ ऐसा लिखा है : प्रमत्त-अप्रमत्तअवस्था ही ज्ञायकभाव में नहीं है।

वह यहाँपर कहा कि : ज्ञायकभाव - वह जीव - वह ज्ञायक है; (ऐसे जीव को) टंकोत्कीर्ण ज्ञायक जिसका एक स्वभाव है। **`ऐसे निजपरमतत्त्व की श्रद्धा द्वारा'**... यहाँपर कोई परमात्मा-वीतराग (के लिये बात) ले लेवे तो (ऐसा नहीं है; यहाँ छठे-सातवें गुणस्थान की बात है)। यह तो जो आत्मा को ज्ञायकस्वभाव त्रिकाली अपना स्वभाव है उसे ज्ञायकभाव है; (उसे) ऐसे निज परमतत्त्व की `श्रद्धा द्वारा' - वह पर्याय है उसके द्वारा - अभूतपूर्व सिद्धपर्याय होती है। ऐसा लेना है। यहाँ ऐसा नहीं आया कि : व्यवहार द्वारा सिद्धपर्याय होती है। वहाँ (व्यवहाररत्नत्रय में) तो परंपरा ली थी,

क्योंकि (जिसे निश्चय होवे उसे साथ में) व्यवहार आता है; परंतु फिर उसे छोड़कर आगे जाता है, तो उसे परंपरा (हेतुभूत) कहा। नहीं तो व्यवहारमोक्षमार्ग और निश्चयमोक्षमार्ग (इस प्रकार) दो (मोक्षमार्ग) लो तो व्यवहारमोक्षमार्ग का फल व्यवहारमोक्ष; और निश्चयमोक्षमार्ग का (फल) निश्चयमोक्ष; ऐसे दो भेद (मोक्ष के) कोई है क्या ? (- ऐसा नहीं है)। (व्यवहारमोक्षमार्ग यह) आरोप से कथन है। समझ में आया कुछ ? यहाँ व्यवहार श्रद्धा - देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा -नहीं ली, वह तो सारा व्यवहार है। `निज परमतत्त्व की श्रद्धा द्वारा...' `अभूतपूर्व सिद्धपर्याय होती है।' चौथी पंक्ति में है वहाँ लेना है। ज्ञायक जिसका एक स्वभाव है ऐसे निज परम तत्त्व की - भाव की श्रद्धा द्वारा.... अभूतपूर्व माने कि पूर्व में कभी नहीं हुई ऐसी अपूर्व, सिद्धपर्याय होती है। आहा...हा...!

अब इसमें (कोई) कहे कि, व्यवहार से होता है और निश्चय से होता है। (-ऐसा नहीं है)। यहाँ तो कहते हैं कि : निश्चय से होता है और व्यवहार तो बीच में आता है उसका अभाव करके जब निश्चय पूर्ण होता है तब सिद्धपर्याय होती है। कुछ समझमें आया ? यहाँ तो रत्नत्रय द्वारा मोक्ष - सिद्धपर्याय उत्पन्न होती है, यह बताना है न...! ऐसे निज परम तत्त्व की श्रद्धा द्वारा, (ऐसा कहकर, यहाँ निश्चयश्रद्धा की बात की)।

अब `**तद्ज्ञानमात्र**' से पहले (व्यवहार) ज्ञान आया था कि संशय, विमोह और विभ्रमरहित; और बाद में आया जिनप्रणीत हेय-उपादेय तत्त्वों का ज्ञान; दो बार आया। परंतु वह व्यवहार (सम्यक्)ज्ञान है। अब यहाँ (निश्चयसम्यग्ज्ञान की बात है।) `तद्ज्ञानमात्र' भगवानआत्मा ज्ञायकस्वभाव वस्तु के ज्ञान द्वारा अर्थात् आत्मज्ञान द्वारा; इसमें क्या आया ? आत्मज्ञान द्वारा अर्थात् पर के ज्ञान द्वारा नहीं, पर्याय के ज्ञान द्वारा नहीं, (परंतु) आत्मज्ञान द्वारा; अर्थात् आत्मा जो त्रिकाली है उसके ज्ञान द्वारा (सिद्धपर्याय उत्पन्न होती है)। यह ज्ञान `पर्याय' है; परतुं आत्मा जो है, जिसका ज्ञान किया वह वस्तु है, वह तो `द्रव्य' है, उसका ज्ञान वह `आत्मज्ञान'। आत्मा के गुण का ज्ञान... और आत्मा की पर्याय का ज्ञान, ऐसा नहीं। कुछ समझमें आया ?

ऐसी वस्तुस्थिति है, `**लोग सोनगढ़ के बारे में बहुत कुछ लिखते हैं।**' वह तो उन्हें जैसा ठीक लगे वैसा लिखे। इसके कारण व्यक्ति के प्रति विरोध करने की इसमें कोई बात ही नहीं है। **वे (भी) भगवानआत्मा हैं** ! `पंचास्तिकाय' में कहा न...! जीवास्तिकाय साधर्मी जीव है। जीवास्तिकायरूप में शुद्ध भगवान परमात्मा ज्ञायक (है)।

ये तो सब आत्मा हैं न...! वह उपादेय है, ऐसा लिया है। पर्याय (विरोधयुक्त) हो उससे क्या ?

यहाँ कहते हैं कि : 'तद्ज्ञानमात्र...' भाषा क्या है ? (श्रद्धा में) 'मात्र' शब्द का उपयोग नहीं किया था, वहाँ 'निज परम तत्त्व की श्रद्धा द्वारा' (शब्द है) यहाँ तो ज्ञान में कहीं भी भूल हो जाती है न... क्योंकि ज्ञान के बहुत प्रकार हैं न... इसलिये कहा : 'तद्ज्ञानमात्र !' आत्मा का तद्ज्ञानमात्र। कुछ समझमें आया ? तद्ज्ञान मात्र '(**- उस निज परम तत्त्व के ज्ञानमात्रस्वरूप**)' चैतन्य भगवान के ज्ञानमात्रस्वरूप '**ऐसे अंतर्मुख परम बोध द्वारा...**) **अभूतपूर्व सिद्धपर्याय होती है।**' आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

ग्यारह अंग का ज्ञान होवे, नौ पूर्व का ज्ञान होवे, वह तो मिथ्यादृष्टि को भी होता है। अभी (एक विद्वान का लेख) आया था न... कि : ग्यारह अंग का ज्ञान होवे तो भी वह (आत्मा का ज्ञान) नहीं। परंतु बारह अंग का ज्ञान तो समकिती को ही होता है। - क्या कहा ? नौ पूर्व की लब्धि व ग्यारह अंग का ज्ञान, वह तो मिथ्यादृष्टि को भी होता है। परंतु दस पूर्व हो जाय वह तो सम्यग्दृष्टि को ही होता है। वे बारह अंग के ज्ञानवाले मिथ्यादृष्टि हैं, ऐसा नहीं है। सिर्फ वह बारह अंग का श्रुतज्ञान वह व्यवहार है, उस कारण से मुक्ति नहीं होती। परंतु जो बारह अंग (धारी) हैं वे तो सम्यग्दृष्टि ही हैं। बारह अंग का ज्ञान होवे और वे मिथ्यादृष्टि होवे, ऐसा तीनकाल में नहीं बनता। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? उस (विद्वान ने) तो बारह अंग के ज्ञान से भी मुक्ति की सिद्धि नहीं होती (क्योंकि वह ज्ञान आत्मा का ज्ञान नहीं है), ऐसा नहीं लेकर (कुछ दूसरी तरह बात को खींची है)।

यहाँ 'तद्ज्ञानमात्र (- उस निज परम तत्त्व के ज्ञानमात्रस्वरूप' वही ज्ञानमात्र भगवान ज्ञायकस्वभाव - ज्ञानमात्रस्वरूप' 'ऐसे अंतर्मुख परम बोध द्वारा...' भाषा कितना ध्यान रखकर लिखी है ! 'ऐसे अंतर्मुख परम बोध' - शास्त्र का (ज्ञान) नहीं, पर का (ज्ञान) नहीं, परंतु 'अंतर्मुख परम बोध' अर्थात् : भगवान आत्मा ज्ञायकस्वभाव का ज्ञान, इसका (स्व)द्रव्य का ज्ञान, जो ज्ञायकभाव वस्तु है उसका ज्ञान - उसे 'अंतर्मुख परम बोध' कहा। अंतर्मुख कहा और फिर परमबोध कहा, उस परमबोध द्वारा... 'सिद्धपर्याय होती है।' कुछ समझमें आया ?

किसीको तो बाह्य में पाँच समिति, तीन गुप्ति के बराबर ही ज्ञान होवे तो भी उन्हें केवलज्ञान होता है। ऐसा नहीं है कि बहुत (बाह्य) ज्ञान होवे उन्हें ही केवलज्ञान

होवे। आहा...हा...! तद्ज्ञानमात्र-आत्मा ज्ञान(मात्र) स्वरूप है - उस मात्र से, उसके द्वारा, मुक्ति होती है। कहा न...! 'परम बोध द्वारा' 'अभूतपूर्व सिद्धपर्याय प्राप्त होती है।'

वैसे तो यह पर्याय है, और इस पर्याय से मोक्ष की पर्याय उत्पन्न होती है, यह (बात) भी अपेक्षित-व्यवहार से है। बाकी तो जो मोक्षपर्याय और केवलज्ञान उत्पन्न होते हैं वे स्वद्रव्य के आश्रय से उत्पन्न होते हैं; पूर्व पर्याय अर्थात् मोक्षमार्ग की पर्याय के आश्रय से नहीं। क्योंकि मोक्षमार्ग की पर्याय का व्यय होता है, अभाव होता है, तो जो भाव उत्पन्न हुआ वह तो अभावमें से नहीं आया। कुछ समझमें आया ? यहाँ पाठ तो ऐसा है। (क्योंकि) यहाँ सिर्फ व्यवहाररत्नत्रय से निश्चयरत्नत्रय अर्थात् यथार्थ तत्त्व को भिन्न बताना है। इसलिये उससे (- परम बोध द्वारा) सिद्धपर्याय उत्पन्न होती है, ऐसा बताना है। बाकी वास्तव में तो मोक्षमार्ग (है) वह पर्याय है, उसका व्यय होता है, तब केवलज्ञानपर्याय वहाँ उत्पन्न होती है। तो उस व्ययमें से उत्पाद होता है, ऐसा नहीं है। वह तो त्रिकाली के आश्रय से उत्पन्न होती है। - यह (कथन) भी अपेक्षित हो गया। (वास्तव में तो) जो केवलज्ञानपर्याय है वह अपनी षट्कारक परिणति से उत्पन्न होती है। कुछ समझमें आया ?

जब यह बात - व्यवहार-निश्चयरत्नत्रय - समझाना हो, तब (किस प्रकार और) क्या समझाये ? व्यवहाररत्नत्रय तो राग है और यह निश्चयरत्नत्रय वीतरागीपर्याय है। और इस वीतरागीपर्याय से मुक्ति होती है। - ऐसा बताना है।

'स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा' में ऐसा पाठ है : 'पुव्व-परिणाम-जुत्तं कारण-भावेण वट्टदे दव्वं। उत्तर-परिणाम-जुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा' ।।२३०।। अर्थ : पूर्वपरिणाम से युक्त द्रव्य वह नियम से कारणरूप होता है। और वही द्रव्य जब उत्तरपरिणाम से युक्त होता है तब वह नियम से कार्यरूप होता है। (परंतु) यह बात अपेक्षित है। यह बात यहाँपर ली है। मोक्षमार्ग की पर्याय वह पूर्वपर्याय है, वह कारण है। और (मोक्षरूप) उत्तरपर्याय द्रव्य में कार्य है।

बाकी तो, केवलज्ञान की पर्याय अपने षट्कारक से परिणमन करती हुई उत्पन्न होती है, उसे मोक्षमार्ग की (-पूर्व) पर्याय की भी अपेक्षा नहीं है।

'प्रवचनसार' गाथा-१०१ में कहा न....! उत्पन्न हो रही पर्याय को व्यय की अपेक्षा नहीं है ! अरे भगवान ! उसका मार्ग ! प्रभु ! तेरा मार्ग गंभीर है। कहा न...! उत्पन्न हो रही पर्याय को व्यय की अपेक्षा नहीं है। और यहाँपर तो ऐसा कहा कि :

मोक्षमार्ग की पर्याय से मोक्ष होता है ! वहाँ कहा कि : भगवान की दिव्यध्वनि केवलज्ञानपर्याय जो उत्पन्न होता है वह अपनी अपेक्षा से ही उत्पन्न होता है, उसे गुण की अपेक्षा नहीं है, व्यय की अपेक्षा नहीं है, पर की अपेक्षा तो है ही नहीं, वह तो बात ही नहीं है।

परंतु यहाँ पूर्वपर्याय (ऐसी) थी यह बताना है। पूर्वपरिणामयुक्त द्रव्य कारण है और उत्तरपरिणामयुक्त द्रव्य कार्य है। (फिर भी), पूर्वपर्याय में तो मिथ्यात्व भी होता है और बाद की पर्याय में सम्यग्दर्शन होता है। (परंतु वहाँ ऐसा नहीं कहना है कि :) मिथ्यात्वभाव है वह सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का कारण है। परंतु वहाँ यों कहना है कि : मिथ्यात्व का व्यय है, तो वह परिणाम (कारण; और जो) सम्यग्दर्शन की पर्याय उत्पन्न हुई (वह 'कार्य' है)। अर्थात् मिथ्यात्व का व्यय होता है तब सम्यग्दर्शन की पर्याय उत्पन्न होती है। वरना तो मिथ्यात्व उपादान कारण व उसका उपादेय फिर समकित ? (- ऐसा नहीं होता)। कुछ समझमें आया ? परंतु (वहाँ) तो मिथ्यात्व के व्यय को कारण बताकर सम्यग्दर्शन की पर्याय की उत्पत्ति वह (कार्य) बताना है। परंतु (वह बात) अपेक्षित है।

यह तो लोगों को (वस्तुस्थिति की) खबर नहीं है और विरोध करते हैं ! इसलिये जिसे पता न हो और विरोध करे उसमें क्या (करें) ? आहा...हा...! यह तत्त्व ही ऐसा है !! अगम्य को गम्य करना है। आहा...हा...! महाभंडार भगवान, अनंत गुण का भंडार, एक एक गुण में अनंतगुण का रूप, (ऐसा स्वयं ही है) !

४७-शक्ति हैं न...! हैं तो अनंत ! परंतु ('समयसार') में ४७ कही गई हैं। उनमें एक 'अनंतधर्मत्व' नाम की शक्ति-गुण है। वह 'अनंतधर्मत्व' का रूप दूसरे गुणों में है। वह गुण अन्य गुण में नहीं है, (परंतु उसका रूप दूसरे गुण में है)। तत्त्वज्ञान की ऐसी बहुत सूक्ष्म बातें, बापू ! लोग तो बाहर से (धर्म) मानकर बैठे हैं न...! 'अनंतधर्मत्वशक्ति' वह २७ वीं है। देखो : 'विलक्षण (- परस्पर भिन्न लक्षणवाले) अनंतस्वभावों से भावित (- हुआ) ऐसा एक भाव जिसका लक्षण है ऐसी अनंतधर्मत्व शक्ति।' आहा...हा...! यहाँ तो हमें यह लेना है कि : जो केवलज्ञान की पर्याय है उसमें भी अनंतधर्मत्वशक्ति का रूप है। उसके ज्ञानगुण में तो 'उसका' रूप है, परंतु वह ध्रुव है। परंतु यह तो पर्याय जो केवलज्ञान की है उसमें भी 'अनंतधर्मत्वशक्ति' का रूप है। अर्थात् यह अनंतधर्मत्वशक्ति जो है वह (केवल) पर्याय में नहीं है, एवं अनंतधर्मत्वशक्ति की जो पर्याय है वह भी (केवलज्ञान) पर्याय में नहीं है; परंतु 'उसका रूप' उस पर्याय में

है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

यह 'शुद्धभाव अधिकार' (चल रहा) है न...! पहले शुरू में उस ध्रुव को शुद्धभाव कहा। यहाँ शुद्धउपयोग की बात नहीं है। शुद्धउपयोग तो पर्याय है। और यह 'शुद्धभाव अधिकार' माने ध्रुवभाव का अधिकार है। त्रिकाली ज्ञानभाव का अधिकार है। (चलते हुए प्रकरण में) दो बोल आये - श्रद्धा व ज्ञान। (ज्ञान माने) 'अंतर्मुख परम बोध'। शास्त्रज्ञान आदि तो बहिर्मुख ज्ञान है। (परंतु) (मुनिराज) यह टीका कर रहे हैं न...! वह शास्त्रज्ञान को तो ('पद्मनंदिपंचविंशति' में) व्यभिचारणी बुद्धि कही है। बापू ! परमार्थ है न...! (क्योंकि) परद्रव्यप्रति लक्ष जाता है इसलिये वह (बुद्धि) व्यभिचारणी है।

यहाँ तो कह रहे हैं कि : 'अंतर्मुख परमबोध द्वारा... अभूतपूर्व सिद्धपर्याय होती है।' अर्थात् अंतर्मुख ज्ञायकभाव के बोध द्वारा, वह परम बोध है (उसके द्वारा) अभूतपूर्व सिद्धपर्याय होती है।

(अब चारित्र विषयक) तीसरा बोल : '**और उस - रूप से (अर्थात् निज परम तत्त्वरूप से) अविचरलरूप से स्थित होनेरूप सहजचारित्र द्वारा।**' - 'अविचरलरूप से स्थित होनेरूप' यह पर्याय की बात है। चलित न हो ऐसी पर्यायरूप सहजचारित्र द्वारा। आहा...हा...! जिस प्रकार द्रव्य व गुण अचलित हैं वैसी अचलित पर्याय। 'अचलित पर्याय' का अर्थ : अस्थिरता में - राग में नहीं आना। पर्याय में अविचल स्थिरता - निर्मलता (हो उसे) चारित्र कहते हैं। अविचलरूप से स्थित होनेरूप - चलित न हो ऐसे सहजचारित्र द्वारा अर्थात् स्वाभाविक चारित्र द्वारा (अभूतपूर्व सिद्धपर्याय होती है)।

व्यवहार (चारित्र) है वह तो राग है, वह सहजचारित्र नहीं है, स्वाभाविक चारित्र नहीं है। व्यवहार जो राग है उसकी दशा की दिशा 'पर' है और वीतराग (चारित्र) की दशा की दिशा 'स्व' है। इसलिये (कहा कि :) निज परमतत्त्वरूप से अविचलरूप से स्थित होनेरूप (सहजचारित्र द्वारा)। आहा...हा...! 'निज परमतत्त्वरूप से' - यह 'दशा' त्रिकाल है। उसमें स्थिरता, वह 'दशा' है।

यहाँ अंत में शुक्लध्यान लेना है। परंतु धर्मध्यान तो निश्चयधर्मध्यान है। धर्मध्यान के दो प्रकार हैं : निश्चयधर्मध्यान, वह शुद्धपरिणति है। और व्यवहारधर्मध्यान, वह राग है। धर्मध्यान शुभ ही है ऐसा नहीं। वह जिनको आ चुका है अर्थात् (जिन्हें) निश्चयधर्मध्यान है (उन्हें) व्यवहारधर्मध्यानरूप शुभभाव आता है। वस्तुस्वरूप जैसा है वैसा (प्रगट नहीं हुआ अर्थात् पर्याय में) अपूर्ण शुद्धता का परिणमन है वह निश्चयधर्मध्यान है और विशेष शुद्धता का परिणमन वह शुक्लध्यान है। व्यवहारधर्मध्यान, शुभराग है और निश्चयधर्मध्यान

है वह वीतरागीपर्याय है। स्वरूप में अविचलरूप से स्थिरता अल्प है, इसलिये उसे धर्मध्यान कहा। विशेष स्थिरता है उसे शुक्लध्यान कहा, इससे सिद्धि होती है। कुछ समझमें आया ?

'अविचलरूप से स्थित होनेरूप' - आनंद का नाथ भगवान ! (उसमें) स्थिरता माने आनंद का वेदन, अतीन्द्रिय आनंद का उग्र वेदन, (इसका नाम चारित्र)।

'समयसार' पाँचवीं गाथा (की टीका में 'अमृतचंद्राचार्य' ने) कहा है न...! अरिहंत भगवान विज्ञानघन में निमग्न थे। बाद में गणधर विज्ञानघन में निमग्न थे। वहाँ से लेकर हमारे गुरु विज्ञानघन में निमग्न थे। (वे) महाव्रत का पालन करते थे... ये सब बातें नहीं ली, ये तो विकल्प हैं, (चारित्र नहीं हैं)। आहा...हा...! अरिहंत से लेकर परंपरापूर्वक अपने गुरु, ये सब विज्ञानघन में निमग्न थे; इसका नाम चारित्र है। अरिहंत का विज्ञानघन और छद्मस्थ का विज्ञानघन; दोनों को एकसमान रखे हैं ! वहाँ भले (छद्मस्थ) को अल्प है, फिर भी वे विज्ञानधन में निमग्न हैं। ऐसा लिखा है ! इन गुरु ने हमारे ऊपर उपकार-मेहरबानी - अनुग्रह करके हमें 'आत्मा का उपदेश' दिया। आहा...हा...! प्रभु ! वे छह द्रव्य हैं न... ऐसी बात नहीं करी ? उन सबका 'सार' तो यह कहा। हमारे गुरु विज्ञानघन में निमग्न थे। 'मग्न' ही नहीं बल्कि 'निमग्न' थे। क्योंकि विज्ञानघन में मग्न तो आंशिक रूप से चौथे गुणस्थान में भी होते हैं। ये तो मुनि हैं। विज्ञानघनस्वरूप प्रभु अर्थात् विज्ञान का दल ध्रुव, उसमें निमग्न थे; आनंद में विशेष लीन थे। उनके द्वारा हमें आत्मा का उपदेश मिला है। उनसे हमारा निजवैभव प्रगट हुआ है। 'निजवैभव' माने स्वसंवेदन ! आनंद की महोर छाप (राजमुद्रा) है, वह निजवैभव !

यह धूल (पैसे) का वैभव तो बहुत दूर रह गया; परंतु (पंचमहाव्रतादि का) राग (है) वह भी (वैभव नहीं)। शरीर (वैभव) नहीं राग (भी) नहीं। और यह पैसा-बैसा-धूल तो कहाँ (दूर) रह गये। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं : अविचलरूप से स्थित होनेरूप सहजचारित्र द्वारा '**अभूतपूर्व (-पूर्व में कदापि नहीं हुई है वैसी, अपूर्व) सिद्धपर्याय होती है।**'

देखो, 'सिद्धपर्याय' है न...! वह कोई गुण नहीं है। केवलज्ञान भी पर्याय है। मोक्षमार्ग भी पर्याय है। संसार भी विकारीपर्याय है। आहा...हा...! 'ध्रुव' तो ध्रुव है; ज्ञायक (है)। विकार, अविकार, अपूर्णता और पूर्ण अविकृतता, यह सब पर्याय में है। कुछ समझमें आया ? ऐसा मार्ग रुखा लगे, वीतरागमार्ग रुखा है, भाई !

जिज्ञासा :- पहले तो अरिहंतपर्याय होवे, बाद में सिद्धपर्याय होती है।

समाधान :- परंतु अरिहंतपर्याय को भावमोक्ष कहा है। सिद्ध को फिर द्रव्यमोक्ष कहा है। सुना है ? केवलज्ञान माने भावमोक्ष हो गया। फिर चार (अघाती कर्म) बाकी रहे इतनी योग्यता भी अपने कारण से है, कर्म के कारण से नहीं। (निमित्तरूप) उदय है और उतना अपनी पर्याय का दोष है, इसलिये केवली को भी असिद्ध कहे हैं। चौथे से चौदहवें (गुणस्थान) तक असिद्धपर्याय कही है और उसे उदयभाव में डाला है। उस असिद्धपर्याय का नाश हो तब सिद्धपर्याय उत्पन्न होती है। उसे द्रव्यमोक्ष कहा। और तेरहवें (गुणस्थान पर) भावमोक्ष कहा (वहाँ) चार (घातीकर्म) छूट गये हैं और चार (अघाती) कर्म बाकी हैं, और थोड़ी अशुद्धता अपने कारण से है, वह भी केवलज्ञान में जानने में आती है। केवलज्ञान में सब कुछ जानने में आता है।

आहा...हा...! 'अभूतपूर्वसिद्धपर्याय होती है।' यह (निश्चय) रत्नत्रय की बात कही। इससे पहले व्यवहार (रत्नत्रय) की बात कही। अब दोनों की संधि करते हैं :-

'**जो परमजिनयोगीश्वर**' - छठे गुणस्थान (वाले छद्मस्थ को) भी 'परम जिनयोगीश्वर' कहे ! '**पहले पापक्रिया से निवृत्तिरूप व्यवहारनय के चारित्र में होते हैं।**' छठे गुणस्थान में व्यवहारनय का शुभभाववाला चारित्र है, व्यवहारचारित्र है। निश्चय(चारित्र) अंदर स्वरूप में (स्थित होनेरूप) है। उसे (यहाँ) गौण करके बात कही। परंतु यह तो उसमें कह दिया - 'परमजिनयोगीश्वर'। केवल मिथ्यादृष्टि है और उसे पहले व्यवहार(चारित्र) आया, ऐसा नहीं है। कुछ समझमें आया ?

शास्त्र के अर्थ करने में बहुत बड़ा फर्क है। (लोगों की) समझमें फर्क और फिर अर्थ करने में फर्क (पड़ता है)। इसमें ऐसा लिखा है और इसमें वैसा लिखा है। लिखा है, परंतु वह किस अपेक्षा से ? यहाँ व्यवहार पहले कहकर बाद में निश्चय कहा, अतः यहाँ खुलासा कर दिया कि : भाई व्यवहार और निश्चय कहा, उसमें क्या है ? कि : परमजिन योगीश्वर तो वे हैं ही। जिन्हें आत्मानुभव है, छठे गुणस्थान की भूमिका अनुसार आनंद आया है, निश्चय (रत्नत्रय) है; परंतु पूर्ण निश्चय (रत्नत्रय अभी नहीं है; इसलिये वह पहले पापक्रिया से निवृत्तिरूप, अर्थात् अव्रत के परिणाम से निवृत्तिरूप और व्रत के परिणाम से प्रवृत्तिरूप, व्यवहारनय के चारित्र में होता है। यह बात छठे गुणस्थान की करी। आहा...हा...! हैं तो अपने योग में ! परमजिनयोगीश्वर हैं ! बहुत शब्दों का उपयोग किया है। क्योंकि : सिद्धांत में अपूर्वकर(वाले) को भी 'जिन' कहा है। तीन कारण हैं न...! अधःकरण, अनिवृत्तिकरण और अपूर्वकरण।

समकितपूर्व की पर्याय अपूर्वकरण की (है)। वहाँ (उन्हें) 'जिन' कहा है। - 'गोम्मटसार' में हैं। यहाँ तो 'परमजिन और योगीश्वर' शब्द का प्रयोग किया है। चौथे गुणस्थान में भी योगी तो हैं, मुमुक्षु कहा था.... और मोक्षार्थी। (परंतु) यहाँ तो परमजिन, परमवीतराग, योगीश्वर कहा, यह बात छठी भूमिका की है।

(जो परमजिनयोगीश्वर) पहले पापक्रिया से निवृत्तिरूप व्यवहारनय के चारित्र में होते हैं। उन्हें वास्तव में व्यवहारनयगम्य तपश्चरण होता है; व्यवहारचारित्र, व्यवहारतपस्या माने मुनिपना होता है। दीक्षा कल्याणक कहते हैं न...! तपकल्याणक कहो या दीक्षाकल्याणक कहो, सब व्यवहारचारित्र है। दीक्षा को तप कहते हैं। अब, कहते हैं कि :

'**उन्हें वास्तव में व्यवहारनयगोचर तपश्चरण होता है।**' व्यवहारनय है तो सही, व्यवहारनय का विषय भी है; (विषय) नहीं है (ऐसा नहीं)। व्यवहारनय गोचर-गम्य तपश्चरण होता है।

'**सहजनिश्चयनयात्मक परमस्वभावस्वरूप परमात्मा में प्रतपन सो तप है।**' यह निश्चयचारित्र, निश्चयतप। तप कहो या दीक्षा कहों, (एकार्थ है)। सहजनिश्चयनयात्मक अर्थात् स्वाभाविक निश्चयनयस्वरूप, परमभावस्वरूप (यह निश्चयनय का विषय है)। लो ! 'नय' तो ज्ञान है। परंतु ज्ञान के विषय को ही निश्चयनयात्मक कहकर परमस्वभावस्वरूप अर्थात् सहजनिश्चयस्वरूप, परमभावस्वरूप, निश्चयनयस्वरूप, परमभावस्वरूप उसका (निश्चयनय का) विषय है। उसे एक-अभेद कहा है। 'सहज निश्चयनयात्मक परमस्वभावस्वरूप परमात्मा में प्रतपन सो तप है।' निजस्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहज निश्चयचारित्र तप से होता है। वह दशा निश्चयचारित्र से होती है।

विशेष कहेंगे।.....

***

प्रवचन- १४, दि. १२-२-१९७८

`नियमसार'। शुद्धभाव अधिकार (टीका) की अंतिम (५१ से ५५) पाँच गाथा। आखरी दो पंक्ति बाकी है। देखो : '**जो परमजिनयोगीश्वर पहले पापक्रिया से निवृत्तिरूप व्यवहारनय के चारित्र में होते हैं।**' किसको ? कि : छठे गुणस्थान में परमयोगीश्वर हैं, अभी स्थिरता की कमी है उस कारण से उन्हें व्यवहारनय का विषय जो दया, दान, व्रतादि के भाव आते हैं। (क्या कहते हैं ? कि :) जो परमयोगीश्वर पहले पापक्रिया से निवृत्तिरूप माने अव्रत के परिणाम से निवृत्तिरूप; और व्रत के परिणाम जो आस्रव हैं (उसी) प्रवृत्तिरूप है। उसे व्यवहार कहने में आता है। परमनिश्चय की (बात) बाद में (लेंगे) कुछ समझमें आया ?

परमजिनयोगीश्वर जो अपने में स्थित हैं, अनुभव है, आंशिक स्थिरता है, परंतु (वहाँ) निर्विकल्प स्थिति नहीं है; इसलिये उसे पापक्रिया से निवृत्तिरूप माने (अशुभ) रागादि से निवृत्तिरूप व्यवहारनय से चारित्र होता है; '**उन्हें वास्तव में व्यवहारनयगोचर तपश्चरण होता है।**' (अब कहते हैं कि :)

'**सहजनिश्चयनयात्मक परमस्वभावस्वरूप परमात्मा में**' - अपना आत्मा परमस्वभावस्वरूप, ध्रुव, ऐसा जो परमात्मा... अपना ! आहा...हा...! उस परमात्मा में '**प्रतपन**' (अर्थात्) प्र=विशेषरूप से + तपन=उग्रता; (अर्थात् :) चारित्र में तप की - पुरुषार्थ की विशेष उग्रता - निर्विकल्पस्थिति; '**सो तप है।**'

आहा...हा...! `सहजनिश्चयनयात्मक' पहले कहा और `परमभावस्वभावस्वरूप' बाद में कहा। (क्योंकि:) शुद्धनिश्चयनयस्वरूप, सहजनिश्चयनयस्वरूप, परमभाव, परमस्वभावस्वरूप; वह (नय का) विषय है। और नय तो ज्ञान का विषयी है; किन्तु उसका विषय जो परमस्वभावरूप परमात्मा, अपना पूर्णस्वरूप, भगवान परमात्मा ! उसमें प्रतपन माने विशेष उग्र पुरुषार्थ से अंदर स्थिरता - निर्विकल्पता का जम जाना, वह तप है।

आहा...हा...! बहुत (अलौकिक) मार्ग !! `व्यवहार' पहले में, `यह' व्यवहार पहले छठे गुणस्थान में (निश्चयपूर्वक) गिना गया है ! मिथ्यादृष्टि को व्यवहार पहले और फिर ऐसा (- निश्चय), ऐसी बात है ही नहीं। यहाँ तो छठे गुणस्थान में निश्चयस्वरूप की पूर्ण स्थिरता (पर्याय में) नहीं है। (अर्थात्) उसे निश्चयनय का विषय होनेके बावजूद भी (अभी) पूर्ण स्वरूपस्थिरता नहीं है; ऐसी दशा में; इस अपेक्षा से पाप की निवृत्ति से शुभभाव (रूप) (जो) परिणमन है उसे व्यवहारचारित्र कहने में आता है। ऐसा है, बापू ! बहुत कठिन काम। जगत को (वस्तुस्वरूप का भान नहीं है, इसलिये) व्यवहार और निश्चय का झगडा (विवाद)... ऐसे तूफान... तूफान...! आहा...हा...!

भगवान परमस्वभावस्वरूप परमात्मा में प्रतपन : `प्र' माने विशेषरूप से `तपन' (सो तप है)। जिस प्रकार सुवर्ण गेरु से ओपायमान होता है, जेवर-गहनों को गेरु लगाने से वे चमक उठते हैं; उस प्रकार भगवानआत्मा में अपने को दर्शन, ज्ञान, चारित्र का अंश (प्रगट हुआ) है परंतु अंदर में विशेष स्थिरता जमनेपर चैतन्य की चमत्कारिकदशा, वीतरागी चमक पर्याय में उठती है। आहा...हा...! उसे यहाँ तप कहते हैं।

आहा...हा...! भारी झगडे... व्यवहार पहले, और व्यवहार करते करते निश्चय होगा ! (परंतु) वह बात उस प्रकार है ही नहीं। यहाँ तो सत्य बताया है ! भगवंत पूर्ण स्वरूप तो है (वह) दृष्टि में है, ज्ञान में है, परंतु उसमें स्थिरता की पूर्णता नहीं है; इस कारण से उन्हें (परमजिनयोगीश्वर को) पापक्रिया से निवृत्तिरूप व्यवहारनय के (चारित्ररूप) परिणाम होते हैं। वह व्यवहारनय उपचरित है। और निश्चय (तो) सहजनिश्चयनयरूप, परमस्वभावस्वरूप, परमात्मा, पूर्णस्वरूप परमात्मा, परम आत्मा, परमस्वरूप, पूर्ण शुद्ध ध्रुव परमात्मा स्वरूप (है); उसमें प्रतपन माने विशेषरूप से शोभा, अर्थात् शुद्धि की वृद्धि, अर्थात् वीतरागपरिणति की उग्रता, उसका नाम तप कहने में आता है। शुद्धभाव का अधिकार है न...! परमात्मा का कहो या शुद्धभाव का (अधिकार कहो एकार्थ है) कुछ समझमें आया ?

जिज्ञासा :- बारह प्रकार के तप कहे हैं न...?

समाधान :- वे बारह प्रकार के तप (कहे हैं) वह निमित्त का कथन है। `सम्यग्ज्ञानदीपिका' में `धर्मदासजी क्षुल्लक' कहते हैं : भगवानआत्मा एक, और तप बारह प्रकार के कहाँ से आ गये ? बाईस परीषह कहाँ से आये ? इसका अर्थ यह कि बाईस (परिषह) निमित्त का कथन है। अंतर की वीतरागता एकरूप है। वह वास्तव में तप, चारित्र, परीषह (जय), वह वीतरागभाव है। उसे बारह भावना व बाईस

परिषह (आदि कहे) यह निमित्त से कथन है। आहा...हा...! इस (विषय में) 'धर्मदासजी क्षुल्लक' ने बहुत कहा है।

बहुत साल पहले, ५६ वर्ष हुए, १९७८ की साल में, बोटाद शहर में जंगल में अकेले जाते थे वहाँ 'सम्यग्ज्ञानदीपिका' पढ़ी थी। कहा : (सोचा :) गज़ब कहा... यह तो इसमें गज़ब बात है !! वस्तु यथार्थ यही है ! फिर बाद में उसे बहुत देखा है।

यह बात यहाँपर कहते हैं कि : 'परमात्मा में प्रतपन वह तप है।' अब खुलासा किया : '**निजस्वरूप में अविचल स्थितिरूप**' - निजस्वरूप में माने परमात्मस्वरूप परमात्मा में अविचल स्थितिरूप (है); अर्थात् अंदर आनंद की जमावट जमी हुई है, अंदर अतीन्द्रिय आनंद (के उछाल आते हैं) !

रात्रि में (एक भाई का) प्रश्न था न...! आत्मा का निर्णय करने में यह विकल्प आता है न... कि : (आत्मा) ऐसा है, ऐसा है ! भाई ! १३ वीं गाथा ('समयसार') में कहा न... 'भूयेत्थेणाभिगदा' - नौ तत्त्व हैं इन्हें भेद से कहो तो भूतार्थ हैं। और स्वभाव की अपेक्षा से देखो तो वे नौके नौ तत्त्व अभूतार्थ हैं। फिर (कलश-८ की टीका में) ऐसा लिया कि : 'द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय का विचारभेद करने पर (अर्थात्) 'यह द्रव्य' और 'यह पर्याय' - ऐसे विकल्प से जब नय से विचार करते हैं तब, वे भूतार्थ हैं। परंतु अनुभव करने पर वे नौ के नौ (तत्त्व) अभूतार्थ हैं। इस प्रकार नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, ये निक्षेप के भेद हैं। और 'निक्षेप' है वह 'ज्ञेय' का भेद है। और 'नय' है वह 'ज्ञान' का भेद है। 'नय' विषयी है और 'निक्षेप' विषय है। तो निक्षेप के भेदों का विचार करते समय, जो विकल्प है, वह उस अपेक्षा से बराबर है, यथार्थ है, वह व्यवहाररूप से भूतार्थ है। परंतु अनुभव के काल में अर्थात् निर्विकल्प अनुभव में वह (सब कुछ) अभूतार्थ है। एवं प्रमाणज्ञान - मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय व केवल - को परोक्षप्रमाण व प्रत्यक्षप्रमाण के भेद द्वारा विचार करते समय जो विकल्प उठते हैं, वह चीज़ है (भूतार्थ है)। अन्यमत से भिन्न (यह बात है)। अपनी चीज़ को प्रमाण से और नय से निश्चित करने के काल में जो विकल्प है, तो उस अपेक्षा से व्यवहार है, है (सही) इतना। परंतु स्वरूप की अनुभवदृष्टि में वह, अभूतार्थ है। आहा...हा...! नौ तत्त्व, नय, निक्षेप और प्रमाण - इन चारों को भूतार्थ भी कहा और अभूतार्थ भी कहा। यह प्रश्न है न...! विकल्प से निर्णय करे - उस समय तो विकल्प (भूतार्थ है, अवस्तु नहीं है); परंतु निर्विकल्प अनुभव में ऐसे विकल्प अभूतार्थ

हैं, उसमें हैं ही नहीं, कुछ समझमें आया ?

यहाँ (तप की) व्याख्या की : `सहज निश्चयनयात्मक परमस्वरूपभावस्वरूप परमात्मा में प्रतपन सो तप है।' निज स्वरूप में अविचल स्थितिरूप ('सहजनिश्चयचारित्र इस तप से होता है।') निजस्वरूप में अविचल स्थिति, अर्थात् (स्वरूप में) जम जाना, रमणता, चारित्रदशा, वीतरागता में उग्र पुरुषार्थ - इसका नाम तप है। (क्या कहते हैं ? कि :) चारित्र रमणता, यह चारित्र की स्थिति तो है परंतु उसमें उग्र पुरुषार्थ द्वारा अविचल स्थिति करना, चारित्र की दशा में उग्र पुरुषार्थपूर्वक अविचल स्थिति रहना - ऐसी स्थितिरूप सहजनिश्चयचारित्र, स्वाभाविक सत्य चारित्र इस तप से होता है।

जिज्ञासा :- तप से चारित्र होता है या चारित्र से तप होता है ?

समाधान :- कहा न.... अविचल स्थितिरूप चारित्र है, उसे तप कहा जाता है। चारित्र के बाद तप होता है। परंतु तप किसको ? कि : अविचल स्थितिरूप सहज निश्चयचारित्र इस तप से होता है। अंदर निर्विकल्प स्थिरता जम जाना, ऐसे चारित्र से यह तप कहने में आता है। (**श्रोता :-**) यह बराबर समझमें नहीं आया। (**उत्तर :**) फिर से कहें : पहले व्यवहारनय के चारित्र में होते हैं - कौन ? कि : परमजिनयोगीश्वर पहले पापक्रिया से निवृत्तिरूप व्यवहारनय के चारित्र में होते हैं। वास्तव में उन्हें व्यवहारनयगोचर तपश्चरण होता है। देखो पहले चारित्र लिया न...? राग जो हुआ उसे ही व्यवहारतप कहते हैं। व्यवहारचारित्र को ही व्यवहारतप कहते हैं, `बारह प्रकार के तप' ये सारे निमित्त के कथन हैं; वे पुण्यबंध का कारण हैं। यहाँ तो (जो) व्यवहारचारित्र है वह (भी) पुण्यबंध का कारण है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया? बात तो बहुत कठिन बापू !

यहाँ तो यह परमात्मा सर्वज्ञ परमात्माने कहा न...! परमात्मस्वरूप प्रभु यह (स्वयं ही) है। अभी आखरी श्लोक में कहेंगे : उस परमात्मस्वरूप में अविचल स्थिरतारूप लीनता इस चारित्र से यह तप होता है। बाकी सब लंघन है। ऐसा है, प्रभु ! क्या करें ? अविचल स्थितिरूप सहज निश्चयचारित्र; ऐसी चारित्रदशा में स्थिरता विशेष हो जाना, उसे यहाँ तप कहते हैं।

(अब) आधार देते हैं : **`इसीप्रकार एकत्वसप्तति में (श्री पद्मनंदी आचार्यदेवकृत 'पद्मनंदिपंचविंशतिका' नामक शास्त्र में एकत्वसप्तति नाम के अधिकार में १४ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि :**

`दर्शनं निश्चयः पुंसि बोधस्तद्बोध इष्यते।
स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः।।'

`(श्लोकार्थ : आत्मा का निश्चय वह दर्शन है, आत्मा का बोध वह ज्ञान है, आत्मा में ही स्थिति वह चारित्र है; - ऐसा योग (अर्थात् इन तीनों की एकता) शिवपद का कारण है।')

ये सारे शास्त्र (व्याख्यान में) चल चुके हैं। छब्बीस अधिकार हैं। परंतु `पद्मनंदी' और `पंचविंशति' -इस प्रकार नाम दोनों एक से हैं इसलिये पच्चीस कहा गया। अंतिम `ब्रह्मचर्य' का अधिकार है। आहा...हा...! बह्मानंद प्रभु, उसमें रमणता करना इसका नाम ब्रह्मचर्य है। बहुत स्पष्ट किया है। बहुत लिया है। बाद में जरा आचार्य कहते हैं : हे युवानों ! मेरी यह बात आपको पसंद न आवे, आप लोगों को `विषय' की रुचि होवे तो मैं तो मुनि हूँ, क्षमा करना। आहा...हा...! परंतु मेरे से आप (अन्य) कौन-सी आशा रखोगे ? परंतु पच्चीस वर्ष का युवान, रूपवान शरीर, स्त्री का सुंदर शरीर, मेडम जैसी होवे और पांच पच्चीस लाख रुपये दहेज में लेकर आई होवे.... तो ऐसे (हर्ष से पागल हो जाय) ! अरे...रे...! उसमें विष के प्याले हैं। विषय के भोग तो ज़हर के प्याले हैं, प्रभु ! आहा...हा...! अंदर आनंद का नाथ बिराजमान है न...! (उसके) अमृत घूँट पीने पर उसमें ये (विषय-भोग तो) ज़हर के प्याले, प्रभु ! अंतर अमृत के आनंद के घूँट पी ! आहा...हा...! शरीर से ब्रह्मचर्य पालन करना। वह भी ब्रह्मचर्य नहीं है ! इस तरह शरीर से ब्रह्मचर्य का पालन तो अनंतबार किया है, बालब्रह्मचारी अनंतबार हुआ है; वह सब तो शुभराग है। वह कोई चीज़ नहीं है ! कुछ समझमें आया ? आहा...हा...! ब्रह्मचार्य की व्याख्या इतनी करी : मुनि वीतरागी संत हैं ! `आनंदस्वरूप की रमणता वह ब्रह्मचर्य है।' हे युवानों ! ऐसी बात तुम्हें न रुचे और नापसंद हो तो माफ कर देना। मैं तो मुनि हूँ। अन्य क्या कहूँ? आहा...हा...! वीतरागी मुनिराज कहते हैं !! मेरे पास जो यह चीज़ है वह हम कहते हैं; तुमको न जचे तो माफ कर देना ! भाई ! वीतरागी संत की यह `एकत्वसप्तति' दूसरों को ठीक लगे या न लगे उसके साथ तुलना नहीं करते। परंतु आप लोगों को दुःख लगे (तो माफ कर देना, ऐसा निष्कारण करुणा और अलौकिक सज्जनतावश कहते हैं !!) हम तो ब्रह्मचर्य उसे कहें : आनंदघन, ब्रह्म का घन, आनंद का ब्रह्म, तू परमात्मा है, उसमें रमण (कर)।

(दूसरी जगह भी) आता है : अंदर एकस्वरूप परमात्मा, उसमें रमण करना सो

ब्रह्मचर्य। ब्रह्म=आनंद+चर्य =रमण करना; ब्रह्म=आनंद भगवान प्रभु+उसमें चर्य= चरना, रमना, जम जाना, जिस प्रकार पशु घास चरते हैं उस प्रकार हम ब्रह्म में चरते हैं। वह ब्रह्मचर्य है। बात तो ऐसी है, प्रभु ! ठीक पड़े या न पड़े। आहा...हा...! जिस प्रकार पशु चरते हैं उस प्रकार हम ब्रह्मभगवान आनंदस्वरूप में चरते हैं, आनंद का भोजन करते हैं। आहा...हा...! अतीन्द्रिय आनंद में चरना - भोजन करना उसे हम ब्रह्मचर्य कहते हैं। तुझे बराबर न लगे तो माफ करना। आहा...हा...! गज़ब कर रहे हैं ! अरेरे...! ये वीतरागी संत तो देखो (कौसे करुणामूर्ति हैं !!)

('समयसार') पाँचवीं गाथा में 'कुंदकुंदाचार्य' (फरमाते हैं न...) 'छलं ण घेतव्वं' - प्रभु ! मैं अनुभव की बात करता हूँ। उसमें कोई भाषा मेरे से (ऐसी) आ जाय, तुझे न जचे; मेरा वज़न संस्कृत और भाषा के ऊपर नहीं है, मेरा वजन तो अंतर आनंद के अनुभव के ऊपर है, उस बात को करने में मेरी भाषा में कोई फर्क पड़ जाय; तो '**छलं ण धेतव्वं।**' तुम उसके (व्याकरण के) जानकार हो और तुम्हारी जानकारी में आ जाय कि इस जगह भूल है तो शब्दों को ध्यान मत रखना ! हम तो अंतर आत्मानुभव की बात कर रहे हैं। उस ओर तुम्हारा लक्ष जाना चाहिए !

यहाँ कहते हैं : देखो श्लोकार्थ - '**आत्मा का निश्चय वह दर्शन है।**' नौ तत्त्व की श्रद्धा (इत्यादि) की बात निकाल दी। यह यहाँ परमात्मा कहते हैं न...! निश्चयनयात्मक परमस्वभावस्वरूप परमात्मा - वह आत्मा; उस आत्मा का निश्चय (सो सम्यग्दर्शन)। आहा...हा...! आत्मा की पर्याय का निश्चय या गुणभेद का निश्चय, ऐसा नहीं लिया। (परंतु) अखंड, अभेद, एकरूपस्वरूप - ऐसा आत्मा, भगवानआत्मा; उसका निश्चय, उसका निर्णय, वह सम्यग्दर्शन है ! व्यवहारसम्यग्दर्शन तो आरोपित कथन है, वह तो राग है। व्यवहारसम्यग्दर्शन (वह) कोई दर्शन (श्रद्धा) की पर्याय नहीं है। वह तो राग की पर्याय है। (ऐसी) राग की पर्याय में निश्चयसम्यग्दर्शन का आरोप करके व्यवहार कहने में आया है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

'मोक्षमार्गप्रकाशक' सातवें अध्याय में कहा है : उस निश्चय के साथ में ऐसा निमित्त - राग है उसे उपचार से व्यवहारसमकित कहा गया है। वह समकिती की पर्याय नहीं है। यह निश्चयदर्शन वह सम्यग्दर्शन की पर्याय है। आहा...हा...! ऐसा है !

प्रश्न :- छह द्रव्य कहाँ गये ?

समाधान :- वह तो कहते हैं, प्रभु ! एकबार सुन तो सही ! आत्मा की एक

समय की जो ज्ञान की पर्याय है उसमें, छह द्रव्य को जानने की ताकत है, तो एक समय की पर्याय में छह द्रव्य (का ज्ञान) आ गया। वह ऐसी एक पर्याय नहीं (किन्तु) ऐसी अनंत पर्याय का पिंड एक ज्ञानगुण। उस ज्ञानगुण की एक पर्याय में छह द्रव्य का जानना आ गया।

(साधक को हो रहे शुभभावरूप) दोष की पर्याय, उसे व्यवहारसमकित कहते हैं। परंतु किसको ? कि : जिसे आत्मा का निश्चय सम्यग्दर्शन है उसे। कुछ समझमें आया ?

(अब, कहते हैं :) `**आत्मा का बोध वह ज्ञान है।**' - आनंदकंद, स्वभाव का सागर, अनंतगुण का एकरूप ऐसा जो आत्मा, उसका ज्ञान, उसे ज्ञान कहते हैं। आहा...हा...! इसमें, शास्त्र का ज्ञान और पढ़ाई का ज्ञान ऐसी कोई बात नहीं है। पाठ क्या है यह देखो न : `**पुंसि बोधस्तद्बोध इष्यते**' -`तस्य' अर्थात् जो स्वरूप, `पुंसि'=पुरुष माने आत्मा, उसका `बोध'=ज्ञान, उसको `इष्यते' कहते हैं। अर्थात् `आत्मा का ज्ञान सो ज्ञान।' आहा...हा...! संतों ने थोड़े शब्दों में भी गर्भ में - पेट में सार तो भर (ही) दिया है। आहा...हा...! यह निश्चयमोक्षमार्ग की पर्याय की बात चल रही है। सत्यमोक्षमार्ग की पर्याय की बात चल रही है। तो इस पर्याय में आत्मा का दर्शन, अनुभव और प्रतीति हुई उसे दर्शन कहते हैं। और आत्मा के ज्ञान को ज्ञान कहते हैं। अन्य (बाह्य क्षयोपशम) ज्ञान कम हो, ज्यादा हो उससे कोई संबंध नहीं है। (बस !) `भगवानआत्मा का बोध सो ज्ञान है।'

`इष्यते' है न...! शब्द देखो : आत्मा में `**स्थितिरत्रैव' =स्थिति+तत्र+एव।** आहा...हा...! `अत्र'=यहाँ (माने) भगवानआत्मा में +एव=ही (निश्चय से) +स्थिति - `चारित्रमिति' वह चारित्र है। `**आत्मा में ही स्थिति वह चारित्र है।**' शब्द है न... देखो ! स्थित सो चारित्र है। क्योंकि : चारित्र माने चरना। भगवान आतमा आनंद में खेला करते हैं। वह अंदर आनंद की रमणता सो चारित्र है। - यह मोक्षमार्ग ! `**ऐसा योग अर्थात् इन तीनों की एकता शिवपद का कारण है।**'

`समयसार' १६ वीं गाथा में कहा न...! `दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं। ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।।' (दर्शन, ज्ञान, चारित्र) ये तीनों एक आत्मा ही है, अभेद है। आहा...हा...! ऐसा कहा। वहाँ तो व्यवहारसम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की तो बात ही नहीं की। बाद के कलश में : उस निर्मलसम्यग्दर्शन, ज्ञान, (चारित्र) तीनों को भी वहाँ व्यवहार कहकर, मलिनता का कारण कहकर `मेचक'

है, ऐसा कहा है। 'मेचक' क्यों ? कि : वे (सम्यग्दर्शनादि) तीन भेद हो गये न... (इसलिये)। है तो वह निश्चय-सत्य, परंतु तीन भेद हैं इसलिये उसे व्यवहार कहकर, मेचक कहकर, मलिन कहा है। कलश में मेचक-अमेचक (की बात की है)। आहा...हा...! पर्यायनय से (व्यवहारी) लोग समझते हैं तो पर्यायनय से कथन कर रहे हैं इतनी (बात है)। बाकी हैं तीनों पर्याय। उसका लक्ष सो भेद है, वह तो व्यवहार हुआ। अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के तीन भेद, यह व्यवहार हो गया। और उसे मलिन (मेचक) कहा।

यहाँपर यह कहा, देखो : तीनों की एकता, वह अमेचक। अर्थात् : अंतर में - आत्मा में दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता हो गई; भेद नहीं; - ऐसा योग माने तीनों की एकता - इस प्रकार योग की व्याख्या की। 'इन तीनों की एकता शिवपद का कारण है।' - यह मोक्ष का कारण है। बाकी सब बातें हैं। आहा...हा...! कठिन लगे। (परंतु) क्या करें ?

प्रश्न :- हम निम्न भूमिका में रहनेवालों को कोई साधन तो बतालाईये। है कुछ ? वह निश्चय की बात बराबर है परंतु उसका साधन ? मतलब ऐसे भक्ति करना, पूजा करना, गुरु की सेवा (आदि साधन) ?

समाधान :- अरे, बापू ! साधन 'उसे' कहें। भाई ! साधन ही 'यह' है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र (तीनों की एकता) वह साधन है। और वे जो तीनों के भेद हैं उन्हें व्यवहारनय कहा, मेचक कहा, मलिन कहा। मलिन कहने का व्यवहार है ऐसा अर्थ है। आहा...हा...! ये तीनों निर्मल... हाँ ! (तो फिर भक्ति, पूजा, गुरुसेवा आदि साधन की बात तो बहुत दूर रह गई)।

आहा...हा... ! है...! १६ वीं गाथा के बाद कलश-१७ वाँ 'दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रीभिः परिणत्वतः। एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः।।' क्या कहा ? आत्मा एक है फिर भी व्यवहारदृष्टि से देखें तो तीन स्वभावपने के कारण तीन स्वभाव हो गये न... दर्शन, ज्ञान, चारित्र... निश्चय हाँ ! - अनेकाकाररूप 'मेचक' है। भावार्थ :- 'शुद्धव्यार्थिकनय से आत्मा एक है; इस नय को प्रधान करके कहा जाय तब पर्यायार्थिकनय गौण हुआ इसलिये एक को तीनरूप परिणति होता हुआ कहना सो व्यवहार हुआ, असत्यार्थ भी हुआ।' परंतु व्यवहारी लोगों को समझाने के लिये भेद से - पर्याय से समझाते हैं। इस बारे में (कलश-१९ के) भावार्थ में 'जयचंदजी पंडितजी' ने अर्थ किया है कि : 'व्यवहारी लोग पर्याय से - भेद द्वारा समझते हैं इसलिये यहाँ ज्ञान,

दर्शन, चारित्र के भेदपूर्वक समझाया है।'

यहाँ पाठ है न...! '**स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः**' - ये (दर्शन, ज्ञान, चारित्र) तीनों की एकता शिवपद का कारण है, आहा...हा...! आत्मा की ऐसी एकता अंदर हुई; भेद नहीं, अंदर अभेद हो गया; वह शिव का आश्रय है; मोक्ष का कारण है, आश्रय है।

और (इस शुद्धभाव अदिकार की अंतिम पाँच गाथाओं की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री 'पद्मप्रभमलधारिदेव' श्लोक कहते हैं) :-

तथा च -

(मालिनी)

'जयति सहजबोधस्तादृशी दृष्टिरेषा
चरणमपि विशुद्धं तद्विधं चैव नित्यम्।
अघकुलमलपंकानीकनिर्मुक्त मूर्तिः
सहजपरमतत्त्वे संस्थिता चेतना च ।। ७५ ।।'

(श्लोकार्थ :-) सहज ज्ञान सदा जयवंत है, वैसी (- सहज) यह दृष्टि सदा जयवंत है, वैसा ही (-सहज) विशुद्ध चारित्र भी सदा जयवंत है; पापसमूहरूपी मल की अथवा कीचड़की पंक्ति से रहित जिसका स्वरूप है ऐसी सहजपरमतत्त्व में संस्थित चेतना भी सदा जयवंत है।।७५।।

आहा...हा...! शुद्धभाव अधिकार है न...! कहा : '**सहज ज्ञान सदा जयवंत है।**' - वह कौन ? पर्याय नहीं; ध्रुव, सहज ज्ञान - ध्रुव सदा जयवंत वर्ते, सदा जयवंत रहो। आहा...हा...! दृष्टिवान कहते हैं कि : यह सहज ज्ञान सदा जयवंत रहता है। स्वाभाविक त्रिकालीज्ञान सहज जयवंत रहता है। कुछ समझमें आया ? यह कौन कह

सकता है, कौन जान सकता है ? कि : जिसकी दृष्टि में सहजज्ञान - ध्रुव, ज्ञेयरूप आ गया, प्रतीति आ गई, भान आ गया वह कह रहा है कि : यह अंदर सहजज्ञान जयवंत विद्यमान रहता है, नित्य है, सदा है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान, यह तो पर्याय है। परंतु यह पर्याय उत्पन्न किससे हुई ? कि : (जो) सहजज्ञान जयवंत विद्यमान है उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान (पर्याय) उत्पन्न हुई है। आहा...हा...! 'सहज ज्ञान सदा जयवंत है।' यह बात पर्याय की नहीं है। 'यह जयवंत है' ऐसा जाननेवाली पर्याय कहती है। जाननेवाली पर्याय ऐसा कहती है कि : 'यह सहज ज्ञान जयवंत विद्यमान रहता है।' जिसकी दृष्टि में - अनुभव में नित्यता भासित हुई वह पर्याय ऐसा जानती है कि : 'यह ज्ञान त्रिकाल जयवंत वर्तता है।' आहा...हा...! यह मांगलिक !! अंतिम गाथा। वास्तव में 'शुद्धभाव' है न...! 'शुद्धभाव' माने त्रिकाली। आहा...हा...! जो सम्यग्दर्शन का विषय, वह 'सहजज्ञान' जयवंत वर्तता है। सहज - स्वाभाविक ज्ञान सदा जयवंत है। जयवंत वर्तता है अर्थात् शाश्वत विद्यमान है। स्वाभाविक ज्ञान जयवंत रहता है। ध्रुव रहता है। - यह 'निर्णय' पर्याय करती है। परंतु पर्याय का 'विषय' जो है वह जयवंत वर्तता है। हमारे ज्ञान में जो नित्यता भासित हुई वह नित्य जयवंत वर्तता है। आहा...हा...! देखो, शैली तो देखो ! 'सहज ज्ञान सदा जयवंत है।' मोक्षमार्ग की पर्याय तो एक समय की है। वह तो फिर सादि-अनंत उत्पन्न होती है। जिस पर्याय ने (त्रिकाली का) आश्रय लिया वह पर्याय ऐसा जानती है कि : यह ज्ञान सदा जयवंत वर्तता है, ज्ञानस्वभाव-ध्रुव जयवंत वर्तता है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

अब, भाषा बदल डाली (देखो :) '**ऐसी (-सहज) यह दृष्टि सदा जयवंत है।**' सम्यग्दर्शन के स्थान पर त्रिकाल दृष्टि जो है दर्शन, त्रिकाल श्रद्धा (वह) लिया है। त्रिकाल... हाँ ! कारण दृष्टि है वह त्रिकाल अंदर है। सम्यग्दर्शन, वह दृष्टि, तो पर्याय है। परंतु उसका जो विषय है उसमें जो कारण 'दृष्टि' सहज त्रिकाल जयवंत वर्तती है। आहा...हा...हा...! कुछ समझमें आया ? जिसके ऊपर दृष्टि पड़ी वही चीज़ - सहज दृष्टि - अंदर त्रिकाल विद्यमान है, ध्रुव है।

आहा...हा...! है...! 'ऐसी' माने 'जैसा ज्ञान वैसी' माने 'उस प्रकार की' '(-सहज) यह दृष्टि सदा जयवंत है।' आहा...हा...! सम्यग्दर्शन की दृष्टि तो पर्याय, (वह) तो नयी प्रगट होती है; वह सदा जयवंत नहीं है। परंतु अंदर जो दृष्टि का विषय है, जो सम्यक्श्रद्धा-दृष्टि जो है, वह सदा जयवंत है। आहा...हा...! ऐसा मार्ग है !!!

दृष्टि का जो विषय अंदर है, जो सम्यक्श्रद्धा-दृष्टि है, जो ध्रुवदृष्टि है, वह सदा जयवंत वर्तती है ! आहा...हा...! दृष्टि सदा जयवंत वर्तती है, ध्रुव ! सम्यग्दर्शन की जो पर्याय उसको विषय बनाती है उसे (ऐसी) खबर नहीं है। परंतु ज्ञान साथ में है, ज्ञान जानता है कि : यह दृष्टि की पर्याय जो उत्पन्न हुई उसे जो अंतर्दृष्टि है वह त्रिकाल है। (वह) अंतरंगदृष्टि जयवंत वर्तती है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

थोड़ा (सही)... परंतु सत्य तो यह है, भाई ! बहुत लंबा या विस्तार चाहे जितना करो परंतु वस्तु को तो यहाँ लाकर रखनी है। चाहे जितना जानपना और दुनियाभर की बातें चाहे जितनी कहे - व्यवहारनय की बातें : चरणानुयोग में ऐसा है और करणानुयोग में ऐसा... ऐसा सब है। - इसमें कुछ (सारपना) नहीं है। कुछ समझमें आया ?

जब दृष्टि ने त्रिकाली स्वभाव को पकड़ा तब वह दृष्टि (ऐसा) कहती है, अर्थात् सम्यग्दृष्टि के साथ में स्थित ज्ञान (ऐसा) कहता है कि : इस दृष्टि का जो विषय, जो त्रिकालदृष्टि अंदर जयवंत वर्तती है। आहा....हा...हा...!

जिज्ञासा :- दर्शन को ज्ञान का सहारा लेना पड़ा ?

समाधान :- साथ में है। वह (ज्ञान) जानता है दृष्टि को। दृष्टि नहीं जानती। ज्ञान-उपयोग है वह जानने का काम करता है। दर्शन अपने को भी नहीं जानता और ज्ञान को भी नहीं जानता। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, बापू !

एक (अपेक्षा से) सप्तभंगी ली है : जानना-देखना सो 'उपयोग' है वह स्व है, और उसके अतिरिक्त अन्य गुण 'उपयोग' नहीं हैं इसलिये पर हैं। ऐसी सप्तभंगी चली है। उपयोग स्वरूप जो जानन-देखन वह अस्ति, और उसके अतिरिक्त अन्य जो हैं उनकी नास्ति; क्योंकि उपयोग में ये सब गुण नहीं हैं, उपयोग में तो ज्ञान-दर्शन का उपयोग जो ध्रुव है वह उसकी ज्ञान की पर्याय में आया, तो वह उपयोग जो है वह स्व-अस्ति है, और उपयोग के सिवा जो अनंत गुण जिनमें कि उपयोग नहीं है, उन्हें उपयोग नहीं कहें। ऐसी सप्तभंगी चली है।

जिज्ञासा :- सभी गुणों की पर्याय को उपयोग कह सकते हैं ?

समाधान :- नहीं, उपयोग नहीं। यों तो फिर चेतना कहने में भी फिर चेतना के सभी गुणों को चेतना कहा जाता है, परंतु भाग (भेद) करने से चेतना तो जानन-देखन यह चेतना है। ऐसा अभी कहेंगे। (क्या) सम्यग्दर्शन अपने को जानता है ?

चारित्र अपने को जानता है कि मैं चारित्र हूँ ? - नहीं। ज्ञान जानता है। (**श्रोता :**) चारित्र को शुद्ध उपयोग - अशुद्ध उपयोग (संज्ञा) आती है ! (**उत्तर :-**) वह बात आचरण की अपेक्षा से है। ऐसा 'द्रव्यसंग्रह' में आया है। बारह प्रकार के जो उपयोग हैं : पाँच ज्ञान, तीन अज्ञान और चार दर्शन - उन उपयोगरूप भाव... बस ! वह शुद्धउपयोग और अशुद्धउपयोग ऐसा वहाँ नहीं है। शुद्ध व अशुद्ध में तो आचरण साथ में आता है। बारंबार यहाँ पर बात हो चुकी है। शुद्धउपयोग तो अंदर आचरण का है। सिर्फ जानना-देखना नहीं। अशुद्धउपयोग में मलिन आचरण है। और शुद्धउपयोग में निर्मल आचरण है। आचरण है शुद्धउपयोग में। आहा...हा...! कहाँ कहाँ फर्क पड़ता है। बात तो ऐसी बहुत है, 'द्रव्यसंग्रह' में लिया है : बारह प्रकार का उपयोग भिन्न चीज़ है। और शुद्ध व अशुद्ध उपयोग जो आचरण है वह भिन्न चीज़ है. कुछ समझमें आया ?

यहाँ कहते हैं : 'ऐसी (- सहज) यह दृष्टि सदा जयवंत है।' आहा...हा...! '**वैसा ही (- सहज) विशुद्ध चारित्र भी सदा जयवंत है।**' आहा...हा...! अंदर में जो चारित्र-वीतरागभाव है वह त्रिकाल विद्यमान है। (वैसे तो) शुभभाव को भी विशुद्ध कहते हैं, शुद्धउपयोग - पर्याय को भी विशुद्ध कहते हैं। परंतु यहाँ त्रिकाल (चारित्र) को भी विशुद्ध कहा गया है... 'विशुद्ध चारित्र।' परंतु चारित्र क्यों लिया ? कि : ज्ञान जयवंत वर्तता है। दृष्टि जयवंत वर्तती है। एवं चारित्र त्रिकाली, विशुद्ध चारित्र 'भी' ऐसा लिया न...! वे (ज्ञान व दृष्टि) दोनों आ गये न... इसलिये चारित्र भी सदा जयवंत है। आहा...हा...! भगवान वीतरागस्वरूप चारित्र तो आत्मा में सदा जयवंत है ! यदि वीतरागस्वरूप न होवे तो वीतराग की जो पर्याय आई वह आई कहाँ से ? बारहवें गुणस्थान में वीतरागी चारित्रपर्याय आई कहाँ से ? यह वीतरागचारित्र त्रिकाल, ध्रुव है ! उसके आश्रय से (निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है) - यह तो भेद का कथन है। अभी यह लेना है। (अन्यथा तो) पर्याय अपने से (होती) है, वह तो खयाल में है। (परंतु) यहाँ तो कारण बताना है। शाश्वत वस्तु बतानी है न...! वर्तमान चारित्र की पर्याय (अर्थात्) वह त्रिकाल चारित्र का गुण ध्रुव है, जयवंत वर्तता है, इस प्रकार पर्याय में चारित्र प्रगट हुआ है उसके साथ (का) ज्ञान यों कहता है कि : 'चारित्र त्रिकाल विद्यमान है।' आहा...हा...! ऐसा है !! वादविवाद करने से हल हो जाय ऐसी बात नहीं है।

वह तो सब खयाल में है... न ! एक ओर कहे, पर्याय द्रव्य के आश्रय से

है। और दूसरी ओर कहे द्रव्य-गुण के आश्रय से नहीं है। किन्तु यहाँ जिसके ऊपर लक्ष हुआ वह चीज़ कैसी है, यह बताना है। कुछ समझमें आया ? 'विशुद्ध चारित्र भी' इस प्रकार, वे (ज्ञान व दृष्टि) दो भेद लिये न....! इसलिये यह तीसरा (चारित्र का) लिया - 'सदा जयवंत है।'

अरे ! अंदर भगवानआत्मा 'जिन सो ही है आत्मा' आता है न...! 'समयसार नाटक' में 'जिनपद नांहि शरीर कौ, जिनपद चेतनमांहि; जिनवर्नन कछु और है, यह जिनवर्नन नाहिं।' (जीवद्वारा/२७)। आहा...हा...! भगवान ऐसा न ! रूपवान न ! सुंदर शरीर न ! अतिशय न ! यह कोई, आत्मा का वर्णन नहीं है। 'जिनपद नांहि शरीर कौं, जिनपद चेतनमांहि।' आहा...हा...!

ऐसा यहाँ कहते हैं : चेतन में विशुद्ध चारित्र, वीतरागपर्याय, वीतरागशक्ति, (उसकी जो) वीतरागपर्याय प्रगट हुई, उसके साथ ज्ञान हुआ, वह ज्ञान ऐसा कहता है, जानता है; वीतरागचारित्र (- सहज विशुद्धचारित्र) भी सदा जयवंत विद्यमान है। (ज्ञान में ऐसा) भासित हुआ तब 'जयवंत वर्तता है' ऐसा कहा न...! किन्तु भासित हुए बिना, (अर्थात्) 'यह जयवंत विद्यमान है' ऐसा ज्ञान में भासित हुए बिना, उसे 'जयवंत वर्तता' कहाँ है ? आहा...हा...हा...! 'सहज (विशुद्ध) चारित्र भी सदा जयवंत है !' (अब कहते हैं :)

'पापसमूहरूपी मल की अथवा की कीचड़ की पंक्ति से रहित जिसका स्वरूप है ऐसी सहजपरमतत्त्व में संस्थित चेतना भी सदा जयवंत है।' आहा...हा...! यहाँ भी 'भी' आया न...! अंदर चेतना 'भी' त्रिकाल जयवंत वर्तती है। (त्रिकाल) ज्ञानचेतना है ऐसा पर्याय में जब खयाल में आया तब वह पर्यायचेतना कहती है कि यह चेतना त्रिकाल अंदर जयवंत विद्यमान है ! ध्रुव चेतना जयवंत वर्तती है ! है...! 'ऐसी सहजपरमतत्त्व में संस्थित चेतना भी' (जिस प्रकार - ज्ञान, दृष्टि और चारित्र - तीन कहे थे न...! उस प्रकार यह चेतना भी) सदा जयवंत वर्तती है। आत्मा में शुद्धचेतना 'त्रिकाल जयवंत वर्तती है।' आहा...हा...! शुद्धभाव अधिकार की पूर्णता का यह श्लोक !! शुद्धभाव माने ध्रुव। उस ध्रुव में यह लिया : जयवंत ज्ञान, जयवंत दृष्टि, जयवंत चारित्र और जयवंत चेतना ! आहा...हा...!

पूरा हुआ।

***

प्रवचन- १५, दि. १३-२-१९७८

(परमार्थ-प्रतिक्रमण अधिकार)

(अधिकार के प्रारंभ में टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्री माधवसेन आचार्यदेव को श्लोक द्वारा नमस्कार करते हैं :)

(वंशस्थ)

नमोऽस्तु ते संयमबोधमूर्तये स्मरेभकुंभस्थलभेदनाय वै।
विनेयपंकेजविकाशभानवे विराजते माधवसेनसूरये।। १०८ ।।

(श्लोकार्थ :-) **संयम और ज्ञन की मूर्ति, कामरूपी हाथी के कुम्भस्थल को भेदनेवाले तथा शिष्यरूपी कमलको विकसित करने में सूर्य समान - ऐसे हे विराजमान (शोभायमान) माधवसेनसूरि ! आपको नमस्कार हो।।१०८।।**

`नियमसार' पाँचवां अधिकार `परमार्थ-प्रतिक्रमण' अधिकार। चौथे अधिकार में व्यवहाचारित्र का वर्णन आया। (निश्चयचारित्र को सुख का मूल कहा और) उसका परंपराकारण व्यवहारात्मकचारित्र है। ऐसा वहाँ कहा था। जहाँ सम्यग्दर्शन, ज्ञान व आंशिक चारित्र है, वहाँ व्यवहारचारित्र अर्थात् पंचमहाव्रतादि के परिणाम होवे, वे बीच में आते हैं उन्हें छोड़कर (स्वात्मा में) स्थिर हो जायेंगे, ऐसे व्यवहार - प्रतिक्रमण

को परंपरा कारण कहा। वहाँ साक्षात् कारण तो यह निश्चय-प्रतिक्रमण है। इस अधिकार के प्रारंभ में, टीकाकार मुनिराज `श्री पद्मप्रभमलधारिदेव' अपने श्रीगुरु `श्री माधवसेन आचार्य' को (उक्त) श्लोक द्वारा नमस्कार करते हैं।

आहा...हा...! प्रथम स्वयं अपने श्रीगुरु को वंदन करते हैं। परमार्थ-सच्चे प्रतिक्रमण की व्याख्या करते समय प्रथम गुरु को याद करते हैं। `पद्मप्रभमलधारिदेव' मुनि हैं, आचार्य नहीं हैं। कहते हैं कि मेरे गुरु कैसे हैं ? - मेरे गुरु `**संयम और ज्ञान की मूर्ति हैं** !' अंदर भगवान ज्ञानस्वरूप; (और) उसी तरह पर्याय में भी ज्ञानमूर्ति हो गये हैं; ऐसा कहते हैं। भगवानआत्मा, जिसका स्वभाव अतीन्द्रिय ज्ञान(स्वरूप) है तो पर्याय में भी (वे) अतीन्द्रियज्ञान की मूर्ति अर्थात् (अतीन्द्रियज्ञान) स्वरूप हो गये हैं। (**श्रोता :-**) ऐसे उनके (ही) गुरु या सारे मुनि ? (**उत्तर :-**) मुनि तो इन्हें ही कहते हैं ! सभी मुनि (ऐसे ही होते हैं) ! यहाँ तो अपने मुनि को - गुरु को याद किया है न...!

आगे चलकर कहेंगे न...! अंतर आनंद का नाथ प्रभु, जीवास्तिकाय, जिसमें अशुभराग तो है ही नहीं, शुभराग तो है ही नहीं परंतु जिसमें भेद भी नहीं है - ऐसा जीवास्तिकाय लिया है। `जीव ऐसा है' यों नहीं लिया। क्योंकि जीव तो अन्यमती भी कहते हैं। यहाँ तो अस्तिकाय - असंख्यप्रदेशी, अनंतगुणों का स्वामी, ऐसे जीवास्तिकाय में अशुभराग तो है ही नहीं, शुभराग तो है ही नहीं (परंतु) भेद भी नहीं है। चौदह जीवस्थान के भेद, चौदह गुणस्थान के भेद, चौदह मार्गणास्थान के भेद, ये वस्तु में नहीं हैं। वे सभी विषय पर्याय के हैं। कुछ समझमें आया ?

आहा...हा...! ऐसा भगवानआत्मा ! (उसका) जिसे अंतर में आनंद में ज्वार उठ आया है; जिस प्रकार समुद्र में ज्वार किनारे तक आता है, उस प्रकार जिसकी पर्याय में संयम और ज्ञान का ज्वार आ गया है वे हमारे गुरु हैं। - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! `संयम और ज्ञान की मूर्ति' - वे तो मानो `ज्ञान की मूर्ति'... पर्याय में हाँ। `**कामरूपी हाथी के कुंभस्थल को भेदनेवाले**' - विषय-वासना-काम, इसरूप जो हाथी, उसके कुंभस्थल को भेदनेवाले (हैं) ! आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

यह `सम्यग्ज्ञानदीपिका' में आया है न...! परंतु लोग उसकी (समझे बिना) टीका करते हैं न...! `जैसे कि जिसके सिरपर धनी-पति है, उससे कोई दोष (विवशतावश) हो जाय तो (वह) बाहर आता नहीं है। उस प्रकार जिसके सिरपर आत्मा धनी है वह किसी रागादि में आ जाय तो वे बाहर दिखते नहीं हैं।' उन्होंने (`क्षुल्लकजी'

ने) विषय स्थापित किया नहीं है। परंतु वहाँ इस प्रकार ले लेते हैं कि देखो : व्यभिचार (को भी दोष नहीं गिना है)। अर...र...! प्रभु ! 'राग' व्यभिचार है, प्रभु, उसे छोड़ना है, तो परस्त्री का त्याग - जहाँ धर्मी-समकिती को अंदर स्थिरता होती है तो स्वस्त्री का भी त्याग होता है। तो परस्त्री के त्याग की - (उसकी) तो बात ही क्या करनी ? उसका तो त्याग, त्याग व त्याग ही होता है। कुछ समझमें आया ?

यहाँपर कहा : 'कामरूपी हाथी के कुंभस्थल को भेदनेवाले' हैं। ऐसी चीज़ (ज्ञानदशा) है ! यहाँ तो जहाँ जरा शुभराग का भी त्याग है वहाँ परस्त्री का व्यभिचार...! वह बात... अरे, प्रभु ! क्या कर रहा है तू यह ? और उसका अर्थ ऐसा है कोई ?! (सही अर्थ तो) उसका बताया था; फिर भी ऐसा करके (एतराज करके, ग्रंथ) फैंक दिया (आहा...हा...! इस जगत की ऐसी चीज़ है !!

कल कहा था न... 'पद्मनंदिपंचविंशतिका'में से। २६ वें अधिकार (ब्रह्मचर्याष्टक) में नौ गाथा हैं : भगवंत ! तेरा ब्रह्मचर्य तो ऐसा है कि तेरे में शुभभाव भी नहीं होना चाहिए। परस्त्री का त्याग होता ही है। स्वस्त्री का भी त्याग (होता है)। परंतु भोग, वह तो महापाप का कारण है, दीर्घ संसार की वृद्धि का कारण है।

प्रश्न :- निर्जरा अधिकार ('समयसार') में आता है न ? - 'ज्ञानी का भोग निर्जरा का हेतु है।'

समाधान :- बापू ! वह भोग निर्जरा का हेतु (कारण) नहीं है। वहाँ (सम्यग्दृष्टि को) दृष्टि का अंदर ज़ोर रहता है। 'शुद्ध चैतन्यघन, आनंदकंद प्रभु (हूँ)' ऐसी दृष्टि के ज़ोर की प्रशंसा करने के लिये ज्ञानी का भोग निर्जरा का हेतु कहा है। परंतु 'भोग' कब किसको निर्जरा का कारण हो सकता है ? वह तो पाप है !

वहाँ ('पद्मनंदीपंचविंशतिका' की) बहुत गाथाओं में ब्रह्मचर्य का वर्णन किया है। परस्त्री के त्याग की तो बात (ही) क्या करनी ? वह तो सज्जन को होता ही है। सामान्य सज्जन को भी वह होता है। वह त्याग तो नैतिक जीवन में होता है। परंतु स्वस्त्री का भोग भी त्याग करने लायक है, क्योंकि वह भोग भी पाप है। वहाँपर उस ब्रह्मचर्य को वर्णन करते-करते बहुत कहा है। शरीर से विषय (भोग) करना वह तो पाप है ही। परंतु शरीर से ब्रह्मचर्य का पालन करना वह भी पुण्य है। इस पाप व पुण्य से रहित, भगवानआत्मा आनंदस्वरूप प्रभु; उससे भेट करने आनंद के साथ लीन होना, इसका नाम ब्रह्मचर्य है। आहा...हा...! यह ब्रह्मचर्य ! फिर कहा : ब्रह्मचर्य की व्याख्या तो मैं इस प्रकार कह रहा हूँ (वह) वैसा ही है, प्रभु ! युवान

लोगों को वह पसंद न आये तो (मुझे माफ करना)। आचार्य जैसे मुनि, वीतरागी संत ऐसा कहते हैं कि : यह मैंने ब्रह्मचर्य की व्याख्या करी - ब्रह्म अर्थात् आत्मा, उसमें चरण करना - आनंद में रहना, यह ब्रह्मचर्य है। ये तुम्हारे भोग-उपभोग तो महापाप-दुर्गति के कारण हैं। तो ऐसी व्याख्या सुनकर, हे बंधुजन ! हे युवालोग ! तुमको न पसंद आये तो मैं मुनि हूँ, मुझे माफ करना। आहा...हा...! गज़ब बात करते हैं न...! मेरे पास (अन्य) क्या हो सकता है बापू ! हम तो ब्रह्म अर्थात् आत्मानंद। उसमें रमण करना उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। तो तेरा शरीर से ब्रह्मचर्य का पालन करना, वह बात तो बहुत दूर रह गई, वह तो शुभ है। और शरीर से भोग करना, वह तो महापाप, (वह भी) दूर रह गया। फिर भी जिसे वह पसंद हो, विषय के प्रेम में फंस गया हो और मेरी बात तुम्हें कड़क माने ठीक न लगे, तो प्रभु ! (माफ करना)।

है न...! देखो : 'युवतिसंगतिवर्जनमष्टकं प्रति मुमुक्षुजनं भणिवं मया।। सुरतरागसमुद्रगता जनाः कुरुत मा क्रधमत्र मुनौमयि।।' ('पद्मनंदिपंचविंशतिका', ब्रह्मचर्याष्टक, अधिकार-२६, गाथा-९)। आहा...हा...! 'पद्मनंदि आचार्य' मुनि, महासंत (फरमाते हैं कि :) हे मुमुक्षु ! मोक्ष की प्राप्ति के अभिलाषी हैं उन मनुष्यों के लिये मैंने युवती के संग को, युवान युवती स्त्री-शरीर ऐसे संग को, निषेध करनेवाला 'ब्रह्मचर्याष्टक' का वर्णन किया है, परंतु जो मनुष्य भोगरूपी राग समुद्र में डूबे हुए हैं, वे इस अष्टक के अर्थ को समझ नहीं सकेंगे। तो वे मुझे मुनि समझकर क्षमा कर दे। आहा...हा...! मुनि हैं ! मुनि कैसे कहे जाते हैं ? कि : जिन्होंने वासन(रूपी) हाथी के कुंभस्थल का छेदन कर दिया है और आनंद की केलि शुरु कर दी है, अंदर में आनंद के साथ - प्रभु के साथ (केलि करते हैं, वे मुनि हैं)। वे मुनि ऐसा कहते हैं कि : मैंने ब्रह्मचर्य की व्याख्या तो की, (परंतु हे बंधुजन ! युवती-युवान स्त्री के संग में तुम्हें प्रेम होवे तो यह बात तुम्हें न पसंद आये (तो), मैं तो मुनि हूँ, क्षमा करना भाई ! आहा...हा...!

इस प्रकार यह दृष्टि का विषय (जो) जीवास्तिकाय भगवान त्रिकाल (है); उसमें अशुभराग तो नहीं है, शुभराग तो नहीं है और भेद भी नहीं है ऐसा सम्यग्दर्शन का विषय; और उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। अन्य कोई चीज़ (विधि) नहीं है। कुछ समझमें आया ? आहा...हा...! कठिन लगे, महँगा पड़े.... परंतु प्रभु ! मार्ग यह है ! अन्य कोई मार्ग नहीं है, भाई ! उसमें 'व्यभिचार का सेवन करना' यह

वाणी वीतराग की नहीं है !

यहाँ कहते हैं : कामरूपी हाथी के कुंभस्थल को भेदनेवाले (हैं) दो बोल हुए। संयम व ज्ञान की मूर्ति और चारित्र के लिये ऐसे (काम को भेदनेवाले) कहा। पहले संयम वह समुच्चय लिया। परंतु बाद में यह निश्चयचारित्र का - प्रतिक्रमण का अधिकार है न...! (तो कहते हैं :-)

`**कामरूपी हाथी के कुंभस्थल को भेदनेवाले और शिष्यरूपी कमल को विकसित करने में सूर्य समान** (**हैं**)' आहा...हा...! निमित्त से कथन है न...! `शिष्यरूपी कमल को विकसित करने में' जिस प्रकार सुबह कमल विकसित होता है तो सूर्य निमित् है; उस प्रकार शिष्य के ज्ञान के विकास में, (हे) भगवान ! आप सूर्य की भाँति निमित्त हो। निमित्त का अर्थ : वह निमित्त अन्य में कुछ करता नहीं है। परंतु निमित्त है (सही)।' - `**ऐसे हे विराजमान (शोभायमान) माधवसेन सूरि। आपको नमस्कार हो।**' मैं निश्चयचारित्र अधिकार का वर्णन कर रहा हूँ उससे पहले (हे) गुरु ! आपका स्मरण करके, आपको नमस्कार कर रहा हूँ। आहा...हा...! हे माधवसेनसूरि ! आप चारित्र की मूर्ति, आपको नमस्कार हो। आपको नमस्कार हो ! इस प्रकार प्रारंभ में मांगलिक - गुरु को वंदन करके `निश्चय प्रतिक्रमण' कहूँगा। मूल तो निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान ये सभी निश्चयचारित्र के प्रभेद हैं। यहाँ से निश्चयचारित्र का अधिकार प्रारंभ होता है :-

अथ सकलव्यावहारिकचारित्रतत्फलप्राप्तिप्रतिपक्षशुद्धनिश्चयनयात्मकपरम-चारित्रप्रतिपादनपरायणपरमार्थप्रतिक्रमणाधिकारः कथ्यते। तत्रादौ तावत् पंचरत्नस्वरूपमुच्यते। तद्यथा -

अब, सकल व्यावहारिक चारित्र से और उसके फल की प्राप्ति से प्रतिपक्ष ऐसा जो शुद्धनिश्चयनयात्मक परम चारित्र उसका प्रतिपादन करनेवाला परमार्थ-प्रतिक्रमण अधिकार कहा जाता है। वहाँ प्रारंभ में पंचरत्न का स्वरूप कहते हैं। वह इस प्रकार :

`अब, सकल व्यावहारिक चारित्र से और उसके फल की प्राप्ति से प्रतिपक्ष ऐसा जो शुद्धनिश्चयनयात्मक परम चारित्र (है)।' आहा...हा...! निश्चयचारित्र है वह व्यावहारिक चारित्र से प्रतिपक्ष है। (अर्थात्) सकल व्यावहारिक चारित्र से और उसके फल की (प्राप्ति से प्रतिपक्ष शुद्धनिश्चय (परम चारित्र) है।) क्योंकि व्यवहारचारित्र का फल तो स्वर्ग है। कुछ समझमें आया ? परंतु यहाँ (कलश-१०७ में उसे) परंपरा (कारण) लिया है। जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ है उसे व्यवहार परंपरा से कारण कहा गया है। यह `व्यवहारचारित्र अधिकार' श्लोक-१०७ में आ चुका है। देखो ! `आचार्यों ने शील को (-निश्चयचारित्र को) मुक्तिसुंदरी के अनंग (अशरीरी) सुख का मूल कहा है; व्यवहारात्मक चारित्र भी उसका परंपरा कारण है।' गाथा-५१ से ५५ में भी आया है न...! कि : `जो परमजिनयोगीश्वर पहले पापक्रिया से निवृत्तिरूप व्यवहारनय के चारित्र में होते हैं।'

यहाँ तो कहते हैं कि : व्यवहारचारित्र(रूप) जो शुभक्रिया (अर्थात्) पंचमहाव्रत, २८ मूलगुण के राग के अनेक प्रकार तथा उसके फल की प्राप्ति से वह निश्चयचारित्र (प्रतिपक्ष) है। (यदि) दोनों का एक ही स्वरूप होवे तो दो नय कहाँ से (सिद्ध) हो सके ? दो नय तो विरुद्ध (स्वभाववाले) हैं ! निश्चय व व्यवहार दोनों एकसमान आदरणीय हो तो दो कैसे होवे ? दोनों सत्य होवे तो दो कैसे रहे ? (एक ही रहे, किन्तु ऐसा नहीं है)। कुछ समझमें आया ?

इसलिये (`समयसार' कलश-४ में) पहले आया है न...! (जो जिनभगवान का वचन है वह) `उभयनयविरोधध्वंसिनि' है। व्यवहारनय है; नहीं है ऐसा नहीं। उसका विषय भी है। चौदह गुणस्थान, चौदह मार्गणास्थान है; `है' वह पर्यायनय से है। परंतु वह आदरणीय नहीं है, जानने लायक है। व्यवहारनय `विषयी' है तो उसका `विषय' भी है (अर्थात्) भेद-गुणस्थान आदि, मार्गणास्थान, क्षायिकभाव - पर्याय (आदि) , यह सारा व्यवहारनय का विषय है। क्षायिक, उपशम, क्षायोपशम आदि ये पर्याय के जितने भेद हैं वह सारा व्यवहारनय का विषय है; `है नहीं' ऐसा नहीं। किन्तु उसका आश्रय लेने से राग होता है। कुछ समझमें आया ?

आहा...हा...! त्रिकाली आनंदकंद का आश्रय लेने से वीतराग-पर्याय उत्पन्न होती है। इसलिये यहाँ व्यवहारचारित्र और व्यवहारचारित्र के फल से, निश्चय(चारित्र) व उसका फल प्रतिपक्ष है। (**श्रोता :-**) वीतरागभाव से राग प्रतिपक्ष है ? (**उत्तर :-**) (हाँ) राग प्रतिपक्ष है। (**श्रोता :-**) तो पाप प्रतिपक्ष नहीं हुआ ? (**उत्तर :-**) वह तो

दोनों ही प्रतिपक्ष हैं। परमार्थ से पुण्य-पाप एक ही बात (प्रकार के) हैं। पुण्य-पाप (दोनों) बंध का ही कारण हैं। 'प्रवचनसार' गाथा-७७ में कहा न...! बहुत कथन करते करते वहाँ (उपसंहार करते हुए) कहा कि : 'ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं। हिंडदि घोरमपारं संसारं मोह संछण्णो।।' - इस प्रकार दोनों ही बंध का कारण हैं, दोनों ज़हर हैं। पुण्य व पाप में फ़र्क नहीं है फिर भी दोनों में फ़र्क मानता है अर्थात् फ़र्क नहीं है ऐसा जो नहीं मानता है, वह 'हिंडदि घोरमपारं संसारं' घोर अपार संसार में परिभ्रमण करता है। आहा...हा...! 'यह पुण्य है, उसका फल स्वर्ग है, तो स्वर्ग में राग आता है और दुःखी है; और पाप-फल में भी दुःखी है; वहाँ जिसका फल दुःख है उसमें भेद करना कि यह पुण्य ठीक है, और यह पाप अठीक है - ऐसा आप कहाँसे ले आये ? वह 'परमात्मप्रकाश' (द्वितीय महाधिकार की) गाथा-५५) में भी है। '(जो जीव पुण्य व पाप दोनों को समान नहीं मानता वह जीव मोह से मोहित होता हुआ दीर्घकाल पर्यंत दुःख सहन करता हुआ संसार में भ्रमण करता है।' - शुभ कुछ विशेष नहीं है। पुण्य व पाप दोनों ही संसार है। और दोनों का फल संसार है। ऐसा न माने तो 'हिंडदि घोरमपारं संसारं' ऐसी बात है, प्रभु ! मार्ग तो ऐसा है ! आहा...हा...! लोगों को व्यवहार में पर की रुचि है, इसलिये यह सत्य बात बैठती नहीं है !

'परमार्थवचनिका' - 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में छपवाया है, उसमें कहा है कि : उसे (मूढ जीव को) ऐसा लगता है कि : आगम का व्यवहार सुगम है। अतः लोग यह व्रतपालन करना, भक्ति (आदि की क्रियाएँ) करनी, ऐसा व्यवहार करते हैं, परंतु उसे अध्यात्म के व्यवहार का पता नहीं है। ऐसा लिखा है। अध्यात्म का व्यवहार तो वीतरागी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। परंतु लोगों को आगम का व्यवहार सुलभ है इसलिये करते हैं। वहाँ आता है न...! 'अब मूढ व ज्ञानी जीव का विशेषपना - अन्यपना सुनो : ज्ञाता तो मोक्षमार्ग की साधना करता है, मूढ मोक्षमार्ग की साधना नहीं कर सकता।' क्यों ? यह सुनो : मूढजीव आगमपद्धति को व्यवहार कहता है, (अर्थात् दया, दान, व्रत, भक्ति और तपस्या के भाव को अर्थात् आगमपद्धति को व्यवहार कहता है) और अध्यात्मपद्धति को निश्चय कहता है; अतः वह आगम-अंग की एकांतरूप से साधना करके मोक्षमार्ग को बताता है, अध्यात्म-अंग को (व्यवहार से) भी जानता नहीं है। आहा...हा...! अध्यात्म-अंग को व्यवहार से भी जाने नहीं कि 'व्यवहार क्या चीज़ है' ?

यह `प्रवनसार' गाथा-९८ में आया है वहाँ दया, दान, व्रतादि व्यवहार, यह मनुष्यव्यवहार है और अनुभव-दृष्टि-स्थिरता (रूप) वीतरागीदशा, वह आत्मव्यवहार है।

यहाँ (`परमार्थवचनिका' में) यह कहा न...! `आगमपद्धति सरल (सुगम) है।' ऐसा-ऐसा तो अनंतबार किया है - शरीर से ब्रह्मचर्य का पालन करना, व्रत रखना, तपस्या करना, उणोदर, रसपरित्याग इत्यादि सब तो अभव्य भी अनंतबार करता है। वह अज्ञानी मूढ अध्यात्म-अंग को व्यवहार से भी जाने नहीं और आगम-अंग की एकांतरूप से साधना करके मोक्षमार्ग बतलाता है। आहा...हा...! `क्यों ? क्योंकि आगम-अंग बाह्यक्रियारूप प्रत्यक्ष प्रमाण है, (अर्थात् लोगों को यह दिखता है कि यह त्यागी हुआ, व्रतपालन कर रहा है, ब्रह्मचर्यपालन कर रहा है, गृहस्थाश्रम छोड़ा है,)' उसके स्वरूप की साधना करना उसको सुगम है। वह बाह्यक्रिया करता हुआ मूढजीव अपने को मोक्षमार्ग का अधिकार मानता है; (परंतु) अंतर्गर्भित अध्यात्मरूप क्रिया जो अंतर्दृष्टिग्राह्य है, वह क्रिया मूढजीव नहीं जानता।' अर्थात् : अंतर आत्मानंद प्रभु, ज्ञानस्वरूपी जो अध्यात्म का निश्चयद्रव्य है; उसमें जो एकाग्रता, आनंद की दशा, और शांति की दशा, यह जो अध्यात्म का व्यवहार है (उसे वह मूढ जानता नहीं है।) अध्यात्म का निश्चय तो द्रव्य है। आहा...हा...! `बनारसीदास' ने कितना सुंदर लिखा है। वस्तुस्थिति ही ऐसी है ! दिगंबर में तो मुनि व आचार्य तो अलौकिक हो गये परंतु गृहस्थ-पंडित (आत्मज्ञानी) हो गये वे भी अलौकिक ! और ये `बनारसीदासजी' तो पहले श्वेतांबर थे। परंतु जहाँ गुलांट खाकर दृष्टि-अनुभव हुआ तो `यह' लिखा ! आहा...हा...! (अज्ञानी को) आगम-क्रिया सरल लगती है और (अध्यात्मरूप) क्रिया को वह मूढजीव जानता नहीं है। क्योंकि अंतर्दृष्टि के अभाव के कारण (उसे) अंतर्क्रिया दृष्टिगोचर होती नहीं है। पूर्णानंद का नाथ, जीवास्तिकाय, शुद्धचैतन्य की दृष्टि और स्थिरता यह तो अंतर्दृष्टिग्राह्य है; उसका बाहर से खयाल नहीं आता। और वे (बाह्यक्रिया) तो बाहर खयाल में आती हैं कि - यह छोड़ा, कपड़े छोड़े, नग्न हो गया, परिवार छोड़ा, तपस्या कर रहा है, अपवास (उपवास) कर रहा है, रस का त्याग कर रहा है। और वह सरल भी लगे। परंतु वह तो बंध का कारण है। वह अध्यात्म का व्यवहार भी नहीं। वह आत्मव्यवहार भी नहीं। उसे तो मनुष्य-व्यवहार कहा है। (`प्रवचनसार' गाथा-९८ में आता है, वहाँ मनुष्यव्यवहार कहा है।) वहाँ लौकिक (व्यवहार) शब्द नहीं है। (वह सारी क्रिया) मनुष्यव्यवहार है; वह आत्मव्यवहार नहीं है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? अंतर्ग्राह्य जो वस्तु आत्मा, आनंदमूर्ति प्रभु; उसकी अंदर की गर्भितक्रिया जो

शुद्ध की, एकाग्रता का शुद्धभाव; वह तो अज्ञानी को खयाल में नहीं आता इसलिये उसकी महिमा गाने के बजाय बाहर की महिमा आती है। (इस प्रकार) बहुत सारा लिखा है। ये सारे व्याख्यान हो चुके हैं।

देखो ! यहाँ क्या कहते हैं : व्यवहारनय का चारित्र व उसका फल उसके प्रतिपक्ष अर्थात् विरुद्ध 'ऐसा जो शुद्धनिश्चयनयात्मक परम चारित्र' - वीतरागी रमणता - '**उसका प्रतिपादन करनेवाला परमार्थ-प्रतिक्रमण अधिकार कहा जा रहा है।**'

आहा...हा...! देखो तो कितना भरा है अंदर ! इससे पहले तो श्लोक-५ में कह गये हैं न ! 'गुण के धारण करनेवाले गणधरों द्वारा रचित और श्रुतधरों की परंपरा से अच्छी तरह व्यक्त किये गये इस परमागम के अर्थसमूह का कथन करनेवाले हम मंदबुद्धि कौन होते हैं ?' आहा...हा...! क्या कहते हैं ? कि : यह टीका मैंने करी ऐसा मत मानना। यह बात तो गुण के धारण करनेवाले गणधरों द्वारा रचित और श्रुतधरों - ग्यारह-बारह अंग के धारण करने वालों की परंपरा से चली आ रही है। इस टीका के भाव, सीधे गणधर व श्रुतधरों से चले आ रहे हैं। बापू ! यह भाव हमें अंतर से आया है और भाव का अर्थ गणधर व श्रुतधरों की परंपरा में गुरु से मिला है। तो यह (टीका) यहाँ रची गई है। परंतु इन परमागमों के अर्थसमूह का कथन करने के लिये हम मंदबुद्धि, साधरण प्राणी तो कौन मात्र ? आहा...हा...! मुनि 'पद्मप्रभमलधारिदेव' समर्थ मुनि हैं। (फिर भी) ऐसा कहते हैं कि 'हम मंदबुद्धि तो कौन मात्र ?' आहा...हा...! (अलौकिक सज्जनता और विनम्रता का स्वरूप) ऐसा है !! इसके बाद श्लोक-६ में ऐसा आया न...! 'तथापि हमारा मन अभी परमागम के सार की पुष्ट रुचि से पुनः पुनः अत्यंत प्रेरित होता है, (उस रुचि से प्रेरित होनेके कारण 'तात्पर्यवृत्ति' नाम की इस टीका की रचना हो रही है।') परमागम का सार 'नियमसार' है न...! उसकी टीका यथार्थ हो, ऐसे विकल्प आते रहते हैं। परमागम के सार की पुष्ट रुचि हमें अंदर में है। इसके कारण पुनः पुनः अंदर से प्रेरणा होती है : यह टीका बने... टीका बने... टीका बने... टीका बने ! आहा...हा...! इस रुचि से प्रेरित होकर इस 'तात्पर्यवृत्ति' नाम की टीका की रचना हो रही है। आहा...हा...! देखो ! एक तरफ यों कहते हैं कि : हमारे मुखमें से परमागम झर रहे हैं। जों कुछ (शब्द) निकल रहे हैं वे परमागम हैं। दो जगह आता है टीका में...हाँ !

यहाँपर वे कह रहे हैं : परमार्थ-प्रतिक्रमण अधिकार कहा जा रहा है। '**वहाँ**

शुरुआत में पंचरत्न का स्वरूप कहा जा रहा है।' देखो : (पृ - १३१) पाँच गाथा (७७ से ८१) में पंचरत्न ! जिस प्रकार ('प्रवचनसार' चरणानुयोगसूचक चूलिका की अंतिम गाथा-२७१ से २७५ - पाँच गाथा को पंचरत्न कहा है : गाथा-२७१ में 'संसारतत्त्व'। २७२ में 'मोक्षतत्त्व'। २७३ में 'साधनतत्त्व'। २७४ में 'साधनतत्त्व' को (अर्थात् शुद्धोपयोगी को) बखानते हैं। और २७५ में शास्त्र का फल (बताते हैं)। वहाँ 'अमृतचंद्र आचार्य' ने लिखा है कि : ये पाँच गाथाएँ पाँच रत्नों के समान हैं। यहाँ 'पद्मप्रभमलधारिदेव' कहते हैं कि : 'कुंदकुंदाचार्य' की ये पाँच गाथाएँ रत्न सरीखी हैं। पहली यह बात कि : निश्चय-निर्मल रत्नत्रय यह है तो पर्याय, उसे भी रत्न कहा। सम्यग्दर्शन माने शुद्धचैतन्य प्रभु की प्रतीति; उसका अनुभव व ज्ञान; और स्थिरता; - यह पर्याय है, उसे निश्चयरत्नत्रय कहा। उसका फल केवलज्ञान; उसकी तो क्या बात करनी ? जब इसे (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को) रत्नत्रय कहा तो इन तीनों का फल जो केवलज्ञान, यह तो महारत्न (है)। अब, इस पूर्ण फल(रूप) महारत्न जैसी अनंत पर्यायों को धारण करनेवाला एक गुण ज्ञान, एक गुण दर्शन, एक (गुण) चारित्र (और ऐसे अनंत गुणों को धारण करनेवाला) यह महारत्न भगवान(आत्मा) को तो क्या कहें ? ऐसा कहते हैं। आहा...हा...हा...! (जहाँ) वह निश्चय(रत्नत्रय) है, वहाँ व्यवहाररत्नत्रय की बात - वह तो आरोपित बात है। वह (बात) यथार्थ नहीं है। यहाँ तो यथार्थ-निश्चय (रत्नत्रय) - निर्विकल्प अनुभव, निर्विकल्प (राग बगैर का) आत्मा का ज्ञान, सम्यग्दर्शन, और आत्मा की स्वरूप-स्थिरता - उसे रत्न कहा, रत्नत्रय कहा। और उसका फल जो (केवलज्ञान) उसे महारत्न कहा; - उसके कारणरूप जो शक्ति अंदर - भगवानआत्मा में विद्यमान है, वह तो महारत्न हीरा है, वह तो रत्न का महान हीरला है ! जिसकी अपूर्ण पर्याय - मोक्षमार्ग की रत्नत्रय (पर्याय को) रत्न कहा। यहाँपर उस रत्न को बतानेवाली गाथा है। **वह इस प्रकार :-**

(...शेषांश पृ - १८७ पर)

श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्यदेवप्रणीत

श्री नियमसार

श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित संस्कृत टीका

(परमार्थ-प्रतिक्रमण अधिकार)

गाथा-७७-८१

अथ पंचरत्नावतारः।

णाहं णारयभावो तिरियत्थो मणुवदेवपज्जाओ ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ।। ७७ ।।
णाहं मग्गणठाणो णाहं गुणठाण जीवठाणो ण ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ।। ७८ ।।
णाहं बालो बुड्ढो ण चेव तरुणो ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ।। ७९ ।।
णाहं रागो दोसो ण चेव मोहो ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ।। ८० ।।
णाहं कोहो माणो ण चेव माया ण होमि लोहो हं ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ।। ८१ ।।

नाहं नारकभावस्तिर्यङ्मानुषदेवपर्यायः ।
कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम् ।। ७७ ।।
नाहं मार्गणास्थानानि नाहं गुणस्थानानि जीवस्थानानि न ।
कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम् ।। ७८ ।।
नाहं बालो वृद्धो न चैव तरुणो न कारणं तेषाम् ।
कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम् ।। ७९ ।।
नाहं रागो द्वेषो न चैव मोहो न कारणं तेषाम् ।
कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम् ।। ८० ।।
नाहं क्रोधो मानो न चैव माया न भवामि लोभोऽहम् ।
कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम् ।। ८१ ।।

अत्र शुद्धात्मनः सकलकर्तृत्वाभावं दर्शयति।

बह्यारंभपरिग्रहाभावादहं तावन्नारकपर्यायो न भवामि। संसारिणो जीवस्य बह्यारंभपरिग्रहत्वं व्यवहारतो भवति अत एव तस्य नारकायुष्कहेतुभूतनिखिलमोहरागद्वेषा विद्यन्ते, न च मम शुद्धनिश्चयबलेन शुद्धजीवास्तिकायस्य। तिर्यक्पर्यायप्रायोग्य-मायामिश्राशुभकर्माभावात्सदा तिर्यक्पपर्याय कर्तृत्वविहीनोऽहम्। मनुष्यनामकर्मप्रायोग्य-द्रव्यभावकर्माभावान्न मे मनुष्यपर्यायः शुद्धनिश्चयतो समस्तीति। निश्चयेन देवनामधेयाधारदेवपर्याययोग्यसुरससुगंधस्वाभावात्मक पुद्गलद्रव्यसम्बन्धाभावान्न मे देवपर्यायः इति।

चतुर्दशभेदभिन्नानि मार्गणास्थानानि तथाविधभेदविभिन्नानि जीवस्थानानि गुणस्थानानि वा शुद्धनिश्चयनयतः परमभावस्वभावस्य न विद्यन्ते।

मनुष्यतिर्यक्पर्यायकायवयःकृतविकारसमुपजनितबालयौवनस्थविरवृद्धावस्थाद्यनेक-स्थूलकृशविविधभेदा शुद्धनिश्चयनयाभिप्रायेण न मे सन्ति।

सत्तावबोधपरमचैतन्यसुखानुभूतिनिरतविशिष्टात्मतत्त्वग्राहकशुद्धद्रव्यार्थिकनयबलेन मे सकलमोहरागद्वेषा न विद्यन्ते।

सहजनिश्चयनयतः सदा निरावरणात्मकस्य शुद्धावबोधरूपस्य सहजचिच्छक्तिमयस्य सहजदृक्स्फूर्तिपरिपूर्णमूर्तेः स्वरूपाविचलस्थितिरूपसहजयथाख्यातचारित्रस्य न मे निखिलसंसृतिक्लेशहेतवः क्रोधमानमायालोभाः स्युः।

अथामीषां विविधविकल्पाकुलानां विभावपर्यायाणां निश्चयतो नाहं कर्ता, न कारयिता वा भवामि, न चानुमंता वा कर्तृणां पुद्गलकर्मणामिति।

नाहं नारकपर्यायं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये। नाहं तिर्यक्पर्यायं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये। नाहं मनुष्यपर्यायं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये। नाहं देवपर्यायं कुर्वे, सहजचिद्विला-सात्मकमात्मानमेव संचिंतये।

नाहं चतुर्दशमार्गणास्थानभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये।

नाहं मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये।

नाहमेकेन्द्रियादिजीवस्थानभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये।

नाहं शरीरगतबालाद्यवस्थानभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये।

नाहं रागादिभेदभावकर्मभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये।
नाहं भावकर्मात्मकषायचतुष्कं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये।
इति पचंरत्नांचितोपन्यासप्रपंचनसकलविभावपर्यायसंन्यासविधानमुक्तं भवतीति।

हिन्दी अनुवाद

अब पाँच रत्नों का अवतरण किया जाता है :-

नारक नहीं, तिर्यंच-मानव-देव पर्यय मैं नहीं।
कर्ता न, कारयिता नहीं, कर्तानुमंता मैं नहीं।।७७।।
मैं मार्गणा के स्थान नहिं, गुणस्थान-जीवस्थान नहिं।
कर्ता न, कारयिता नहीं, कर्तानुमंता मैं नहीं।।७८।।
बालक नहीं मैं, वृद्ध नहिं, नहिं युवक तिन कारण नहीं।
कर्ता न, कारयिता नहीं, कर्तानुमंता मैं नहीं।।७९।।
मैं राग नहिं, मैं द्वेष नहिं, नहिं मोह तिन कारण नहीं।
कर्ता न, कारयिता नहीं, कर्तानुमंता मैं नहीं।।८०।।
मैं क्रोध नहिं, मैं मान नहिं, माया नहीं, मैं लोभ नहिं।
कर्ता न, कारयिता नहीं, कर्तानुमंता मैं नहीं।।८१।।

अन्वयार्थ :- [अहं] मैं [नारकभावः] नारकपर्याय, [तिर्यङ्मानुषदेवपर्यायः] तिर्यंचपर्याय, मनुष्यपर्याय अथवा देवपर्याय, [न] नहीं हूँ; [कर्ता न हि कारियता] उनका (मैं) कर्ता नहीं हूँ, कारयिता (-करनेवाला) नहीं हूँ, [कर्तृणाम् अनुमंता न एव] कर्ताका अनुमोदक नहीं हूँ।

[अहं मार्गणास्थानानि न) मैं मार्गणास्थान नहीं हूँ, [अहं] मैं [गुणस्थानानि] गुणस्थान [वा] अथवा [जीवस्थानानि] जीवस्थान [न] नहीं हूँ; [कर्ता न हि कारयिता] उनका मैं कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ, [कर्तृणाम् अनुमंता न एव] कर्ताका अनुमोदक नहीं हूँ।

[न अहं बालः वृद्धः] मैं बाल नहीं हूँ, वृद्ध नहीं हूँ, [न च एव तरुणः] तथा तरुण नहीं हूँ; [तेषां कारणं न] उनका (मैं) कारण नहीं हूँ; [कर्ता न हि कारयिता] उनका मैं कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ, [कर्तृणाम् अनुमंता न एव]

कर्ताका अनुमोदक नहीं हूँ।

[न अहं रागः द्वेषः] मैं राग नहीं हूँ, द्वेष नहीं हूँ, [न च एव मोहः] तथा मोह नहीं हूँ; [तेषां कारणं न] उनका (मैं) कारण नहीं हूँ, [कर्ता न हि कारयिता] उनका मैं कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ, [कर्तृणाम् अनुमंता न एव] कर्ताका अनुमोदक नहीं हूँ।

[न अहं क्रोधः मानः] मैं क्रोध नहीं हूँ। मान नहीं हूँ, [न च एव अहं माया] तथा मैं माया नहीं हूँ, [लोभः न भवामि] लोभ नहीं हूँ; [कर्ता न हि कारयिता] उनका मैं कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ, [कर्तृणाम् अनुमंता न एव] कर्ताका अनुमोदक नहीं हूँ।

टीका :- यहाँ शुद्ध आत्माको सकल कर्तृत्व का अभाव दर्शाते हैं।

बहु आरंभ तथा परिग्रहका अभाव होनेके कारण मैं नारकपर्याय नहीं हूँ। संसारी जीवको बहु आरंभ-परिग्रह व्यवहारसे होता है और इसीलिये उसे नारक-आयुके हेतुभूत समस्त मोहरागद्वेष होते हैं, परंतु मुझे - शुद्धनिश्चयके बलसे शुद्धजीवास्तिकायको - वे नहीं हैं। तिर्यंचपर्यायके योग्य मायामिश्रित अशुभ कर्मका अभाव होनेके कारण मैं सदा तिर्यंचपर्यायके कर्तृत्वविहीन हूँ। मनुष्यनामकर्मके योग्य द्रव्यकर्म तथा भावकर्मका अभाव होनेके कारण मुझे मनुष्यपर्याय शुद्धनिश्चयसे नहीं है। 'देव' ऐसे नामका आधार जो देवपर्याय उसके योग्य सुरस-सुगन्धस्वभाववाले पुद्गलद्रव्यके संबंधका अभाव होनेके कारण निश्चयसे मुझे देवपर्याय नहीं है।

चौदह भेदवाले मार्गणास्थान तथा उतने (चौदह) भेदवाले जीवस्थान या गुणस्थान शुद्धनिश्चयनयसे परमभावस्वभाववालेको (-परमभाव जिसका स्वभाव है ऐसे मुझे) नहीं हैं।

मनुष्य और तिर्यंचपर्यायकी कायाके, वयकृत विकारसे (-परिवर्तनसे) उत्पन्न होनेवाले बाला-युवा-स्थविर-वृद्धावस्थादिरूप अनेक स्थूल-कृश विविध भेद शुद्धनिश्चयनयके अभिप्रायसे मेरे नहीं हैं।

सत्ता, अवबोध, परमचैतन्य और सुखकी अनुभूतिमें लीन ऐसे विशिष्ट आत्मतत्त्वको ग्रहण करनेवाले शुद्धद्रव्यार्थिकनयके बलसे मेरे सकल मोहरागद्वेष

नहीं हैं।

सहज निश्चयनयसे (१) सदा निरावरणस्वरूप, (२) शुद्धज्ञानरूप, (३) सहज चित्शक्तिमय, (४) सहज दर्शनके स्फुरणसे परिपूर्ण मूर्ति (-जिसकी मूर्ति अर्थात् स्वरूप सहज दर्शनके स्फुरणसे परिपूर्ण है ऐसे) और (५) स्वरूपमें अविचल स्थितिरूप सहज यथाख्यात चारित्रवाले ऐसे मुझे समस्त संसारक्लेशके हेतु क्रोध-मान-माया-लोभ नहीं हैं।

अब, इन (उपरोक्त) विविध विकल्पोंसे (भेदोंसे) भरी हुई विभावपर्यायोंका निश्चयसे मैं कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ और पुद्गलकर्मरूप कर्ताका (-विभावपर्यायोंके कर्ता जो पुद्गलकर्म उनका-) अनुमोदक नहीं हूँ (ऐसा वर्णन किया जाता है)।

मैं नारकपर्यायको नहीं करता, सहज चैतन्यके विलासस्वरूप आत्माको ही भाता हूँ। मैं तिर्यंचपर्यायको नहीं करता, सहज चैतन्यके विलासस्वरूप आत्माको ही भाता हूँ। मैं मनुष्यपर्यायको नहीं करता, सहज चैतन्यके विलासस्वरूप आत्माको ही भाता हूँ। मैं देवपर्यायको नहीं करता, सहज चैतन्यके विलासस्वरूप आत्माको ही भाता हूँ।

मैं चौदह मार्गणास्थानके भेदोंको नहीं करता, सहज चैतन्यके विलासस्वरूप आत्माको ही भाता हूँ। मैं मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानभेदोंको नहीं करता, सहज चैतन्यके विलासस्वरूप आत्माको ही भाता हूँ। मैं एकेन्द्रियादि जीवस्थानभेदोंको नहीं करता, सहज चैतन्यके विलासस्वरूप आत्माको ही भाता हूँ।

मैं शरीरसंबंधी बालादि अवस्थाभेदोंको नहीं करता, सहज चैतन्यके विलासस्वरूप आत्माको ही भाता हूँ।

मैं रागादिभेदरूप भावकर्मके भेदोंको नहीं करता, सहज चैतन्यके विलासस्वरूप आत्माको ही भाता हूँ।

मैं भावकर्मात्मक चार कषायोंको नहीं करता, सहज चैतन्यके विलासस्वरूप आत्माको ही भाता हूँ।

(यहाँ टीकामें जिसप्रकार कर्ताके संबंधमें वर्णन किया, उसीप्रकार कारयिता और अनुमंता - अनुमोदकके - संबंधमें भी समझ लेना।)

इसप्रकार पाँच रत्नोंके शोभित कथनविस्तार द्वारा सकल विभावपर्यायोंके संन्यासका (-त्यागका) विधान कहा है।

*

प्रवचन- १५, दि. १३-२-१९७८

(....शेषांश १८१)

अब पाँच रत्नों का अवतरण किया जाता है :-

(**टीका :-**) '**यहाँ शुद्ध आत्माको सकल कर्तृत्वका अभाव दर्शाते हैं।**'

आहा...हा...! रत्न है न...! '**यहाँ शुद्ध आत्माको**' अर्थात् ध्रुव आत्मा को माने जीवास्तिकाय त्रिकाली जो सम्यग्दर्शन का विषय (है उस) चीज़ को (अर्थात्) ऐसे शुद्ध जीवास्तिकाय को '**सकल कर्तृत्वका अभाव**' (अर्थात्) सर्व कर्ता(पने) का अभाव '**दर्शाते हैं।**' आहा...हा...! 'शुद्ध आत्माको' अर्थात् शुद्ध परम पवित्र भगवान ध्रुव, पूर्णानंद का नाथ, अनंतज्ञान का कंद प्रभु, ऐसा जो द्रव्यस्वभाव, उसे 'सकल कर्तृत्व का अभाव' है। वह किसी भी अशुभराग का कर्ता नहीं है, शुभ का कर्ता नहीं है व भेद का भी कर्ता नहीं है, (ऐसा 'दर्शाते' हैं)। अब उसकी व्याख्या कर रहे हैं :-

नारक से (कथन) प्रारंभ किया है न...! '**बहु आरंभ तथा परिग्रह का अभाव होनेके कारण मैं नारकपर्याय नहीं हूँ।**' - मेरे में, मेरी चीज़ में तो महाआरंभ और परिग्रह भी नहीं है। नारकगति का कारण तो महाआरंभ और महापरिग्रह है। तो कह रहे हैं कि मैं नारक नहीं हूँ; क्योंकि उस नारक का कारण महाआरंभ, महापाप-हिंसा, अनंती महातृष्णा और परिग्रह है वह मैं नहीं हूँ। वह महाआरंभ और महापरिग्रह मेरे में है ही नहीं। आहा...हा...! मुनि हैं। जिन्हें संयम, ज्ञान व आनंद के ढेर प्रगट हुए हैं। है तो मनुष्य। देवगति तो बाद में आयेगी। यहाँ पहले (बात) हल्की गति

- नारकी से शुरु करी है। वह हल्की गति है न...! (अतः) सर्व प्रथम (उसे) लिया। कहते हैं कि : नरक में जाने के कारणरूप जो महाआरंभ और महापरिग्रह (है) वह मेरी चीज़ में नहीं है। आहा...हा...! चीज़ में तो नहीं है किन्तु वह मेरी परिणति में भी नहीं है। आत्मा तो महाआरंभ व महापरिग्रह से रहित है (ही)। किन्तु मैं इस परिणति से भी रहित हूँ; ऐसा दर्शना है। परंतु यहाँ तो सिर्फ नारकी नहीं है, इतना बताना है; इसलिये नारकी (गति) का कारण महाआरंभ और और महाहिंसा (वह मेरे में और मेरी परिणति में नहीं है, ऐसा कहते हैं)।

आहा...हा...! देखो न...! इन मिलों (कारखानों) में महापाप होता हैं। होज में गर्म पानी पड़ता है न...! होज के पानी में बिल्ली मर जाय, कौवे मर जाय; गरम गरम पानी पड़े न...! बेचारे (जीव) अंदर उसमें पड़े ! इसमें... यों तो कहे जाय बनिये ! बड़े करोड़पति ! पैसा पैदा करे दस-दस-बीस लाख, पचास लाख, पचास करोड़ क्या खाक करोड़....! आहा...हा...! बड़ा, महाआरंभ ! वह महाआरंभ है, भाई ! (मिलमालिक) पैसे (दान में) खर्च करे; अतः लोग उसकी (पाप की) गिनती नहीं करते; इससे कोई वह चीज़ (पाप क्या) बह जायेगा ?! आहा...हा...! सेठ ! परंतु दान में पैसे खर्च करे, इसलिये वे (उद्योगपति) महापाप करे, (फिर भी) उनका (पापकृत्य) गौण हो जाता है और लोग (बखान करने लगते हैं कि) यह तो भारी काम किया - भारी (शुभ) काम किया ! आहा...हा...!

यहाँ तो कहा कि : `मैं नारकपर्याय नहीं हूँ।' वह शुद्ध द्रव्य में तो नहीं है, परंतु नारकपर्याय का जो कारण है वह भी मेरी पर्याय में नहीं है। कुछ समझमें आया ? कहना तो यह है कि : द्रव्य में तो नहीं है, परंतु `द्रव्य में नहीं है' ऐसी परिणति हुई, तब `द्रव्य में नहीं है' ऐसा अनुभव हुआ। आहा...हा...! क्या कह रहे हैं, भाई ?! प्रभु का मार्ग तो ऐसा है !!

आहा...हा...! उन अन्यमतो में नहीं कहते...! `हरिका रे मारग है शूरवीर का, वह कायरका नहीं कामजी।' इसप्रकार (यहाँ) `प्रभु का रे मारग है वीरोंका, वह कायरका नहीं कामजी।' आहा...हा...! उन कायरकों का काम नहीं है वहाँ। आहा...हा...हा...! वीर=`वी' अर्थात् विशेषरूपसे `र' अर्थात् प्रेरणा अर्थात् जिसकी स्वरूप ओर वीर्य की विशेष प्रेरणा है, ऐसे वीर का (यह) मार्ग बहुत दुर्लभ है, भाई ! कुछ समझमें आया ? ऐसा अर्थ `नियमसार' की पहली गाथा की टीका में आता है। वहाँ `वीर' का अर्थ आया है : `अनेक जन्मरूप अटवी को (घने जंगल को) प्राप्त करवानेके हेतुभूत

समस्त मोहरागद्वेषादि को जो जीत लेता है वे 'जिन' हैं। वे 'वीर' हैं। 'वीर' माने विक्रांत (- पराक्रमी); आहा...हा...! वीरता प्रगट करे, शौर्य प्रगट करे, बहुत शब्दों में वीर की व्याख्या करी है); वीरता स्फुरित हो, शौर्य स्फुरित हो, विक्रम (पराक्रम) स्फुरित हो, कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त करे, वे 'वीर' हैं। प्रथम गाथा की शुरूआत की है : 'णमिऊण जिणं वीरं' उसका अर्थ 'यह' किया है।

आहा...हा...! 'श्रीमद्' में (वर्ष १७ से पहले) आता है न...! 'वचनामृत वीतराग के परम शांतरसमूल, औषध जो भवरोगके, कायरको प्रतिकूल।' रे गुणवंता रे ज्ञानी अमृत बरसाये जी प्रभु पंचमकाल में... रे प्रभु पंचमकालमें... रे गुणवंता रे ज्ञानी अमृत बरसाये जी प्रभु पंचमकाल में। आहा...हा...! अंदर अमृत का सागर भगवान उछल पड़ा ! आहा...हा...! दृष्टि जहाँ अंदर रखी और जहाँ पर्याय में वीरता प्रगट हुई; कहते हैं कि वह कायर को - नपुंसकों को प्रतिकूल है।

'वीर्यशक्ति' की व्याख्या 'समयसार' ४७ शक्ति में ऐसी करी है कि : ('स्वरूप की (-आत्मस्वरूप की) रचना के सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति।') (अर्थात्) स्वरूप की रचना करे वह वीर्य। राग की रचना करे वह वीर्य नहीं। आहा...हा...! 'स्वरूप की रचना करे वह वीर्य।' अपनी परिणति में शुद्ध आनंद व ज्ञान की रचना करे वह वीर्य। राग की रचना करे वह नपुंसक है। (यह बात) दो जगह आ चुकी है (- 'समयसार' जीव-अजीव अधिकार गाथा-३९ की टीका में एवं पुण्य-पाप अधिकार गाथा-१५४ की टीका में है -) 'क्लीब' - 'नपुंसक' आहा...हा...! शुभ-अशुभ की रचना करे वह तो नपुंसक है, 'क्लीब' है !

आहा...हा...! यह तो ऐसा मार्ग है, बापू ! प्रभु कहते हैं कि हम (तो) वीर का वीर्य उसे कहें कि : जो अनंतगुण की निर्मल - शुद्ध परिणति की रचना करे। राग की रचना करे वह वीर्य नहीं, स्व का वीर्य नहीं। कुछ समझमें आया ? जिस प्रकार नपुंसक को वीर्य होता नहीं है तो (उसके) पुत्र-पुत्री नहीं होते; उस प्रकार शुभराग है वह नपुंसकपना है उसमें धर्म की प्रजा उत्पन्न नहीं होती। आहा...हा...! ऐसी बात है यह !

अब, यहाँ कहते हैं : '**संसारी जीवों को बहुत आरंभ-परिग्रह व्यवहार से होता है।**' - व्यवहार से होता है न...! (अर्थात्) पर्याय में होता है न...! आहा...हा...! संसारी जीवों को बहुत आरंभ-परिग्रह-महाहिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह, ममता - व्यवहार से होते हैं। '**और इसीलिये उसे नारक-आयु के हेतुभूत समस्त मोहरागद्वेष होते हैं, परंतु मुझे -**

शुद्धनिश्चय के बल से शुद्ध जीवास्तिकाय को - वे नहीं हैं।' आहा...हा...! (रागद्वेषमोह) द्रव्य में तो नहीं है परंतु यहाँ शुद्धनिश्चय के बल से मुझे पर्याय में भी नहीं है, ऐसा कह रहे हैं। शुद्धनिश्चय के बल से, शुद्धजीवास्तिकाय की (ओर) जहाँ दृष्टि व स्थिरता हुई, तो मेरे जीवास्तिकाय में भी महाआरंभ और परिग्रह नहीं है। अतः मेरी परिणति में भी महाआरंभ और परिग्रह नहीं है। कुछ समझमें आया ? ऐसा मार्ग है ! 'द्रव्य में नहीं है' यह निर्णय किस परिणति ने किया ? '(शुद्ध) जीवास्तिकाय को' - यहाँ असंख्यप्रदेशी लेना है न...! यह बात भी सर्वज्ञ के अलावा (अन्यत्र) कहीं नहीं है। अतः मात्र जीव नहीं लेकर, 'जीवास्तिकाय' लिया है। आहा...हा...! 'शुद्धनिश्चयनय के बल से शुद्धजीवास्तिकाय को वे (समस्त मोहरागद्वेष) नहीं हैं।' 'वे नहीं हैं' यह कौन-सी परिणति जानती है ? - वह महाआरंभ-परिग्रह से रहित जो परिणति है वह ऐसा जानती है कि : इस वस्तु में महाआरंभ-परिग्रह के परिणाम हैं ही नहीं। ये जो परिणाम हैं वे वर्तमान में हैं, वे भी जीवास्तिकाय में तो है ही नहीं। अभी तो इन परिणामों को सिद्ध करना है। आहा...हा...! शुद्धजीवास्तिकाय, वह तो ध्रुव त्रिकाल है। उसमें, कहते हैं कि : महाआरंभ और परिग्रह नहीं है। तो 'उसमें नहीं है' यह कौन-सी परिणति कहती है ? - वह जो महाआरंभ - परिग्रहरहित परिणति है, वह ऐसा कहती है कि 'इसमें नहीं है।' मेरे अंदर परिणति है वह महाआरंभ-परिग्रहरहित है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? भाई ! भगवान के शास्त्रों की इतनी गंभीर रचना ! बहुत गंभीर, बापू !

मेरे जीवास्तिकाय में (तो) नहीं हैं; मैं मुनि हूँ, इतना ही (संज्वलन का रागांश) है; परंतु मेरी परिणति में (मैं) महाआरंभ व परिग्रह से रहित हूँ। मैंने जीवास्तिकाय का जो आश्रय लिया है वह उग्र आश्रय लिया है। जो आश्रय सम्यग्दर्शन में है उससे चारित्र में आश्रय उग्र है। ऐसा यहाँ बताते हैं। महाआरंभ व परिग्रह जीव में तो नहीं है... परंतु मेरी परिणति में भी महाआरंभ व परिग्रह नहीं है। उस परिणति द्वारा मैं कह रहा हूँ कि : मेरे जीवास्तिकाय में वे नहीं हैं। आहा...हा...! वह अपने यहाँ पहले श्लोक-७५ में आ गया न...! 'जयवंत है' यह बात द्रव्य की है। (परंतु जिसे उसका) भान हुआ वह कहता है - यह प्रभु जयवंत वर्तता है। यह कौन कहे ? - जानता है ? कि : निर्मल परिणति हुई वह कहती है कि - यह वस्तु जयवंत वर्तती है। हमें इस वस्तु का ज्ञान और वस्तु का भान हो गया है। वह (भान व ज्ञानयुक्त) परिणति कहती है कि : यह वस्तु जयवंत वर्तती है। आहा...हा...! शैली तो देखो,

बापू ! कठिन काम, भाई ! वहाँ चार बोल आये थे न...! 'ज्ञान जयवंत है।' 'दृष्टि त्रिकाली-त्रिकाली दर्शन जयवंत है।' सम्यग्दर्शन तो पर्याय है। परंतु अंदर जो श्रद्धा-दृष्टि है वह त्रिकाली है; उसकी प्रतीति पर्याय में आई तो उस के कारण ऐसा कहते हैं कि 'यह दृष्टि सदा जयवंत है।' (और 'चारित्र जयवंत है, चेतना जयवंत है)।' कल आया था न...! (**श्रोता :-**) कहाँसे निकल रहा है यह सब ? (**उत्तर :**) सीमंधर भगवान बुलवा रहे हैं, यह सब प्रभु ! क्या कहें ? आहा...हा...!

आहा...हा...! 'संसारी जीवों को' - भाषा तो देखो ! कहते हैं कि : 'हम संसारी नहीं हैं !' आहा...हा...! संसारी जीवों को 'बहुत आरंभ-परिग्रह (व्यवहार से) होता है। और इसीलिये उनको (उसके फलस्वरूप) नारक-आयु (बँधती है)। (परंतु) हम संसारी नहीं हैं। हम तो शुद्धजीवास्तिकाय की रमणता करनेवाले हैं।

वहाँ ('प्रवचनसार' में) पाँच रत्नों में (गाथा : २७१ से २७५ में) कहा न...! पहले बोल में 'संसारतत्त्व' कहा न... कि : भले ही जैन का साधु हुआ हो फिर भी यदि राग की एकता में (अर्थात्) राग से लाभ माननेवाला है तो वह संसारतत्त्व है, दूसरे बोल में मोक्षमार्ग को साधता है उसे 'मोक्षतत्त्व' कहा। (अर्थात्) जिसे भगवानआत्मा का आश्रय लेकर अनुभव हुआ स्थिरता हुई वह तत्त्व जो है वह मोक्ष का कारण है। (अतः) हम उस तत्त्व को मोक्षतत्त्व कहते हैं।

विशेष आयेगा।

***

अज्ञानीको वास्तविक उदासीनता होती ही नहीं । परद्रव्यके गुण-दोष दिखे ही नहीं तभी सच्ची उदासीनता होती है। परद्रव्यके गुण-दोष तो पूर्णतः जाने, परन्तु परद्रव्य मुझे हितकर है अथवा अहितकर है - ऐसा न माने, उसीका नाम परद्रव्यके गुण-दोष न दिखना है। शुभाशुभ-भाव हानिकारक है तथा त्रिकाली-स्वभाव लाभदायक है। इसके अतिरिक्त जगतका अन्य कोई पदार्थ आत्माको लाभ या हानिका कारण नहीं है - ऐसा समझना ही सच्ची उदासीनता है । (परमागमसार - ८९१)

प्रवचन- १६, दि. १४-२-१९७८

`नियमसार' परमार्थ-प्रतिक्रमण (अधिकार)। पहला बोल चल गया है। दूसरा बोल। परमार्थ-प्रतिक्रमण में पहले दृष्टि तो हुई है : मेरे जीवास्तिकाय में ये सब चीज़ें नहीं हैं। यहाँ तो अब अस्थिरता का अभाव करके स्थिरता हुई, उसमें भी वह भाव नहीं है, ऐसा कह रहे हैं। - क्या कहा ? पहले सम्यग्दर्शन में ही, शुद्धजीवास्तिकाय में कोई रागादि या भेदादि हैं ही नहीं, वह दृष्टि का विषय तो (श्रद्धान में) आ गया। वह तो मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण हुआ। अब यहाँ इससे आगे और बात है। मुनि हैं। परमार्थ-प्रतिक्रमण की व्याख्या है। अतः पहले यह लिया कि : मेरी चीज़ जो शुद्धजीवास्तिकाय है उसमें तो कोई भेद-रागादि हैं ही नहीं। यह तो पहली बात। अब यहाँ तो विशेष विशेष स्थिरता करते है, `मैं जीवास्तिकाय, चैतन्यमूर्ति, अभेद हूँ; `उसमें - मेरी चीज़ में वह भेदादि नहीं हैं।' ऐसा (ध्यान करना, वह) परमार्थ-प्रतिक्रमण है। (मुनि को) अभेद परिणमन विशेष हुआ है। आहा...हा...!

नारकी की तो एक बात हो गई, कल कहा था न...! अकेला `जीवास्तिकाय' (ऐसा) नहीं; परंतु साथ में परिणमन है। तो वह परिणमन कहाँ से आया वह फिर कह रहे हैं : मैं उन परिणाम (- बहुत आरंभ-परिग्रह) का कर्ता नहीं हूँ। अर्थात् बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह के परिणाम, वे मेरे कर्तृत्व में हैं ही नहीं इसलिये मैं नारकपर्याय नहीं हूँ। अब यहाँ दूसरी बात :-

`तिर्यंचपर्याय के योग्य मायामिश्रित अशुभ कर्म का अभाव होनेके कारण मैं सदा तिर्यंचपर्याय के कर्तृत्वविहीन हूँ।'

आहा...हा...! तिर्यंचपर्याय जो होती है (उसका कारण) अंदर में मिथ्यात्व सहित आडापन (वक्रता) - माया बहुत होती है (वह है)। अतः उसका शरीर (भी) आडा हो जाता है। कुछ समझमें आया ? मनुष्य (शरीर) इस प्रकार यों खड़ा होता है। जबकि तिर्यंच - मेंढक, गाय, भैंस, घोडे - के (शरीर) यों तिच्छे - आडे हैं। क्योंकि

पूर्व में (भावों द्वारा) वक्रता-आडापन बहुत किया था, ऐसा 'गोम्मटसार' में है। तिर्यंच है न...! (तिर्यक = टेढा - आडा-तिच्छा।) (भावों से) ऐसा टेढापना - कपट-माया बहुत करी तो उसके फल में परिणमन तो आडा है किन्तु (द्रव्य से) शरीर भी आडा हो गया।

यहाँ कहते हैं कि : वे (आडेपने के) परिणाम मेरे में हैं ही नहीं। (**श्रोता** :) जीव के परिणाम के कारण शरीर आडा होता है ? (**उत्तर** :-) निमित्त से कथन है न...! जैसा भाव हो वैसा ही कर्म बंधता है, और वैसा ही शरीर मिलता है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है न ? यह निमित्त-नैमित्तिक संबंध की व्याख्या है। परमार्थ से मात्र इस (जीव) पर्याय से यह (कर्म) पर्याय है, ऐसा तो नहीं है। परंतु मायामिश्रित परिणाम किये हो तो उसमें कर्मबंधन भी ऐसा हुआ हो और उसके फल में शरीर भी वैसा होता है; ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध बता रहे हैं।

यह 'संवर अधिकार' ('समयसार' गाथा-१९० से १९२ की) अंतिम तीन पंक्तियाँ हैं। वहाँ निमित्त-नैमित्तिक संबंध की अपेक्षा समझाई गई है न...! 'आस्रवभाव के बिना कर्म का भी निरोध होता है, पुनःश्च कर्म के अभाव से नोकर्म का भी निरोध होता है, और नोकर्म के निरोध से संसार का निरोध होता है।'

यहाँ कहते हैं : मुनिराज हैं न...! उन्हें तो परमार्थ प्रतिक्रमणस्वरूप परिणमन हो चुका है। तो कहते हैं : 'तिर्यंचपर्याय के योग्य मायामिश्रित अशुभ कर्म का अभाव होनेके कारण मैं सदा तिर्यंचपर्याय के कर्तृत्वविहीन हूँ।' वस्तु तो सदा तिर्यंचपर्याय व उसके कारण से रहित ही है। परंतु तदुपरांत उस परिणाम के कर्तृत्वविहीन हूँ। (अर्थात्) मेरे अंदर उस परिणाम का परिणमन ही नहीं है। आहा...हा...! क्या कहा समझमें आया ? शुद्धजीवास्तिकाय तो अभेद चीज़ है। जब वह अभेद (स्वरूप) दृष्टि में आया तब उसमें विकारी पर्यायादि तो हैं ही नहीं। यहाँ तो अब विशेष कहते हैं कि : तिर्यंचगति के योग्य वह जो रागादि का परिणमन है वह भी मेरे में नहीं है। कुछ समझमें आया ? परमार्थ-प्रतिक्रमण है न...! 'प्रतिक्रमण' = पीछे (वापिस) लौटना - हटना। तो मिथ्यात्व से तो हट चुके हैं। (मुनि हैं न...!) उस शुद्धजीवास्तिकाय - अभेद चीज़ में तो कोई भेद, अशुभराग या शुभराग है ही नहीं। वह अभेद (चीज़) तो दृष्टि में आ गई। परंतु अभी जो अस्थिरता का परिणमन है उसके प्रतिक्रमण की बात चल रही है। कुछ समझमें आया ?

'प्रवचनसार' ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन की आखरी गाथा पहले के कलश-१२ में आया

है न...! `द्रव्यानुसारी चरणं चरणानुसारी द्रव्यं।' उसकी व्याख्या भी सूक्ष्म है। कह रहे हैं कि : द्रव्य-वस्तु तो है ही। उसका आश्रय लेकर जितनी शुद्धपरिणति उत्पन्न हुई तो उसके अनुपात में कषाय की मंदता होती है, वह चरण माने `द्रव्यानुसारी चरणं' (है)। इस प्रकार `चरणानुसारी द्रव्यं' - जितनी कषाय की मंदता है उसके अनुपात में स्वयं शुद्ध(रूप) परिणमित हुआ है। तीन कषाय की (चौकडी) के अभाव की शुद्धपरिणति हुई है। `द्रव्यानुसारी चरणं।' उस शुद्धपरिणति के अनुपात में कषाय की जो मंदता होती है वहाँ वस्त्र लेनेका, और उद्देशिक आहार आदि लेनेके परिणाम नहीं होते इसलिये वहाँ `द्रव्यानुसारी चरणं', ऐसा लिया (है)। `द्रव्यानुसारी चरणं' इसका अर्थ : `चरणं' अर्थात् राग की मंदता, ऐसा अर्थ यहाँ लेना है; वह द्रव्यानुसारी होता है। उसका अर्थ : जो द्रव्य है उसका अनुसरण करके जो निर्मलपरिणमन हुआ है वह, जिस-तिस भूमिका के अनुसार जितना निर्मल है, उतने अनुपात में राग की मंदता (जैसे कि मुनि को तीन कषाय (चौकडी) के अभाव की परिणति है तो वहाँ राग की मंदता), उसकी योग्यतानुसार होती है। वहाँ वस्त्र लेनेका और उद्देशिक (- उनके लिये तैयार किया गया) आहार लेनेका चरण होता नहीं है। ऐसा चरण वहाँ द्रव्यानुसारी चरण में नहीं होता। अब `चरणानुसारी द्रव्यं' यह दूसरा पद। उसका अर्थ : जितनी मात्रा में कषाय की मंदता है, उसका ज्ञान करना या तीव्रकषाय हो तो वहाँ शुद्धपरिणमन अल्प है। यहाँ बहुत मंदकषाय है तो यहाँ शुद्धपरिणमन विशेष है... इतना। यह तो ज्ञान कराने के लिये बात की है। अतः वहाँ उस परिणमन को द्रव्यानुसारी लेना। वहाँ द्रव्य माने `द्रव्य-अनुसारी' ऐसा नहीं। द्रव्यानुसारी परिणमन जो है वहाँ जितनी मात्रा में द्रव्य का आश्रय लेकर निर्मलपरिणति की धारा आती है उतनी मात्रा में, भूमिकानुसार, राग की मंदता होती है। जहाँ तीन कषाय (चौकडी) के अभाव की परिणति हो वहाँ वस्त्र व पात्र आदि लेनेका राग हो तो वह द्रव्यानुसारी चरण ही नहीं है। और `चरणानुसारी द्रव्यं' कि वहाँ राग की मंदता इतनी है कि वहाँ वस्त्र या पात्र या (उद्देशिक) आहार लेने का विकल्प ही नहीं है। (तो ऐसी भूमिका में जो राग की मंदता का विकल्प है, उसके अनुसार खयाल करना कि : यह राग इतना मंद है तो यहाँ शुद्धपरिणति विशेष है। चरण माने राग की मंदता के अनुपात में यहाँ परिणति शुद्ध होती है, उससे (राग की मंदता के कारण परिणति शुद्ध) होती है, यह सवाल नहीं है। शुद्धपरिणति जितनी उग्र उतने अनुपात में राग की मंदता, यह चरण वहाँ मुनि को होता है। पाँचवें गुणस्थान में दो कषाय (चौकडी) के अभाव

की परिणति है तो वहाँ परिणमन में राग की उतनी तीव्रता है और छठे गुणस्थान में तीन (चौकडी) कषाय के अभाव की द्रव्यानुसारी, परिणति है अतः वहाँ उसके अनुपात में राग की मंदता होती है। (परंतु) उस भूमिका में वस्त्र लेनेका, पात्र लेनेका, उनके लिये तैयार किया हुआ आहार लेनेका विकल्प ही नहीं होता है। ऐसा चरण द्रव्यानुसारी चरण कहा जाता है। आहा...हा...! यहाँ हमें तो और कुछ कहना था कि : यहाँ तो कहते हैं कि : 'राग का वह परिणमन भी मेरे में नहीं है, और आगे चलकर कहेंगे कि : मैं उसका कर्ता भी नहीं हूँ !'

यहाँ ('प्रवचनसार' में) तो पहले ज्ञान अधिकार चला और फिर ज्ञेय अधिकार चला। और उस अधिकार को पूरा करके चरणानुयोगसूचक चूलिका लेनी है न...! व्यवहारचरणानुयोग को बंध बताया कि : द्रव्य के आश्रय से (जिसकी जितनी मात्रा में शुद्धपरिणति की भूमिका है उतनी मात्रा में राग का चरण, अर्थात् राग की मंदता के परिणाम का अभाव हो जाता है। और जितनी चरणानुयोग के अनुसार राग की मंदता है उसका लक्ष करना कि बहुत मंद विकल्प है तो यहाँ उतनी मात्रा में शुद्ध की परिणति विशेष है, परंतु वहाँ जितनी राग की मंदता, चरणानुयोग अनुसार, है उतना वहाँ बंध है। इस प्रकार दो भूमिका की योग्यता बताते हैं, आहा...हा...! गहन विषय, भगवान ! यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर का विषय है।

'नियमसार' में ऐसा श्लोक है वहाँ मुनिराज स्वयं 'पद्मप्रभमलधारिदेव' ऐसा कहते हैं : अरे ! हमारा विषय तो भगवान पूर्णानंद है! अभेद अनुभव हमारा विषय है। तो उस विषय के अनुसार यदि हम न कहें तो (हम) मुनि किस तरह के ? देखो : कलश-२०० 'कोई ऐसी (-अवर्णनीय, परम) समाधि द्वारा उत्तम आत्माओं के हृदय में स्फुरायमान हो रही, (परिणति हाँ !) समता की अनुयायिनी सहज आत्मसंपदा का जब तक हम अनुभव नहीं करते हैं, तब तक हमारे जैसों का जो विषय है उसका हम अनुभव नहीं कर रहें।' और सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार 'समयसार' कलश-२०० में (तो) सर्व संबंध नास्ति, सारे संबंध नहीं है ऐसा लिया है। जबकि यहाँ 'नियमसार' में आहा...हा...! सहज आत्मसंपदा मुनियों का विषय है, (ऐसा कहा), आहा...हा...! प्रभु ! मुनि माने धन्य अवतार ! आहा...हा...हा...! जिनकी चारित्रदशा !! आहा...हा...हा...! (कहते हैं कि :) हमारी संपदा पूर्णानंद तो है ही। परंतु उसको विषय बनाकर हम अपनी संपदा को (पूर्ण) प्रगट न करें तो हमने अपने विषय को (विषय) किया ही नहीं है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? पाठ में है...! 'न मादृशां या विषया विदामहि' -

`हमारे जैसों का जो विषय है उसका हम अनुभव नहीं करते हैं।' आहा...हा...! मुनियों का विषय तो अभेद चीज़ ! और अभेद परिणमन ! विकल्प... विकल्प - उसका तो ज्ञान करते हैं। आहा...हा...! सरस (भाव) निकला। भीतर में था !

यहाँ तो यह लेना हैं कि : उनको (मुनिराज को) महाआरंभ व महापरिग्रह का परिणमन ही नहीं है। वैसे वस्तु में तो उस महाआरंभ और परिग्रह का परिणमन ही नहीं है। (अर्थात्) सम्यग्दृष्टि का जो विषय है उसमें तो महाआरंभ व महापरिग्रह है ही नहीं। परंतु `है नहीं' यह यथार्थरूप से कब होता है ? कि (जिसे पर्याय में भी) महाआरंभ और महापरिग्रह का परिणमन ही न हो उसे। इसलिये शब्दप्रयोग किया है : `कर्तृत्वम्।' देखो :

`तिर्यंचपर्याय के योग्य मायामिश्रित अशुभ कर्म का अभाव होनेके कारण मैं सदा तिर्यंचपर्याय के कर्तृत्वविहीन हूँ।' देखो ! नारक में भी ऐसा लेना है। परंतु यहाँ शब्द `कर्तृत्व' (रखकर) खुलासा किया। मैं उस `कर्तृत्व' अर्थात् परिणमन से रहित हूँ। आहा...हा...हा...!

बापू ! यह तो मार्ग अंदर में निराला (है) भाई ! लोगों को अभी `दर्शनशुद्धि' की खबर नहीं है कि `दर्शनशुद्धि' कैसे होवे, और फिर परिणति निर्मल कैसे होवे ?

यहाँ परमार्थ-प्रतिक्रमण उसे कहते हैं : व्यवहारप्रतिक्रमण का विकल्प उठता है परंतु वह तो बंध का कारण है, परंतु यह जो मिथ्यात्व से प्रतिक्रमण किया और स्वभाव का आश्रय लिया (वहाँ) जो ऐसे अव्रत के परिणाम (जो पूर्व में थे, उन्हें) छोड़कर, स्वभाव के आश्रय से जो परिणति (विशेष) शुद्ध की (अर्थात्) रागादि परिणाम से हटकर अपनी वीतरागीपरिणति प्रगट करी उसका नाम परमार्थ-प्रतिक्रमण कहा जाता है।

वैसे तो (वहाँ) कहा था कि : `द्रव्यानुसारी चरणं' होता है। उसके अनुपात के अनुसार राग की मंदता उनको (मुनि को) होती है; परंतु यहाँ तो कहते हैं : वे परिणाम मेरे में हैं ही नहीं।' परमार्थ-प्रतिक्रमण लेना है न...! वह (महाआरंभ और परिग्रहरूप) परिणमन लायक दशा अब मेरे में है ही नहीं। यह तो मुनिराज का प्रतिक्रमण है न...! आहा...हा...! यह हमारा नाथ, आनंद का दल (घन) भगवान जो दृष्टि में आया था, उसमें मैं (अब) ऐसे (उग्र) परिणमन में लीन हुआ हूँ कि वैसा परिणमन ही मेरे में नहीं है; अर्थात् जिन परिणाम से नारक व तिर्यंच (योग्य अशुभ परिणाम उत्पन्न हो, वैसे) परिणाम ही मेरे में नहीं हैं। आहा...हा...! भाषा-शब्द क्या

है ! 'मैं सदा तिर्यंचपर्याय के कर्तृत्वविहीन हूँ।' आहा...हा...! उस परिणाम का कर्तृत्व, (कर्तृ=मैंने किया; कर्तापना), उससे विहीन हूँ। और आगे तो कहेंगे मूल पाठ में कि : मैं कर्ता भी नहीं हूँ, मैं करानेवाला भी नहीं हूँ और (जो) कर रहा है उसका अनुमोदन करनेवाला भी नहीं हूँ। पाठ में तो तीन बोल हैं। और विशिष्ट बोल तो पाठ में ऐसा है कि : मैं उसका कारण भी नहीं हूँ। गाथा-७९ : '**णाहं बालो वुड्ढो ण चेव तरुणो ण कारणं तेसिं। कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं।**' '**ण कारणं तेसिं**' -'उनका (मैं) कारण नहीं हूँ।' यह सब में ले लेना (है)। '**कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं**' - 'उनका (मैं) कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ, कर्ता का अनुमोदक नहीं हूँ।' फिर उसमें (गाथा-८० में) भी लिया है : '**णाहं रागो दोषो ण चेव मोहो ण कारणं तेसिं।**' आहा...हा...! '**ण कारणं तेसिं**' - राग का कारण मैं नहीं हूँ। आहा...हा...! 'मैं तो शुद्ध आनंद का कारण हूँ।'

आहा...हा...! वीतराग-मार्ग बहुत सूक्ष्म-गूढ, भाई ! आहा...हा...! बाहर से (बाह्य क्रियाकांड में धर्म) मानते हैं। लोगों को अंदर (के मार्ग का) पता मिलता नहीं है। प्रभु ! वह तो (अनंत) जन्म-मरण मिटने के पंथ का मार्ग तो यह है, प्रभु ! भले तुझे दुःख लगे, कठिन लगे कि यह तो 'एकांत निश्चय' हो रहा है। (परंतु भाई !) नय का विषय एकांत ही है। प्रमाण का विषय द्रव्य एवं पर्याय दोनों होता है। परंतु निश्चयनय का विषय तो एक ही - एकांत त्रिकाली वस्तु जो है वह है। इस सम्यक् एकांत नय का विषय यह एक ही है। कुछ समझमें आया ?

यहाँ तो कहते हैं कि : तिर्यंचपर्याय के योग्य जो (मायामिश्रित) परिणाम, उसका कर्ता मैं नहीं हूँ। परिणमित होनेवाला मैं नहीं हूँ। 'मैं कर्तृत्वविहीन हूँ।' - (उसमें) चारों ही लेना : कर्ता नहीं हूँ। कारयिता नहीं हूँ और अनुमोदक नहीं हूँ तथा उसका मैं कारण भी नहीं हूँ, कुछ समझमें आया ?

अब, मनुष्य। है तो मुनिराज का मनुष्यशरीर। फिर भी यहाँ कहते हैं :) '**मनुष्यकर्म के योग्य द्रव्यकर्म तथा भावकर्म का अभाव होनेके कारण मुझे मनुष्यपर्याय शुद्धनिश्चय से नहीं है।**' आहा...हा...! यह शरीर है वह मनुष्यगति नहीं है, वह तो जड़-मिट्टी है। मनुष्यगति तो अंदर जो उदयभाव हैं उन्हें मनुष्यगति कहते हैं। यह मनुष्यगति माने यह शरीर नहीं; यह तो मिट्टी-जड़-धूल है। मनुष्यगति तो आत्मा में जो नामकर्म का उदय होता है वह है। तो ऐसा कहते हैं कि : वह भी मैं नहीं हूँ। मनुष्यगति माने जो यह मनुष्यशरीर है वह नहीं; मनुष्यगति तो आत्मा की पर्याय में उदयभाव

है। और (यह शरीर) यह तो जड़ की पर्याय है, पर है; इसमें (- आत्मा में) क्या आया ?

`मनुष्य नामकर्म के योग्य' ऐसा लिया न...! `द्रव्यकर्म व भावकर्म का अभाव होनेके कारण मुझे मनुष्यपर्याय शुद्धनिश्चय से नहीं है।' आहा...हा...! मेरे में शरीर की पर्याय तो नहीं है, परंतु मनुष्य के योग्य जो उदयभाव है वह भी मेरे में नहीं है। आहा...हा...! यह परमार्थ-प्रतिक्रमण ! मुझे मनुष्यपर्याय शुद्धनिश्चय से नहीं है। मैं उसका कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ कर्ता का अनुमोदक (भी) नहीं हूँ और उसका मैं कारण भी नहीं हूँ। - इस प्रकार प्रत्येक में चार बोल लेना। टीकाकार प्रत्येक में शब्दों को अलग करके रखते हैं : `नारकआयु के हेतुभूत समस्त मोहरागद्वेष होते हैं, परंतु मुझे - शुद्धनिश्चय के बल से शुद्धजीवास्तिकाय को - वे नहीं हैं।' दूसरे बोल में : `(मैं सदा तिर्यंचपर्याय के) कर्तृत्वविहीन हूँ।' यहाँ (तीसरे बोल में) कहा कि : `(मुझे मनुष्यपर्याय) शुद्धनिश्चय से नहीं है।' अलग अलग तरह से प्रत्येक में लागू होगा। परंतु प्रत्येक में अलग बात बताई है। और (वे कृत-कारित आदि चारों बोल) प्रत्येक में लागू होगा, ऐसा बताया है। कुछ समझमें आया ?

अरे प्रभु ! यह तो वीतराग का मार्ग बापू ! यह कोई शास्त्र सीख लिया और पढ गया, इसलिये वहाँ ज्ञान हो गया, ऐसा नहीं है बापू ! वह मार्ग बहुत निराला है, भाई ! आहा...हा...! यहाँ तो कहते हैं : `मुझे मनुष्यपर्याय शुद्धनिश्चय से नहीं है।'

अब, `देव'। `**देव' `ऐसे नाम का आधार जो देवपर्याय उसके योग्य (शरीर निमित्त है और योग्यता अंदर में है।) सुरस - सुंगधस्वभाववाले पुद्गलद्रव्य के संबंध का अभाव होनेके कारण निश्चय से मुझे देवपर्याय नहीं है।**' (पहले कहा था न...! पंचमकाल के मुनि तो देव में जानेवाले हैं। उन्हें तो दूसरी दशा (पर्याय) हो नहीं सकती।) (यहाँ) पंचमकाल के मुनि केवलज्ञान पाते नहीं हैं; देव में जानेवाले हैं। शुभभाव होता है उस समय उनको देव का आयु बंध जायेगा।

मनुष्य को पंचम गुणस्थान व चौथे गुणस्थान में अशुभभाव तो आते हैं; परंतु जब अशुभ(भाव) हो तब आयुष्य नहीं बंधता, इतना वहाँ `दृष्टि का जोर' है। - क्या कहा ? कि : सम्यग्दृष्टि को अशुभभाव - आर्तध्यान - रौद्रध्यान भी हो, परंतु सम्यग्दर्शन का ज़ोर है उस कारण से, अशुभभाव के काल में, उन्हें भविष्य का भव (अर्थात् अशुभआयुष्य) बंधता नहीं है; अर्थात् जब शुभभाव आयेगा तब देव का आयुष्य बंधेगा।

कुछ समझमें आया ? (सम्यग्दर्शन प्राप्त करने से पहले यदि) नारकी का आयुष्य बंध चुका हो, श्रेणिकराजा की माफिक, तो वह (दूसरी) बात। वह तो पहले बंध चुका था। परंतु सम्यग्दर्शन होनेके बाद शुभभाव (के काल में ही, और वह भी) देव का (ही) आयुष्य बंधेगा। (सम्यग्दृष्टि को) अशुभभाव आते हैं। विषय-वासना-भोग आदि पाँचवें गुणस्थान (में भी अमुक भूमिका तक होते हैं)। और अविरति चौथे गुणस्थान में (तो) लडाई आदि (पर्यंत के अशुभभाव भी होते हैं) फिर भी (उस काल में उसे) भविष्य का भव बंधता नहीं है, क्योंकि : द्रव्यस्वभाव के ऊपर इतना ज़ोर (वर्तता) है। अतः उन्हें जब शुभभाव आयेंगे तब देव का (ही) आयुष्य बंधेगा। यहाँ हम अभी मनुष्य की बात ले रहे हैं; बाकी नारकी समकिती, मनुष्य आयुष्य बाँधे; देव भी मनुष्य का आयुष्य बांधे। तथा समकिती तिर्यंच को देव का आयुष्य बँधता है, फिर वहाँ मनुष्य का आयुष्य बांधे। कुछ समझमें आया ?

यहाँ तो कहते हैं कि : मेरा `देवपर्याय से संबंध नहीं है। उस गति से मेरा संबंध नहीं है और शरीर से भी मेरा संबंध नहीं है।' आहा...हा...! परंतु प्रभु ! आप तो मनुष्यपने में हो न...? (मनुष्य को) चार गति में गिना जाता है तो केवली भी मनुष्यगति में - इस प्रकार गिने जाते हैं कि नहीं ? आता है न कहींपर ? - `बोधपाहुड' (गाथा-३, ४ में) आया है। (वहाँ) `आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, जिनबिंब, जिनमुद्रा, ज्ञान, देव, तीर्थ, अरिहंत तथा गुण से विशुद्ध प्रवज्या - ये ग्यारह स्थल (आत्मा के) निश्चित किये गये हैं। (वहाँ गाथा-३१ में गुणस्थान, मार्गणास्थान, पर्याप्ति, प्राण व जीवस्थान - इन पाँच प्रकारों से अरहंतपुरुष को स्थापित करने का विधान किया गया है।) तो मार्गणा में तो मनुष्यगति आदि भी है न...! और अरिहंत केवली को `मार्गणा' लगाई है। तो वहाँ गति है न...! इतना वहाँ असिद्धभाव है कि नहीं ? परंतु यहाँ तो कहते हैं कि : मेरी वस्तुस्थिति को; और जितना वर्तमान निर्मलपरिणमन है उसे; `मैं जाननेवाला हूँ।' मैं उस (देवपर्याय के योग्य) परिणाम का कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ और अनुमोदक नहीं हूँ, ऐवं उसका मैं कारण भी नहीं हूँ। आहा...हा...! देवपर्याय और उसके योग्य पुद्गलद्रव्य का संबंध, (अर्थात्) जड़द्रव्य का संबंध और उदय का संबंध, इन सबका `अभाव होनेके कारण निश्चय से मुझे देवपर्याय नहीं है।' देखो ! यहाँ ज़रा भाषा बदल दी। पहले (तिर्यंच की बात ली कि :) `कर्तृत्वविहीन हूँ।' फिर (मनुष्य की बात में लिया कि :) `शुद्धनिश्चय से नहीं है।' और (यहाँ कहा कि :) `निश्चय से मुझे देवपर्याय नहीं है।' क्योंकि : देवपर्याय तो

आनेवाली है न...! परंतु मेरी पर्याय (जो है वह देवपर्याय के) कारण की कर्ता नहीं है, कारयिता नहीं है और अनुमोदक भी नहीं है। (वह देवपर्याय तो) हो जायेगी। आहा...हा...! ज्ञानी राग के कर्ता नहीं है। जिस भाव से देवआयु बंधती है उस भाव के भी कर्ता तो ज्ञानी नहीं हैं। आहा...हा...हा...!

चार प्रकार के आयुष्य बंधते हैं न...! अरे...! ज्ञानावरणीय लो... वह छह प्रकार से बंधता है। परंतु उन छओं के कर्ता ज्ञानी नहीं हैं। अरे...! फिर भी ज्ञानी को ज्ञानावरणीय बंधता है। बंधता है कि नहीं ? अभी दसवें (गुणस्थान) तक कर्म बंधते हैं। परंतु कहते हैं कि : उसका तो ज्ञता-दृष्टा हूँ। मेरे परिणमन में 'वे मेरे हैं' ऐसा मैं नहीं हूँ।

विशेष तो बहुत आता है। ऐसी गाथा 'पद्मनंदिपंचविंशतिका' में है। वहाँ मुनिराज 'पद्मनंदि' स्वयं कहते हैं कि : यह नहीं, यह नहीं। खयाल है कि, मुझे स्वर्ग में जाना पड़ेगा। परंतु शुरू से ही निषेध करते जाते हैं।

जिस प्रकार अन्यमित में 'गरुडपुराण' है न...! मरने के बाद उस 'गरुडपुराण' को लोग पढ़ते हैं। इस प्रकार अपने यहाँ भी 'अनित्यपंचाशत्' 'पद्मनंदिपंचविंशतिका' में है। वहाँ 'गरुडपुराण' जैसी बात है। यहाँ 'अनित्यपंचाशत्' में ऐसी शैली है कि : किसीकी मृत्यु हो जाय तो यह 'अनित्यपंचाशत्' की भावना लेना (भाना)। ऐसा अधिकार है। बहुत ऊँची गाथाएँ ! सारे व्याख्यान हो चुके हैं।

यहाँ अब कठिन बात है, देखो ! कहते हैं कि : '**चौदह भेदवाले मार्गणास्थान**' - गति, वेद, कषाय, ज्ञान के भेद, दर्शन के भेद, भव्य-अभव्य का भेद (इत्यादि मार्गणास्थानों के चौदह भेद) ये मेरे में नहीं हैं। पर्यायदृष्टि से उसमें (पर्याय में) हैं। परंतु द्रव्यदृष्टि के जोश में (समस्त भेद) मेरी चीज़ में ही नहीं हैं। मैं तो अभेदवस्तु हूँ। (क्या कह रहे हैं ?) देखो : वे गति (- देव, मनुष्य, तिर्यंच व नारकी) के स्थान मेरे में नहीं हैं। ये इन्द्रियाँ (- द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय) मेरे में नहीं हैं। वे काय (- त्रस व स्थावर) मेरे में नहीं हैं। वे योग (स्थानपंद्रह भेद) मेरे में नहीं हैं। (वैसे तो योग बारहवें गुणस्थान के अंत तक होता है फिर भी) वह मेरी चीज़ में नहीं है। वे वेद (-स्त्रीवेद, पुरुषवेद व नपुंसकवेद) मेरे में नहीं हैं। वे कषाय (के स्थान - अनंतानुबंधी चार, अप्रत्याख्यानावरण चार, प्रत्याख्यानवरण चार और संज्वलन चार) मेरे में नहीं हैं। वे ज्ञान (के आठ भेद-मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल तथा कुमति, कुश्रुत और कुअवधि) मेरे में नहीं हैं। आहा...हा...! वे आठों भेद मेरी चीज़ में नहीं हैं, और

ऐसे भेद मेरे परिणमन में भी नहीं हैं। ऐसा कह रहे हैं कि, इतना अभेद परिणमन हुआ है ! आहा...हा...! इसका नाम परमार्थ-प्रतिक्रमण है। (**श्रोता :-**) ज्ञान के ये भेद नहीं है तो फिर परिणमन में क्या है ? (**उत्तर :-**) अभेद (परिणमन) है। अंतर में एकाग्रता है। जो ज्ञानगुण है उसमें एकाग्रता है। पर्याय का लक्ष नहीं है। क्योंकि भेद का लक्ष करने से तो विकल्प उठते हैं। तो कहते हैं कि वे पाँच ज्ञान और तीन अज्ञान ये आठों भेद मेरे में नहीं हैं। (अब कहते हैं कि :) वह संयम (उसके सात भेद भी) मेरे में नहीं हैं। वह दर्शन (- चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन - यहाँ दर्शन माने समकित नहीं। ये चार भेद, अर्थात् ये दर्शनमार्गणा के भेद हैं। `मार्गणा' माने खोजना कि `मैं किस पर्याय में हूँ' ऐसी मार्गणा, भी मेरे में नहीं है। कुछ समझमें आया ? मार्ग तो ऐसा है, प्रभु ! आहा...हा...! वह लेश्या (उसके छह भेद) मेरे में नहीं हैं। भव्यत्व (उसके भव्यत्व और अभव्यत्व ऐसे दोनों भेद मेरे में नहीं हैं। मैं तो जीवास्तिकाय ध्रुव... ध्रुव... भगवान ! उसके आश्रय से मेरा जो अभेद परिणमन हुआ उसमें भव्य-अभव्य के भेद हैं ही नहीं।

प्रश्न :- `जैनसिद्धांत प्रवेशिका' में भव्यत्व को अनुजीवी गुण में लिया है न...?!

समाधान :- पता है ! (वहाँ अर्थ दूसरा है !) सिद्ध में भव्यत्व नहीं है। (अतः भव्यत्व है वह गुण नहीं है परंतु) योग्यता है, वह वहाँ पूरी हो गई। यदि भव्यत्व को गुण समझो तो जिस प्रकार दर्शन-ज्ञान है उस प्रकार वह (भव्यत्व) भी वहाँ रहना चाहिए; परंतु वह `सिद्ध में नहीं है'; तब तो फिर ऐसे कैसे चले ? अतः (वास्तव में) भव्यत्व - यह गुण नहीं है। परंतु भव्यत्व और अभव्यत्व वह पर्याय की (योग्यता के) भेद हैं। (सिद्धदशा प्राप्ति की) पर्याय की योग्यता को भव्य तथा अयोग्यता को अभव्य कहते हैं। (इस कथन का तात्पर्य यह है कि : भव्यत्व और अभव्यत्व - दोमें से एक प्रकार से द्रव्य के परिणमन की ऐसी स्थिति त्रिकाल रहना ऐसी ही पर्याय की कोई अहेतुक पारिणामिक योग्यता है।)

पुनःश्च, `अमृतचंद्र आचार्य' का `तत्त्वार्थसार' है। यहाँ व्याख्यान में पूरा पढ़ा गया है। (वहाँ गाथा-९० में ऐसा कहा है कि : `भव्य व अभव्य के भेदपूर्वक जीव दो प्रकार के हैं, जो सिद्धपर्याय को प्राप्त करने योग्य हैं वे भव्य कहलाते हैं और उनसे विपरीत हैं वे अभव्य कहलाते हैं।') ऐसा व्यवहार से कहा जाता है (क्योंकि निश्चय से जीव दो प्रकार के नहीं होते !) वहाँ `तत्त्वार्थसार' में नीचे नोट किया है (अर्थात् फूटनोट दी है) कि : वह भव्य और अभव्य तो पर्याय की अपेक्षा से बात है। गुण

अपेक्षा से बात हो तो, भव्यत्वगुण द्रव्य में नहीं है। जिस प्रकार वैभाविकशक्ति -गुण है तो वह सिद्ध में भी होता है। परंतु भव्यत्व सिद्ध में नहीं है। वहाँ (जिस प्रकार औपशमादिक भाव नहीं रहते उस प्रकार) उस भव्यत्व की योग्यता भी नहीं रहती। तो वह तो पर्याय की अपेक्षा भव्यत्व और अभव्यत्व की बात की है। कुछ समझमें आया ?

यहाँ तो शुरू से ही कहते हैं कि, वह भव्यत्व (मार्गणा) मेरे में नहीं है। मैं तो अखंडानंद प्रभु हूँ ! तो त्रिकाल उस योग्यता की पर्याय और अयोग्यता की पर्याय (अर्थात् भव्यत्व और अभव्यत्वरूप योग्यता) से रहित हूँ। आहा...हा...! समझमें आया उतना समझो, प्रभु ! यह मार्ग तो बहुत सूक्ष्म, बापू ! इसलिये लोग चिल्लाते हैं न...!

आज एक विद्वान का लेख आया है कि : आप (अन्य लोग) चाहे जितना विरोध करो परंतु `कानजीस्वामी' द्वारा स्वाध्याय की जो विशेष शैली चली है वह अब अटक पाये ऐसा नहीं है। तुण लोग विरोध जितना करोगे उतना प्रचार बढ़ता जायेगा। बापू ! (जो भी कह लो,) परंतु मार्ग तो `यह' है। यह कोई किसीके घर की (मनगडत) बात नहीं है। वस्तु के घर की (वस्तुस्वरूप की) है। अर्थात् `है' तो घर की' परंतु सिर्फ घर की है ऐसा नहीं है; वह तो तीनकाल के नाथ केवली के घर की है ! (फिर उन्होंने) ऐसा लिखा कि : (इस शैली से) अब स्वाध्याय कनरेवाले, अपने दिगंबरमें से भी लाखों तैयार हो गये हैं। तो आप किस किसका निषेध करोगे ? किसका बहिष्कार करोगे ? वह तो उसको बेचारे को ऐसा लगा तो कहा, जिसको जैसा ठीक लगे वैसा कह सकता है। इसमें कोई बात नहीं है। `जिसमें जितनी बुद्धि है उतनी दे बताय।' उसे खयाल में जो आया हो सो कहे; उसमें अन्य बात करे कहाँ से ? इसमें क्या... कोई विरोध करने से (वह पूर्वग्रह छोड़ देवे ? यहाँ तो) किसीके प्रति विरोध, बैर, द्वेष करने की बात ही नहीं है। आहा...हा...! (वह भी) भगवान है ! वह तो अंदर तीन लोक का नाथ है !

आहा...हा...! `पंचास्तिकाय' गाथा-७० की `जयसेनाचार्य' की टीका में है : जीवास्तिकाय आदरणीय है। चाहे तो अभव्य का जीवास्तिकाय होवे... परंतु वह जो द्रव्य है वह आदरणीय है, साधर्मी है।

यहाँ अब भव्यत्व के बाद फिर ले रहे हैं कि : सम्यक्त्व (मार्गणा) भी मेरे में नहीं है। आहा...हा...! वह तो पहले `नियमसार' गाथा-४१ में आ गया कि : क्षायिकभाव

मेरे में नहीं है। उपशमभाव मेरे में नहीं है। यहाँ तो मार्गणा लेनी है न...? इसलिये ज्यादा स्पष्ट किया। वह (उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक, सम्यक्मिथ्यात्व, सासादन और मिथ्याच) को मार्गणा में शामिल किया है। `बोधपाहुड' में तो भगवान में भी मार्गणा शामिल की है ! जो मेरे में नहीं है।

`योगसार' गाथा-४३ में आता है न...! `तन-मंदिर में देव जिन' परंतु लोग वहाँ (मंदिर में) देखते हैं कि, भगवान वहाँ है। परंतु वहाँ तो वह (स्थापना) निक्षेप है। `जन देरे (मंदिर में) देखंत' - वहाँ होंगे भगवान ? वह तो निक्षेप है, व्यवहार है। शुभभाव आये इसलिये वहाँ लक्ष जाय इतनी बात है। (साधक का) लक्ष न जाय, ऐसा भी नहीं; और शुभभाव आये बिना रहे भी नहीं। समझमें आया ?

यहाँ तो कहते हैं कि : सम्यक्त्व (मार्गणा के जो उपशमादि छह) भेद हैं वे मेरे में नहीं हैं। मैं तो त्रिकाली आनंदस्वरूप भगवान ! उसकी परिणति में भी योग्यता प्रगट हो गई तो अब योग्यता-अयोग्यता का प्रश्न ही नहीं है, ऐसा कहते हैं। कुछ समझमें आया ? भगवानआत्मा पूर्णानंदस्वरूप, शुद्धचैतन्यघन, महारत्नप्रभु, चैतन्यरत्नाकर; वह जहाँ ज्ञान में ज्ञेयरूप आ गया और (उसकी) दृष्टि हो गई, निर्विकल्प शांति आ गई; तो अब कहते हैं कि : अब वह योग्यता मेरे में है ही नहीं। मैं तो जो हूँ सो हूँ !

(यहाँ अब कहते हैं कि :) वे संज्ञी-असंज्ञी के भेद मेरे में नहीं हैं। मैं तो ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक....! और मेरी जो ऐसी परिणति है उसमें भी वह संज्ञी-असंज्ञी (पना) लागू नहीं होता) आहा...हा...! आहार (मार्गणा) के दोनों भेद-आहारक और अनाहारक - मेरे में नहीं है। कुछ समझमें आया ? - ये चौदह (भेद) हुए। यहाँ आया : `चौदह भेदवाले मार्गणास्थान' ऐसा कहा न...! चौदह भेदवाले मार्गणास्थान। एक बात। `**तथा उतने (चौदह) भेदवाले जीवस्थान**' (- एकेन्द्रियसूक्ष्म व बादर, द्विइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय संज्ञी और असंज्ञी - इन सातों के पर्याप्त व अपर्याप्त के भेदपूर्वक चौदह जीवस्थान) ये भी मैं नहीं हूँ। जीव के वे स्थान मेरे में हैं ही नहीं। आहा...हा...! शुद्धजीवास्तिकाय में जीव के स्थान-भेद नहीं हैं। जीवस्थान कहे न...! `चौदह भेदवाले जीवस्थान' ये भी मेरे में नहीं हैं। `या गुणस्थान' - उतने (चौद) भेदवाले गुणस्थान वे भी मेरे में नहीं हैं। चौदह गुणस्थान तो भेद हैं; मैं तो ज्ञायक, त्रिकाली शुद्धजीवास्तिकाय - जीव अस्तिरूप, अस्तित्व, सत्ता हयातीरूप, मौजूद - जो चीज़ (हूँ), उसमें तो वे भेद ही नहीं हैं। आहा...हा...! अंदर मौजूद (हाजराहजूर) चीज़,

चैतन्य का हीरा भगवान, चैतन्य हीरा, हीरे की सिली प्रभु ! यह चैतन्य-हीरा उसके स्वभाव में (स्वरूप में), वे जीवस्थान या गुणस्थान नहीं हैं।

वह तो 'समयसार' गाथा-६८ में आया है कि : ('जो, ये गुणस्थान हैं... वे जीव कैसे हो सकते हैं कि जिनको सदा अचेतन कहे गये हैं ?') गुणस्थानभेद मेरे में नहीं हैं, वे तो अजीव हैं।

('अजीव हैं') ऐसा तो इस अपेक्षा से कहा : इस त्रिकाली जीव की अपेक्षा से वे पूर्ण (-निश्चय) जीव नहीं हैं, अर्थात् व्यवहारजीव हैं। पर्याय व्यवहारजीव है इसलिये उसे अभूतार्थ कहकर, वह त्रिकाली में नहीं है; ऐसा कहा है। 'समयसार' गाथा-११ में कहा है न...! कि : पर्याय अभूतार्थ है तो अभूतार्त का अर्थ : कायमी चीज़ नहीं है इस अपेक्षा से। पर्याय है तो सही; परंतु उसे गौण करके, अभूतार्थ कही है। पर्याय का अभाव करके अभूतार्थ कहा ऐसा नहीं है। गाथा का पाठ तो ऐसा लिया है : 'ववहारोऽभूयत्थो' - पर्यायमात्र झूठी है।

एक मुंबईवाले (विद्वान) ऐसा कहते थे न...! कि : 'कुंदकुंदाचार्य' ने 'समयसार' को वेदांत के सांचे में ढाला है। (परंतु) भाई ! भगवान ! ऐसा नहीं है। वेदांत का और इसका कैसा संबंध ? कहीं पूरब-पश्चिम जैसा भी संबंध नहीं है। परंतु 'पर्यायमात्र झूठी है' ऐसा कहा न...! इसलिये उसे ऐसा लगा। परंतु 'पर्याय झूठी है' इसका अर्थ क्या ? कि : त्रिकाली को जब मुख्य करके भूतार्थ व सत्य कहा तो पर्याय को गौण करके, व्यवहार कहकर असत्य कहा। अभाव करके असत्य कहा ऐसा नहीं है। आहा...हा...! किन्तु क्या करें ? अपनी दृष्टि अनुसार कल्पना करके अर्थ करे और आचार्य का हृदय क्या है (यह समझे नहीं) तो भारी गड़बड़ हो जाय !

यहाँ कहते हैं : '**शुद्ध निश्चयनय से**' (मुझे में नहीं है)। अब यहाँ जरा - बदला-खुलासा किया : वे (- चौदह भेदवाले मार्गणास्थान तथा उतने (चौदह) भेदवाले जीवस्थान या गुणस्थान) शुद्धनिश्चयनय से '**परमभावस्वभाववाले को (- परमभाव जिसका स्वभाव है ऐसे मुझे) नहीं हैं।**' आहा...हा...! मेरा तो परमस्वभावभाव त्रिकाल है, वह भूतार्थ है; वह मैं हूँ। आहा...हा...! ऐसा परमभावस्वभाव जिसका स्वभाव है ऐसे मुझे ये गुणस्थान, जीवस्थान व मार्गणास्थान के भेद मुझ में नहीं हैं। कुछ समझमें आया ?

एक स्थानकवासी 'नियमसार' पढ़ रहे थे। ४२ गाथा आई, 'णो खइयभावठाणा' - (वहाँ कहा कि :) ऐसा यह शास्त्र ? सिद्ध में क्षायिकभाव है; और यहाँ कह रहे हैं कि : जीव में क्षायिकभाव नहीं है। तो जड़ में है क्षायिकभाव ? अरे भाई !

यहाँ ऐसा कहना है कि : वह पर्याय का भेद, इस त्रिकाली में नहीं है। (परंतु) पर्याय, पर्यायरूप नहीं है, ऐसा नहीं। अरे भाई ! बापू ! वह क्षायिकभाव तो पर्याय है। वह पर्याय (त्रिकाली) द्रव्य में नहीं है। तो उस अपेक्षा से क्षायिकभाव (जीव में) नहीं है। पर्याय में क्षायिकभाव और उदयभावादि बराबर हैं। चौदहवें (गुणस्थान) तक असिद्धत्व को, उदयभाव लिया है। और 'बोधपाहुड' में केवली को मार्गणास्थान में लिया है। वहाँ सब लिया है : (वे) मनुष्यगति में हैं, पर्याप्त हैं, यह है और वह है; - यह किस अपेक्षा से ? वह तो जब पर्याय का वर्णन होवे तो उस अपेक्षा से उसे बताये कि नहीं ?

यहाँ तो ऐसा कहा न : 'परमभावस्वभाववाले को' - परमभावस्वभाव, त्रिकाल परमभावस्वभाव; उसमें वे (चौदह भेदवाले) मार्गणास्थान, जीवस्थान व गुणस्थान) नहीं है। ऐसे (भेद) मुझ में नहीं हैं। परमभावस्वभाववाले को नहीं हैं अर्थात् परमभाव जिसका स्वभाव है ऐसे मुझ में नहीं हैं, इस प्रकार खुलासा किया। सारे (बोल) में ऐसा आया है न...! मुझ में... नहीं हैं। मैं...विहीन हूँ, मुझ में...नहीं हैं। इसलिये यहाँ इस प्रकार अर्थ किया : मुझ में नहीं हैं। आहा...हा...!

(अब कह रहे हैं कि :) '**मनुष्य एवं तिर्यंचपर्याय की काया के, वयकृत विकार से (- फेरफार से) उत्पन्न हुए बाल-युवान-स्थविर-वृद्धावस्थादिरूप अनेक स्थूल-कृश विविध भेद शुद्धनिश्चयनय के अभिप्राय से मुझ में नहीं हैं।**' आहा...हा...! मैं बाल भी नहीं हूँ। युवान भी नहीं हूँ। वृद्ध भी नहीं हूँ। और स्थविर भी नहीं हूँ। - वे शरीर के वयकृत विकार हैं। वहाँ पाठ में तो यह कहा कि : उसका मैं कारण भी नहीं हूँ। बाल-युवानादि अवस्थाका मैं कारण नहीं हूँ। मैं कर्ता नहीं हूँ। मैं कारयिता नहीं हूँ। और अनुमोदक भी नहीं हूँ। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

मिथ्यात्व जो है वह जीव की बाल्यावस्था है। और अंतर में आत्मा का भान अर्थात् सम्यग्दर्शन हुआ वह युवानअवस्था है। और केवलज्ञान (है) वह वृद्धावस्था है - ये (सब) अवस्थाएँ मेरे में नहीं हैं। वहाँ तो पहले सम्यग्दर्शन - अंतरात्मा (या) केवलज्ञान की वह पर्याय भी मेरे में नहीं है, ऐसा लिया है। यह (जो) बाल-युवानादिरूप अनेक भेद) ये तो मेरे में नहीं हैं और ये तो मेरी पर्याय में भी नहीं हैं। (परंतु) इसकी (परिणमन की) अपेक्षा से यह (सम्यग्दर्शन- अंतरात्मा, केवलज्ञान की जो पर्याय) हैं वे मेरे में हैं। विशेष कहेंगे.....

***

प्रवचन- १७, दि. १५-२-१९७८

`नियमसार' परमार्थ-प्रतिक्रमण है न...! वहाँ आया है, देखो : (मनुष्य व तिर्यंचपर्याय की काया के, वयकृत विकार से) (- फेरफार से) उत्पन्न होते बाल-युवान-स्थविर-वृद्धावस्थादिरूप अनेक स्थूल-कृश) **`विविध भेद शुद्धनिश्चयनय के अभिप्राय से मेरे में नहीं हैं।'** वह बाल-युवान की अवस्था है न...? निश्चय से तो बाल, युवान और वृद्धावस्था जड़ की है; वह अपने त्रिकालस्वरूप में नहीं है।

परंतु सम्यग्दर्शन से पहले मिथ्यादर्शन की अवस्था भी बालअवस्था है। और सम्यग्दर्शन की (दशा) युवान अवस्था है। और केवल(दशा) वृद्धावस्था है। - वह अवस्था भी वस्तु में - अंतर में नहीं है। वह पर्याय पर्याय में है।

जो सम्यग्दर्शन का विषय त्रिकाली आनंद परिपूर्ण स्वरूप, वस्तु परिपूर्ण...हाँ ! पर्याय में परिपूर्ण नहीं; पर्याय में परिपूर्ण तो जब सिद्ध होंगे तब होगे। `सिद्ध समान सदा पद मेरो' - वह कोई यहाँ सिद्धपर्याय समान नहीं है। सम्यग्दृष्टि को कहाँ सिद्धपर्याय है ? `सिद्ध समान' वह वस्तु अर्थात् त्रिकाली आत्मा, अखंडानंद परिपूर्णस्वरूप, जैसा सिद्ध-पर्याय में है वैसा स्वरूप (इस) द्रव्य का है। (इस प्रकार समान है। किन्तु दोनों की पर्याय समान है, ऐसा नहीं है)। कुछ समझमें आया ?

यहाँ कहते हैं : वह बाल, युवान और वृद्धावस्थादि तो जड़ की हैं। उनका तो मैं कर्ता भी नहीं हूँ, कारयिता भी नहीं हूँ और मैं कारण भी नहीं हूँ (तथा उसका मैं अनुमोदक भी नहीं हूँ)।

आहा...हा...! अब यह बोल जरा सूक्ष्म आया है : **`सत्ता'** - स्वरूप की सत्ता है त्रिकाल... त्रिकाल। **`अवबोध'** माने ज्ञान। - (यह) त्रिकाली की बात है हाँ ! सम्यग्दर्शन का विषय जो त्रिकाल परिपूर्ण परमात्मा, परम आत्मा, परमस्वरूप; उसकी सत्ता; उसमें अवबोध अर्थात् ज्ञान; `परमचैतन्य' - (यहाँ) त्रिकाली परमचैतन्य लेना। ज्ञान और वह

(दर्शन) लेकर परमचैतन्य लिया; `**और सुख की अनुभूति में लीन**' - यहाँ त्रिकाली की बात है। सूक्ष्म बात है। पर्याय में तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है परंतु उसका - सम्यग्दर्शन का विषय परिपूर्ण परमात्मस्वरूप है। ऐसी सूक्ष्म बात है। कुछ समझमें आया ?

`समयसार' गाथा-३२० (`जयसेनाचार्य' की टीका का) अलग पृष्ठ छपा था न...! (कहते हैं कि :) वह ध्याता पुरुष - सम्यग्दृष्टि ऐसा ध्यान करता है कि जो सकल निरावरण वस्तु (- वस्तु हाँ, पर्याय नहीं) है वह त्रिकाली परिपूर्ण - ज्ञान परिपूर्ण, आनंद परिपूर्ण अनंत शक्ति गुणरूप से - स्वभाव रूप से प्रत्येक शक्ति परिपूर्ण, और ऐसे अनंत गुणों का एकरूप जो द्रव्य-वस्तु, वह सम्यग्दर्शन का ध्येय-विषय (है), इस विषय के बिना सम्यग्दर्शन होता नहीं है। उसकी (विषय की ध्येय की) अपेक्षा से (यह बात है)। परंतु पर्याय (ही) नहीं है, ऐसा नहीं। वहाँ पर्याय को गौण करके, द्रव्य अर्थात् सम्यग्दर्शन का विषय बताया (उसे मुख्य करके पर्याय नहीं है ऐसा कहा है।) तो कहते हैं : ऐसी वस्तु सकल निरावरण है। द्रव्य में आचरण कैसा ? वस्तु अखंड एकरूप त्रिकाल (है उसे) सामान्य कहो, भूतार्थ कहो, ज्ञायक कहो, ध्रुव कहो, सद्दश कहो, एक कहो (सब एकार्थ हैं)। वह चीज़ पर्यायरहित है। सम्यग्दर्शनपर्याय तो (उसे) विषय बनाती है। तो कहते हैं : एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अर्थात् अंदर ज्ञान की पर्याय में, राग की अपेक्षा बगैर, ज्ञान प्रत्यक्ष जानता है, ऐसी यह चीज़ है। प्रत्यक्ष प्रतिभासमय, अविनश्वर शुद्धपारिणामिकपरमभाव लक्षण, निजपरमात्मद्रव्य (मैं हूँ !) सम्यग्दर्शन की पर्याय अथवा सम्यग्ज्ञान की पर्याय ऐसा मानती है कि मैं तो निजपरमात्मद्रव्य अखंडानंद (स्वरूप), निरावरण हूँ ! आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

सबसे पहले तो सम्यग्दर्शन में ही यह (साधन की बात के ऊपर) आपत्ति है। (परंतु भाई !) सम्यग्दर्शन होनेके बाद (भी) अशुभ से बचने के लिये शुभ आता है। क्योंकि शुद्ध में तो स्थिर रह नहीं सकता। तो शुभ आता है। (वहाँ) गुणस्थान का विचार, शास्त्रवांचन, श्रवण, भक्ति, पूजा (आदि के) भाव आये बिना रह सकते हैं ? इस भाव के लिये तो `पंचास्तिकाय' गाथा-१३६ की टीका में ऐसा शब्द है। `अयं हि स्थूललक्ष्यतया केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवती।' - यह (प्रशस्त राग) वास्तव में, जो स्थूललक्षणवाला होनेके कारण केवल भक्तिप्रधान ऐसे अज्ञानी को होता है। अर्थात् अज्ञानी का लक्ष (- ध्येय) स्थूल होता है अतः उसे केवल भक्ति की ही प्रधानता होती है (और उसकी) ऐसी मान्यता है कि :) उससे मेरा कल्याण होगा। परंतु समकिती

-ज्ञानी को तो (निज) विषय जो ध्रुव, अखंडानंद, पूर्ण परमात्मस्वरूप है वह दृष्टि में आया है फिर भी अभी पर्याय में कमजोरी है, अभी चारित्र की पर्याय (विकसित) नहीं है इसलिये; एवं छठी-सातवीं भूमिका (मुनि को) प्राप्त होती है परंतु केवलज्ञान नहीं है इसलिये; अर्थात् ऊपर की भूमिका में - `उपरितनभूमिकायामलब्धास्पदस्यास्थान-रागनिषेधार्थं' - ऊपर के गुणस्थान में स्थिति प्राप्त न करी हो तब अस्थान के (-अयोग्यस्थान का; अयोग्य विषय प्रति का; अयोग्य पदार्थों का अवलंबन लेनेवाले) राग को रोकने हेतु; `तीव्ररागज्वर विनोदार्थं वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवतीति।' अथवा तीव्र रागज्वर हटाने हेतु; कदाचित् ज्ञानी को भी (प्रशस्त राग) होता है। अर्थात् अस्थान के राग के निषेध के लिये; अशुभराग तीव्र-तेज है उसे टालने हेतु; (हालाँकि क्रम में शुभ आनेवाला है वह तो आयेगा ही; परंतु यह ऐसी भाषा उपदेश की है -) तीव्र रागज्वर हटाने हेतु; ज्ञानी को शुभभाव - परमत्मा की भक्ति, श्रवण, वांचन, मनन, हैं ये सब विकल्प - परंतु आते हैं, ये विकल्प आये बिना नहीं रहते। (हालाँकि) सम्यग्दर्शन के ध्येय में तो ध्रुव है, फिर भी जब तक अंदर (स्वरूप में) पूर्ण स्थिरता न होवे, पर्याय में अंदर स्थिरता जम नहीं रही है तब `अशुभ वंचनार्थ' शुभभक्ति आदि आते हैं। हैं तो वे विकल्प परंतु ज्ञानी मानते हैं कि वे हेय हैं। और उन्हें बंध का कारण जानते हैं, कुछ समझमें आया ?

इसमें `नियमसार' में ८३ वीं गाथा के बाद श्लोक आयेगा। यह `समयसार' में कलश-२४४ वाँ है : `अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै' - बहुत कहने से और बहुत दुर्विकल्पों से बस हो, बस हो ! क्या कहें प्रभु ! आत्मा ही आनंदस्वरूप भगवान परिपूर्ण है। उसका अनुभव होना यही मोक्षमार्ग है। लाख बात की एक बात करो और करोड़ बात की एक बात करो (परंतु) जोड़ तो यह है कि : `बहुत कहने से और बहुत दुर्विकल्पों से बस हो, बस हो ! यहाँ इतना ही कहना है कि इस परम अर्थ का एक का ही निरंतर अनुभव करो; क्योंकि निजरस के फैलावसे पूर्ण जो ज्ञान, उसके स्फुरायमान होनेमात्र जो `समयसार' (-परमात्मा) उससे ऊँचा वास्तव में अन्य कुछ भी नहीं है। (- `समयसार' के अलावा अन्य कुछ भी सारभूत नहीं है।)' आहा...हा...! कहते हैं : परम अर्थ को अर्थात् परम पदार्थ - प्रभु, पूर्णानंद का नाथ, अखंड, अभेद - इस एकका ही निरंतर अनुभव करना। बहुत विकल्पों से क्या (प्रयोजन) कि - व्यवहार आता है, व्यवहार होता है ? कहते हैं : इस आत्मा का अनुभव करो। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र यही मोक्षमार्ग है। आहा...हा...! ध्येय में परमात्मा

है और परिणमन में भी निर्मलपरिणति - अनुभव है, उससे ऊँचा वास्तव में अन्य कुछ भी नहीं है। 'समयसार' के अलावा अन्य कुछ भी सारभूत नहीं है। इस अंतर्मुख निश्चयमोक्षमार्ग की प्रधानता - मुख्यता बताने हेतु, और वह त्रिकालीभगवान के आश्रय से (प्रगट होता) है इसलिये ऐसा कहते हैं।

यह बात यहाँपर आई, क्या कह रहे हैं देखो : 'सत्ता, अवबोध, परमचैतन्य और सुख की अनुभूति में लीन' - यह सुख की अनुभूति माने परिणति। (परंतु) यह पर्याय की बात नहीं है; त्रिकाली की बात है। (आत्मा) त्रिकाल अनुभूतिस्वरूप ही है।

'समयसार' गाथा-७३ में (टीका में) आया है न...! वहाँ निर्मल परिणमन की बात है...हाँ ! राग की तो बात ही नहीं है। वहाँ लिया है कि : पर्याय में जो निर्मल षट्कारंक की परिणति है उससे भी अनुभूति भिन्न है। वह अनुभूति पर्याय नहीं है; त्रिकाली वस्तु है। क्या कह रहे हैं ? कि 'मैं यह आत्मा - प्रत्यक्ष अखंड अनंत चिन्मात्र ज्योति - अनादि अनंत, नित्य उदयरूप विज्ञानघनस्वभावपने के कारण एक हूँ : (कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरणस्वरूप) सर्व कारकों के समूह की प्रक्रिया से पार उतरी हुई जो निर्मल अनुभूति, उस अनुभूतिमात्रपने के कारण शुद्ध हूँ।' सूक्ष्म बात है जरा। पर के कारक की बात नहीं है। राग के (कारक की) बात नहीं है; परंतु निर्मल परिणति जो षट्कारकों से उत्पन्न होती है उस परिणति से भी पार, अर्थात् सर्व कारकों के समूह की प्रक्रिया से पार उतरी हुई जो निर्मल अनुभूति उस अनुभूतिमात्रपने के कारण शुद्ध हूँ। - यह पर्याय की बात नहीं है। अनुभूति की पर्याय में 'यह अनुभूति' ध्येय होती है। अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान की पर्याय में यह ('निर्मलअनुभूति' ध्येय होती है।) यहाँ कहते हैं कि : 'प्रक्रिया से पार' माने क्या ? कि : पर्याय में षट्कारकरूप से परिणति होती है। यह तो ('पंचास्तिकाय') गाथा-६२ में भी है न...! पर्याय भी पर्याय में षट्कारकरूप से स्वतंत्र परिणमन करती है। (उसे) द्रव्य-गुण की अपेक्षा नहीं है और पर की (भी) अपेक्षा नहीं है। विकारी पर्याय भी स्वतंत्र षट्कारकरूप से परिणमित होती है। (एवं) सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की निर्मल परिणति जो मोक्षमार्ग की वीतरागीपर्याय, उस पर्याय में षट्कारकरूप से परिणमन होता है। यहाँ ऐसा कहा कि : वह (निर्मल) पर्याय जो कर्ता, कर्म, करण आदि षट्कारक से स्वयं (परिणमन करती) है अर्थात् जिस पर्याय की षट्कारक की परिणति है, वह उस षट्कारक के समूह से पार उतरी हुई जो 'निर्मलअनुभूति' (है), उससे भी भिन्न है। आहा...हा...! निर्मलअनुभूति वह अनुभूतिमात्रपने के कारण शुद्ध हूँ।

आहा...हा...! यह शुद्ध की व्याख्या है ! पर्याय से शुद्ध हूँ, पूर्ण हूँ - ऐसा यहाँ कहाँ कहना है ? यह तो इस तरह से कि : सर्व कारकों के समूह की प्रक्रिया से पार उतरी हुई अर्थात् भिन्न 'ऐसी निर्मल अनुभूतिमात्र आत्मा'... त्रिकाली अनुभूति हाँ ! वह अनुभूति माने पर्याय नहीं। यहाँ पाठ है न...! 'अहमिक्को खलु सुद्धो' तो 'एक ही व्याख्या करी, शुद्ध की यह व्याख्या करी।' 'शुद्ध' माने यह (- अनुभूतिमात्रपना)। पर्याय अर्थात् परिणति है। वह पर्याय है कि नहीं ? रागादि है तो सही न...? नहीं, ऐसा नहीं है। पूर्ण (वीतराग) कहाँ हो चुके हैं ? परंतु राग की वह परिणति यहाँ मोक्षमार्ग में नहीं है। अब, मोक्ष का मार्ग जो शुद्धपरिणति है वह एक समय के षट्कारकरूप है, द्रव्य, गुण व निमित्त की अपेक्षा बिना की वह परिणति है, उससे भी पार उतरी हुई अर्थात् वह चीज़ (- निर्मल अनुभूति त्रिकाल) तो, उस परिणति में भी नहीं है, वह तो उस (षट्कारक) परिणति से भी पार उतरी हुई है। ऐसी जो निर्मलअनुभूति, उस अनुभूतिमात्रपने के कारण - त्रिकाल अनुभवस्वरूप, परमस्वभावभाव, त्रिकाल - शुद्ध हूँ। वह ३२०-गाथा में (भी) आया है न...? 'मैं शुद्ध हूँ' - वस्तु से हाँ ! पर्याय से शुद्ध नहीं। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' कहा है वहाँ कोई पर्याय सिद्ध समान (थोड़ी) है ? (ऐसा नहीं है।) परंतु द्रव्य से समानताकी (बात) है। वह तो द्रव्य की अपेक्षा से बात है। 'मोक्षमार्गप्रकाशक' सातवें अधिकार में लिया है न...! कि : राजा और रंक मनुष्यपने की अपेक्षा एक हैं। परंतु राजा व रंक ऋद्धि की अपेक्षा एक नहीं हैं। इस प्रकार सिद्ध व संसारी पर्याय अपेक्षा से समान नहीं हैं। वह तो संसारी का द्रव्य सिद्ध जैसे स्वभाववाला है इसलिये दोनों द्रव्य अपेक्षा से एक हैं, (समान हैं)। पर्याय में यदि अशुद्धता न होवे तो केवलज्ञान हो जावे, सिद्ध हो जावे। (साधक को - मुनियों को) पर्याय में अभी अशुद्धता है, अशुद्धता आती है। मुनियों को भी शुभभाव आता है... परंतु (उनको भी) वह बंध का कारण है। परंतु (वह शुभरागादि) सम्यग्दर्शन होनेके बाद भी आते हैं। निर्विकल्पता में नहीं रह सके तो वहाँ वाँचन, श्रवण, मनन का विकल्प न आये तो अशुभ हो जाय। इसलिये अशुभ से बचने हेतु (ज्ञानी को भी प्रशस्तराग होता है)। (**श्रोता :-**) मुनि को तो अशुभ(भाव) होता ही नहीं है न ? (**उत्तर :-**) अशुभ (भाव) होता नहीं है, फिर भी वह अपेक्षित बात है। उनको (मुनि को) भी आर्तध्यान हो जाता है। छठे गुणस्थान में तीन ही लेश्या गिनी गई हैं। - तेजो, पद्म व शुकल। वहाँ कृष्ण, नील व कपोत को गिना नहीं गया है। ये छहों लेश्या चौथे-पाँचवे गुणस्थान में हैं। फिर भी छठे गुणस्थान में आर्तध्यान

है कि नहीं ? तो आर्तध्यान यह कोई शुभलेश्या है ? उसे गौण करके (मुनि को अशुभ (भाव) होता नहीं है, ऐसा कहते हैं)। (**श्रोता :-**) आर्तध्यान बहुत मंद है ! (**उत्तर :-**) मंद है, मंद किन्तु आर्तध्यान (तो) है। राग व राग की तीव्रता यह आर्तध्यान है। ऐसी कठिन बातें ! आर्तध्यान - रौद्रध्यान - ये कोई यहाँ शुभभाव हैं ? ज़रा इतना आर्तध्यान (मुनि को) हो जाता है। वैसे तो शुभभाव को आर्तध्यान कहा जाता है। विकल्प - परसन्मुख हुआ वह आर्तध्यान है क्योंकि (उसमें) आत्मा की शांति पीडित होती है।

यहाँ तो कुछ और कहना है : वह जो अनुभूति, जो निर्मलपरिणति, जो सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान का ध्येय जिसे यहाँ सत्ता, अवबोध, परमचैतन्य और सुख की अनुभूति में लीन; अर्थात् पर्याय नहीं; त्रिकाली द्रव्य कहा।

आहा...हा...! सूक्ष्म मार्ग बापू ! अलौकिक !! पहला विषय, पहली चीज़ सम्यग्दर्शन ही अलौकिक है ! फिर तो शुभ भी आते हैं, अशुभ भी आते हैं... सब कुछ आता है : चौथे गुणस्थान में लडाई (भी) करते हैं, पाँचवें गुणस्थान में (अमुक प्रतिमा पर्यंत) भोग करते हैं) (चौथे गुणस्थान में) तीर्थंकर (होनेयोग्य) जैसे क्षायिकसमकिती चक्रवर्ती को ९६ हज़ार स्त्रीयाँ थी। परंतु वह सब दुःखरूप है, राग है, विषकुंभ है। और वह अशुभ तो महा विषकुंभ है। 'समयसार' मोक्षअधिकार में - शुभभाव को भी विषकुंभ कहा है। (ज्ञानी को) भी वह (शुभभाव) आता है; परंतु है वह हेय। यदि वे न आये तो अशुभ आ जाय। तो अशुभ को छोड़ने के लिये शुभभाव आते हैं। सम्यग्दृष्टि को भी ये जो भक्ति, वांचन, श्रवण होते हैं। - ये क्या हैं ? ये सब शुभभाव हैं कि शुद्ध (भाव) हैं ? उसे ये (शुभभाव) आते हैं परंतु वे धर्म - मोक्ष का कारण हैं, ऐसा नहीं है। कुछ समझमें आया ?

यहाँ यह लेना है न...! 'सुख की अनुभूति में लीन' - तो कोई यह ले ले कि 'आनंद की पर्याय में लीन' ऐसा (यहाँ) नहीं है। (परंतु) ध्रुव अंतर आनंदस्वरूप में लीन ही है। आहा...हा...! उस ७३ वीं गाथा में तो बताया न...? (यहाँपर) सुख की अनुभूति में लीन '**ऐसे विशिष्ट आत्मतत्त्व को**' - देखो ! खास आत्मतत्त्व - पूर्ण ज्ञान, पूर्ण दर्शन, पूर्ण आनंद, पूर्ण शांति, पूर्ण स्वच्छता, अरे ! (जिसका) सर्वज्ञस्वभाव पूर्ण (है)।

'समयसार' गाथा-१६०, पुण्य-पाप अधिकार में आता है : 'सो सव्वणाणदरिसी' - वह आत्मा (स्वभाव से) सब को जाननेवाला तथा देखनेवाला है फिर भी 'कम्मरएण

णियेणावच्छण्णो' - अपने कर्ममल से सना हुआ - व्याप्त हुआ (है)। आहा...हा...! भगवान(आत्मा) है तो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी... त्रिकाल हाँ ! (यहाँ) पर्याय की बात नहीं है। भाई ! यह चर्चा उस (विद्वान) के साथ हुई थी न...? उसने तो विपरीत अर्थ किया था। परंतु उस बेचारे को कुछ मालूम पड़े तब न...? तो उसे विचार करना पड़ेगा न... बापू ! कहाँ कहाँ किस अपेक्षा से कथन है ? उसे जानना पड़ेगा कि नहीं ? किस नय का कथन है ? (यहाँ) यह तो निश्चयनय के विषय का कथन है। और अनुभव है वह मोक्षमार्ग है। और वह भी निश्चय से तो व्यवहार है। द्रव्य सो निश्चय है, तो निश्चयमोक्षमार्ग (है) वह व्यवहार है।

यह 'मोक्षमार्गप्रकाशक' के पीछे 'परमार्थवचनिका' में आया है : निर्मलपर्याय वह व्यवहार है, भाई ! निश्चयमोक्षमार्ग वह सद्भूतव्यवहार है न...! रागादि तो असद्भूतव्यवहार है।

आहा...हा...! जिस (विवक्षा से) 'समयसार' गाथा-७३ की टीका में 'अमृतचंद्राचार्य' ने कहा उसका अनुसरण यहाँ 'पद्मप्रभमलधारिदेव' ने किया है। उसमें से काफी आधार इसमें लिया गया है। अतः वहाँ ७३ वीं गाथा में जब ऐसा लिया कि : 'सर्व कारकों के समूह की प्रक्रिया से पार उतरी हुई, अर्थात् (सर्व) पर्याय से पार - भिन्न, अंदर अनुभूतिस्वरूप भगवान, त्रिकाल शुद्ध ध्रुव, उसे वहाँ अनुभूतिमात्रपने के कारण शुद्ध कहा है। तब इसे यहाँ 'अनुभूति में लीन' कहा है। त्रिकाली हाँ ! त्रिकाल अनुभूति जो स्वभाव, उसमें वस्तु लीन पड़ी है। बस ! आहा...हा...! आनंदस्वरूप त्रिकाल, पूर्णानंदस्वरूप, पूर्ण ज्ञानस्वरूप (ऐसी यह वस्तु है !)

उसमें यह आपत्ति उठाई थी न...? 'समयसार' गाथा-१६० : 'सो सव्वणाण दरिसी' है न...! उसमें 'कम्मरएण णियेणावच्छण्णो' - देखो, यह (कर्म) रज आया। कर्म के कारण (आत्मा को) आच्छादन है ! - ऐसा नहीं; कहा कि टीका देखो, टीका में 'अपने अपराध से आच्छादन है' ऐसा पाठ है। वह '(कम्म)रएण' का अर्थ तुम कर्मरज कर डालो। यह बात यहाँ है ही नहीं। यहाँ तो संस्कृत टीका में 'अमृतचंद्र आचार्य' ऐसा कहते हैं कि : अपने अपराध से स्वरूप की दृष्टि की खबर नहीं है और उसका ज्ञान नहीं है, तो अपने अपराध से (जो अपना) सर्वज्ञ-सर्वदर्शी पूर्ण स्वभाव है परंतु वह, आच्छादित है। यहाँ तो कहते हैं कि भाई ! शांति का मार्ग है, बापू ! यह कोई वाद-विवाद से (तय) करने जाय (तो हो जाय ऐसा नहीं है)। ऐसा मार्ग है, प्रभु !

यहाँ सम्यग्दर्शन का विषय बता रहे हैं : सुख की अनुभूति में त्रिकाल लीन ऐसे विशिष्ट, अर्थात् खास, आत्मतत्त्व को '**ग्रहण करनेवाले**' - वे तो नय - पर्याय हैं - '**शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के बल से मुझे सकल मोहरागद्वेष नहीं हैं।**' - इस अपेक्षा से हाँ...! वे (मोहरागद्वेष) पर्याय में हैं। परंतु वे वस्तु की दृष्टि में और वस्तु के स्वरूप में हैं ही नहीं। (अनंतानुबंधी) मोह - मिथ्यात्व तो उन्हें (ज्ञानी-मुनि को) तो पर्याय में भी नहीं है। परंतु (मुनि को) ज़रा मोह अर्थात् (चारित्रमोहजन्य) रागादि - पर की ओर की सावधानी - आती है, ऐसा भी (उसका) अर्थ है ! परंतु वह मेरी चीज़ में और मेरी चीज़ सदृश मेरी तो परिणति है उसमें नहीं है !

आहा...हा...! ऐसा मार्ग है !! वे (मोहरागद्वेष मुझ नहीं हैं) इसके कारण सम्यग्दृष्टि को फिर ऐसा हो जाय कि अब हम पूर्ण - सिद्धसमान हो गये; तो फिर शुभ में प्रवर्तन करे या अशुभ में प्रवर्तन करे - दोनों समान, ऐसा नहीं है। कुछ समझमें आया ? अशुभ को छोड़ने के लिये शुभभाव - भक्ति, वांचन, श्रवण, मनन, चिंतवनादि (भाव) आते हैं। - ये सब क्या हैं ? विकल्प हैं। परंतु विकल्प आये बिना रहते नहीं। अंदर निर्विकल्प में जम न सके तो (विकल्प) आये बिना नहीं रहता और अशुभभाव तो विशेष पाप है। कुछ समझमें आया ?

(यहाँ कहते हैं :) '**ऐसे विशिष्ट आत्मतत्त्व को**' आहा...हा...! विशिष्ट - खास तत्त्व। पर्याय से भी भिन्न। आहा...हा...! थोड़ा.. किन्तु (जैसा) सत्य है, वैसा समझना चाहिए। बहुत लम्बी-चौड़ी बातें होवे और (उसमें) सत्य बात आये नहीं (तो वह किस काम की ?) '**ग्रहण करनेवाले शुद्धद्रव्यार्थिकनय के बलसे**' - ऐसा क्यों कहा ? कि : मेरा पुरुषार्थ अंदर है ! त्रिकाली को पकड़नेवाला मेरा पुरुषार्थ है ! शुद्ध वह बिना पुरुषार्थ के हो जाय ऐसा नहीं है। ऐसा कहते हैं। भले क्रमबद्ध होता है परंतु क्रमबद्ध में पुरुषार्थ स्वभाव-सन्मुख जाता है, तब क्रमबद्ध का यथार्थ निर्णय होता है। कुछ समझमें आया ? (**श्रोता :-**) क्रमबद्ध आयेगा तब पुरुषार्थ होगा ही ! (**उत्तर :-**) वह पुरुषार्थ करेगा तभी क्रमबद्ध का निर्णय होगा। सेठ ! कई बार 'काललब्धि कहते हैं न...!' उसका अर्थ इस प्रकार किया कि, काललब्धि आयेगी तब (पुरुषार्थ से) हो जायेगा !

यहाँ तो ऐसा नहीं है प्रभु ! यहाँ तो देखो ! काललब्धि व क्रमबद्ध ये पर्याय में होते हैं न...? तो पर्याय का निर्णय कब होता है ? कि : द्रव्य का आश्रय ले तब निर्णय होता है। पर्याय के आश्रय से पर्याय का निर्णय नहीं होता। कुछ समझमें

आया ? एक न्याय में ज़रा-सा फर्क करे तो अंदर (तत्त्व) सारा बदल जाय ऐसा है। ऐसे कि हमें तो (जब) क्रमबद्ध आयेगा तब (समकित) आयेगा। परंतु 'वह क्रमबद्ध आयेगा' ऐसा निर्णय है तुझे ? 'मैं करूँ... मैं करूँ... मैं करूँ.. ऐसी तो बुद्धि है तो क्रमबद्ध में आयेगा' ऐसा निर्णय कहाँसे आया ? क्रमबद्ध में तो कर्ताबुद्धि उड जाती है। क्रमबद्ध में तो ज्ञाता - दृष्टाबुद्धि हो जाती है। आहा...हा...! भाई ! ऐसा है। (**श्रोता :-**) क्रमबद्ध ही ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करता है ! (**उत्तर :-**) इस क्रमबद्ध का निर्णय किया उसमें सम्यग्दर्शन और ज्ञान अंदर स्वभाव की तरफ आये। (**श्रोता :-**) आपने कहा कि : क्रमबद्ध का ज्ञान तो अक्रम के ऊपर लक्ष जाय तो; तो उसका लक्ष जब जाय वह भी क्रमबद्ध में आता है न ? (**उत्तर :-**) परंतु (इस) क्रमबद्ध में निर्णय क्या ? वह निर्णय भी किया किसने ? क्रमबद्ध की (कोरी) बातें करनी है इसको ? (**श्रोता :-**) निर्णय करने में ऐसा क्रम आयेगा ? (**उत्तर :-**) क्रम आयेगा, तो (भी) निर्णय का पुरुषार्थ करेगा तब उसे क्रमबद्ध का निर्णय होगा। यह तो कहा न...! काललब्धि में भी यह है कि - काललब्धि का ज्ञान कब होता है कि, जब अपने स्वभावसन्मुख पुरुषार्थ - 'यह मैं ध्रुव, पूर्णानंद का नाथ, शुद्धद्रव्यार्थिकनय के बलसे त्रिकाल शुद्ध हूँ' ऐसा पुरुषार्थ - किया तब, क्रमबद्ध (का निर्णय हुआ)। और कर्तापने की बुद्धि छूट गई।

यह तो कहा था न...पहले। हमारी बात, ७२ के संवत की, संप्रदाय की। भारी चर्चा हुई थी। यह प्रश्न हुआ कि 'केवलज्ञानी ने (जैसा) देखा वैसा होगा, हम (पुरुषार्थ) क्या करें ? अपने यहाँ यह आता है न...! कि : 'जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे !' - परंतु किसको ? 'अनहोनी कबहु न होसी काहे होत अधिरा रे।' - परंतु किसको ? कि : जिन्हें कर्ताबुद्धि छूटी गई है उन्हें। 'और केवली ने देखा वैसा होगा, तो केवलज्ञान की पर्याय की सत्ता, जिसकी प्रतीति में आई है; तो वह प्रतीति में तब आती है कि जिसमें सर्वज्ञता अंदर में पड़ी है उसका आश्रय लेकर उसे ऐसी प्रतीति आती है कि 'जगत में सर्वज्ञ हैं।' आहा...हा...! ऐसी बात है, बापू ! क्या करें ? एकांत खींचे रखे, कोई कहीं खींच ले जाय, कोई कहीं खींच ले जाय !

जिज्ञासा :- कोई भी बात (हो, परंतु आखिर में) सर्वज्ञस्वभाव तो आना ही चाहिए !

समाधान :- वहीं जाना है। (यह) एक ही बात है। 'अलमलम' नहीं कहा ? पूर्ण प्रभु तेरी चीज़ है उसका अनुभव कर ! एक ही बात। 'छह ढाल'में आती है

न...! `लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ।' - व्यवहार आता है, व्यवहार होता है, (वह) हो, परंतु `लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ; तोरि सकल जगदंद-फंद, नित आतम ध्याओ।' आहा...हा...! वह है यह (मार्ग) !

यहाँ कहते हैं : मेरे अंतर के बल से अथवा ध्रुव के ध्यान के ध्येय के बल से मुझ में ये मोह और राग-द्वेष नहीं हैं। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

पहला सम्यग्दर्शन का विषय ज़रा सूक्ष्म ! और पहली भूमिका - सम्यग्दर्शन - ही कठिन है ! इसीलिये (ही) बहुत ज़ोर दिया जाता हैं सम्यग्दर्शन के ऊपर। बाकी तो सम्यग्दर्शन होनेके बाद तो अशुभभाव भी आते हैं, शुभभाव (भी) आते हैं। दृष्टि हुई है कि मैं ध्रुव नित्यानंद हूँ, ऐसा अनुभव हुआ है; (परंतु इस भूमिका में पूर्ण) स्थिरता हो नहीं सकती, तो निर्विकल्पध्यान में (निरंतर) रह नहीं सकते; तो श्रवण, मनन, चिंतवन आदि शुभभाव न आये तो तब क्या अशुभ में जाना ? (ऐसा नहीं है)। तो शुभ करना, ऐसा कहा भी जाता है। उपाय से शुभ करो, ऐसा भी उपदेश करने में आता है। सम्यग्दृष्टि को भी अस्थिरता - अशुभ छोड़ने के लिये (ऐसा उपदेश आता है)। अज्ञानी को तो कुछ है ही नहीं, उसे तो अभी मिथ्यात्व पड़ा है। और (बड़ा) अशुभ तो मिथ्यात्व है; उसीसे ही (वह) बचा हुआ नहीं है, तो वहाँ (चारित्रमोहजन्य) अशुभ से बचना कहाँ रहा ? ऐसी बातें हैं !

आहा...हा...! इन दो पंक्तियों में तो कितना भरा है ! (**श्रोता :-**) अभी कोई पूरी (तो) हुई नहीं है ! (**उत्तर :-**) पूरा ! पूरा तो कहाँसे (हो) बापू ! ये तो भगवान - मुनिराज - सच्चे संत लोग पूरा करें, भाई ! वह तो हमारे बस की बात नहीं है ! उसमें तो बहुत गंभीर चीज़ भरी हुई है ! आहा...हा...!

`शुद्धद्रव्यार्थिकनय के बल से' - यह निर्णय पर्याय करती है या द्रव्य करता है ? अनित्य नित्य का निर्णय करता है। नित्य कहाँ निर्णय करें ? नित्य तो ध्रुव है, और कूटस्थ है। `कूटस्थ' में ध्रुव में परिणमन ही नहीं है।

आहा...हा...! भाषा तो देखो : `सत्ता, अवबोध (ज्ञान), परमचैतन्य', - त्रिकाल...हाँ ! ज्ञान-दर्शन दो इकट्ठा कर दिया। चेतन का परमचैतन्य, आत्मा का - तत्त्व का - विशेष आत्मतत्त्व का परमचैतन्य, खास आत्मतत्त्व का परमचैतन्य, `और सुख की अनुभूति में लीन' - त्रिकाल आनंद की अनुभूति में लीन, आनंद में लीन पड़ा हुआ (विद्यमान) है। अंदर पूर्णानंद के नाथ का नाथ प्रभु, पूर्णानंद में लीन है। आहा...हा...! `लीन' में पर्याय नहीं लेनी। आहा...हा...! देखो न ! भाषा ऐसी है न...! `सुख की अनुभूति

में लीन।'...ऐसा ! 'ऐसे विशिष्ट आत्मतत्त्व को' - ऐसा लिया न...? वहाँ पर्याय नहीं ली (परंतु) 'ऐसे (विशिष्ट) 'आत्मतत्त्व को' - आहा...हा...! आचार्यों की भाषा तो देखो ! श्वेतांबर के ४५ (आगम) पढ़े और करोड़ों पढ़े तो भी कहीं तत्त्व हाथ न आये, ऐसी इस एक पंक्ति में ऐसा यह तत्त्व (निहित) है ! वेदांत-वेदांत में कहीं भी नहीं मिलता ! (**श्रोता :-**) वेदांतवाले अपनी बात सुनना चाहे तो उसके साथ बात करनी या नहीं करनी ? (**उत्तर :-**) बात, यहाँ किसे करनी है ? आ जाय तो सुन ले। ऐसी बात सुनकर कुछ लोग ऐसा कहते हैं : ये तो सब वेदांत की बात हैं। क्योंकि अपने जैनधर्म में तो करो व्रत, और तप और भक्ति करना उसका नाम जैनक्रिया !

१९९९ के संवत में राजकोट में एक बावा (साधु) परमहंस चर्चा सुनने के लिये आया था। यह सोचकर कि जैन के साधु (- यहाँ कहाँ साधु थे ?) परंतु वह तो (बाह्यत्याग देखकर) मानते हैं न कि ये त्यागी हैं, साधु हैं) ऐसी बात आत्मा की कर रहें हैं। और हजारों आदमी इकट्ठे होते हैं। तो यह कौन सी विधि है ? अहो ! जैन में ऐसा कहाँ से ? जैन तो क्रियाकांडी... व्रत करने और उपवास करनेवाले (होते हैं) ! उसमें (मैंने) पहले इतनी बात करी कि देखो ! वस्तु तो नित्य ध्रुव है, वही है; परंतु उस ध्रुव का निर्णय करनेवाली पर्याय अनित्य है ! (बावाने कहा :) 'अरे ! आत्मा अनित्य ! आत्मा नित्य -अनित्य दोनों ही है। - उठकर भाग गया। बापू !' यहाँ तो वस्तुस्थिति (यह है)। यहाँ कोई पक्ष नहीं है। यहाँ तुझे वेदांत जैसा लगे... परंतु यहाँ वेदांत नहीं है। कुछ समझमें आया ? (वह) बावा उठकर भाग गया। आत्मा अनित्य ? पर्याय अनित्य, द्रव्य नित्य, क्योंकि वे (वेदांती) लोग पर्याय को माने नहीं तो फिर तुमने 'सर्वव्यापक है' ऐसा माना किसने ? क्या 'ऐसा' ध्रुव मानेगा ? ऐसा नहीं चलता, बापू ! यह तो (सर्वज्ञ का) मार्ग है, भाई ! यह वस्तु (ऐसी है !) अनंत सर्वज्ञ का कहा हुआ तत्त्व यही है ! और यही मार्ग है। यह कोई (पक्ष नहीं है)।

कोई कहे कि यहाँ 'अनुभूति में लीन' उसे पर्याय कहो। तो (ऐसा नहीं है)। यहाँ तो 'ऐसे विशिष्ट आत्मतत्त्व को' लिया है। 'ऐसे विशिष्ट आत्मतत्त्वको' - ऐसा लिया है। वह अनुभूति है यह ध्रुव की बात है। कुछ समझमें आया ?

(ऐसे विशिष्ट आत्मतत्त्व को) 'ग्रहणकरनेवाले' माने जाननेवाले। ग्रहण अर्थात् जानना। ऐसा 'मोक्षमार्गप्रकाशक' सातवें अध्याय में लिया है न...! 'जिनमार्ग में किसी जगह व्यवहार की मुख्यतासहित व्याख्यान है उसे 'ऐसा नहीं है, परंतु निमित्तादि की अपेक्षा

से यह उपचार किया है' ऐसा जानना। और इस प्रकार 'जानने को' नाम ही दोनों नय का 'ग्रहण' है।'

'शुद्धद्रव्यार्थिकनय के बल से' - '(अकेले द्रव्यार्थिकयन के बलसे' (ऐसा नहीं)। 'शुद्धद्रव्यार्थिकनय के बल से' - शुद्धद्रव्यार्थिकनय माने शुद्ध द्रव्य त्रिकाल.... त्रिकाल; उसका जो अर्थी अर्थात् उसका जिसे प्रयोजन है; ऐसा जो नय। (उसके बल से) मुनिराज कह रहे हैं कि : मुझे - भगवत्स्वरूप वीतरागदशा में रमणता, अतीन्द्रियप्रचुर आनंद का स्वाद लेनेवाले को - 'सकल मोहरागद्वेष नहीं हैं।' मेरी चीज़ में मोहरागद्वेष की गंध बिल्कुल नहीं है। और मेरी जो शुद्ध परिणति है उसमें भी मोहरागद्वेष की गंध नहीं है। आहा...हा...हा...!

ऐसी बात है !! भाई ! यह तो जिसे अंतर से छूटना है उसके लिये बात है, बापू ! यह तो कोई मान प्राप्त करने के लिये और - कोई दूसरे के मुकाबले हम विशेष कह रहे हैं न... (इसलिये) हमें बड़ा समझो और फलाँना समझो। हमें समझमें आये ऐसी बात दो तो आप ठीक और... (नहीं तो नहीं ठीक) ! - ऐसी बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो यह वस्तुस्थिति जो है (सो) है।

अब, यहाँ यह बात आई : '**सहज निश्चयनय से**' - यह त्रिकाल भगवानआत्मा सहज निश्चयनय से, स्वाभाविक सत्यदृष्टि से - (१) '**सदा निरावरणस्वरूप**' (है)। द्रव्यस्वरूप तो सदा निरावरण है। वस्तु को आवरण कैसा ? पर्याय में माने एक समय की दशा में राग के साथ निमित्त - नैमित्तिक संबंध है। और कर्म के साथ राग को निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। (कर्म) तो जड़ है न...! भावकर्म-पर्याय को जड़कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध है; वस्तु में तो यह कुछ (निमित्त-नैमित्तिक संबंध) है ही नहीं।

आहा...हा...! 'सदा निरावरणस्वरूप' यह उसे (अज्ञानी को) अंदर बैठना (समझमें आना) कठिन लगे ! 'मैं तो सदा निरावरण स्वरूप हूँ' यह वस्तु है। पर्याय से (निरावरण) नहीं। द्रव्य है वह सदा निरावरणस्वरूप है, जो सम्यग्दर्शन का विषय - द्रव्य, वह सदा निरावरण है।

आहा...हा...! (२) '**शुद्ध ज्ञानरूप**' - त्रिकाल हाँ ! निरावरण - यह तो नास्ति से कहा। परंतु 'यह...' केवल ज्ञान का पुंज प्रभु, ज्ञान का ढेर, ध्रुवज्ञान का ढेर, ज्ञान का ध्रुव पूर्ण ढेर - ध्रुव की बात है न...! 'शुद्धज्ञानरूप'...हाँ ! ज्ञानस्वरूप है।

(३) '**सहज चित्शक्तिमय**' - स्वभाविक ज्ञानशक्तिमय वस्तु त्रिकाल। सहज

चित्शक्तिमात्र भगवानआत्मा। आहा...हा...!

(४) `**सहज दर्शन के स्फुरण से परिपूर्ण मूर्ति**' - यह भी त्रिकाली की बात है। स्वाभाविक दर्शन, उसका स्फुरण, उससे मैं त्रिकाल परिपूर्ण हूँ। यह पर्याय के (बात) नहीं है। जिस प्रकार पहले `लीन' शब्द था उस प्रकार यहाँ `स्फुरण' शब्द है। यह भी त्रिकाली (द्रव्य की ही बात है)। आहा...हा...! एक समय की पर्याय के पीछे पूरा द्रव्य, भगवान परमानंद का नाथ पड़ा (विद्यमान) है ! आहा...हा...! पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण, एक एक गुण पूर्ण, ऐसे अनंत गुणों का नाथ, यह चित्शक्तिमय है। (ऐसा मैं) सहज दर्शन के स्फुरण से परिपूर्ण मूर्ति हूँ। `**जिसकी मूर्ति अर्थात् स्वरूप सहज दर्शन के स्फुरण से परिपूर्ण है।**' त्रिकाली हाँ !

सम्यग्दर्शन का ध्येय त्रिकाली (द्रव्य) है। और भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। `भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो' (- `समयसार' ११ वीं गाथा)। वह भूतार्थ कहो, ज्ञायक कहो, ध्रुव कहो, सामान्य कहो, एकरूप कहो (एकार्थ है)।

वह यहाँ `सहज दर्शन के स्फुरण से परिपूर्ण' - स्फुरण का अर्थ `है' (विद्यमान है)। स्वाभाविक दर्शन के स्फुरण से - परिपूर्ण दर्शन के स्फुरण से अर्थात् प्रगटरूप ध्रुव अंदर है ! यह पर्याय की बात नहीं है। वस्तु परिपूर्ण है। आहा...हा...! उसका दर्शनगुण परिपूर्ण है। पहले `शुद्ध ज्ञानरूप' कहा। फिर `सहज चित्शक्तिमय' कहा। `चित्शक्तिवाला' नहीं कहा, (क्योंकि) `चित्शक्तिवाला' (कहने से) तो भेद पड़ जाता है। (अतः) `चित्शक्तिमय' कहा, आहा...हा...! इसमें (कथन में) आचार्यों के एक एक अक्षर की कीमत है !

`**(ऐसे) और (५) स्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहज यथा - ख्यात चारित्रवाले**' - `यथाख्यात चारित्र' यह पर्याय की बात नहीं है। यथा+ख्यात=यथाप्रसिद्ध चारित्र। अंदर ध्रुव (है)। आहा...हा...! स्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहज यथाख्यात चारित्र(वाले) - देखा ? `**ऐसे मुझे**' - यह पर्याय की बात नहीं है। यह शक्ति-स्वभावरूप - त्रिकाल - यथाख्यातवाले - यथाप्रसिद्ध चारित्र - मुझ में - अंदर स्वरूप में स्थिरता त्रिकाल... त्रिकाल... त्रिकाल... त्रिकाल प्रसिद्ध है !

आहा...हा...! `ऐसे मुझे' (ऐसा शब्दप्रयोग क्यों किया) - क्योंकि : वेदांत में ऐसा कहते हैं कि, `मैं' कहो तो वह तो अलग पड़ गया। (अतः) `सर्व' कहो। क्योंकि वे `सर्वव्यापक' मानते हैं न...? और यदि `मैं' माने तो वह सब में अलग पड़ जाय ऐसा है। अतः वेदांत की जो मान्यता `एक ही सर्वव्यापक है' उसके परिहार हेतु,

एवं अनंत आत्माएँ, अनंत रजकण (व अन्य चार द्रव्यों से) 'मैं' भिन्न हूँ, ऐसा बताने के लिये यहाँ 'ऐसे मुझे' शब्दप्रयोग किया है)। यह शब्द सभी (बोल) में आया है; (जैसे कि) 'मैं' नारकपर्याय नहीं हूँ, ऐसा। (मेरे) आत्मा (के लिये) 'मैं' कह रहा हूँ; सबके लिये 'मैं' (शब्द) नहीं कह रहा; ऐसा कह रहे हैं।

आहा...हा...! ऐसे मुझे '**समस्त संसारक्लेश के हेतुरूप**' - 'संसरणम् इति संसारः' यह समस्त संसाक क्लेश है। चाहे तो स्वर्ग हो तो भी क्लेश है। राग का कलेश है। दुःख का... दुःख का कलेश संसार है। ऐसे कलेश के हेतुरूप '**क्रोध-मान-माया-लोभ नहीं हैं।**' आहा...हा...! क्रोध, मान - ये द्वेष; और माया, लोभ - ये राग; मेरे में नहीं हैं। - ये किसमें नहीं हैं ? पर्याय में सर्वथा नहीं हैं, ऐसा नहीं। वे तो अभी छद्मस्थ हैं। तो पर्याय में ज़रा हैं। परंतु मेरा जो (शुद्ध) परिणमन है उसमें नहीं हैं, इसका अर्थ : मेरे में - द्रव्य में नहीं हैं। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

'(ऐसे) मुझे समस्त संसारकलेश के हेतुरूप क्रोध-मान-माया-लोभ नहीं हैं।' द्वेष के दो भेद : क्रोध व मान। राग के दो भेद : माया व लोभ। - ये संसारकलेश के हेतु हैं।

('समयसार') निर्जरा अधिकार में (श्लोक-१४२) है : 'किलश्यन्तां स्वयमेव' - '(स्वयमेव अर्थात् जिनाज्ञा के बिना) कलेश पाओ तो पाओ।' महाव्रत (और तप) के भार से... कलेश पाओ तो पाओ। परंतु आत्मा के अनुभव के बिना मोक्षमार्ग कभी भी (पा सकते) नहीं हैं।

यहाँ कहते हैं कि : 'समस्त संसार' - अर्थात् चाहे तो स्वर्ग का भव हो या चाहे तो चक्रवर्ती का हो या करोड़ों - अरबोंपति मनुष्य का भव हो, वह संसार है, वह सारा केवल कलेश है। आहा...हा...! समस्त संसारकलेश के हेतुरूप क्रोध-मान-माया-लोभ मुझ में नहीं हैं। आहा...हा...!

'**अब, इन (उपरोक्त) विविध विकल्पों से (भेदों से) भरी हुई विभावपर्यायों का निश्चय से मैं कर्ता नहीं हूँ।**' - रागादि होते हैं उनका निश्चय से मैं कर्ता नहीं हूँ, यह ('समयसार') ४७ शक्ति में वीर्यशक्ति का पाठ बताया था न...! कि : 'स्वरूप की (आत्मस्वरूप की) रचना के सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति।' राग की रचना करे यह (वीर्यशक्ति) नहीं है।

(ज्ञानी को भी राग) आता है, होता है। निर्विकल्प में रह न सके तो अशुभ को टालने के लिये शुभ तो आता ही है। तो कोई कहे कि : (सोनगढ) व्यवहार

का निषेध करता है और (वहाँ) व्यवहार तो बहुत चलता है... मंदिर और यह ओर वह ! (परंतु) वह तो उसके कारण से बनता है, परंतु उसमें भाव शुभ होता है। (**श्रोता :-**) मंदिर इत्यादि आपके उपदेश के कारण बने हैं। (**उत्तर :-**) मैंने तो कभी भी ऐसा नहीं कहा कि यह मंदिर बनाओ। मैं तो उपदेश (के अलावा कुछ) नहीं करता और तत्त्वजिज्ञासु आये तो (वे) सुन लेते हैं। (यहाँ) पहले (लोगों ने अपने-आप) यह स्वाध्यायमंदिर संवत्-९८ में बनाया था। फिर भी मैंने तो पहले ही कहा था कि, देखो भाई ! तुम भले ही यह स्वाध्यायमंदिर बनवा रहे हो तो मैं यहाँ ही रहूँ ऐसा प्रतिबंध मुझे नहीं है; यदि मुझे अंतर वैराग्य वीतरागता विशेष बढ़ जायेंगे तो मैं छोड़ जाऊँगा ! (इसके बाद भी जब) नानालालभाई जसाणी राजकोटवाले ने कहा कि - मुझे यह (जिन)मंदिर बनवाना है; (तब भी) मैं ने कहा नहीं है कि बनाओ। वहाँ हमने किसी से कहा नहीं। (यहाँ तो व्याख्यान में) न्याय और उपदेश आता है उसमें समझना हो, वह समझ ले ! (फिर भी) यहाँ तो लाखों रुपये आते हैं... आये... आनेवाला हो सो आये, जानेवाला हो सो जाय। जो रजकण जहाँ आनेवाले हो वे आये। उसे लाये कौन और रखे कौन ? यहाँ तो कहते हैं कि - वह मैं हूँ ही नहीं !

देखो ! कहते हैं : '(**निश्चय से**) **मैं कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ, और** (**पुद्गलकर्मरूप**) **कर्ता का अनुमोदक नहीं हूँ।**' आहा...हा...! व्यवहाररत्नत्रय का राग आये उसका कर्ता नहीं हूँ, उसका करानेवाला नहीं हूँ (और अनुमोदक भी नहीं हूँ)।

आहा...हा...! ('समयसार') पुण्य-पाप अधिकार, गाथा-१४५ में यह आता है न...! कि : 'ते केम होय सुशील जे संसार मां दाखिल करे ?' पुण्यभाव भी कुशील है। क्योंकि वह संसार में दाखिल करता है। भले ही आये ! होता है। यदि न होवे तो वीतराग हो जाय। परंतु वह पुण्यभाव कुशील है, उसे सुशील कैसे कहें ? वह कुशील तो संसार में दाखिल करे, वह भव (वृद्धि) करता (है)।

यहाँ तो कहते हैं कि : उन सभी (विभावपर्यायों) का मैं कर्ता नहीं हूँ; कारयिता नहीं हूँ और पुद्गल कर्मरूप कर्ताका '(**- विभावपर्याय के कर्ता जो पुद्गलकर्म उनका -**) **अनुमोदक नहीं हूँ।**' (ऐसा वर्णन किया जाता है)।'

विशेष आयेगा।

***

प्रवचन- १८, दि. १६-२-१९७८

(`नियमसार') परमार्थ-प्रतिक्रमण। यहाँ (तक) आये हैं : `अब, इन उपरोक्त) विविध विकल्पों से (भेदों से)' अर्थात् चौदह गुणस्थान, चौदह जीवस्थान, चौदह मार्गणास्थान आदि सब भेदों से `भरी हुई विभावपर्यायों का निश्चय से मैं कर्ता नहीं हूँ।' आहा...हा...! राग का तो कर्ता नहीं हूँ, परंतु भेदों का भी कर्ता नहीं हूँ। अभेद में भेद भासित नहीं होते। अंदर जो गुण आदि हैं फिर भी ये भेद, अभेददृष्टि में भासित नहीं होते। अतः कहते हैं कि : भेद मेरे में हैं ही नहीं। गुण-गुणी के भेद या ज्ञान की पाँच अवस्था आदि के भेद वे - मैं अभेद चैन्यमूर्ति हूँ - इसके अंदर नहीं हैं। इसका नाम सच्चा प्रतिक्रमण कहा जाता है। आहा...हा...! ये (सब विभावपर्याय निश्चय से) मैं नहीं हूँ, उसका मैं कर्ता और कारयिता भी नहीं हूँ (और अनुमोदक भी नहीं हूँ)। (मैं) राग का तो कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ, परंतु भेदों का भी कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ और भेद करनेवालों का अनुमोदक भी नहीं हूँ। आहा...हा...! पुद्गलकर्मरूप कर्ता का (अनुमोदक मैं नहीं हूँ)। वरना विकारीपर्याय तो पुद्गलकर्म के निमित्त से हुई (है, ऐसी) पुद्गल कर्मरूपपर्याय का कर्ता पुद्गलकर्म (है) उनका (मैं) अनुमोदक नहीं हूँ। ऐसा वर्णन किया जाता है। आहा...हा...! यह तो बहुत शांति का मार्ग है, प्रभु !

(अब कहते हैं :) `**मैं नारकपर्याय को नहीं करता।**' नारकी के शरीर की पर्याय को मैं नहीं करता, मैं नहीं करवाता और मैं अनुमोदन नहीं करता। और इस नारकपर्याय का मैं कारण (भी) नहीं हूँ। ऐसे `**सहज चैतन्य के विलासस्वरूप आत्मा को ही भाता हूँ।**' - स्वाभाविक चैतन्य के विलासस्वरूप आत्मा है। भगवानआत्मा चैतन्यविलासी प्रभु (है)।

(लोग) कहते नहीं हैं कि - यह विलासी आदमी है। यह बाहर में भोग में -

पैसों में विलासी (मस्त) है। (परंतु) वे विलासी तो धूल के भी नहीं हैं। (ये तो) ज़हर के विलासी हैं ! ये (ज्ञानी) तो चैतन्यस्वरूप आत्मा के विलासी हैं।

आहा...हा...! सहज चैतन्य के विलासस्वरूप आत्मा (है)। यह आत्मा चैतन्यविलासस्वरूप है। आत्मा त्रिकाल चैतन्य के विलासस्वरूप ही है। ऐसा कहते हैं। उसका स्वरूप ही ऐसा है। चैतन्यविलासस्वरूप का विलास पर्याय में करना ! (अर्थात्) यह (आत्मा) स्वभावरूप से विलासस्वरूप है, तो परिणति में चैतन्य का विलास प्रगट होता है। उसका नाम सच्चा प्रतिक्रमण कहा जाता है।

है न...! 'सहज चैतन्य के विलासस्वरूप आत्मा को ही भाता हूँ।' उसको मैं भाता हूँ। (उसकी भावना भाता हूँ)। अर्थात् भावना करता हूँ। मैं अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा की भावना भाता हूँ। भावना अर्थात् अंतर एकाग्रता।

सूक्ष्म बात है न, भाई ! अपूर्व बात। अनंतकाल में कभी भी की नहीं है। अनंतबार जैन साधु हुआ, ग्यारह अंग पढ़े, त्याग-वैराग्य अनंत बार लिया, परंतु वास्तविक ज्ञान और वैराग्यशक्ति - जो समकिती को होती है, वह निर्जरा अधिकार में आता है न...! ज्ञान और वैराग्यशक्तिः स्वरूप का ज्ञान व पर की ओर से उदासीन(रूप) वैराग्य, ऐसी शक्ति - कभी भी प्रगट करी नहीं है। बाहर से कदाचित् कषाय की मंदता करी हो परंतु वह तो रूँधा हुआ (दबा हुआ) कषाय है। ('बहिनश्री के वचनामृत'में है) उस कषाय को रुँधा है, अंदर दबाकर रखा है।

यहाँ कहते हैं कि : 'मैं नारकपर्याय को नहीं करता' क्यों ? कि : मैं तो 'सहज चैतन्य के विलासस्वरूप आत्मा को ही भाता हूँ।' ('भाता हूँ') यह पर्याय है। 'सहज चैतन्य के विलासस्वरूप आत्मा' यह तो त्रिकाली चीज़ हुई। 'उसे मैं भाता हूँ, उसकी मैं भावना करता हूँ' वह तो पर्याय हुई, यह निश्चय-प्रतिक्रमण की दशा हुई।

'**मैं तिर्यंचपर्याय को नहीं करता।**' तिर्यंच माने निगोद से लेकर सभी तिर्यंच हाँ। निगोद भी तिर्यंच में समाहित है। निगोद एकेन्द्रिय, द्विइन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय (संज्ञी व असंज्ञी दोनों) वे तिर्यंचशरीर; वे शरीर जिनसे मिले ऐसे भाव को भी मैं करता नहीं हूँ, करवाता नहीं हूँ, करनेवाला हो उसका मैं अनुमोदन नहीं करता और उसका मैं कारण भी नहीं हूँ। (**श्रोता :-**) उपादानकारण नहीं या निमित्तकारण नहीं ? (**उत्तर :-**) उपादानकारण नहीं और निमित्त कारण भी नहीं। उपादानकारण (वह) तो पर में गया। परंतु उसका निमित्त कारण भी मैं नहीं हूँ। आहा...हा...! मैं तो वीतरागीपर्याय का कारण भगवानआत्मा ! मैं तो ज्ञाता-दृष्टा, चैतन्यविलासस्वरूप

भगवानआत्मा; उसको भाता हूँ, उसमें वह (तिर्यंचपर्याय और उसके कारण) कहाँ आये ? सूक्ष्म बात है, बापू ! जगत को (पता नहीं है)।

ध्रुव का ध्यान करता हूँ, ऐसा कहते हैं। ...लो। ध्रुव कैसी चीज़ है ? कि : चैतन्यविलासस्वरूप भगवानआत्मा, जिसमें अनंत गुण के बगीचे पड़े हैं। 'बहिन' ने ('बहिनश्री चंपाबहिन'ने) कहा न...! अंदर अनंतगुण के कमरे हैं। इस प्रकार एक एक गुण अनंत गुण का कमरा है। एक एक गुण में अनंती शक्ति, अनंत गुण का आनंद है - एक एक गुण का आनंद है : अस्तित्व का आनंद। वस्तुत्व का आनंद, कर्ता का आनंद, कर्ता शुद्ध हाँ ! कर्ताशक्ति है न अंदर ! उसका आनंद। कर्म अर्थात् कार्य यह शक्ति अंदर ध्रव है उसका आनंद। करण अर्थात् साधन यह शक्ति अंदर त्रिकाल है उसका आनंद। संप्रदान माने अपना करके अपने में रखना ऐसी अंदर संप्रदानशक्ति है वह भी बड़ा कमरा है, उस संप्रदान का आनंद। आधार (का आनंद) अंदर अनंतशक्ति है, बापू ! अपादान उसमें प्रगट होता है (उसका आनंद)। आधार (का आनंद) ऐसी अनंतशक्ति !

४७ शक्ति में एक 'अनंतधर्मत्वशक्ति' आती है न...! एक अनंतधर्मत्वशक्ति। और एक एक शक्ति में उसका रूप। ऐसा अनंतधर्मत्व उसका है। आहा...हा...! अनंतधर्मत्व नाम का एक गुण है; उसमें अन्य अनंतगुणों का रूप है; और उसका रूप अनंतगुण में है। आहा...हा...! ऐसा भंडार भगवान अंदर पड़ा (विद्यमान) है। कुछ समझमें आया ?

(यहाँ कहा :) 'मैं तिर्यंचपर्याय को नहीं करता।' तिर्यंचपर्याय में निगोद से लेकर सब (पर्याय) लेना। इस तिर्यंचपर्याय का मैं कर्ता नहीं, कारयिता नहीं, अनुमोदक नहीं और कारण भी नहीं। मैं तो '**सहज चैतन्य के विलासस्वरूप आत्माको ही भाता (भावना करता) हूँ।**' स्वाभाविक चैतन्य का विलास जिसमें भरा है ऐसा भगवानआत्मा, जो मेरी दृष्टि का विषय है, वह तो चैतन्य के विलास से भरा प्रभु है ! आहा...हा...!

(वर्तमान में) जो प्रवाह है, उससे यह बात (निराली) आती है तो लोगों को कठिन पड़ती है, और इसलिये ऐसी लगे कि - यह एकांत है, निश्चयाभास है; ऐसा लगे। परंतु वस्तु(स्थिति) तो यह है ! भव का अंत लाने की चीज़ तो यह है ! जिससे भव मिले यह तो कलंक है। 'योगसार' में कहा है कि : भव करना यह कलंक है। तो जिस भाव से भव मिले वह भाव भी कलंक है।

यहाँ कहते हैं कि वह कलंक का भाव, उसको मैं करता नहीं हूँ, करवाता नहीं हूँ, अनुमोदन नहीं करता और उसका कारण (भी) नहीं हूँ। मैं तो चैतन्यविलासस्वरूप

को भाता हूँ। अंतर सन्मुख में मेरी भावना है। आहा...हा...! जहाँ भगवान चैतन्यस्वरूप विराजमान है, उस ओर की मेरी भावना है, आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

'**मैं मनुष्यपर्याय को नहीं करता।**' बहुत वर्ष पहले यहाँ एक पंडित आये थे (उन्होंने कहा कि :) यदि मनुष्यत्व हो तो व्रतों द्वारा केवलज्ञान होता है; मनुष्यत्व के बिना कहीं होता है ? अतः मनुष्यत्व की कीमत है ! (परंतु) यहाँ तो कहते हैं कि : मनुष्यत्व चीज़ एक तो शरीर है, और मनुष्य की जो (अंदर) योग्यता है वह भी विकार - विभाव है ! (वे ऐसा भी कहते थे कि :) मनुष्यत्व, वज्रवृषभनाराचसंहनन ये सभी धर्म में सहायक हैं। (परंतु) यहाँ तो कहते हैं : वह चीज़ परद्रव्य है। (धर्म में) परद्रव्य तो सहायक नहीं है परंतु अंदर विकल्प उठते हैं, अरे ! भेद उठते हैं वे भी सहायक नहीं हैं।

अरेरे...! यह कठिन बात है। यह सत्य का क्रांति-काल है न...! अतः लोगों को जल्दी रुचती नहीं है। क्योंकि वह (स्वलक्षी) दिशा की ओर (कभी भी) गया नहीं है न...! और उस दिशा की ओर कैसे जाया जाय उसकी बात भी उसने रुचिपूर्वक सुनी नहीं है। उसे बाहर का प्रेम-उत्साह-महिमा (रहता है, इसलिये) बाह्य में अहोहो ! बड़ी रथयात्रा निकाले... गजरथ निकाले... साधुपने की (बात) ऐसे वस्त्र निकाल दे और नग्नदीक्षा और... इस प्रकार इकट्ठे हो जाय बहुत लोग और... यह सब ठाठ-बाट लगे। परंतु यहाँ तो कहते हैं कि वे सब क्रिया पर की हैं, प्रभु ! और (ऐसा) अंदर जो विकल्प उठता है वह राग है। मैं उस राग का कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ और अनुमोदक नहीं हूँ। (मैं तो) '**(सहज) चैतन्य (के) विलास(स्वरूप) आत्मा को (ही भाता हूँ)**' कि, जिसमें चैतन्य का विलास भरा है। (यहाँ) चैतन्य की मुख्यता से लिया है। परंतु सारे गुण लेना। 'ज्ञान सो आत्मा' लेते हैं न...! तो उस ज्ञान के साथ सभी अनंतगुण लेना। कुछ समझमें आया ?

'**मैं देवपर्याय को नहीं करता, सहज चैतन्य के विलासस्वरूप आत्मा को ही भाता हूँ।**' आहा...हा...! ऐसी दलील आती है कि भाई ! वहाँ ('समयसार') आठवीं गाथा में 'व्यवहार निश्चय का उपदेशक है' ऐसा आता है न...! आठवीं गाथा : 'जह णवि सक्कमणज्जो।' व्यवहार द्वारा निश्चय का उपदेश है। (**श्रोता :-**) उपदेश अन्य प्रकार से देना असंभव है ? (**उत्तर :-**) किस तरह दिया जाय ? अतः वहाँ (टीका में) आया है न...! जिस प्रकार ब्रह्माण ने 'स्वस्ति' कहा। तो उसे सुनकर (उसका अर्थ म्लेच्छ) समझ नहीं सकता तो तब फिर इस तरह टुकुर टुकुर देखता रहता है कि

ये क्या बोल रहे है ? तो (ब्राह्मण ने कहा :) `स्वस्ति' का अर्थ प्रभु ! `तेरा अविनाशी कल्याण हो' ऐसा है। आहा...हा...! ऐसा जिस वख्त कहा उसी वक्त उसकी (म्लेच्छ की) आँखों में आनंद के आँसु आ गये। उस प्रकार (व्यवहार एवं परमार्थ मार्ग पर सम्यग्ज्ञानरूपी, महारथ को चलानेवाले सारथि समान हैं ऐसे श्रीगुरु जब व्यवहार में आये हो तब, वे) दूसरों को - शिष्य को समझाते हैं कि, भाई ! `यह आत्मा है।' तब वह (शिष्य उसका अर्थ समझे नहीं तो) टुकुर टुकुर देखता रहे कि, यह क्या कह रहे हैं !? क्या कह रहे हैं ! परंतु सुनकर (उपेक्षा करता है ऐसा नहीं है परंतु अपूर्व अंतररुचि से) देखता है कि, यह क्या कह रहे हैं ? मैं समझ नहीं पा रहा हूँ। तो (श्रीगुरु ने) उसका (`आत्मा' शब्द का) अर्थ किया कि : प्रभु ! हम उसे आत्मा कहते हैं कि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हो वह आत्मा ! यह व्यवहार। यह उपदेश। `द्रव्यसंग्रह' में आखिर में है। मूल शब्द है : `अततिगच्छति इति आत्माः। ' `अतति' माने अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को (`गच्छति' माने) प्राप्त हो वह आत्मा। यह भी व्यहार द्वारा उपदेश आया। भेद करके समझाया। वरना समझाये किस प्रकार ? (आत्मा का अर्थ सुनने के) बाद में वह (शिष्य) समझा अंदर से - अहो...हो...हो...! यह आत्मा !! (तो समझते ही) तुरंत ही उसे आनंद का उछाल आता है। ऐसी योग्यतावाला ही जीव (शिष्य के रूप में) लिया है। एकदम अंदर से पकड़ता है। पात्र जीव है। अहो...हो...! यह आत्मा !! कि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेदरूप परिणमन करता है वह `अभेद आत्मा' !! आहा...हा...! यह सुनकर अंदर से आनंद की धारा बही। अतीन्द्रिय आनंद आया। बस ! सुना और तुरंत ही (अत्यंत आनंद से, उसके हृदय में सुंदर बोधतरंगे (ज्ञानतरंगे) उछलती हैं। ऐसी ही चारों ओर से वस्तु ली है। ऐसा शिष्य लिया है। फिर तो आचार्य ने कहा कि : हम भेद से समझा रहे हैं, परंतु उसका (व्यवहार का) अनुसरण हमें नहीं करना है और तुझे भी नहीं करना है। प्रभु ! आत्मा उसे कहें जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हो। पुण्य, पाप, दया, दान, व्रत को प्राप्त हो वह आत्मा नहीं। इस बात को तो निकाल ही दिया। भेद करके कहा गया। परंतु कहने में क्या आया ? कि : `यह आत्मा' !... तो उस (शिष्य) की दृष्टि भी आत्मा के ऊपर जानी चाहिये। भेद से समझाया कि : दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हो सो आत्मा। परंतु उस भेद के ऊपर लक्ष नहीं करना चाहिए। आहा...हा...! हमें तो यहाँ यह लेना है कि : जो आत्मा सुनने आया। उसे सुनने की जिसे धगश (उल्लास व लगन) है उसे समझाया। यह पाँचवीं गाथा में लिया है। समझाया तो

भेद से। क्योंकि भेद से समझाये विना तो कोई (समझाने का) उपाय नहीं है। अतः वहाँ कहा कि : व्यवहारनय स्थापन करने योग्य है। (परंतु वह अनुसरण करने योग्य नहीं है)। सुबह आया था न...! कि : किसी भी विकल्प द्वारा धर्म होता है, यह स्थापन करने योग्य नहीं है। अर्थात् व्यवहार से लाभ है ऐसी बात नहीं है। 'उससे लाभ है' इसका तो सवाल ही नहीं है। व्यवहार का अनुसरण करके निश्चय होता है ऐसा नहीं है। परंतु व्यवहारनय (भेद) के बगैर समझाने की योग्यता किसीकी नहीं है। (इस अपेक्षा से यहाँ कहा कि :) 'व्यवहारनय स्थापन करने योग्य है।' कुछ समझमें आया ? शिष्य भी अंदर ऐसा समझता है (मानता है) कि : गुरु ने जो आत्मा कहा कि, जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हो, वह आत्मा कौन ? कि : उस अभेदआत्मा पर दृष्टि जाने से सम्यग्दर्शन हुआ तो आनंद की धारा बही। आहा...हा...! यह आत्मा !! जिस प्रकार फव्वारेमें से पानी फूटता (उड़ता) है उस प्रकार अंदर त्रिकाली - ज्ञायक - चैतन्य विलास भगवान; उसको मैं भाता हूँ, उसकी मैं एकाग्रता करता हूँ, तो पर्याय में आनंद की धारा बहती है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

आनंद भगवान (आत्मा) में है। आनंद (अन्यत्र) कहीं नहीं है। आनंद शरीर में नहीं है। आनंद पैसे में नहीं है। आनंद दया-दान के परिणाम में नहीं है। आनंद हिंसा-झूठ के भाव में नहीं है। भोग की वासना में आनंद नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प में आनंद नहीं है। आनंद तो अंदर भगवान में है। ऐसा चैतन्यविलासी आनंदस्वरूपी भगवान; उसको मैं भाता हूँ। ऐसा कहते हैं।

वहाँ ('समयसार') आठवीं गाथा में भी यह लिया : उसे एकदम से जहाँ कहा - यह 'आत्मा' ! व्यवहार-विकल्प को प्राप्त करे और विकल्प उत्पन्न करे वह आत्मा, ऐसी बात नहीं। व्यवहार से कहा तो इतना कहा : सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हो (वह आत्मा)। इस प्रकार भेदपूर्वक कथन करके 'अभेद' समझाया। परंतु भेद पर लक्ष नहीं करना। यह (बात) यहाँ आती है न...? और वहाँ (आठवीं गाथा की टीका में) आखिर में यह है : 'वचनाद्व्यवहारनयो नानुसर्तव्यः' कहनेवाले को और सुननेवाले को व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है। बिना भेद के समझाया नहीं जाता फिर भी भेद का अनुसरण नहीं करना।

आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। लोगों को कठिन लगे, परंतु क्या करें ? (लोगों को मूल मार्ग की खबर नहीं है इसलिये कहते हैं) कि इन्होंने (सोनगढ़वालों ने) नया धर्म निकाला। हमारे यहाँ जो (क्रियाकांडरूप धर्म) परंपरा से चला आ रहा था

(उससे भिन्न), ऐसा कोई लोग कहते हैं। परंतु यह नया (धर्म) नहीं है, भगवान ! अनंत तीर्थंकरों कहा हुआ वही 'यह' मार्ग है !

यह बात यहाँपर कहते हैं : 'मैं देवपर्याय को नहीं करता, सहज चैतन्य के विलासस्वरूप आत्मा को ही भाता हूँ।' मेरी भावना भगवानआत्मा के ऊपर है। भगवान का भाव त्रिकाली; उस भावकी 'भावना' वह पर्याय है। 'भाता हूँ' ऐसा कहा न...! मैं निर्मल - वीतरागीपर्याय से त्रिकाली वीतरागीस्वरूप चैतन्यविलास को भाता हूँ। आहा...हा...!

'आत्मभावना भावता, जीव लहे केवलज्ञान रे।' (पत्रांक : ४७४)। यह 'श्रीमद्जी' ने कहा है न...! वहाँ (संप्रदाय में) तो लोग भक्ति करते है न...! परंतु भक्ति दो प्रकार से है : निश्चयभक्ति और व्यवहारभक्ति। आत्मा में अंदर एकाग्र होना यह निश्चयभक्ति है। भगवान की भक्ति आदि का विकल्प वह तो व्यवहारभक्ति है। (विकल्प) आते हैं। पूर्ण (वीतराग) न हो तब तक (विकल्प) आये बिना तो नहीं रहते। 'समयसार' की 'जयसेनाचार्य' की टीका में है न... निश्चयभक्ति और व्यवहारभक्ति। 'नियमसार' में भी 'परमभक्ति अधिकार' गाथा-१३४ से १४० तक आता है। कोई कहता है न... कि : चौथे-पाँचवें में निश्चय नहीं होता; निश्चय छठे में होता है। परंतु यहाँ तो कहते हैं कि : पाँचवें गुणस्थान में श्रावक को भी निश्चयभक्ति होती है। 'सम्मत्तणाणचरणे जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो। तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं'।।१३४। - 'जो श्रावक अथवा श्रमण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की भक्ति करते हैं, उन्हें निर्वृत्तिभक्ति (निर्वाण की भक्ति) है ऐसा जिनेश्वरों ने (अनंत तीर्थंकरों ने) कहा है।' आहा...हा...! (**श्रोता :-**) पर्याय की बात है। (**उत्तर :-**) पर्याय अंदर द्रव्य में है। परंतु भक्ति के परिणाम यह तो द्रव्य है। परंतु राग से हटकर उसकी (निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की) भक्ति करता है तो उसे (निर्वाण की) भक्ति कही जाती है। (भक्ति अर्थात् भजन)। कथन तो पर्याय के बिना क्या आयेगा ? यहाँ मुझे तो और कुछ कहना था कि : श्रावक को भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निश्चयभक्ति होती है। इस प्रकार तीनों की होती है। भले थोड़ा चारित्र है; छठे-सातवें में विशेष है; परंतु चारित्र है अंदर। क्योंकि (वहाँ) अनंतानुबंधी का अभाव हुआ और अप्रत्याख्यानवरण का अभाव हुआ इसलिये उतना चारित्र है। और चौथे में अनंतानुबंधी का अभाव हुआ उतना (वहाँ भी) स्वरूपाचरण चारित्र है। परंतु पाँचवें में (अनंतानुबंधी और) अप्रत्याख्यानावरणीय का अभाव हुआ है, स्वरूप का उग्र आश्रय लिया है, चैतन्यविलास

(स्वरूप) भगवान का आश्रय उग्र लिया है तो (वहाँ) शांति तो (चौथे से विशेष) आयी है। यहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों साथ में आये हैं। श्रावक को तीनों कहे न...! कोई कहे कि : नहीं। श्रावक को तो ज्ञान-दर्शन दो ही होते हैं (परंतु) यहाँ तो (तीनों की भक्ति ली है) तीनों ही हैं, बापू !

'पद्मनंदीपंचविंशतिका' ('देशव्रत उद्योतन' गाथा-२१,२२,२३) में ऐसा पाठ आता है कि : समकिती - ज्ञानी श्रावक विधिपूर्वक जिनप्रतिमा और जिनगृह का निर्माण करवाते हैं वे भव्य, सज्जन पुरुषों द्वारा वंदनीय हैं। उस जगह तो वहाँ तक लिया है कि : (कुंदरवृक्ष के पत्ते के बराबर जिनालय और) जो (के दाने) बराबर जिनप्रतिमा का निर्माण करवाते हैं (उनके पुण्य का वर्णन करने के लिये यहाँ वाणी) (सरस्वती) भी समर्थ नहीं है)। आहा...हा...! यह तो भाव की बात है न...? तो फिर जो बड़े मंदिर बनवाये उसे तो क्या कहें ? उसे तो संघपति कहे जाते हैं। ऐसा लिया है। और श्रावक वंदनीय हैं, ऐसा लिया है। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की भक्ति सहित ऐसे शुभभाव आये : मंदिर (निर्माण का), जलयात्रा, रथयात्रा इत्यादि - (बाह्य) क्रिया तो होनेवाली होती है, परंतु भाव इसका है न...! तो ऐसे श्रावक को वंदनीय कहा है, वे वंद्य हैं। आहा...हा...!

एक तरफ ऐसा ले कि : 'अस्संजदं ण वन्दे' (-'दर्शनपाहुड'/गाथा-२६)। वह मुनि के योग्य वंदन उसको नहीं है। परंतु उसके योग्य श्रावक को भी वंदन होता है। वैसे तो वहाँ ऐसा लिाय है : श्रावक को शुद्धोपयोग नहीं होता। (परंतु) जो मुनियोग्य शुद्धोपयोग है वह (उनको) नहीं होता; ऐसा लेना। 'परमशुद्ध' तो वहाँ पाँच गाथा में लिया है; परंतु ये (कुछ पंडित) तो वहाँ से ऐसा निकालते हैं कि : देखो ! शुद्धोपयोग तो मुनि को होता है, श्रावक को नहीं। परंतु शुद्धोपयोग के बिना सम्यग्दर्शन ही नहीं होता - पहली बात यह है ! भाई ! क्या करें ?

'समयसार' 'जयसेनाचार्य' की टीका में आता है : सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जब सामायिक आदि में बैठते हैं तब तो शुद्धोपयोग होता है। आहा...हा...! अंदर ध्यान में लग जाय (तब) शुद्धोपयोग हो जाता है। उसे सामायिक कहें। (परंतु) सम्यग्दर्शन न होवे और (उसका) भान भी न होवे... और सामायिक हो गई - सामायिक कहाँ से आयी ?

अंतर के अनुभव में दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भक्ति तो है, तदुपरांत भगवान की पूजा, भक्ति, मंदिर, कलशाभिषेक इत्यादि इन्द्र (भी) करते हैं, ऐसा भाव श्रावक को होता है, बड़े-बड़े मंदिर बनवाये, तो (वह श्रावक) वंदनीय है, ऐसा पाठ

('पद्मनंदीपंचविंशतिका' में है।

(कहाँ) किस अपेक्षा से कथन है, यह जाने नहीं और एकांत खींचता रहे तो ऐसा नहीं चल सकता, भाई ! यह तो प्रभु का स्याद्वाद मार्ग है। यहाँ (श्रावक को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) तीनों कहें। और एक ज़गह ऐसा कहा कि, श्रावक को शुद्धोपयोग नहीं होता। (परंतु भाई !) वह शुद्धोपयोग जो मुनि के योग्य है वैसा उपयोग उन्हें (श्रावक को) नहीं है। कुछ समझमें आया ?

आहा...हा...! देखो न... कैसा अधिकार है ! चैतन्य का विलास जहाँ सम्यग्दर्शन में आत्मा अनुभव में आया वहीं पर ही शांति और वहीं पर ही निश्चय से तो स्वरूपाचरणरूपी चारित्र प्रगट होता है। परंतु (उसे) संयम नाम दे वैसा चारित्र वहाँ (चौथे में) नहीं होता। वह चारित्र आंशिक रूप से पाँचवें में होता है। बाकी चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरण चारित्र है !

'शीलपाहुड' (गाथा-३२) में तो वहाँ तक कहा है कि : चौथे गुणस्थान में नारकी को भी शील है (- विषयों से विरक्त हैं)। नारकी में भी शुद्धसमकित है, उन्हें अनुभव है अर्थात् उसे (आत्म)दृष्टि है, ज्ञान है और आंशिक स्थिरता भी है तो उन्हें शील है, ऐसा कहा है। वे वहाँ से निकलकर तीर्थंकर भी होते हैं, ऐसा पाठ है। आहा...हा...! नारकी के भी शील है, ऐसा कहा। सम्यग्दृष्टि हैं न...! उनकी बात है। पूरे आत्मा की दृष्टि प्रगट हुई और आचरण प्रगट हुआ, उस शील के प्रताप से कहते हैं कि बाहर निकलकर कोई तीर्थंकर होंगे। देखो ! अभी है न...! श्रेणिकराजा। पहली नरक में ८४ हज़ार वर्ष की स्थिति है। (उन्हें) शील है। शील अर्थात् ब्रह्मचर्य। काया से परस्त्री आदि का (भोग) यह प्रश्न वहाँपर नहीं है। वहाँपर वह बात कहाँ है ? और देव में ऊपर नौवीं ग्रैवेयक में तो स्त्री का त्याग है फिर भी वहाँ पंचमगुणस्थान नहीं है। स्त्री के भोग का तो त्याग है, नौवीं ग्रैवेयक में स्त्री-इन्द्राणी ही नहीं है। यहाँ तो अंदर सम्यक् अनुभव, दृष्टि और आंशिक स्थिरता प्रगट हुई उसे शील कहा गया है। (अरे...!) वे (समकिती) स्त्री का त्यागी न होवे तो भी (उन्हें) शील है ! और नौवीं ग्रैवेयक में तो स्त्री नहीं है तो मिथ्यादृष्टि (वहाँ) स्त्री का त्यागी है फिर भी वहाँ (उन्हें) शील नहीं है। यह कोई स्त्री के त्याग के कारण शील है ऐसी बात नहीं है। नारकी को चौथे गुणस्थान में शील कहा है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अंश प्रगट हुए हो उतना आत्मा का शील अर्थात् स्वभाव है, उतना शील है ! श्रावक को पँचम गुणस्थान में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र - तीनों की भक्ति है।

'कुंदकुंदाचार्य' का श्लोक है। विस्तार तो बहुत है। परंतु यहाँ (यह विषय) चल नहीं रहा है।

यहाँ अब कहते हैं कि '**मैं चौदह मार्गणास्थान के भेदों को करता नहीं हूँ।**' दृष्टि के विषय में भेद नहीं आता। दृष्टि का विषय अभेद है। ज्ञान है वह तो भेद को जानता है; परंतु दृष्टि के विषय में भेद नहीं आता। आहा...हा...! गज़ब बात है !! मैं चौदह मार्गणास्थान (के भेदों को करता नहीं हूँ) ! ज्ञान के पाँच भेद मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल (तथा अज्ञान के तीन भेद) ये ज्ञानमार्गण के भेद मेरे में नहीं हैं। (यह) यहाँ सिर्फ ज्ञान(मार्गणा) की बात ली। परंतु समकित के भेद-क्षायिकसमकित, उपशमसमकित, क्षयोपशमसमकित आदि सब (मार्गणाभेद - ये (भी) मेरे में नहीं हैं। आहा...हा...! ऐसी बात है ! गज़ब बात है न...! चौदह मार्गणास्थान के भेद हैं न...? मार्गणास्थान के भेदों को मैं करता नहीं, करवाता नहीं और भेद करते हैं उनका मैं अनुमोदन भी नहीं करता। आहा...हा...! (**श्रोता :-**) भेद कौन करता है ? (**उत्तर :-**) यह भेद, कर्म के निमित्त के अधिन अपनी पर्याय में, निमित्त से नहीं, निमित्ताधीन (व्यवहारआत्मा करता है।) (**श्रोता :-**) तो क्या पुद्गल करता है ? (**उत्तर :-**) पुद्गल करता है, निश्चय आत्मा नहीं, इस प्रकार लेना है, स्वभाव नहीं, इसीलिये पुद्गल करता है, ऐसा कहते हैं। भेद सब पुद्गल करते हैं। भेद है तो अपनी पर्याय। (**श्रोता :-**) पुद्गल मात्र निमित्त (ही) है ? (**उत्तर :-**) निमित्त है उसका मतलब एक भाव है, अपना स्वभाव नहीं है, ऐसा यहाँ लिया है। यह तो आता है : क्षायिकभाव मेरा नहीं है, ऐसा आया न...! ('नियमसार') गाथा-४१ वीं। क्षायिकभाव (के ऊपर) भी उसका विकल्प-विचार-लक्ष जाता है तो उसका आश्रय करने से विकल्प उठता है। पर्याय के आश्रय से नयी पर्याय उत्पन्न नहीं होती। क्षायिक सम्यक्त्व के आश्रय से भी, लक्ष करती है वह तो पर्याय है, तो उसका लक्ष करनेसे, आश्रय करने जाय तो, विकल्प उत्पन्न होता है। आहा...हा...! आश्रय तो एक भगवान अभेद चिदानंद प्रभु का ही है। कुछ समझ में आया ? मैं चौदह मार्गणा - ज्ञान के भेद, समकित के भेद, चारित्र के भेद - इन सभी भेदों को करता नहीं हूँ। (सारे ही भेदों को) ज्ञान जानता है।

('समयसार' गाथा-१२ की टीका में वह गाथा उद्धृत है न...!) 'जइ जिणमयं पवज्जइ ता मा ववहारणिच्छए मुयह। एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अप्पेण उण तच्चं।।' ('आचार्य कहते हैं कि, हे भव्य जीवों ! यदि आप जिनमत को प्रवर्तमान

करना चाहते हो तो व्यवहार व निश्चय - इन दोनों नय को मत छोडो; क्योंकि व्यवहारनये के बिना तो तीर्थ-व्यवहारमार्ग का नाश हो जायेगा और निश्चयनय के बिना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायेगा।' (**श्रोता :-**) तीर्थ का नाश हो जायेगा ? (**उत्तर :-**) हाँ ! तीर्थ अर्थात् भेद का नाश हो जायेगा। चौदह गुणस्थान के भेद भी रहेंगे नहीं। चौथा, पाँचवाँ, छठा (आदि ये गुणस्थान के) भेद हैं कि नहीं ? हैं ! व्यवहार से पर्याय भेद है कि नहीं ? (यदि न माने) जब तो तीर्थ का नाश हो जायेगा। उनसे (भेदों से) तीर्थ की उत्पत्ति हुई है वह प्रश्न यहाँ नहीं है। परंतु 'भेद हैं ही नहीं' (ऐसा माने) जब तो तीर्थ का नाश हो गया अर्थात् चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवाँ ये कुछ रहे ही नहीं। और (यदि) एक अखंडानंद प्रभु - तत्त्व का आश्रय न लें तो निश्चय रहा नहीं। - ऐसा है बापू ! (तत्त्व) ऐसा है ! 'मा ववहारणिच्छए मुयह' - व्यवहार छोडना मत इसका मतलब (व्यवहार) नहीं है, ऐसा नहीं है; इस प्रकार (समझना)। भेद हैं ! चौदह गुणस्थान हैं। मार्गणास्थान में (चौदह) भेद हैं। ये ज्ञानमें से छोडने लायक नहीं है, 'व्यवहार है' ऐसा जानना। परंतु '(व्यवहार) है ही नहीं' फिर तो वेदांत हो जायेगा, निश्चयाभास हो जायेगा। (**श्रोता :-**) निश्चय, व्यवहार का बहुत खुलासा किया ! (**उत्तर :-**) यह तो ऐसी (वस्तु)स्थिति है !! निश्चय-व्यवहार की स्थिति तो यह है, ऐसा यहाँ कहते हैं :-

चौदह मार्गणा के कितने भेद आये : गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहार। - ये चौदह मार्गणा हैं। - ये (सारे भेद मेरे में नहीं हैं)। आहा...हा...! संज्ञी-असंज्ञी के भेद मेरे में नहीं हैं। ज्ञान की पर्याय जानती है कि संज्ञीपना है। परंतु दृष्टि का विषय जो आत्मा है उसमें वह नहीं है।

आहा...हा...! समझ में आये इतना समझना, बापू ! यह तो भगवान का मार्ग !! चैतन्य चमत्कारी वस्तु है ! आहा...हा...! देखो ना... चमत्कार कितना ! कि, एक तो केवलज्ञान प्रगट हो तो भी ध्रुवद्रव्य तो उतना का उतना ही रहता है ! पानी का घड़ा भरा होवे, तो थोड़ा बाहर निकले तो उसमें से कम हो जाय। (इस तरह) भगवानआत्मा चैतन्यजल से भरा है, तो केवलज्ञान आया तो थोड़ा तो बाहर निकला, उतना तो उसमें से कम हो गया कि नहीं ? नहीं, बापू ! वह निराली चीज़ है। यह चैतन्य का कोई (गज़ब) चमत्कार !! कि, सामान्य तो जितना है उतना ही रहा है। यह तो कोई (निराली) बात है !! ऐसी अनंती अनंती केवलज्ञानपर्याय प्रगट होओ,

परंतु वस्तु तो परिपूर्ण जैसी है वैसी की वैसी ही है, उसमें कम-ज्यादा नहीं हुआ ! आहा...हा...हा...! यह चमत्कार नहीं है क्या ? और ये पैर जमीन का स्पर्श किये बिना चल रहे हैं, यह चमत्कार नहीं है ? द्रव्य का स्वभाव (ही) ऐसा है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में तो अत्यंत अभाव है। अत्यंत अभाव (है तो दूसरे द्रव्य को) स्पर्श करता है, ऐसा कहाँ से आया ? आहा...हा...! कठिन बात है, बापू ! आहा...हा...! इस आँख से और चश्मे से जानने में आता नहीं है। तो कोई कहे कि : तो उतार लो चश्मा ! परंतु बापू ! कौन उतारे और कौन चढाये ? सुन तो सही ! उस समय में ज्ञान की पर्याय अपने से उत्पन्न हुई है। वह ज्ञान की पर्याय की उत्पत्ति - जन्मक्षण है। उस जन्मक्षण के कारण से (ज्ञानपर्याय) उत्पन्न हुई है, यह उसके (चश्मा के या विकल्प के) कारण से (उत्पन्न) नहीं हुई। आहा...हा...हा...! यह चमत्कार नहीं है ? दुनिया कहे कि : महाराज का जरा हाथ फिर जाय तो पैसे (मालमाल) हो जाय न... यह लकड़ी फिरे तो पैसा हो जाय न - ऐसी लोग बातें करते हैं ! धूल में भी नहीं है। यहाँ (हमारे) रोग अंदर है सो मिट नहीं रहा न...! वह तो जड़ की दशा ! जड़ में होनेवाली है वह होगी और होगी ही। उसमें क्या है ? पैसा क्या इससे (लकड़ी की इस पट्टी से) मिलते हैं ? यहाँ (व्याख्यान सुनने के लिये) बहुत करोड़पति आते हैं न...? (तो बस... लोग ऐसा कहते रहते हैं कि) ये महाराज (- `कानजीस्वामी') लकड़ी फिराये तो पैसा हो जाता है। धूल भी नहीं होता ! यह तो हाथ में पसीना आता है तो शास्त्र का स्पर्श करने में (शास्त्र की) असातना होती है; (वह न होवे) इसलिये यह पट्टी हाथ में रख रहे हैं)। (तो उसमें और हाथ में) चमत्कार नाम मात्र का भी नहीं है। (चमत्कार) वह तो आत्मा में है !

आहा...हा...! यहाँ तो भेद भी मेरे में नहीं है; यह मेरा चमत्कार है ! मेरा चमत्कार तो अभेद है ! चैतन्य-चमत्कार, भगवान तीनलोक का नाथ मैं चैतन्यविलासी प्रभु अभेद हूँ। मैं तो चैतन्यविलासी आत्मा को भाता हूँ। - यह चमत्कार है !! इस चमत्कार को देखे नहीं और (बाहर में) अन्य - दूसरा देखे !

आहा...हा...! यह तो भगवान, तीनलोक का नाथ चैतन्यविलासी प्रभु ! उसकी दृष्टि में - अभेद में भेद भासित नहीं होता। यह चमत्कार ! भेद है सही (परंतु वह भासित नहीं होता)।

यह भगवान ! भग+वान=भग अर्थात् अंतरलक्ष्मी+वान अर्थात् स्वरूप। वह लक्ष्मीस्वरूप प्रभु है ! अनंत अनंत चैतन्य-चमत्कारी गुण के स्वरूप की लक्ष्मी से संपन्न है !

भगवान, भगवान, भग+वान है। उसकी पर्याय में आनंद आदि प्रगट होवे वह बाह्यलक्ष्मी है। अंतःलक्ष्मी अंदर में पड़ी (मौजूद) है। बाकी सब धूल है... वह करोड़ होवे चाहे अरब होवे - सब रंक, भिखारी हैं। 'समयसार' श्लोक-२०२ में उन्हें 'वराकाः' कहा है। यह लाओ और वह लाओ... यह लाओ - भिखारी हैं, 'वराकाः' आत्मा लाओ, आत्मा लाओ (- वह आत्मार्थी है)।

'धवल'में ऐसा पाठ है : अंदर में जब मतिज्ञान सम्यक् होता है तो यह मति(ज्ञान) केवल(ज्ञान) को बुलाता है। (**श्रोता :-**) मति-श्रुत केवल को बुलाता है ? (**उत्तर :**) सिर्फ मतिज्ञान। ऐसा 'धवल' में पाठ है। यहाँ तो कई बार कहा जा चुका है, 'धवल' पढ़ा गया है। व्याख्यान में बहुत सारे ग्रंथ यहाँ तो पढ़े जा चुके हैं। वे (कुछ) लोग तो कहते हैं कि - (सोनगढ़) 'समयसार' पढ़ते हैं। (मात्र) 'समयसार' पढ़ते हैं। भाई ! आपको कहना हो सो कहो, उसमें हमें क्या (आपति) है ? वहाँ ('धवल' में) ऐसा आता है कि : अंदर आनंदस्वरूप आत्मा, चैतन्यविलासी भगवान; उसका ज्ञान जहाँ प्रत्यक्ष हुआ अर्थात् जिस ज्ञान को पर की कोई अपेक्षा नहीं है, ऐसा जो मतिज्ञान है, वह केवलज्ञान को बुलाता है : आओ... आओ... आओ... आओ...! (**श्रोता :-**) बुलाता है तो आना ही पड़ेगा ? (**उत्तर :-**) तभी तो 'बुलाता है' ऐसा कहा है न...! अल्पकाल में केवलज्ञान आयेगा ही। जहाँ दूज (बीज) उत्पन्न हुई है वहाँ तेरहवें दिन पर पूर्णिमा होगी और होगी ही। इस प्रकार जिन्हें मति-श्रुत सम्यक् हुआ (उन्हें केवलज्ञान आयेगा ही।) यहाँ तो अप्रतिहतभाव गिना गया है ! वह केवलज्ञान आयेगा, आयेगा और आयेगा ही। तो उसे बुलाते हैं कि - आओ... आओ... आओ...! बुलाकर ऐसा नहीं कहते हैं कि - अरे भाई ! यह (फलाँन) रास्ता कहाँ है, यह ज़रा बताओ न ? इस प्रकार यह (मतिज्ञान) केवलज्ञान को बुलाता है। आहा...हा...! तो आना ही पड़े। केवलज्ञान होवे ही। ऐसा कहना है। अल्पकाल में एक-दो भव में केवलज्ञान आयेगा ही आयेगा। ऐसी विशेष बात ली है !

यहाँ कहते हैं कि : चौदह (मार्गणा) भेदों को मैं नहीं भाता। शरीर की क्रिया मैं करता हूँ ऐसा तो नहीं; राग मेरी चीज़ है ऐसा तो नहीं; राग-व्यवहाररत्नत्रय की मैं भावना करता हूँ ऐसा तो नहीं; परंतु निर्मलपर्याय के भेद हैं, वे रहो ऐसा भी यहाँ नहीं है। ऐसा मार्ग है, बापू ! पागल जैसा लगे। 'परमात्मप्रकाश' में लिखा है ! ज्ञानी को दुनिया पागल की तरह देखती (मानती) है। और ज्ञानी दुनिया को पागल मानते हैं। बात तो ऐसी है, प्रभु ! क्या कर सकते हैं, बापू !?

अंदर चैतन्य चमत्कारी वस्तु महाप्रभु, अभेद; वह अंतरदृष्टि का विषय है। उस अभेद के सामने अपने भेद मैं करता ही नहीं हूँ ! राग को तो करता नहीं हूँ, करवाता नहीं हूँ। व्यवहाररत्नत्रय को करता नहीं हूँ, करवाता नहीं हूँ। यह अभी बाद में आयेगा। यहाँ तो पहले यह लिया है : भेद को मैं करता नहीं हूँ। पर्याय के भेद पड़ते हैं न...? फिर राग का (बोल) है। फिर भावकर्मात्मक है। दो-तीन बोल हैं। पहला शरीर संबंधित है। फिर है : मैं रागादि भेदरूप भावकर्म के भेदों को करता नहीं हूँ, करवाता नहीं हूँ और उसका अनुमोदन करता नहीं हूँ। यहाँ तो (कुछ लोग) ऐसा कहते हैं कि : व्यवहाररत्नत्रय करते करते निश्चय(रत्नत्रय) होगा। अरे प्रभु ! क्या कर रहा है, भाई ! प्रभु ! (ऐसी मान्यता) तुझे नुकसान का कारण है। भाई ! (यहाँ तो) तेरे हित की बात है न... नाथ ! तेरा हित किस प्रकार होता है (इसकी यह बात है)। भगवान का यह उपदेश 'हितोपदेश' है न...! सर्वज्ञ परम हितोपदेशी - 'रत्नकरंडश्रावकाचार' में आता है न...! वह तेरा परम हित है, प्रभु ! अभेद में भावना करनी, भेद की भावना छोड़नी, उसमें प्रभु ! तेरा हित है। तुझे आनंद व शांति मिलेगी, प्रभु ! आहा...हा...! भेद की भावना करने जायेगा तो तुझे अशांति - राग होगा। ऐसा मार्ग है !!

भेद : समकित के भेद पाँच - दर्शन के चार - चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल; ज्ञान के पाँच; ये (इत्यादि) सर्व भेदों को 'मैं करता नहीं हूँ।' **'सहज चैतन्य के विलासस्वरूप आत्मा को ही भाता हूँ।'**

'मैं मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानभेदों को करता नहीं हूँ।' - चौथा, पाँचवां, छठा इस प्रकार भेदों को करता नहीं हूँ। वह व्यवहारनय का विषय है न...?

मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान (भेद) - चौथा, पाँचवाँ, छठा-सातवाँ... तेरहवाँ - सयोगी केवली - ये गुणस्थान (मेरे) नहीं हैं। वे भेद हैं न पर्याय। यहाँ आया न : 'मैं चौदह गुणस्थान भेदों को करता नहीं हूँ,' गुणस्थान है। पर्यायनय के विषय में व्यवहारनय का विषय है ! परंतु उन भेदों की भावना मैं करता नहीं हूँ; मैं चौदह गुणस्थान को भाता नहीं हूँ। ऐसा कहते हैं परंतु (वे कोई) 'वस्तु नहीं है' ऐसा नहीं है।

'जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।' - व्यवहार-निश्चयनय को छोड़ना नहीं। 'व्यवहारनय नहीं है' ऐसा नहीं। परंतु (यहाँ कहते हैं कि :) व्यवहार की भावना मैं करता नहीं हूँ। कुछ समझमें आया ? 'मैं चौदह गुणस्थानभेदों को करता नहीं हूँ,' **'सहज चैतन्य के विलासस्वरूप आत्मा को ही भाता हूँ।'**

`**मैं एकेन्द्रियादि जीवस्थान भेदों को करता नहीं हूँ।**' पंचेन्द्रिय तक पर्याप्त - अपर्याप्त आदि जीव के चौदह जीवस्थानभेदों को मैं करता नहीं हूँ। जीव के चौदह जीवस्थान के भेदों को मैं करता नहीं हूँ, करवाता नहीं हूँ और करनेवाले की अनुमोदना भी नहीं करता। `**सहज चैतन्य के विलासस्वरूप आत्मा को ही भाता हूँ ।**' 'आत्मा को ही' भाषा इस प्रकार है न ! (तो कोई कहे कि) यह तो एकांत हो जाता है। प्रत्येक में `ही' शब्द पड़ा है। मैं तो एकांत अभेदस्वरूप को ही भाता हूँ ! आहा...हा...!

विशेष कहेंगे।.....

***

कोई, ऐसा सोचते हैं कि यदि ऐसा तत्त्वज्ञान सभीको हो जाए तो संसारमें कोई नहीं रहेगा-ऐसा कहने वालेको आत्माकी यथार्थ रुचि ही नहीं है। क्योंकि स्वभावकी रुचिवालेकी इस पर दृष्टि ही नहीं होती कि संसारमें कौन रहेगा। जैसे कोई धनका अर्थी हो तो वह यह नहीं विचार करता कि मैं धनवान हो जाउँ व उसी प्रकार सभी धनी हो जाएँ, तब कोई भी गरीब न रहने पर, मेरा काम कौन करेगा ? जिसकी जिसमें रुचि होती है वह दूसरेकी और नहीं देखता ।

(परमागमसार - ८८४)

❁

कोई दानकी मुख्यता कर बहुत पाप करके भी धन-उपार्जन कर, दान देता है । प्रथम पापकर धन-संग्रह करना और फिर दान करना सो न्यायपूर्ण नहीं है। पहले तो लक्ष्मीकी ममता करे, और बादमें (दान द्वारा) ममता घटाए, सो योग्य नहीं है। पह तो परोपकारके नामसे पाप करना है। कोई आरम्भ-त्यागकी मुख्यता कर याचना करने लगते हैं । भोजन-बनानेमें पाप जानकर भिखारीके जैसे मांगने जाना सो योग्य नहीं है । तथा कोई जीव अहिंसाकी मुख्यता कर जल-द्वारा स्नान, शोचादि भी न करें तो वह उचित नहीं है । (परमागमसार - ८८५)

प्रवचन- १९, दि. १७-२-१९७८

(`नियमसार') परमार्थ-प्रतिक्रमण। उसकी पाँच रत्न गाथाएँ (७७ से ८१)। हम यहाँ तक आये : तीनों का निषेध है : चौदह गुणस्थान, चौदह मार्गणास्थान और चौदह जीवस्थान; उनके भेदों को मैं करता नहीं हूँ। सम्यग्दर्शन होनेके बाद वह सम्यग्दर्शन आदि भेद का लक्ष नहीं है। परंतु यहाँ तो आगे बढ़ने की बात है। जो ज्ञायकभाव-ध्रुवभाव अनुभव में आया वह अभेद चीज़ है। उसमें (अनुभव में) भी भेद का आश्रय तो नहीं है; फिर भी भेद का विषय नहीं है, ऐसा नहीं, भेद है। चौदह गुणस्थान हैं। चौदह मार्गणास्थान हैं। चौदह जीवस्थान हैं। - (वे) व्यवहारनय से हैं; उनका निषेध नहीं है। परंतु वे आश्रय करने लायक नहीं हैं; अतः व्यवहारनय का विषय जानने के लिये प्रयोजनवान है। आदरने लायक तो (मात्र) भगवान(आत्मा), परम आनंद के अमृत से भरा प्रभु (है)। जिसमें विकल्पमात्र दुःखरूप लगे, और अतीन्द्रिय अमृत का सागर भगवान का आश्रय लेने से अमृत की पर्याय की धारा बहे, उसका नाम सम्यक्दर्शन, ज्ञान व चारित्र है।

यहाँ भेद आये। भेद (मुझे नहीं हैं) ऐसा कहा। परंतु भेद भेदरूप से हैं। व्यवहारनय का विषय - चौदह मार्गणा के भेद, चौदह गुणस्थान के भेद, (चौदह) जीवस्थान के भेद - ये व्यवहारनय से हैं। यहाँ अंतर-आश्रय लेने से वे भेद (मुझे नहीं हैं, मेरे में नहीं हैं और ये समस्त प्रकार के) भेद का मैं कर्ता नहीं हूँ, (कारयिता नहीं हूँ और अनुमोदक नहीं हूँ) ऐसा कहा गया है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? `भेद है'... तो `कर्ता' नहीं है न...! मैं तो ज्ञायकस्वरूप चैतन्यविलास भगवानआत्मा (हूँ) !!

सूक्ष्म बात है, प्रभु ! भाषा भले ही धारण कर ले; परंतु भाव अलौकिक है ! कहते हैं कि : मैं तो उन भेद का कर्ता नहीं हूँ। मैं तो चैतन्यविलास भगवानआत्मा (हूँ)। `वह चैतन्यविलास भगवानआत्मा' यह भी वाचक - शब्द है; परंतु उसका वाच्य :

चैतन्यविलास भगवानआत्मा (को भाना) यह है। मैं चैतन्यविलास (स्वरूप) आत्मा को (ही) भाता हूँ। मैं उसकी भावना करता हूँ। आहा...हा...हा...!

प्रथम दर्शन-भूमिका ही अलौकिक चीज़ है ! उस भूमिका के बिना सब कुछ निरर्थक है। सम्यग्दर्शन के बिना लाख-करोड़ उपवास करे, महाव्रत धारण करे, सब कुछ कलेश (रूप) और दुःखदायक है, भगभ्रमण का कारण है।

यहाँ प्रभु कहते हैं कि : दृष्टि का (जो) विषय चैतन्यविलास आत्मा, उसको मैं भाता हूँ। और अस्थिरता से हटकर विशेषरूप से मैं स्वरूप में स्थिरता-रमणता की भावना करता हूँ।

यह चारित्र का अधिकार है न...? प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि निश्चयचारित्र के प्रभेद हैं। और जहाँ निश्चयचारित्र होता है वहाँ तो उसे अंतर्मुहूत में (सातवें से छठा और छठे से सातवाँ) गुणस्थान पलट जाता है। एक सेकंड में छठा-सातवाँ गुणस्थान पलट जाता है। `धवल' में तो ऐसा लिया है कि : मुक्ति पानेसे पहले एक अंतर्मुहूर्त में भी छठा-सातवाँ गुणस्थान हज़ारों बार आता है। ऐसा पाठ है। एक अंतर्मुहूर्त - अडतालीस मिनिट में हज़ारों बार... तो छठे-सातवें गुणस्थान की (समय) स्थिति कितनी हो गई ! `धवल' में ऐसा पाठ है। सब कुछ सत्य है। यथार्थ है !

एकदम परमात्मस्वरूप का अनुभव हुआ है और परमात्मस्वरूप में जानेकी ही जिसकी भावना है। (फिर भी) स्वरूप में स्थिर रह नहीं सकते तो विकल्प आते हैं परंतु वह बोझा लगता है, दुःख लगता है। महाव्रत के परिणाम भी आते हैं परंतु वे (आत्मा के) आनंद के सामने दुःखरूप लगते हैं। अतीन्द्रिय भगवान आत्मानंद; उसका अनुभव-स्वाद; उसके सामने राग का स्वाद ज़हर जैसा दुःख लगता है। आहा...हा...! यह मार्ग तो देखो, प्रभु !

यहाँ कहते हैं कि : मैं भेद का कर्ता नहीं हूँ। परंतु भेद के विषय को जाननेवाला हूँ। भेद हैं - चौदह गुणस्थान आदि। तो मैं उन्हें जाननेवाला हूँ, कर्ता नहीं हूँ। वहाँ तक तो हमारा चल चुका। यहाँ तीन बोल थे न... चौदह जीवस्थान, चौदह मार्गणास्थान और चौदह गुणस्थान। गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीवस्थान - ये सब भेद हुए।

सम्यग्दृष्टि कि जिसकी ज्ञायकभाव के ऊपर दृष्टि हुई है, वह (दृष्टि) तो एक समय के लिये भी ध्रुव पर से हटती नहीं है। भेद के ऊपर दृष्टि हो जाय और ध्रुव से हट जाय तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है। इसलिये कह रहे हैं कि मैं तो चैतन्यविलास

(स्वरूप) अभेद आत्मा (हूँ), यह मेरी दृष्टि का - सम्यग्दर्शन का विषय है, इस ध्रुव से मैं एक समय भी हटता नहीं हूँ, खिसकता नहीं हूँ। मैं (किसी भी) भेद को करनेवाला नहीं हूँ, करवानेवाला नहीं हूँ और कर रहा हो उसका मैं अनुमोदन करनेवाला भी नहीं हूँ।

अब यहाँ तक आये हम : `**मैं शरीरसंबंधी बालादि अवस्थाभेदों को**' - बालअवस्था, युवानअवस्था, स्थविर और वृद्धावस्था; उन्हें `**नहीं करता।**' वे (चारों अवस्थाएँ) तो परमाणु की पर्याय हैं। वे तो परमाणुओं - पुद्गल की एक समय की - क्षणिक वे पर्याय, निजकाल में उत्पन्न होने की लायकात से उत्पन्न हुई हैं; मुझसे नहीं। मैं बाल, युवान, (स्थविर) और वृद्ध अवस्थाओं का कर्ता नहीं हूँ। यहाँ तो शरीर की क्रिया ज़रा-सी होवे तो (लोग) मानते हैं कि वह मेरे से होती है, मैंने ऐसा किया और वैसा किया ! दृष्टि का विपर्यास है !

`शरीर संबंधी' - इससे ऐसा कहा कि : आत्मासंबंधी अवस्थाओं का तो निषेध बयालीस भेद में हुआ; परंतु अब यहाँ तो शरीर की अवस्था ली। उन (बयालीस) भेदों में शरीर की अवस्था शामिल नहीं थी। वहाँ जीव के पर्यायभेद - मार्गणास्थान, गुणस्थान और जीवस्थान के भेद - (की बात थी)। (**श्रोता :-**) मार्गणा में छःकाय आ गये ? (**उत्तर :-**) छःकाय, (उसमें) यह शरीर नहीं आता। परंतु उसकी मनुष्यगति आदि की जो योग्यता है वह आती है। सूक्ष्म बात है। इसलिये उसे (शरीर को) (यहाँ) अलग किया है। इसमें भी योग आता है। और वहाँ भी आता है। परंतु वह योग कौन ? - कंपन। वह शरीर, वाणी, मन नहीं। (परंतु) वह योग चौदह मार्गणा में आया (उसकी बात है)। वह कंपन तो अंदर (जीव की) अवस्थआ है; बोलना आदि ये शब्द नहीं। यहाँ कंपन - अवस्था माने (आत्म प्रदेश) का परिस्पंदन होना। वह कंपन पर्याय में (होता है)। मैं तो उसका - भेद का भी कर्ता नहीं हूँ।

आहा...हा...! धर्मी की दृष्टि, एक समय भी ध्रुवपर से खिसकती नहीं है। चाहे तो (वे) युद्ध में खड़े हो ! गज़ब बात है, प्रभु ! चाहे तो विषयभोग में खड़े हो। समकिती चक्रवर्ती तीर्थंकर ९६ हज़ार स्त्री ! सिद्धांत में ऐसा लेख है : भरत चक्रवर्ती सेंकडों स्त्रीयों से हमेशा विवाह करते थे। सेंकडों ! ९६ हज़ार रानीयाँ ! और समकिती ! वह चारित्र दोष है। वह चारित्र दोष, समकित को दोषित करता है ऐसा नहीं है। कहा था न...! श्रेणिकराजा क्षायिकसमकिती... ज़हर पी लिया... देह छोड़ा। इस समकित को दोष (यदि) चारित्र के दोष से होवे, तो कभी भी समकित उत्पन्न होवे ही नहीं।

पूर्ण वीतरागपर्याय हो तब समकित होता है, इसका अर्थ इस प्रकार नहीं है। (समकिती को) तीन कषाय का राग होता है, द्वेष भी होता है। रौद्रध्यान - आर्तध्यान भी होता है चौथे-पाँचवें में , छठे में आर्तध्यान होता है। ऐसा होते हुए भी समकित में दोष नहीं है। सम्यग्दर्शन कोई अलौकिक ध्रुव की एकता (है)। ध्रुवधाम, चैतन्यसुखधाम, स्वयंज्योतिसुखधाम, अमृत का धाम, अतीन्द्रिय आनंद का सागर भगवान; (उसकी एकता यह सम्यग्दर्शन है)।

आहा...हा...! 'समयसार' में आखिर में कलश-२७६ में 'अद्भुतं' और कलश-२७४ में 'अद्भुतादद्भुतः' - आता है। आहा...हा...! कोई चीज़ ऐसी है !! 'अद्भुतादद्भुतः' - चीज़ है ! उस चीज़ का जहाँ अंदर में ध्येय होकर, ध्यान में अनुभव हुआ तब मोक्षमार्ग प्रगट हुआ। तो इस मोक्षमार्ग की पर्याय के भेद का भी मैं कर्ता नहीं हूँ। यह तो आ चुका इसमें। निश्चय (मोक्षमार्ग) हाँ ! व्यवहार तो अब आयेगा। कुछ समझमें आया ?

यहाँ लिया 'शरीर संबंधी' - इतनी भाषा साफ स्पष्ट करी : 'मेरे शरीर संबंधी बालादि अवस्था।' (उस ओर (पहले जो बाल-युवान आदि रूप भेद) में वहाँ वह कोई शरीर संबंधी अवस्था नहीं है।) 'भेदों को करता नहीं हूँ।' युवान (आदि) अवस्था को मैं करता नहीं हूँ; वह तो जड़ की परमाणु की, पुद्गल की उस समय युवान (आदि) अवस्था है उसे मैं नहीं करता, मैं नहीं करवाता, मैं कर्ता का कारण नहीं हूँ और कर्ता का अनुमोदक नहीं हूँ। (इस प्रकार) चार बोल हैं।

सहज चैतन्य के विलास स्वरूप, स्वाभाविक चैतन्य के विलासस्वरूप - त्रिकाली की बात है, हाँ ! चैतन्य के विलासस्वरूप आत्मा - इस प्रकार। मैं तो स्वाभाविक चैतन्य ध्रुव आनंद का नाथ प्रभु; उसके विलास को ही भाता हूँ। ऐसे आत्मा को ही (भाता हूँ)। 'ही' शब्द पड़ा है। वह ज्ञायक जो आनंद - चैतन्यविलासस्वरूप भगवानआत्मा, नित्यानंद प्रभु - उसकी (ही) मैं भावना करता हूँ।

बालादि - युवान अवस्था अनेक प्रकार की होती हैं। शरीर नीरोग होवे तो धर्म हो सके न ! ऐसा नहीं है। फिर भी उपदेश आता है। श्वेतांबर में भी है और अपने यहाँ 'भावपाहुड' गाथा-१३२ में आता है : 'हे मुने ! जब तक तुझे ज़रा (वृद्धावस्थान) न आये और जब तक रोगरूपी अग्नि तेरी देहरूपी कुटिर को भस्म न करे और जब तक इन्द्रियों का बल कम न हो तब तक अपना हित कर ले।' तथा 'भावपाहुड' गाथा-३८ में 'कुंदकुंदाचार्य' कहते हैं कि : 'एक मनुष्य के

शरीर में एक-एक इंच में ९६-९६ रोग होते हैं तब कहिए बाकी बचे पूरे शरीर में कितने रोग कहें।' प्रभु ! यह शरीर तो वेदना की मूर्ति है। और भगवानआत्मा अतीन्द्रिय आनंद की मूर्ति है।

यहाँ कहते हैं कि : इस शरीर संबंधी अवस्थाभेदों को मैं करता नहीं हूँ, मैं करवाता नहीं हूँ। मैं तो '**सहज चैतन्यविलास स्वरूप आत्मा को ही भाता हूँ।**' 'आत्मा को ही' - एकांत हो जाता है; एकांत ही है। मैं भेद की भावना करता नहीं हूँ। भेद हैं, परंतु मेरी भावना तो यह एक ही है। आहा...हा...! परमानंद का नाथ प्रभु महाप्रभु चैतन्यस्वरूप से भरपूर भरा हुआ; उसमें एकाग्रता की मेरी भावना है। आहा...हा...! वह परमार्थ-चारित्र और वह परमार्थप्रतिक्रमण है। कुछ समझमें आया ?

(अब), '**मैं रागादि भेदरूप भावकर्मों के भेदों को करता नहीं हूँ,**' फिर (आगे के बोल में) भी भावकर्म आयेगा। परंतु वहाँ चार कषाय आयेगी। यहाँ तो राग, द्वेष, पुण्य, पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति, आदि के परिणाम, व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम इन 'रागादि (भेदरूप) भावकर्मों के भेदों को करता नहीं हूँ।' ऐसी बात है ! व्यवहाररत्नत्रय का जो राग है वह भावकर्म है, उन भावकर्म के भेद को करता नहीं हूँ। भेद हैं सही; मुनि को भी राग आता है न...! तो वे (भेद) हैं सही; परंतु मैं उनको करता नहीं हूँ। रागादि भेदरूप भावकर्मों के भेदों को करता नहीं हूँ, करवाता नहीं हूँ और अनुमोदन नहीं करता। आहा...हा...! कोई भेदरत्नत्रय करता हो तो उसे मेरा अनुमोदन नहीं है।

'समयसार' पुण्य-पाप अधिकार (गाथा-१४५) में आया न...! कि : पुण्य कुशील है, सुशील नहीं है। (वह) संसार में दाखिल करता है न, प्रभु ! वही स्वयं संसार है वह राग भाव; उसे भला किस प्रकार कहें ? इस प्रकार भेदरत्नत्रय सब राग है तो उसे भला किस प्रकार कहें ? वह तो संसार है। बहुत बात कठिन, भाई ! मार्ग बापू ! (अति गहन है) !

पूर्णानंद का नाथ निर्लेप शुद्ध चैतन्यघन पड़ा है, उस द्रव्य में तो, राग का - निमित्त का भी संबंध नहीं है। राग का संबंध तो एक समय की पर्याय में है, वस्तु में नहीं है। वस्तु में पर्याय नहीं है, तो फिर राग का संबंध कहाँ से आया ? कुछ समझमें आया ? ऐसी बातें हैं !

श्वेतांबर कहते हैं कि : पंद्रह भेद से सिद्ध होते हैं। यहाँ कहते हैं कि : नग्नपना होवे तो ही सिद्धपना होवे। उससे (नग्नपने से सिद्धत्व) नहीं होता। परंतु (सिद्धत्व)

होवे तो उसे वह (नग्न) ही दशा होती है। कुछ समझमें आया ? जिसे चारित्रदशा हो उसे केवलज्ञान होता है, उसे नग्न ही दशा होती है; फिर भी नग्नदशा से मुक्ति हो, ऐसा नहीं है। इसलिये नग्न दशा से मुक्ति न हो अतः अन्य (माने) वस्त्रसहित भी अवस्था हो और फिर भी मुक्ति हो जाय ऐसा नहीं है। वे लोग (श्वेतांबर) पंद्रह भेद से सिद्ध कहते हैं; गृहस्थाश्रम के वेस में भी मुक्ति प्राप्त करे, केवल पाये - मरूदेवीमाता (इत्यादि। वस्त्रसहित कैवल्य पाते हैं ऐसा मानते हैं)।

जिज्ञासा :- वस्त्र तो पर है, पर क्या आडे आयेगा ?

समाधान :- पर कहाँ आडे आता है; परंतु वस्त्र लेने का विकल्प वह नुकसान है। बात सही ! वस्त्र लेने का जो विकल्प है वही महापाप बनता है, वहाँ चारित्र होता ही नहीं है।

एक थे ब्राह्मण। दीक्षा ली थी श्वेतांबर। यहाँ (सोनगढ़ में) चातुर्मास शुरू हो गया इसलिये वहाँ श्वेतांबर मंदिर में रहे। परंतु यहाँ व्याख्यान सुनने के लिये सुबह-दोपहर आते थे। फिर सुनकर अंदर आकर कहा : `महाराज ! मार्ग तो यही सच्चा है। हमें क्या करना चाहिये ?' मैं ने कहा कि : `भाई ! हम तो `क्या करना चाहिये' यह नहीं कहते हैं।' (अर्थात्) `तुम (ली हुई दीक्षा को) छोड़ दो न... हम यहाँ (तुम्हें) रख लेंगे', ऐसा यहाँ तो नहीं है। दो बार अंदर आये थे। साधु थे होशियार दिमाग के। वांचन बहुत (था)। इसके बाद यहाँ चार महिने रहे थे वहाँ। यहाँ सुनते आते थे। उसे लगा कि `बात तो यह सच्ची लग रही है, मार्ग तो (सच्चा) यह है। परंतु अब हम करें क्या ? (किन्तु) यहाँ किसीको रखना, इसका सिरपर बोझ, यह यहाँ नहीं है। (**श्रोता :-**) कोई श्वेतांबर या स्थानकवासी साधु सुने उसे ऐसा भाव भी आ सकता है। (**उत्तर :-**) यहाँ अभी रागादि होते हैं। (हमारी भूमिका में ऐसा राग होता है)। परंतु मुनि को नहीं होता। यहाँ तो ऐसा कहना है कि : जिसे साधुपना अर्थात् जो सच्चे मुनि हैं, जिन्हें अंतर्मुहूर्त में हज़ारों बार छठा-सातवाँ गुणस्थान आता है वे मुनि - `हमें बाहर में यह काम करना है,' `इस काम में मेरा अधिकार है' ऐसा प्रक्रम - बोझा नहीं लेते। सच्चे संत भावलिंगी जिन्हें छठा-सातवाँ गुणस्थान (एक अंतर्मुहूर्त में) हज़ारों बार आता है ऐसे मुनि को - यह काम मुझे करना है और करवाना है, जब तक (शरीर) चले तब तक मैं बोझा लेता हूँ, ऐसा बोझा मुनि को होता नहीं है। आहा...हा...! धन्य मुनिपना !! धन्य चारित्र !! आहा...हा...! चारित्र के बिना मुक्ति नहीं है। मात्र सम्यग्दर्शन-ज्ञान से कोई मुक्ति नहीं हो जाती। (मोक्ष) मार्ग शुरू

हो गया परंतु अंदर चारित्र - पूर्ण रमणता हुए बिना मुक्ति नहीं है। जब तक रमणता न हो (तब तक मुनिपना नहीं है)। चारित्र तो परमेश्वरपद है ! अंतर में चरना, रमना, जमना, अतीन्द्रिय आनंद का भोजन उग्रपने से लेना (यह चारित्र है)। चारित्र में तो अतीन्द्रिय आनंद का ज्वार आता है। आहा...हा...! अरे भगवान ! उस चारित्रवंत के सिरपर कोई बोझा नहीं है : यह काम तुम्हें करना, तब तक हम ध्यान रखेंगे; इस प्रकार इस पाठशाला में, पैसे उगाहन में, फलाँ में - ये कोई काम मुनि को होते नहीं हैं। आहा...हा...! जहाँ अतीन्द्रिय आनंद का हल्का (बोझरहित) स्वभाव प्रगट हुआ है और वह भी चारित्र यह तो गज़ब बात, प्रभु ! यह तो परमेश्वरपद है (वह प्रगट हुआ है !!) (देखो : `प्रवचनसार' गाथा - २०६ की टीका की फूटनोट) `कर्मप्रक्रम = काम को अपने ऊपर लेना; काम में युक्त होना, काम की व्यवस्था।' संस्कृत टीका में ऐसा है : `ममत्वकर्मप्रक्रमपरिणामस्य।' `कर्मप्रक्रम' ऐसा शब्द मूल पाठ में है। `(ममत्व के और कर्मप्रक्रम के परिणाम, शुभाशुभ उपरक्त उपयोग और तत्पूर्वक तथाविध योग की अशुद्धि से युक्तपना तथा परद्रव्य से सापेक्षता; इस (तीनों का) अभाव होता है। ' यहाँ हमें इतना लेना : कर्मप्रक्रम। काम सिरपर लेना। कोई भी संसार का (काम अर्थात्) पैसे उगाहना या दया का पालन करने का या पांजरापोल (वृद्ध पशुओं को पालना) का काम मैं करूँगा या यह स्कूल (पाठशाला) शुरू करना यह हमारा काम, उसे मैं बराबर चलाऊँगा, पैसों की जरूरत होगी तो भी उगाहूँगा - ये (कोई) काम मुनि के होते नहीं हैं। प्रभु ! इसमें तो कोई सिफारिश काम करती नहीं कि, भाई ! यह हमारा भाई है इसलिये चाहे जो कुछ करे परंतु हमें उसे मानना - ऐसा यहाँ तो नहीं है। यहाँ तो आगम के अनुसार हो तो (मानना)।

यहाँ कहते हैं : `मैं रागादिभेदरूप भावकर्मों के भेदों को करता नहीं हूँ,' आहा...हा...! करवाता नहीं हूँ। ओहो...हो...! व्यवहार के उपदेश में आये कि पंचमहाव्रत अंगीकार करो - ऐसा आये। परंतु वह तो जानने के लिये। परंतु निश्चय में तो भेदों का करवानेवाला भी नहीं हूँ और करता है उसका मैं अनुमोदक भी नहीं हूँ और करता है उसका मैं कारण भी नहीं हूँ। (`**सहज चैतन्य के विलासस्वरूप आत्मा को ही भाता हूँ।**') उसका नाम परमार्थ-प्रतिक्रमण कहा जाता है। परमार्थ-प्रतिक्रमण अर्थात् निश्चयचारित्र का एक प्रभेद। कुछ समझमें आया ?

अब, `**मैं भावकर्मात्मक चार कषायों को करता नहीं हूँ।**' चार कषाय कैसे हैं ? कि : भावकर्मस्वरूप है। `मैं'... तो अहंकार हो गया तुझे (- वेदांत कहता है। परंतु)

ऐसा है नहीं ! वहाँ पर से भिन्न हो गया। मैं अपनी चीज़ (को भाता हूँ)। मेरी चीज़ पर से भिन्न है। सब एक हो गये ऐसा नहीं है। कुछ समझमें आया ? तब 'मैं' इस 'मैं' में अभिमान नहीं है। 'मैं' में आत्मा की - अपनी भिन्नता बताते हैं। 'मेरा आत्मा'... 'मैं'... इस प्रकार 'मैं' कहते हैं। मैं भावकर्मात्मक चार कषायों को करता नहीं हूँ। क्रोध-मान यह द्वेष में जाते हैं और माया-लोभ आदि राग में जाते हैं। इन चारों (कषाय) को मैं करता नहीं हूँ, करवाता नहीं हूँ, करता है उसका कारण नहीं हूँ और अनुमोदक भी नहीं हूँ। '**सहज चैतन्य के विलासस्वरूप आत्मा को ही भाता हूँ।**' आहा...हा...! व्यहारक को भाता नहीं हूँ ऐसा कहते हैं। बीच में आता है; परंतु उस ओर की मेरी भावना नहीं है। आहा...हा...! 'मैं भावकर्मात्मक चार कषायों को करता नहीं हूँ, सहज चैतन्य के विलासस्वरूप आत्मा (को ही भाता हूँ)।' चैतन्य का विलास भगवान, अतीन्द्रिय आनंद से अंदर छलाछल भरा है, लबालब भरा है। आहा...हा...हा...! अंतर चेतन रतन, अनंत अनंत गुण के आनंद आदि गुण रतन से परिपूर्ण भरा है। उसकी मैं भावना करता हूँ। व्यवहाररत्नत्रय की नहीं और निश्चयरत्नत्रय के भेद की भी (भावना) नहीं। सूक्ष्म बात बहुत, बापू ! कुछ समझमें आया ? वह निश्चयरत्नत्रय - क्षायिक समकित (आदि) यह मार्गणास्थान में आ गया !

'**यहाँ टीका में जिस प्रकार कर्ता के संबंध में वर्णन किया, उसी प्रकार कारियता और अनुमंता - अनुमोदक के संबंध में भी समझ लेना।**'

'**इस प्रकार पाँच रत्नों के शोभित कथनविस्तार द्वारा सकल विभावपर्यायों के संन्यास का (-त्याग का) विधान कहा है।**' इन पाँचों गाथाओमें विभावपर्यायके (त्यागका विधान है।) विभावपर्याय अर्थात् यहाँ तो क्षायिकभाव भी विभावपर्यायमें गिना गया है। उसमें तो क्षायिकभाव, क्षयोपशमभाव, उपशमभाव ये भी विभाव माने विशेष भाव; उनके त्याग की भावना है। आहा...हा...! गज़ब बात है न...! राग के त्याग की तो ठीक; निमित्त के त्याग की तो ठीक; परंतु पर्यायदृष्टि छुड़ा रहे हैं। पर्याय के ऊपर विशेषता है न - भाव, विभावभाव। विशेष भाव हैं चार - (उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक)। यह तो दो-तीन जगह आता है : चार भाव आवरणवाले हैं, चार भाव विभावस्वभाव (वाले) हैं। यहाँ ऐसे विभावस्वभाववाले के त्याग का विधान कहा है। यह त्याग हाँ ! पर के त्याग (और ग्रहणकी तो यहाँ बात ही नहीं है)।

आता है न...! (४७ शक्ति में) 'त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति।' - परपदार्थ का त्याग और ग्रहण यह तो आत्मा में है ही नहीं। यह तो आत्मा में त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति

है। पर का त्याग - शरीर का, आहार का, पानी का, वस्त्र का त्याग; और उसका ग्रहण; उससे तो आत्मा रहित ही शून्य है। ऐसी आत्मा में त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति है। भगवानआत्मा में एक गुण ऐसा है कि जड़ का, पर का, वस्त्र का त्याग करना या वस्त्रादि का ग्रहण करना यह वस्तु के स्वरूप में - गुण में है ही नहीं। परंतु 'यह है' - भेद का त्याग करना। यह है वह व्यवहार से। इस विभावभावपर्याय का त्याग करना मतलब वहाँ लक्ष नहीं देना और यहाँ त्रिकाली में लक्ष देना (लक्ष करना), यह भाव है अंदर ! आहा...हा...!

अरेरे... प्रभु ! अरे... यहाँ प्रभु का तो विरह पड़ा, केवलज्ञान रहा नहीं; परमात्मा तो वहाँ (महाविदेहक्षेत्र में) विराजमान हैं। बाद में ये सब आपत्ति (मतभेद) उठाई गई। (जिस प्रकार) लक्ष्मी खत्म हो जाय, माँ-बाप मर जाय फिर बाद में बच्चें (आपस में) लड़े; बड़ा लड़का कहे कि यह बड़ा मकान मेरा है उसमें मैं रहनेवाला हूँ, वह मकान बटवारे में नहीं लिया जायेगा, अन्य मकान बटवारे में आयेंगे (परंतु) यह नहीं आयेगा; ऐसी तकरारें करें। उस प्रकार परमात्मा का विरह हुआ, केवलज्ञान की उत्पत्ति रही नहीं, अवधि और मनःपर्यय की संपदा रही नहीं (तो तकरार करते हैं कि :) व्यवहार से (निश्चय) होता है और निमित्त से (उपादान में कार्य) होता है। - ऐसा होता है। यहाँ तो परमात्मा की बात, परमात्मा विराजमान हैं वहाँ से यह बात आयी है ! यह ऐसा कह रहे हैं कि :

यह पर - रागादि का और भेद आदि के त्याग - संन्यास (का यहाँ पाँच गाथाओं द्वारा विधान कहा है)। यह संन्यास ! कपड़े छोड़कर संन्यासी हुआ, बावा हुआ यह बात यहाँ नहीं है; यह संन्यास : भेद के और राग के त्याग की भावना करी यह संन्यास है। देखो ! संन्यास का विधान कहा है। संन्यास की रीत-पद्धति - विधि यह है, ऐसा कहा। यहाँ राग और भेद के त्याग की विधि कही। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? वैसे तो विधि-निषेध का विकल्प आत्मा में नहीं है। यह (बात) पहले आ गयी है। परंतु यहाँ सिर्फ उसका विधान बताया, रीत बतायी। भेद और राग के संन्यास अर्थात् त्याग का विधान, रीत, पद्धति यह है ऐसा बताया है। कुछ समझमें आया ?

***

(अब इन पाँच गाथाओं की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री `पद्मप्रभमलधारिदेव' श्लोक कहते हैं :)

(वसंततिलका)

भव्यः समस्तविषयाग्रहमुक्तचिन्तः
स्वद्रव्यपर्ययगुणात्मनि दत्तचित्तः ।
मुक्तवा विभावमखिलं निजभावभिन्नं
प्राप्नोति मुक्तिमचिरादिति पंचरत्नात् ।। १०९ ।।'

(श्लोकार्थ :-) इसप्रकार पंचरत्नों द्वारा जिसने समस्त विषयों के ग्रहणकी चिन्ताको छोड़ा है और निज द्रव्यगुणपर्यायके स्वरूपमें चित्त एकाग्र किया है, वह भव्य जीव निज भावसे भिन्न ऐसे सकल विभावको छोड़कर अल्प कालमें मुक्तिको प्राप्त करता है।।१०९।।

`**इसप्रकार पंचरत्नों द्वारा**' शब्द नहीं हाँ ! भाव। यहाँ तो शब्द द्वारा कथन है न... पंचरत्नों द्वारा - `**जिसने समस्त विषयों के ग्रहण की चिंता को छोड़ा है।**' - राग की चिंता तो ठीक; परंतु क्षायिकभाव की - पर्याय की चिंता भी छुडाई है। इस प्रकार पंचरत्नों द्वारा समस्त विषयों अर्थात् पर्याय, राग आदि विषयों के ग्रहण की चिंता को छुड़ाया है। `**और निज द्रव्यगुणपर्याय के स्वरूप में चित्त एकाग्र किाय है।**' - निज द्रव्य त्रिकाली और निज गुण त्रिकाली; और उसके आश्रय से हुई निर्मल वीतरागीपर्याय, उसमें ज्ञान की एकाग्रता की है। अर्थात् पर्याय अभेद कर दी है, ऐसा कहना है। क्षायिकभाव, पर्याय का एक भेद है; उसकी भी चिंता छुड़ाई। परंतु यहाँ जो द्रव्य है त्रिकाली, गुण है जो त्रिकाली - ये तो एकरूप हैं; इन दोनों

के बीच (संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन का) भेद है, परंतु प्रदेशभेद नहीं है। तो द्रव्य-गुण का अंदर ध्यान में आश्रय लेकर जो परिणति उत्पन्न हुई है वह पर्याय; उस पर्याय को - ज्ञान को - एकाग्र किया है। कुछ समझमें आया ? 'निजद्रव्यगुणपर्याय के स्वरूप में चित्त अर्थात् ज्ञान को एकाग्र किया है।' वर्तमान पर्याय उसमें एकाग्र हुई है। एक को अग्र बनाया है, ध्रुव को ही एक अग्र बनाया है, उसमें एकाग्र हुआ है।

'जयसेनाचार्य' की टीका में द्रव्य-गुण-पर्याय आते हैं। तो ऐसे ही किसी समय ऐसा अर्थ किया था कि : 'कारणपर्याय' है न त्रिकाल ! क्या कहा ? फिर से : द्रव्य त्रिकाल है ध्रुव, शुद्ध परिपूर्ण। गुण भी परिपूर्ण शुद्ध ध्रुव है। और एक कारणपर्याय उत्पाद-व्यय बिना की वह भी ध्रुव है। वह कारणपर्याय है। परंतु वह इस उत्पाद-व्ययवाली नहीं। 'नियमसार' १५ वीं गाथा में यह (विषय) आया है। कुछ समझमें आया ? अनंतगुण हैं; उनकी पर्याय 'कारणपर्याय' है उत्पाद-व्यय बगैर की ध्रुव। क्यों ? २००२ के संवत में स्पष्ट किया था कि, जिस प्रकार धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल - इन चार (द्रव्य की) पर्याय पारिणामिकभाव की एकधारावाही है। - क्या कहा ? धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल; इनकी जो पर्याय है पारिणामिकभाव की (वह) एकधारा (रूप है)। वहाँ तो कोई अन्य भाव नहीं है, एकधारा प्रवाह एक समान (पर्याय है)। तब पर्याय, गुण और द्रव्य मिलकर द्रव्य है। तो इस प्रकार आत्मा में ऐसी एकधारावर्ती पर्याय कहाँ आई ? उत्पाद-व्यय(रूप पर्याय) में तो संसार की विकृत अवस्था है; मोक्षमार्ग में अपूर्ण शुद्धअवस्था है; और मोक्ष में संपूर्ण शुद्धअवस्था है। यह तो पर्याय में भेद पड़ गया, एकधारा नहीं रही। - यह बात, 'नियमसार' गाथा - १ से १९ तक के व्याख्यान (२००२ में हुए वे प्रकाशित हुए हैं) उसमें ली है। एक बड़ा नकसा बनवाया था। (इस बारे में दो बड़े विद्वानों से) पूछा, परंतु (वे) कुछ समझे नहीं। तो अन्य (लोग) क्या समझेंगे ? इसलिये नकशे को छोड़ दिया। वहाँ 'कारणपर्याय' ध्रुव को बताना है। जैसा द्रव्य ध्रुव है त्रिकाल, ऐसा गुण ध्रुव है ऐसी, वह (धर्मास्तिकाय आदि) चार द्रव्य में एक-सी पर्याय है ऐसी इस आत्मा में एक-सी (कारणपर्याय) है। परंतु वह तो उत्पाद-व्ययवाली पर्याय नहीं है। बहुत सूक्ष्म (विषय) है, भाई ! उत्पाद-व्यय (पर्याय) में तो विकृति है, अपूर्ण शुद्धता है, पूर्ण शुद्धता है - ऐसे भेद हैं, एकधारा (तो) आयी नहीं। तो आत्म में द्रव्य-गुण की एकधारा (रूप) पर्याय बिना पूर्ण द्रव्य किस प्रकार हो सकता है ? तो 'नियमसार' १५ वीं

गाथा में लिया कि : (जिस प्रकार) जो समस्त समन्दर है समन्दर, उसकी जो सतह एकसमान है। उस प्रकार यह जो एक सामान्य द्रव्य त्रिकाल है उसमें, अर्थात् यह सामान्य द्रव्य-गुण है उसमें, एक 'कारणपर्याय' एकसमान सतह है। (परंतु) (वह) उत्पाद-व्यय(रूप) नहीं है ! सूक्ष्म बात है ! कुछ समझमें आया ? भाई शीतलप्रसाद ने लिया है कि : द्रव्य, गुण व पर्याय से इसमें एकाग्र होना, यह कारणपर्याय। (परंतु यह अर्थ यहाँ ठीक नहीं बैठ रहा क्योंकि) 'उसमें एकाग्र' तो यह तो नयी (उत्पादरूप) पर्याय हुई। और वह (कारणपर्याय) तो त्रिकाल है। द्रव्य-गुण-पर्याय धारावाही, उत्पाद-व्यय बिना की है।

'द्रव्यगुणपर्याय के स्वरूप में' उसका (आत्मा का) स्वरूप है यह। यहाँपर यह अर्थ तो ऐसा लग रहा है अभी तो - भेदवाला (- द्रव्य, गुण, पर्यायस्वरूप आत्मा) उत्पाद-व्ययवाला। (**श्रोता :-**) ज्ञान की पर्याय को अलग किया न ! (**उत्तर :-**) ज्ञान की पर्याय का अर्थ यह कि जो ज्ञान-आनंद की पर्याय है उसमें एकाग्र। उसका अर्थ वह। जो पर्याय एकाग्र हुई वह पर्याय, स्वरूप में एकाग्र हुई।

जिज्ञासा :- पाँच भावों में - पर्यायसहित - कौन-सा भाव कहा जायेगा ?

समाधान :- पर्यायसहित यह पर्याय क्षायिक, उपशम, क्षयोपशम की निर्मलपर्याय है वह।

जिज्ञासा :- द्रव्य की पर्याय एक साथ हो गई तो यह भाव कौन-सा कहलायेगा ?

समाधान :- कौन-सा इसका क्या मतलब ? प्रश्न ही बेमतलब का है। यह तो क्षायिक, क्षयोपशम, (उपशम) पर्याय की यहाँ बात है। और जो कारणपर्याय है वह तो पारिणामिकभाव की है। अरे ! भारी काम है, कठिन। द्रव्य पारिणमिकभाव है। गुण पारिणामिकभाव और वह ('नियमसार' १५ वीं गाथावाली) कारणपर्याय जो है वह पारिणामिकभाव है। बहुत खुलासा उस दिन २००२ की (संवत में) किया था। उसमें ('नियमसार' प्रवचन के ग्रंथ में) है।

यहाँ जो अंदर में एकाग्रता है, वह पर्याय में एकाग्रता होती है। वह पर्याय तो उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक कही जाती है। उदय तो नहीं है। पाठ में 'नि' शब्द पड़ा है न...! 'स्वद्रव्यपर्ययगुणात्मनि दत्तचित्तः' पाठ में दूसरा पद है : निज द्रव्यगुणपर्याय के स्वरूप में 'दत्तचित्त।' कुछ समझमें आया ?

यह बात जरा लोगों को कठिन पड़ती है : 'कारणपर्याय'। यह बात (कहीं) चलती नहीं है न...! चल नहीं रही - कहीं भी नहीं है। कारणपर्याय सिर्फ १५

वीं गाथा `नियमसार' में ही ली है। और उसका अर्थ बहुत स्पष्ट किया था उस समय। और वह कोई (ऐसे ही) चलेगा ? यह तो अंतर की बातें हैं, बापू ! (कारणपर्याय) अन्यत्र नहीं है। वहीं पर ही ली है। चौदहवीं गाथा... फिर १५ वीं गाथा में लिया है। यहाँ मोक्षमार्ग है न...! `यह `नियमसार' मैं ने अपनी भावना के लिये बनाया है।' - ऐसा `कुंदकुंदाचार्य' ने कहा। तो सार में भी जो सार वस्तु (है वह) इसमें डाली है। सूक्ष्म बात है, प्रभु ! १५ वीं गाथा में है स्पष्ट : `कारणपर्याय' यह ध्रुव है। जिस प्रकार द्रव्य ध्रुव है, गुण ध्रुव है। समुद्र जिस प्रकार कायम है, उसका जल कायम है, उसकी सतह भी ऊपर कायम है। और इस प्रकार ऊपर पानी का जो प्रवाह आता है कम ज्यादा। (उस प्रकार) वह उदय, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक यह तो फिर ऊपर का प्रवाह है। यह तो सूक्ष्म बात है, बापू ! सारी बातें समझनी पड़ेगी, बापू ! क्या करें ? परंतु आजकल यह बात चल नहीं रही। इसलिये एकदम समझाना और समझना (ज़रा कठिन है)। `कारणपर्याय' ध्रुव है, यह बात चल नहीं रही। पुनःश्च `कारणपर्याय ध्रुव' ऐसा क्यों कहा ? पर्याय कहना और (वह) ध्रुव ?! (**श्रोता :-**) यह पर्याय श्रुतप्रमाण कही जाती है ? (**उत्तर :-**) प्रमाण माने ? कहा न...! कितनी बातें हो गई। (कारणपर्याय यह ध्रुव है)। और उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक भी पर्याय है। (परंतु वह उत्पादव्ययरूप है)। फिर प्रश्न क्या उठता है ? द्रव्य-गुण हैं वे पारिणामिकभाव हैं। और ये उपशम, क्षयोपशम, क्षायिकभाव की पर्याय है वह प्रगट मोक्षमार्ग-पर्याय है। (**श्रोता :-**) इस पर्याय कौन-सी गिने ? (**उत्तर :-**) इन तीनोंमें से कोई भी - उपशम हो, क्षयोपशम हो, क्षायिक हो।

यहाँ कहते हं : निज (द्रव्यगुणपर्याय के) स्वरूप में चित्त अर्थात् ज्ञान को एकाग्र किया है। साधारण आदमी को यह (कारणपर्याय की बात) नहीं बैठती न...! अतः पर्याय का अर्थ अभी ऐसा कर रहे हैं। वह बात (कारणपर्याय की बात) तो कठिन पड़ती है जगत को, भारी कठिन पड़ती है। कोई भी चीज़ संप्रदाय में चल नहीं रही। श्वेतांबर में तो है ही नहीं। और दिगंबर में भी यह १५ वीं गाथा (`नियमसार') के अलवा अन्यत्र कहीं (यह बात) नहीं है। कुछ समझमें आया ? १४ वीं गाथा में पर्याय द्विविध है : `स्वपरापेक्षश्च निरपेक्षः' ऐसा मूल पाठा है। अब १५ वीं गाथा :

`णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा।
कम्मोपाधिविवज्जियपज्जाया ते सहावमिदि भणिदा।।'

देखो ! यह (टीका में) नीचे है : कारणशुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय। देखो

टीका : `वहाँ, स्वभावपर्यायें और विभावपर्यायों मध्य प्रथम स्वभावपर्याय दो प्रकार से कही जा रही है : कारणशुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय : अब कारणशुद्धपर्याय कौन ? तो `यहाँ सहजशुद्धनिश्चयनय से, अनादि-अनंत, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाववाले और शुद्ध ऐसे सहजज्ञान - सहजदर्शन - सहजचारित्र - सहजपरमवीतराग - सुखात्मक शुद्ध - अंतःतत्त्वस्वरूप जो स्वभाव - अनंतचतुष्य का स्वरूप उसके साथ की जो पूजित पंचमभावपरिणति - (उदयभाव, उपशमभाव, क्षयोपशमभाव, क्षायिक-भाव की नहीं।) (- उसके साथ तन्मयतापूर्वक स्थित जो पूज्य ऐसी पारिणामिकभाव की परिणति) वही कारणशुद्धपर्याय है।' परंतु वह अधिकार चल रहा हो तब सब दलील आदि आये। यह तो यहाँ रखना कठिन पड़ता है, यह तो ज़रा यहाँ निर्मलपर्याय प्रगट है उसे लेना है। और वह तो अप्रगच है - कारणशुद्धपर्याय `ध्रुव' है। अनादि-अनंत द्रव्य-गुण (ध्रुव है वह) जोडा। आहा...हा...हा...! सब खयाल तो है न...!

दृष्टि के विषय में, दृष्टि पर्याय है। फिर भी यहाँ तो पर्याय, दृष्टि, ज्ञान, और चारित्र इसमें एकाग्रता भी कही जा रही है। भक्ति नहीं कहा ? श्रावक व साधु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रपर्याय की भक्ति करते हैं। पर्याय की भक्ति करते हैं ? परंतु पर्याय की भक्ति करते हैं, वह द्रव्य का आश्रय है - उसे (नींव में रखकर) यहाँ बात लेनी है। श्रावक को पंचम गुणस्थान है, जिसे आत्मा का चौथे गुणस्थान में अनुभव हुआ है, ऐसे श्रावक को भी दर्शन, ज्ञान, चारित्र की भक्ति होती है। भक्ति अर्थात् उसकी परिणति उसे होती है। आहा...हा...!

विशेष कहा जायेगा।

***

प्रवचन- २०, दि. १८-२-१९७८

`नियमसार' कलश-१०९ चल रहा है न। `**इस प्रकार पंचरत्नों द्वारा (अर्थात् पाँच गाथाओं के भाव द्वारा) जिसने समस्त विषयों के ग्रहण की चिंता को छोड़ा है**' - क्या कह रहे हैं ? जो यह गुणस्थान, मार्गणास्थान (और जीवस्थान आदि) के भेद के प्रकार बनते हैं ऐसे भेदों की चिंता भी जिसने छोड़ दी है, उसका लक्ष छोड़ दिया है। आहा...हा...! ऐसी बात है। भगवानआत्मा, पूर्णानंदप्रभु, अनंतगुणों की पूरी रत्नमाला अभेद; उससे विरुद्ध राग, निमित्त व भेदों; इनकी भी जिसने चिंता छोड़ दी है अर्थात् उनकी तरफ का लक्ष छोड दिया है `**और निज द्रव्यगुणपर्याय के स्वरूप में**' - द्रव्यगुणपर्यायें ये सभी विभावभाव आदि (ये) पर हैं उन्हें छोड़कर, निज द्रव्यगुणपर्याय जो अपना द्रव्य अनंत गुणसंपन्न, उसके जो गुण, उसके जो भेद अथवा पर्यायें - उसके स्वरूप में `**चित्त एकाग्र किया है।**' आहा...हा...! जो यह ज्ञायकभाव परमानंदस्वरूप, उसके द्रव्य, गुण व निर्मलपर्याय उसमें एकाग्र हुआ है (अर्थात्) अंतरस्वरूप भगवान पूर्णानंद प्रभु, उसके द्रव्य, गुण और निर्मलपर्याय में जो लीन - एकाग्र हुआ; राग में नहीं और भेद में नहीं; `वह भव्य जीव'। वह लायक जीव है। वह धर्म के लिये लायक है और मोक्ष के लिये भी वह लायक है। वह भव्य जीव है न...!

`**निज भाव से भिन्न**' - देखा ? `निज भाव से भिन्न' (अर्थात्) निज द्रव्यगुणपर्याय - यह द्रव्य वस्तु; उसके गुण; और उसमें एकाग्रता; ये भाव - यह सारा निज भाव है। (बाकी सर्व भाव, उससे भिन्न है।)

मार्ग ऐसा सूक्ष्म ! (इसका) अनंतकाल से अभ्यास नहीं है। पर्याय में - राग में ही इसका पोषण व रुचि रही है। उससे भिन्न भगवान, निज भावस्वरूप; वह द्रव्य भाव कहा जाय, गुण (भाव) कहा जाता है और निर्मलभाव (-पर्याय) वह भी भाव (कहा जाता है); उस निज भाव से भिन्न `**ऐसे सकल विभाव को छोड़कर अल्प काल में**

मुक्ति को प्राप्त करता है।'

यहाँ तो यह बात है एकदम आखरी ! कोई कहे कि : पंचम काल में मुक्ति नहीं है और इतनी सारी बात पंचम काल में ? ऐसा भी कहते हैं आजकल : अभी मोक्ष नहीं है न (तो) मोक्ष (की बात) किसके लिये कह रहे हैं यह ? मुक्ति के दूत संत, जगत को मुक्ति वर्तमानकाल में बताते हैं ! वह मुक्तस्वरूप है उस भाव में एकाग्रता, इतनी मुक्ति तो अभी पर्याय में भी हो गई। - क्या कहा ? भगवानआत्मा, द्रव्य मुक्तस्वरूप है; पर्याय में चाहे जितनी विकृत-अविकृत दशाएँ बीत गई परंतु उसके द्रव्य में कभी भी अपूर्णता या अशुद्धता या खंड कहीं भी हुआ नहीं है।

ऐसा जो द्रव्य, वस्तु; उसके गुण; और पर्यायें; ऐसा जो निज भाव; उस निज भाव में रहकर जिसने विकल्प के भेदादि विभावों को छोड़ा है, उसकी अल्पकाल में, (भले इस काल में पूर्ण मुक्ति न हो किन्तु) मुक्ति हो जानेवाली ही है। अल्प काल लिया है न...? आहा...हा...! निज भाव अर्थात् : द्रव्य को भाव कहते हैं, गुण को भाव कहते हैं, और पर्याय को भी भाव कहते हैं। अरे...! विकारीभाव हो उसे भी भाव कहते हैं। परंतु उसे यहाँ लेना नहीं है। यहाँ तो त्रिकाली ज्ञायक, चैतन्यज्योत, पवित्रता का पिंड प्रभु वह निज द्रव्य-गुण और उसके आश्रय से हो रही, उसके लक्षसे हो रही जो शुद्धपरिणति; ऐसे निजभाव में जो लीन है। और (उस) निज भाव से भिन्न को छोड़ता है; ऐसा कह रहे हैं। (**श्रोता :-**) कौनसे भिन्न को छोड़ता है ? (**उत्तर :-**) लक्ष को छोड़ता है। सकल विभाव को छोड़ता है अर्थात् भेद को (छोड़ता है)। भेद है, भेद-विकल्प-रागादि सब को छोड़कर अल्प काल में (मुक्ति को प्राप्त करता है)। 'ऐसे सकल विभाव' कहा है न...? भेद को नहीं कहा यहाँ। भेद तो (गुणस्थानादि में) आ गया। यहाँ तो इस ओर (निज द्रव्यगुणपर्याय) में जो लीन होता है वह सकल विभाव को छोड़कर अल्प काल में मुक्ति को प्राप्त करता है। यह क्रिया उसकी है। दया, दान और व्रत और भक्ति और पूजा यह तो राग है। (वे तो) बहुत दूर रह गये। वे तो बंध का कारण हैं। परंतु यहाँ तो जिसे ज्ञान, दर्शन, आनंद के भेद पड़े, ऐसे भेदों का भी जिसने लक्ष छोड़ा है; ऐसे सकल विभाव, निज भाव से भिन्न है; उसे छोड़कर, अल्प काल में मुक्ति को प्राप्त करते हैं। कुछ समझमें आया ?

'समयसार' कलश-२४० में है न...! 'एको मोक्षपथो' - मोक्षपंथ एक ही है। अंतर आनंदस्वरूप भगवान पूर्णानंद में एकाग्र होना, यह एक ही मोक्षपंथ है; उससे अल्प

काल में (मुक्ति को प्राप्त करता है)। उसकी `जयसेनाचार्य' की संस्कृत टीका में लिखा है कि : क्योंकि, यह पंचम काल है इसलिये उसे तीसरे भव में मुक्ति होवे ही। कुछ समझमें आया ?

('नियमसार' गाथा-५० की टीका के बाद उद्धृत) `समयसार' कलश-१८५ में `मोक्षार्थी' आया है न...! कि : ('जिनके चित्त का चारित्र उदात्त (- उदार, उच्च, उज्जवल) है ऐसे मोक्षार्थी इस सिद्धांत का सेवन करो कि - मैं तो शुद्ध चैतन्यमय एक परम ज्योति ही सदा हूँ; और यह जो भिन्न लक्षणवाले विविध प्रकार के भाव प्रगट होते हैं वह मैं नहीं हूँ; क्योंकि वे सभी मुझे परद्रव्य हैं।') जिनके चित्त का चरित्र अर्थात् जिनके ज्ञान का आचरण अर्थात् आत्मा का आचरण - भगवान पूर्णानंदस्वरूप वह आत्मा, उसका आचरण - उदात्त है, उदार है, उच्च है, उज्जवल है, ऐसे मोक्षार्थी अर्थात् मोक्ष के अर्थी मुमुक्षुजन - योगीजन (इस सिद्धांत का सेवन करो)। `मोक्षार्थीयों' का अर्थ लिया है। `योगीजन' कि जिन्हों ने अंतर स्वरूप में योग जोड़ा है, वे सभी मुमुक्षुओं को संस्कृत टीका में योगी भी कहा है। केवल पूर्णानंदरूपी मुक्ति, उसके जो अभिलाषी अर्थात् वर्तमान में भी मोक्ष का अर्थी अर्थात् जो पूर्णानंद है उसका जिसने यहाँ थोड़ा अनुभव लिया है उसे मोक्ष का अर्थी अर्थात् यह जो जाना है कि यह (आत्मा) आनंदस्वरूप है उसका जो स्वाद (अनुभव में) आया है उसे पूर्ण मुक्ति की (पूर्णानंद की) भावना रहती है, उसे पूर्ण मुक्ति का अर्थी कहा गया है - ऐसा भी एक जगह आया है। `मोक्ष के अर्थी' का अर्थ यह किया है : जो पूर्ण आनंद को उपादेयरूप अर्थात् वर्तमान आनंद के अनुभव में, पूर्ण आनंद को जो उपादेयरूप से ग्रहण करते हैं; उनको यहाँ हम मोक्षार्थी कहते हैं। जिन्हें राग एवं पर्याय का भी लक्ष नहीं है, परंतु पूर्ण आनंद का (जो) कामी है। जिन्होंने वर्तमान आनंद जाना है, वर्तमान में आनंद का अनुभव है, ऐसे जो मोक्षार्थी मोक्ष के लिये पूर्ण आनंद के लिये प्रयोग-पुरुषार्थ करते हैं। वे इन सिद्धांतों का सेवन करो। सिद्धांत माने वस्तु का स्वरूप। इस सिद्धांत का सेवन करना, अर्थात् यह वस्तु का स्वरूप है उसमें एकाग्र होना। कुछ समझमें आया ? ऐसी बातें !! अब कहीं भी (सुनने तक मिलती नहीं हैं)। मोक्ष पूर्णानंदस्वरूप है; उसका अर्थी कब कहा जाय कि जिन्हें वर्तमान में अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप भगवान(आत्मा) का सम्यग्दर्शन (अर्थात्) आनंद की दशा प्रगट हुई है और पूर्ण आनंद का जो कामी है। मोक्ष के परमानंद का नमूना जिन्होंने जाना है, अर्थात् मुक्तस्वरूप भगवानआत्मा है उसके सन्मुख होकर - सत्+मुख=सत्

पड़ा है उस की (ओर) मुख करके - दृष्टि करके, जिन्होंने आनंद के अंश को वेदन में लिया है, उन्हें मोक्षार्थी माने पूर्ण आनंद का अभिलाषी कहते हैं। (परंतु) जिसे मोक्ष का जो आनंद है उसका अंश भी खयाल में नहीं आया उसे इस पूर्णानंद का अभिलाषी किस प्रकार कहें ? ऐसा कह रहे हैं। कुछ समझमें आया ? मुक्तस्वरूप - अबद्धस्पृष्ट जो प्रभु; उसका भान जिन्हें हुआ है, आनंद का स्वाद आया है, निर्विकल्प सम्यग्दर्शन हुआ है, उस जीव को पूर्णानंद का अर्थी - मोक्षार्थी कहा जाता है। आहा...हा...! ऐसी वस्तु !! शर्तें बहुत, जिम्मेदारी बहुत !

एक बार कहा था न...! 'मतिज्ञान केवलज्ञान को बुलाता है।' अर्थात् आत्मा आनंदस्वरूप है, उसकी दृष्टि जहाँ सम्यक् हुई वह सम्यग्दर्शन, धर्म की पहली सीड़ी है। उसके बिना सब कुछ थोथा है - व्रत करे या पूजा करे और दान करे और मंदिर बनाये और करोड़ों - लाखों शास्त्र बनाये न... वह तीर्थ की रक्षा करे और तीर्थ का ध्यान रखे न... ये सब विकल्प हैं, (ऐसा) कहते हैं। ऐसा मार्ग !!

यहाँ कहते हैं कि : जिसने 'चित्त एकाग्र किया है' (वह भव्यजीव) 'सकल विभाव को छोड़कर' - विभाव अर्थात् चार भाव (उदय, उपशमादि) भी विशेष भावरूप हैं, (उन सभी को) लक्ष से छोड़कर - 'अल्प काल में मुक्ति को प्राप्त करते हैं।'

ये पाँच रत्न ! यह इसका श्लोक है। उसमें (टीका में) तो आ गया न...! चौदह गुणस्थान, चौदह जीवस्थान, चौदह मार्गणास्थान (ये) सभी भेद मैं नहीं हूँ। 'ये मैं नहीं हूँ' अर्थात् 'जहाँ मैं नहीं हूँ' उसकी ओरसे लक्ष छोड़कर 'मैं जहाँ हूँ' वहाँ उसकी दृष्टि करके, एकाग्रतापूर्वक, अल्प काल में मुक्ति को (प्राप्त करूँगा) ! आहा...हा...!

मोक्ष का मार्ग तो 'यह है ! लोग) बीच में ये बातें करते हैं न...' व्यवहार और व्रत और तप और - अभी सम्यग्दर्शन बिना - दान और दया और मंदिर और पूजा और भक्ति और शास्त्र बनाने और शास्त्रों की भक्ति करनी और - ये सब राग है ! ऐसी बातें हैं।

अखंड - अभेदस्वभाव की अनुभवदशा यह निज भाव है उससे भिन्न (ऐसे सकल विभाव को) छोड़ देता है। भाषा तो क्या समझाये ? विभाव को छोड़कर, अर्थात् इस विभाव को छोड़ रहा हूँ ऐसा वहाँ नहीं है (परंतु) स्वरूप में एकाग्रता विशेष होती है इसलिये विभाव उत्पन्न नहीं होते। तो 'उसे छोड़कर' ऐसा कहने में आता

है।

आहा...हा...! ऐसा मार्ग है ! लोगों को निश्चयाभास जैसा लगे। कुछ भी इस व्यवहार से (निश्चय) होवे (ऐसा ये कुछ कह नहीं रहे तो क्या) दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, तप, उपवास इनसे कुछ नहीं होता ? (भाई !) उससे तो राग का भाव होता है, (वह भी) शुभ करे तो। (परंतु जो) अभिमान करे कि मैंने यह किया और मैंने यह किया और... तो फिर पाप (और) होता है। दूसरों को दिखाने के लिये करे, तो भी पाप होता है। दुनिया में मेरी गिनती धर्मी में होवे... इस प्रकार करे, तो वह भी पाप होता है। (परंतु) उसे (भव्य जीव को) तो भगवान को गिनती में लाना है। मैं सिद्ध की पंक्ति की गिनती में आऊँ। मेरे स्वभाव - निज भाव - से भिन्न (ऐसे सकल विभाव) उनको छोड़कर मैं (सिद्ध के पंक्ति में) आ सकता हूँ। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? ऐसा मार्ग भारी कठिन ! अतः लोग - साधु और - बेचारे विरोध करते है न...!

जिज्ञासा :- पर्याय में चिंत्त जोड़ना अर्थात् उसका वेदन करना ?

समाधान :- पर्याय का वेदन करना। और पर्याय को एकाग्र - निर्मलपर्याय में एकाग्र अर्थात् वह पर्याय। यह बात कल करी थी न...! निश्चयभक्ति की भक्ति करना। निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान की भक्ति, यह तो पर्याय है। `पर्याय की भक्ति' इसका अर्थ जिसे `द्रव्य की भक्ति' है उसे पर्याय की भक्ति उत्पन्न होती है। अतः पर्याय-भक्ति कही जाती है। `नियमसार' गाथा-१३४ : `सम्मत्तणाणचरणे जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो।' - श्रावक और मुनि दोनों को निश्चय की भक्ति होती है। सम्यक्त्व की भक्ति, सम्यक्ज्ञान की भक्ति, सम्यक् चारित्र की भक्ति - इसका अर्थ ही यह कि, वीतरागभाव - स्वभावभाव में एकाग्र है - (यह) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एक भक्ति ही है, ऐसा। आहा...हा...! ऐसी बातें !!

(सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) का सेवन करना। यह `समयसार' १६ वीं गाथा। यह तो पर्याय से बात की। फिर भी `ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो' - तीनों मिलकर भी है तो एक। ये तीन पर्यायें हैं उन पर लक्ष जाने से व्यवहार है, विकल्प है, मलिन है। राग तो ठीक; परंतु तीन पर्याय - सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र - ऐसे भेदों के ऊपर लक्ष जाय तो वह मलिन है। उसे व्यवहार को मलिन कहने का व्यवहार है। इस प्रकार `कलशटीका' में पाठ है। १६ वीं गाथा का श्लोक-१६ है उसमें।

मार्ग तो अपूर्व ही होता है न...! पूर्व में जो न किया हो, ऐसा नया करे तो ही अपूर्व कहा जाय न...? आजकल तो सुनना तक मुश्किल पड़ गया है ! और बाहर (यह) बात आये तो (चिल्लाते हैं)... यह निश्चयाभास है, सिर्फ निश्चय है, व्यवहार से और निमित्त से तो लाभ मान नहीं रहे ! (इस प्रकार लोग विरोध करते हैं)। परंतु भाई ! बात तो ऐसी ही है। निमित्त व व्यवहार से लाभ नहीं होता !

प्रश्न :- सकल विभाव को छोड़कर अल्प काल में - 'अचिरात्' है न...? तो 'अचिरात्' में क्रमबद्ध फिर कहाँ रहा ? 'क्रमबद्ध' है न...! 'अल्प काल में मुक्ति को प्राप्त करता है' वहाँ 'क्रमबद्ध' कहाँ रहा ?

समाधान :- इस 'क्रमबद्ध' में ही 'अचिरात्' आया। ऐसा जिसने मोक्षमार्ग साध लिया है उसको उसके क्रम में - अल्प काल में - ही केवल होगा; ऐसा आया। कुछ समझमें आया ? आहा...हा...! बहुत फर्क। 'अचिरात्' आये तो वहाँ ऐसा कि देखो ! अल्प काल में होता है, फलाँ काल ही होता है ऐसा कहाँ आया यहाँ? परंतु वह 'अल्प काल में हो' यह किस अपेक्षा से कहा ? कि : जिसने आत्मा - द्रव्य के आश्रय से क्रमबद्ध की पर्याय का निर्णय किया है और द्रव्य के आश्रय से ज्ञान व रमणता खडी की है वह पर्याय अल्प काल में ही केवलज्ञान लेगी ऐसी उसमें (पर्याय में) ताकत है इसलिये क्रमबद्ध में - अल्पकाल में ही - केवलज्ञान आयेगा, ऐसा नियम है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

(यहाँ कहा न...! अल्प काल में) 'मुक्ति को प्राप्त करता है।' (परंतु) इस भव में तो (मुक्ति) नहीं है, यह (बात) पंचम काल के साधु ही स्वयं कहते हैं। उनको भी इस भव में मुक्ति तो नहीं है। 'कुंदकुंदआचार्य' ने मूल श्लोक कहा परंतु इस भव में तो मुक्ति नहीं है। परंतु जिसने इस मुक्ति के लिये प्रयाण किया है उसको मुक्ति ही है !

'प्रवचनसार' में पंचरत्न गाथा-२७१ से २७५ ली हैं : जिसने अंतर में आत्मा के स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का शुद्ध साधन खड़ा किया, जिसने अंदर शुद्धोपयोग प्रगट किया, उस जीव को अभी हम मोक्षतत्त्व कहते हैं। जिसने शुद्धोपयोग से इस मोक्षमार्ग को प्रगट किया उसे ही हम मोक्षतत्त्व कह रहे हैं। ऐसा २७२ गाथा में पाठ है। और गाथा-२७१ में संसारतत्त्व (की बात है) : जिसने एकत्वबुद्धि से राग के, पुण्य के विकल्प को भी भला माना है, वह साधु होवे फिर भी वह संसारतत्त्व है। आहा...हा...! वह व्रत, तप, भक्ति, पूजा, दया, दान, पंचमहाव्रत के परिणाम से

जिसने लाभ माना है ऐसे जीव को वहाँ संसारतत्त्व कहा है। वह जीव भले जैन के पंचमहाव्रत का पालन करता हो परंतु वह (संसारतत्त्व है)। क्योंकि राग है वह संसार है, और जिसे राग की एकताबुद्धि - लाभ की (बुद्धि) वर्तती है वह संसारीप्राणी है, वह संसारतत्त्व है। और जिसे राग की एकता टूटकर स्वभाव की एकता, शुद्धोपयोग(रूप) साधन किया है, उस जीव को मोक्षतत्त्व कहा है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

मार्ग ऐसा... भारी कठिन लगे। एक तो व्यापार के मारे (लोगों को) बेचारों को फुर्सत नहीं मिलती; पाप में ही पूरा दिन... यह... यह... यह... (करता रहे, फुर्सत मिले नहीं) इसमें किसी समय, कुछ देवदर्शन, शास्त्रवांचन या ऐसा कुछ करे तो वह थोड़ा पुण्य होवे; उसमें यह धर्म, तो बात (ही) बहुत दूर रह जाती है !

आहा...हा...! मुनिजन - `कुंदकुंदाचार्य' आदिने जंगलों में शास्त्ररचना की। ताडपत्र वहाँ पडे थे, ले लिये। सींको द्वारा (अक्षरों के) छेद किये। वह (लिखे हुए) पत्र वहाँ फिर छोड़कर (वे) चले गये ! साथ में नहीं रखे ! लिखनेवाले को (सम्हालने की) कुछ पड़ी नहीं है कि लाओ... मैं गाँववालों को ताडपत्र दे दूँ ! परंतु गृहस्थों को पता रहता हैं कि मुनिराज जंगल में हैं और कुछ शास्त्र लिख रहे हैं। अतः वे मुनिराज वहाँ से विहार करे तब वे लोग वहाँ जाय और ताडपत्र वहाँ पडे हो उन्हें इकट्ठे करे और उठा ले (सम्हालकर रख ले)। आहा...हा...! ऐसी बात है ! मुनिराज की दशा !! अंतर के आनंद में झूल रहे हैं। बाहर निकलते हुए उन्हें दुःख लगता है। अंतर में प्रवेश करने में उन्हें आनंद लगता है। और विकल्प में आनेपर उन्हें दुःख लगता है। इस (विकल्प) को छोड़कर कब अंदर में जाऊँ ? इस प्रकार बारंबार सातवाँ गुणस्थान आता है। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं !! अरे...! अनंत काल के ये दुःख, जिसके नष्ट होते हैं, बापू ! उसका उपाय तो अलौकिक ही होवे न...! कुछ समझमें आया ? ये (पंचरत्न) पाँच गाथाएँ पूरी हुई।

श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्यदेवप्रणीत

श्री नियमसार

श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित संस्कृत टीका

(परमार्थ-प्रतिक्रमण अधिकार)

गाथा-८२

एरिसभेदब्भासे मज्झत्थो होदि तेण चारित्तं।
तं दिढकरणणिमित्तं पडिक्कमणादी पवक्खामि ।। ८२ ।।
ईदृग्भेदाभ्यासे मध्यस्थो भवति तेन चारित्रम् ।
तद्दृढीकरणनिमित्तं प्रतिक्रमणादिं प्रवक्ष्यामि ।। ८२ ।।

टीका :

अत्र भेदविज्ञानात् क्रमेण निश्चयचारित्रं भवतीत्युक्तम्।

पूर्वाक्तपंचरत्नांचितार्थपरिज्ञानेन पंचमगतिप्राप्तिहेतुभूते जीवकर्मपुद्गलयोर्भेदाभ्यासे सति, तस्मिन्नेव च ये मुमुक्षवः सर्वदा संस्थितास्ते ह्यत एव मध्यस्थाः, तेन कारणेन तेषां परमसंयमिनां वास्तवं चारित्रं भवति। तस्य चारित्राविचलस्थितिहेतोः प्रतिक्रमणादिनिश्चयक्रिया निगद्यते। अतीतदोषपरिहारार्थं यत्प्रायश्चित्तं क्रियते तत्प्रतिक्रमणम्। आदिशब्देन प्रत्याख्यानादीनां संभवश्चोच्यत इति।

हिन्दी अनुवाद :

इस भेदके अभ्याससे माध्यस्थ हो चारित लहे।
चारित्र दृढता हेतु हम प्रतिक्रमण आदिक अब कहें।।८२।।

अन्वयार्थ :- **[ईदृग्भेदाभ्यासे]** ऐसे भेद-अभ्यास होनेपर **[मध्यस्थः]** जीव मध्यस्थ होता है, **[तेन चारित्रम् भवति]** इसलिये चारित्र होता है। **[तद्दृढीकरणनिमित्तं]** उसे (चारित्रको) दृढ़ करनेके निमित्तसे **[प्रतिक्रमणादिं प्रवक्ष्यामि]** मैं प्रतिक्रमणदि कहूँगा।

टीका :- यहाँ, भेदविज्ञान द्वारा क्रमसे निश्चय-चारित्र होता है ऐसा कहा है।

पूर्वोक्त पंचरत्नोंसे शोभित अर्थपरिज्ञान (-पदार्थोंके ज्ञान) द्वारा पंचमगतिकी प्राप्तिके हेतुभूत ऐसा जीवका और कर्मपुद्गलका भेद-अभ्यास होनेपर, उसीमें जो मुमुक्षु सर्वदा संस्थित रहते हैं, वे उस (सतत भेदाभ्यास) द्वारा मध्यस्थ होते हैं और उस कारणसे उन परम संयमियोंको वास्तविक चारित्र होता है। उस चारित्रकी अविचल स्थितिके हेतुसे प्रतिक्रमणादि निश्चयक्रिया कही जाती है। अतीत (-भूतकाल के) दोषोंके परिहार हेतु जो प्रापश्चित किया जाता है वह प्रतिक्रमण है। `आदि' शब्दसे प्रत्याख्यानादिका संभव कहा जाता है (अर्थात् प्रतिक्रमणादिमें जो `आदि' शब्द है वह प्रत्याख्यान आदिका भी समावेश करनेके लिये है)।

प्रवचन : दिनांक १८-२-१९७८ (...शेषांश)

`नियमसार' गाथा-८२। अधिकार क्या चल रहा है ? निश्चयचारित्र। सत्यचारित्र। उसके प्रभेद में, प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान और आलोचना और सब कुछ आता है। अब कह रहे हैं कि निश्चयचारित्र किस प्रकार प्रगट हो ?

आहा...हा...! स्वयं भदवान `कुंदकुंदाचार्य' कह रहे हैं : कहूँगा, प्रभु ! तुझे कहूँगा। कथन में अन्य क्या कहें ? एक तरफ कहते हैं कि आत्मा व भाव को भाषा द्वारा कह नहीं सकते। और (यहाँ कहा :) `पवक्खामि' - (मैं कहूँगा) उपदेश के वाक्य आये तब तो ऐसे ही आये न...! `वोच्छामि समयपाहुडं' - `समयसार' (नाम के प्राभृत को) कहूँगा।' आहा...हा...! प्रभु ! तुझे ऐसा योग सुनने का मिला इसलिये यदि मैं कहूँ तो (तू) प्रमाण करना हाँ ! आठवीं गाथा में भी आया था : `आत्मा' (ऐसा शब्द)

कहा; उसे सुनां, परंतु समझा नहीं। अब उसका अर्थ किया तब समझा। परंतु समझा और तुरंत ही उसे आत्मज्ञान हुआ। आहा...हा...! क्या कहा वह ? आठवीं गाथा (में कहा न...!) ब्राह्मण ने (एक म्लेच्छ से) कहा 'स्वस्ति'। इस प्रकार इस मुनिराज ने कहा 'आत्मा'। निश्चय व व्यवहार के सम्यग्ज्ञानरूपी रथ में आये हैं। व्यवहार में आये तब विकल्प उठा है न...! यहाँ केवली की बात नहीं है। वर्तमान (में) केवली नहीं है इसलिये यह बात ली है। 'आत्मा' (ऐसा शब्द सुनकर) वह टिकटिकी लगाकर देखता रहता है। (उसका अर्थ) समझ नहीं रहा; परंतु ऊँब नहीं है, अनादर भी नहीं है। क्या कह रहे हैं यह... 'आत्मा' ? क्या कह रहे हैं यह ? गुरु यह कहनेवाले या कोई अन्य, इस प्रकार दोनों बात है न इसमें। 'आत्मा'... प्रभु ! 'आत्मा' उसे कहें : दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हो वह 'आत्मा'। निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हाँ ! ऐसा जहाँ सुना - प्रभु ! तेरा आत्मा तो देख...! यह संतों की वाणी की उग्रता तो देख ! तब उसे 'आत्मा' (शब्द) सुनने पर आशंका थी - क्या कह रहे हैं ? शंका नहीं थी। यह क्या कह रहे हैं (ऐसी जिज्ञासा थी; किन्तु) झुझलाहट - ऊँब नहीं थी कि आत्मा... आत्मा क्या कर रहे हो ? 'आत्मा' ऐसा शब्द जिसके कान पड़ा कि ऐसी जिज्ञासा अंदर से (उत्पन्न हुई) कि : यह क्या कह रहे हैं ? दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हो वह आत्मा। इसलिये वस्तु तो निश्चय कही। परंतु यह आत्मा दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हो - ऐसा भेद से कहा। तब इस प्रकार सुननेवाले को सुनते ही एकदम अतीन्द्रिय आनंद के अश्रु आये - आनंद... आनंद... आनंद आया। आहा...हा...! ऐसे (योग्यतावान) जीव को ही वहाँ लिया है। कुछ समझमें आया ? 'कलशटीका' में आता है न...! कि : एकत्वपरिचित कोई दीर्घजीवी हो : दिगंबर संतों की वाणी !! और कह रहे हैं कि : उसे सुननेवाले भी सामने ऐसे पात्र और योग्य मिले ! भगवानआत्मा तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त होता है। - व्यवहार नहीं... हाँ ! निश्चय। भेद हुआ उतना भी व्यवहार हुआ; इसके द्वारा समझाया उन्हें आत्मा। उस भेद का अनुसरण नहीं करना - (ऐसा) शिष्य से कहा। और स्वयं ने कहा कि समझाने के (लिये) यह भेद आया परंतु हमारे लिये वह अनुसरण करने लायक नहीं है। इसी प्रकार श्रोता को भेदपूर्वक समझा रहे हैं (परंतु) वह भेद अनुसरण करने लायक नहीं है। आहा...हा...हा...!

२००५ के संवत में एक भाई का प्रश्न था : पहले पानी छानकर पीना और ऐसा (सब) करना न ? आहा...हा...! कहो ! इसमें पानी छानना तो बहुत दूर रह

गया। यहाँ तो आत्मा को छानकर पीना है। पानी को छानना और पानी को अनछना रखना, यह क्रिया आत्मा की नहीं है। परंतु यह जो विकल्प; यह आश्रय करने लायक नहीं है।

गाथा में कहा न...! `**पवक्खामि**' -मैं प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, भक्ति ये सब कहूँगा। `आदि' शब्द है न (प्रतिक्रमणादि)।

`इस भेदके अभ्याससे माध्यस्थ हो चारित लहे।
चारित्र दृढता हेतु हम प्रतिक्रमण आदिक अब कहें।।८२।।'

आहा...हा...! स्वयं (`कुंदकुंदाचार्य') कह रहे हैं कि : मैंने तो अपनी भावना के लिये यह (`नियमसार' नाम का शास्त्र) बनाया है। `कुंदकुंदआचार्य' जो तीसरे नंबर पर : `मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी, मंगलं कुंदकुंदार्यो' - जैनशासन में आये हैं। `जैनधर्मोऽस्ती मंगलम्' - चौथा पद। आहा...हा...! ऐसे आचार्य कह रहे हैं : मैंने तो अपनी भावना के लिये ये श्लोक बनाये हैं।

यहाँ कह रहे हैं : `**उसे (निश्चयचारित्र को) दृढ करने हेतु मैं प्रतिक्रमणादि कहूँगा।**' आहा...हा...! वीतरागभाव की जो चारित्रदशा, उसकी दृढता के लिये मैं यह (प्रतिक्रमाणदि) कहूँगा।

इसकी टीका : `**यहाँ, भेदविज्ञान द्वारा क्रम से निश्चय-चारित्र होता है ऐसा कहा है।**' देखा ! पहले राग से भिन्न करके, (आत्मा के साथ की) एकत्वबुद्धि में सम्यग्दर्शन होता है। फिर अस्थिरता से भिन्न करके स्थिरता होती है। और राग से भिन्न करके जैसे विशेष-विशेष स्थिरता होती है, उस चारित्र की दृढता हेतु यह (प्रतिक्रमणादि) कहूँगा। ऐसा कहते हैं। मुनि को भी शुद्धता बढ़ती जाती है न...! छठे-सातवें, छठ-सातवें रहते हैं, परंतु शुद्धि उतनी की उतनी रहती है, ऐसा नहीं है। स्वरूप की रमणता बढ़ती जाती है, ऐसा कह रहे हैं। उस रमणता को दृढढ करने के (निमित्त से) मैं यह अधिकार कहूँगा।

`पद्मनंदिपंचविंशति' `ब्रह्मचर्याष्टक' मैं `पद्मनंदि आचार्य'ने कहा न...! ब्रह्म अर्थात् आत्मा, उसके आनंद में रमण करना (यह ब्रह्मचर्य)। इस ब्रह्मचर्य की व्याख्या करते करते राग का नौ नौ कोटि से त्याग - विषय का (मन-वचन-काया से) सेवन नहीं करना, सेवन नहीं करवाना, सेवन करनेवाले को अच्छा नहीं मानना। अंदर आनंदस्वरूपमें अर्थात् ब्रह्म में रमण करना, उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। (इस अधिकार में) खूब नव गाथाएँ लिखी ! मुनिराज `पद्मनंदि...' महाआचार्य... आहा...हा...! देखो तो ! जंगल में सिद्ध

के साथ बातें की हैं !! सिद्ध माने आत्मा हाँ ! वे नौवीं गाथा में कह रहे हैं कि : हे भाईयों ! हे युवानों ! तुम लोगों को राग के रस में, स्त्री के विषय में रस आता हो, युवानी (हो), शरीर रूपसंपन्न होवें, साधन कुछ पाँचपच्चीस लाख... बंगला.. ये पंखे आदि साधन मिले हो; उसमें आपसे ऐसा कहूँ कि यह... यह... नहीं ! ब्रह्मचर्य तो इसे कहते हैं ! आहा...हा...! प्रभु ! हे युवानों ! मैं मुनि हूँ इसलिये मैंने यह बात करी (परंतु) यदि आपको न पसंद आये तो माफ करना, प्रभु ! आहा...हा...! इस प्रकार यहाँ मुनिराज कह रहे हैं कि मैं दृढ चारित्रपूर्वक कहूँगा - आपको पसंद न आये तो माफ करना... बाकी मार्ग तो यह है ! 'पद्मनंदिआचार्य' तो बाद में हुए और ये ('कुंदकुंदाचार्य') तो पहले (हुए)। जिनकी गणना पहले तीन (बोल में) हुई : 'मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी, मंगलं कुंदकुंदाचार्यो...' ये कह रहे हैं कि :

मैं तो निश्चयचारित्र की दृढता, स्थिरता, रमणता बढ़े इसके लिये यह (प्रतिक्रमणादि) कहूँगा। मेरे लिये भी ऐसा है और आपके लिये भी ऐसा है ऐसा कह रहे हैं। आहा...हा...!

'भेदविज्ञान द्वारा क्रम से' - है न...! छठे गुणस्थान में अभी राग है इसलिये राग से भेद करके स्थिरता बढ़ती जाती है; इस क्रम से चारित्र सातवाँ और फिर आगे बढ़कर स्थिरता विशेष होती है। कुछ समझमें आया ?

'समयसार' टीका में आता है न...! शुद्धि की वृद्धि के भेद पड़ते हैं। शुद्धि का एक प्रकार नहीं है। शुद्धि छठे में है वहाँ से भी बढ़ती जाती है। 'क्रम से निश्चय-चारित्र होता है।' राग को भिन्न करके सम्यग्दर्शन तो (प्रगट) किया है, परंतु बाद में भी राग की अस्थिरता है वहाँ से खिसकर स्वरूप में स्थिर होता है। इस दृढ चारित्र के लिये मैं यह कथन करूँगा; और इसके बिना तेरी मुक्ति नहीं है, बापू !

चारित्र (है) वह मुक्ति का कारण है। और चारित्र का कारण सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र होता नहीं है, इस अपेक्षा से कहा है। वरना कोई एक गुण दूसरे गुण का कारण है, ऐसा तो नहीं है। सभी गुण असहाय हैं। परंतु (यह तो) अपेक्षा से कथन है।

('समयसार') बंध अधिकार में (गाथा-२७३ में) लिया है न...! कि : दर्शन-ज्ञान कारण बिना चारित्र कहाँ से हो ? मूल चारित्र का कारण प्रथम (तो) सम्यग्दर्शन है; यह तो अभी खबर नहीं है तो तुझे चारित्र कहाँ से आ गया ? वहाँ चारित्र का कारण सम्यग्दर्शन व ज्ञान को कहा। और दूसरी जगह ऐसा कहा कि किसी

गुण को किसी (अन्य) गुण की सहायता नहीं है। आहा...हा...! अपेक्षापूर्वक समझना चाहिए, बापू ! यह तो।

'**पूर्वोक्त पंचरत्नोंसे शोभित**' - पाँच गाथा, पाँच रत्नों से शोभित '**अर्थपरिज्ञान (-पदार्थों के ज्ञान) द्वारा**' - भगवान आनंदस्वरूप के ज्ञान द्वारा '**पंचम गति की प्राप्ति के हेतुभूत**' आहा...हा...! पंचरत्नोंसे शोभित; उसका (पदार्थ का) परिज्ञान; उसके द्वारा पंचमगति की प्राप्ति। - आहा...हा...! सब जगह 'प'... 'प' आया है। पूर्वोक्त में 'प' आया। पंचरत्नोंसे में 'प' आया। परिज्ञान में 'प' आया। पंचमगति में 'प' आया। और प्राप्ति में 'प' आया। कुछ समझमें आया ?

यहाँ 'पंचरत्नोंसे शोभित अर्थपरिज्ञान (- पदार्थों के ज्ञान) द्वारा पंचम गति की प्राप्ति के हेतुभूत '**ऐसा जीव का और कर्मपुद्गल का भेदअभ्यास होनेपर**' भाषा इस प्रकार है देखा ! आगे दूसरी जगह ऐसा है : अशुद्धअंतःतत्त्व और कर्म - दोनों को भिन्न करने का अभ्यास। यह तो इसमें आ गया। कर्म का भेद करने का अभ्यास, अर्थात् कर्म के निमित्त से जो अपनी अशुद्धता है उसका भी भेद करने का अभ्यास, इसमें साथ में (ही) शामिल है ! उसमें ('नियमसार' टीका) गाथा-१०६ में लिखा है : 'श्रीमद् अर्हत् के मुखारविंदमें से निकले हुए परमागम के अर्थ का विचार करने में समर्थ ऐसा जो परम संयमी अनादि बंधनरूप संबंधवाला अशुद्ध अंतःतत्त्व और कर्मपुद्गल का भेद भेदाभ्यास के बल से करता है' यहाँ है न...! 'एवं भेदब्भासं जो कुव्वइ जीवकम्मणो।' और वहाँ (गाथा-८२ में) भी यह है : 'एरिस भेदब्भासे।' और गाथा-४० की टीका में आता है वहाँ जरा दूसरी बात है : 'अशुद्धअंतःतत्त्व के और कर्मपुद्गल के प्रदेशों का परस्पर प्रवेश।' - अशुद्धअंतःतत्त्व माने राग। और कर्मपुद्गलों के प्रदेशों का परस्पर प्रवेश - एकक्षेत्रावगाह। सूक्ष्म बात है।

यहाँ तो 'भेद-अभ्यास होनेपर' कहा न...! 'पंचमगति की प्राप्ति के हेतुभूत ऐसा जीव का और कर्मपुद्गल का भेद-अभ्यास होने पर'... देखा ! यह अभ्यास है। राग से और कर्म से भगवान का भेद करनेका अभ्यास। (**श्रोता :-**) अभ्यास पहले होता है बाद में भेदज्ञान (होता है) ? (**उत्तर :-**) वह भेदज्ञान तो पहले हो चुका है परंतु फिर भेद विशेष करके चारित्र होता है; ऐसा कहना है। '**भेद-अभ्यास होने पर, उसीमें जो मुमुक्षु सर्वदा संस्थित रहते हैं, वे उस (सतत भेदाभ्यास) द्वारा मध्यस्थ होते हैं।**' मध्यस्थ होते हैं अर्थात् अंदर वीतरागदशा होती है। राग से भी भेद-अभ्यास करने पर और भेद के लक्ष को छोड़कर भी अंदर में अभेद की ओर जाने से चारित्र

की वीतरागी निर्मल दशा - मध्यस्थता प्राप्त होती है।

आहा...हा...! ऐसी बातें !! वहाँ मिल रही है कहीं मुंबई में, कहीं आसपास में? कहीं पैसे मिल रहे होंगे ? परंतु इसे (आत्मा को) पैसा भी कहाँ मिलता है ? मुझे मिला, ऐसी ममता मिलती है उसे। पैसे तो वे इसके घर में - जड़ में - रहे। (परंतु इसे) ममता मिलती है ! दुःखी दशा मिलती है।

यहाँ कहते हैं कि : राग से भेद करने पर आनंद की दशा - चारित्र - प्रगट होता है, मध्यस्थ होता है। मध्यस्थ माने वीतराग। ऐसा चारित्र है ! क्या कहा ? `भेद-अभ्यास होने पर, उसीमें जो मुमुक्षु सर्वदा संस्थित रहते हैं।' आहा...हा...हा...हा...! राग से भिन्नता करके, भगवान अतीन्द्रियआनंद में संस्थित - सम्यक्प्रकार से स्थित - रहता है, उसका नाम चारित्र !

यहाँ तो पंचमहाव्रत का भी ठिकाना न मिले और चारित्र हो गया ! व्रत हो गया ! आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? बहुत कठिन बात, भाई ! ऐसी बातें... ऐसा बोलना... और उसके लिये रसोडा (रसोईघर) चलाते हैं ! बारह लोग साथ में थे और एक ब्रह्मचारी बेचारा नरम आदमी था। साथ में चार पाँच औरतें खाना पकानेवाली थी। पाँच अर्जिकाएँ, साधु पाँच और एक ब्रह्मचारी क्षुल्लक (इस प्रकार) वहाँ सेठ के मकान में ग्यारह लोगों के लिये आहार बनता था। और होता है उद्देशिक। परंतु कहते हैं कि उद्देशिक है या नहीं इसकी खबर हमें कैसे हो सकती है ? अवधिज्ञानी हैं हम ? अरर...र...! प्रभु ! यह क्या बोल रहा है ? कितना बचाव कर रहा है ? अभी सौ-दोसौ-पाँचसो आदमियों के लिया बनाया हो और (फिर) दो-चार आदमी आ जाय (तब तो ठीक)। (परंतु) फिर भी शंका उठती है कि भाई ! हमारे लिये तो नहीं बनाया ? वरना तो जहाँ बनाया है वहाँ जाय (और सुनिश्चित करे)। आहा...हा...! प्रभु ! प्रभु ! मार्ग ऐसा है, भाई !

यहाँ कहते हैं : `भेद-अभ्यास द्वारा' अर्थात् राग के विकल्प से भिन्न अभ्यास द्वारा, मध्यस्थ होता है अर्थात् वीतरागचारित्र प्रगट होता है।

सेठ लोगों ने भी सब कुछ यों ही गँवा दिया। परंतु कोई यह अभ्यास किया नहीं। करने का तो `यह' है, बापू ! ऐसा मनुष्यत्व मिला - अरे...! चला जायेगा, उसकी मुद्दत पूरी होने पर खलास होगा - उसमें करने का तो `यह' है !

`और उस कारण से उन संयमियोंको'** आहा...हा...! देखा ! (सतत भेदाभ्यास) द्वारा मध्यस्थ होता है और उस कारण से उन परम संयमियों को **`वास्तविक चारित्र

होता है।' उन्हें वास्तिवक - यथार्थ चारित्र होता है।

आहा..हा...! पंचमकाल के संत, पंचमकाल के जीव के लिये कहते हैं ! पंचम काल (कहकर) बचाव करते हैं न...! (लोग) ! अब यह (बचाव की बात) तो उड़ जाती है। यहाँ तो ये मुनि तो पंचमकाल के हैं। (और पंचमकाल के श्रोता से 'यह' कह रहे हैं)। पंचमकाल है, (इसलिये कोई मार्ग बदल जाता है ? ऐसा नहीं है)। दो हज़ार वर्ष पूर्व कहा हो तो हलुआ तो तीन चीचों से, जिस प्रकार बने उस प्रकार से ही बने। पाँच हज़ार वर्ष पहले भी वह : आटा, घी और सक्कर या गुड। या इन तीनोंमें से कोई (चीज़) में फर्क हो जाय ? पंचमकाल हो तो अन्य कुछ हो - आटे की जगह कर्दम और घी की जगह पानी, (ऐसा नहीं है) यह तो तीनों काल में घी, आटा और सक्कर या गुड; उसका हलुआ बनता है। इस प्रकार तीनों काल में दर्शन, ज्ञान और चारित्र 'इस प्रकार' हो तो उस (जीव की) मुक्ति हो। धर्म का हलुआ बने।

आहा...हा...! भाषा फिर कैसी है ! 'उसके द्वारा मध्यस्थ होते हैं...' और 'और इस कारण से' - राग से भिन्न करते-करते अंदर वीतरागता बढ़ती है इस कारण से - उन परम संयमियों को वास्तविक चारित्र होता है। आहा...हा...! उन पंच महाव्रत के परिणाम ये चारित्र नहीं हैं, ये तो अचारित्र हैं। उनसे भी भेद करते हुए अर्थात् शुद्धि की वृद्धि होने पर और अशुद्धि कम होने पर, भेद करने से; परम संयमियों को चारित्र होता है। (**श्रोता :-**) चारित्र माने यथाख्यातचारित्र ? (**उत्तर :-**) नहीं। यथाख्यातचारित्र कहाँ है अभी ? परम संयमियों को चारित्र होता है, उनकी दशा के योग्य सातवें (गुणस्थान) के योग्य - वीतरागदशा होती है (उसे) चारित्र कहा जाता है। आहा...हा...! शुद्ध उपयोग बढ़ता है न...!

'**उस चारित्र की अविचल स्थिति के हेतु से**' - वर्तमान में चारित्र कैसे हो ? यह उसकी व्याख्या है। 'प्रवचनसार' चरणानुयोगसूचक चूलिका (गाथा-२०१ की टीका में आता है न...! 'उसे (श्रामायको -) मुनिपने को अंगीकार करो। उसे अंगीकार करने का जो यथानुभूत (- जैसा हमने अनुभव किया है वैसा) मार्ग है उसके प्रणेता हम यह खड़े हैं।' आहा...हा...! दिगंबर संतों की तो वाणी और उनकी शैली कोई अलौकिक है ! उनका चारित्र ऐसा होता है ! और उस चारित्र के अंदर में (छठे गुणस्थान में) विकल्प भी ऐसे होते हैं : इस (श्रामण्य) के अनुभवी हम यह खड़े हैं। हम यह बात तुझे बता रहे हैं। (मोक्षमार्ग स्वयं ने) अवधारित किया है और उसे) किया जा

सकता है इसलिये (अंगीकार) करो। हमने मोक्षमार्ग (अंगीकार) किया है। आहा...हा...हा...! यह बात यहाँ कहते हैं : `उस चारित्र की अविचल स्थिति के हेतु से,' `**प्रतिक्रमणादि निश्चयक्रिया कहीं जाती है।**' देखा ! यह निश्चयक्रिया कही। निश्चयक्रिया यह है।

इसकी विशेष व्याख्या (आगे) आयेगी।.....

***

पुस्तकें पढ़ना चाहिए। इतिहास-ज्ञान अधिक हो तो बुद्धि विकसित हो, अलग-अलग देशमें जाए तो बुद्धि खिले - ऐसा माननेवाले मूढ ! परके कारणसे बुद्धि-विकास मानते हैं तथा अपनेको ज्ञानसे शुन्य मानते हैं ।

(परमागमसार - ८६४)

❁

सबका सार यह है कि तेरा परको जाननेका तथा परमें स्वाद मानकर रागका स्वाद लेनेका मार्ग शान्तिका नहीं है, जिस कारणसे तूँ दुःखी हो रहा है। (तुझे) न तो विषयोंका स्वाद है ओर न ही विषयोंका ज्ञान; परन्तु रागका स्वाद है तथा ज्ञानका ज्ञान। विषय पर है, राग क्षणिक है व स्वभावमें नहीं है। ज्ञान-पर्याय ज्ञान-स्वभाववानकी है । इस प्रकार राग-रहित नित्य ज्ञान-स्वभावकी दृष्टि होती है। ऐसा समझे तो निमित्त-बुद्धि व रागबुद्धि छूटकर स्वभाव-बुद्धि होती है, घर्म होता है। (परमागमसार - ८६५)

प्रवचन- २१, दि. १९-२-१९७८

(`नियमसार') गाथा-८२, टीका। सूक्ष्म बात - अपूर्व अनंतकाल में कभी भी की नहीं है और यथार्थतापूर्वक, रुचिपूर्वक सुनी नहीं है। ऐसी चीज़ है ! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ जिसे सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र कहते हैं, वह क्या चीज़ है और (वह) किस प्रकार प्राप्त हो ? उसकी यह बात है ! इसके बिना, जन्म-मरण मिटे ऐसा नहीं है।

यहाँ कहते हैं : भेदविज्ञान द्वारा - क्या कह रहे हैं ? कि : जो कोई अंदर में दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के भाव होते हैं, ये सब राग है। यह राग है वह संसार है और वह बंध का कारण है। चाहे तो व्रत, अहिंसा, सत्य, अदत्त, ब्रह्मचर्य हो; परंतु है वह शुभविकल्प और राग। तो जिसे धर्म करना हो - उसे क्या करना ? यहाँ यह बात चल रही है कि : राग है उससे, भेदज्ञान द्वारा, अलग होकर अंतर आनंदस्वरूप भगवानआत्मा है उसमें अंदर जमावट - स्थिरता होना, उसका नाम चारित्र और उसका नाम मोक्ष का मार्ग है। (यह धर्म की रीत है।)

`**पूर्वोक्त पंचरत्नों से शोभित**' (पंचरत्न गाथा - ७७ से ८१ चली न...! उससे शोभित) `**अर्थपरिज्ञान (- पदार्थ के ज्ञान) द्वारा**' अर्थात् जिसे इस प्रकार पदार्थ का ज्ञान हुआ है कि : चौदह गुणस्थान, (चौदह) जीवस्थान, चौदह मार्गणास्थान - ये भेद भी वस्तु के स्वरूप में नहीं हैं। भगवानआत्मा का शुद्धचैतन्यस्वरूप (तो) अतीन्द्रिय आनंद का दल है।

परमात्मा जिनेन्द्रदेव, त्रिलोकनाथ की वाणी में इन्द्र व गणधरों की समक्ष यह बात आई है कि : व्रत और तप और भक्ति और पूजा के भाव, ये सब राग हैं; उन राग से, अंदर भेद करना ! राग का खयाल न आये; परंतु यह (जो) ऐसे... पर की ओर लक्ष जाता है न कि दया का पालन करूँ और सत्य बोलूँ और ऐसा

न कहूँ, ऐसा कहूँ - यह राग है; वह बंध का कारण है; उससे आत्मा को भिन्न करना ! आहा...हा...!

'परिज्ञान द्वारा' - परंतु इस प्रकार पदार्थ के परिज्ञान द्वारा - स्वरूप में भेद नहीं है ऐसे पदार्थ के परिज्ञान द्वारा। क्या कहा ? कि : यह भगवानआत्मा, (जिसे) अनंत सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव परमात्माने अंदर देखा वह आत्मा तो, अनंत चैतन्य-रत्न के गुणों से भरा भगवान है। निश्चय से तो यह आत्मा स्वयं ही परमात्मा है। उस परमात्मा का आश्रय लेकर (उसका ज्ञान हुआ कि) उसमें (आत्मा में) यह पर - भेद इत्यादि नहीं है, राग नहीं है, भेद नहीं है; जिसमें ज्ञान के पाँच प्रकार : मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान ये भी नहीं हैं; जिसमें समकित और समकित के भेद भी नहीं हैं; चारित्र के भेद - जिसकी पर्याय की निर्मलता के भेद ये भी, जो वस्तु है भगवानआत्मा, उसमें नहीं हैं। - उसके परिज्ञान द्वारा - वह पदार्थ का ज्ञान (कि :) ऐसा पदार्थ है; ऐसे ज्ञान द्वारा (चारित्र होता है)। आहा...हा...! पहले सम्यग्दर्शन व ज्ञान बताया। पहले वह लिया। अब फिर चारित्र कहते हैं। आहा...हा...! वह चैतन्य भगवान; जिसमें दया, दान, व्रत के विकल्प - राग तो नहीं है, परंतु जिसमें निर्मलपर्यायों के भेद पड़े वह भी उसमें नहीं है। इस प्रकार पर से - भेद से भी भिन्न, ऐसा जो पदार्थ का स्वरूप है उसका ज्ञान - 'परिज्ञान' कहा है न - ('अर्थपरिज्ञान') - परि=समस्त प्रकार से+अर्थ =आत्मा; उसका परिज्ञान अर्थात् समस्त प्रकार से पर से भिन्न, भेद से भिन्न; ऐसा अंदर भगवान पूर्णानंद प्रभु; उस पदार्थ का ज्ञान होने पर, फिर चारित्र (होता है)। इस प्रकार जिसे पदार्थ का जहाँ ज्ञान ही, समकित ही नहीं है उसे तो चारित्र नहीं होता। कुछ समझमें आया ?

पूर्वोक्त पंचरत्नों से शोभित अर्थपरिज्ञान (-पदार्थ के ज्ञान) द्वारा '**पंचम गति की प्राप्ति के हेतुभूत**' - अब नीचे चारित्र ले रहे हैं। यह भगवानआत्मा, वस्तु, चैतन्यघन आनंदकंद प्रभु है। उसमें भेद का भी अभाव है। इस प्रकार आत्मा का ज्ञान करके (फिर चारित्र होता है)।

जिज्ञासा :- करना क्या ?

समाधान :- इसमें पहले में पहली वीतराग की आज्ञा यह है कि : अंदर यह वस्तु चैतन्य वस्तु है। उसमें अनंत अनंत गुणों की बस्ती है। ऐसा जो परमात्म स्वभाव आत्मा का है, उसे राग से भिन्न करके, निमित्त से भिन्न करके, भेद से भिन्न करके 'अभेद' का ज्ञान करना। - यह तो प्रथम सम्यग्ज्ञान और सम्यक्दर्शन है।

कुछ समझमें आया ? ऐसी बातें हैं !! यहाँ (संप्रदाय में) तो कहे : बाहर में इस व्रत का पालन करो, और उपवास करो और... हो गया धर्म ! अरेरे... प्रभु ! क्या कर रहा है ? इस राग से तो भिन्न (होकर) और अंदर गुणस्थान की दशा के भेदों या ज्ञान-दर्शन-समकित आदि पर्यायों के भेद जो वस्तु में नहीं हैं उस पदार्थ का इस प्रकार से ज्ञान व सम्यग्दर्शन करके, फिर चारित्र के लिये क्या करना ? इसकी बात है।

ऐसा कह रहे हैं कि : पंचमगति की प्राप्ति के हेतुभूत `**ऐसा जीव का और कर्मपुद्गल का भेद-अभ्यास होने पर** - भगवान आनंदमूर्ति प्रभु अंदर चैतन्यसामान्य एकरूप जिसका स्वभाव (है)। उसका, और राग के भाग का अर्थात् कर्म के भाग का भेद-अभ्यास होने पर। आहा...हा...! (कह रहे हैं कि : अपना) अंतर आनंद स्वरूप भगवान अतीन्द्रिय आनंद का अभेदस्वभाव (है) - ऐसा ज्ञान होनेके बाद भी, जो राग बाकी बचा है, अर्थात् (राग से) भिन्न हुआ परंतु अभी अस्थिरता मिटी नहीं है, उस अस्थिरता को भी भेद-अभ्यास द्वारा मिटाकर अर्थात् अस्थिरता को भी छोड़कर, अंदर स्थिरता का अभ्यास करना !

आहा...हा...! बात तो, शब्द तो बहुत छोटे व अच्छे लगे (परंतु) भाव तो जो है सो है, बापू ! चौरासी के अवतार (कर करके) अनंतकाल से भटक रहा है। अनंतबार मुनि हुआ। पंचमहाव्रत अनंतबार पालन किये। हज़ारों रानियों को छोड़कर जंगल में जाकर बसा है। परंतु राग से व भेद से भिन्न, यह आत्मा अभेद है, ऐसी दृष्टि कभी करी नहीं। तो इस दृष्टि के बिना, चारित्र और व्रत - ये सच्चे नहीं हो सकते।

इसलिये (यहाँ) कहते हैं कि : कर्म(पुद्गल) का और जीव का भेद-अभ्यास होने पर - कर्म अर्थात् वे जड़ यह (तो) ठीक; और रागादि कर्म हैं ये भाव सारे - दया, दान और व्रत के भी जो विकल्प उठते हैं, वे राग हैं; उनसे आत्मा का भेद करने पर, भिन्न करने पर (इस प्रकार) भेद-अभ्यास होनेपर `**उसीमें जो मुमुक्षु सर्वदा संस्थित रहते हैं।**' आहा...हा...! उस अतीन्द्रिय आनंद का कंद प्रभु; उसमें ही जो सम प्रकार से स्थित रहते हैं, उसे चारित्र कहा जाता है। चारित्र की व्याख्या ऐसी (है), बापू !

वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा महाविदेह में विराजमान हैं। इन्द्रों व गणधरों के बीच में भगवान की `यह' वाणी है। `यह वाणी' यहाँ `कुंदकुंद आचार्य' लाये थे। (बाकी

सब तो) कर करके अनंतबार मर गया। इन्सान बड़ा अरबपति हो और मांसादि न खाता हो, वह मरकर गाय के पेट में, छिपकली के पेट में तिर्यंच होता है ! क्योंकि आत्मा क्या चीज़ है और आत्मा से भिन्न क्या है ? उसका जिसे ज्ञान ही सच्चा नहीं है वह मिथ्यादृष्टि, चार गति में भटकने का अभिलाषी है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

'सर्वदा संस्थित रहते हैं'...देखा ! आनंदस्वरूप भगवान अभेद (आत्मा) का ज्ञान होने के बाद भी राग की अस्थिरता (जो रहती है उससे) भेद करते करते स्वरूप में सम्यक्रूप से स्थित होते हैं। '**वे उस (सतत भेदाभ्यास) द्वारा**' - सतत भेद-अभ्यास द्वारा, राग से भिन्न कर करके स्वरूप में जमने का सतत अभ्यास है (उसके द्वारा) '**मध्यस्थ होते हैं**' अर्थात् वीतरागता होती है। ऐसा कह रहे हैं।

'सतत भेदाभ्यास द्वारा' - ऐसा कहा न...? यथार्थ ज्ञान हुआ कि आत्मा अभेद स्वरूप से है। उसका सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ। इसके बावजूद भी राग का भाग (जो) बाकी रहा वह राग से सतत भिन्न करने के अभ्यास द्वारा 'मध्यस्थ होते हैं' अर्थात् राग का अभाव करके वीतरागता प्रगट करते हैं 'और उस कारण से उन परम संयमियों को' - देखो ! वीतरागता प्रगट करते हैं और उस कारण से उन परम संयमियों को '**वास्तविक चारित्र होता है।**'

यहाँ तो कुछ औरत, बच्चें व दुकान छोड़कर कुछ व्रत के विकल्प किये और हो गई दीक्षा (ऐसा कई लोग मानते हैं)। (परंतु) बापू ! ऐसा तो अनंत बार किया, भाई ! वह कोई चारित्र भी नहीं है और समकित भी नहीं है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

इसे चारित्र कहते है : देखा ! ऐसे परम संयमियों को वास्तव में चारित्र होता है। अभेद चैतन्य का सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट होनेके बाद भी जो अभी अस्थिरता का राग बाकी रहा उससे भी भेद करके अंतर में जाने पर संयमियों को चारित्र-वीतरागता होती है। और 'उन परम संयमियों को वास्तविक चारित्र होता है।'

'**उस चारित्र की अविचल स्थिति के हेतुसे**' उस स्वरूप में - आनंद में चरना, आनंद का भोजन करना, अतीन्द्रिय आनंद का उग्रतापूर्वक स्वाद लेना ऐसे 'चारित्र की अविचल स्थिति के हेतुसे'- उसमें स्थिरता - जम जाय, ऐसे हेतुसे '**प्रतिक्रमणादि निश्चयक्रिया कही जाती है।**' ऐसी स्थिति के हेतुसे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, प्रायश्चित, सामायिक-समाधि और आलोचना ये सब निश्चय, क्या है सो कहा जा रहा है। -

`निश्चयक्रिया' कही जाती है। यहाँ तक कल आया है।

आहा...हा...! देह की क्रिया - यह तो जड़ है, यह तो मिट्टी है, वह हिले-चले ये सब क्रिया तो जड़ (की) है। और अंदर में (जो) दया, दान और व्रत के विकल्प उठते है वह राग है, वह राग की क्रिया (है)। (इस राग) व देह की क्रिया से भिन्न, चैतन्य के आनंदस्वरूप - स्थिरता की क्रिया (उसे निश्चयक्रिया) कही जाती है। आहा...हा...! तीन प्रकार की क्रिया : (एक) शरीर, वाणी, मन की क्रिया यह हिले चले, बोले ये सभी जड़ की क्रिया। (दूसरी) अंदर दया, दान, व्रत, काम, क्रोध के परिणाम हो वह विकारी-वैभाविक क्रिया। और (तीसरी) उनसे भिन्न पड़कर, स्वरूप में स्थिरता करे वह निश्चयक्रिया। यह `निश्चयक्रिया' यह मुक्ति का मार्ग है। आहा...हा...! ऐसा तो सुना भी न हो उसे तो ऐसा लगे कि यह क्या होगा ? यह कोई जैनमार्ग होगा ? जैन में तो भाई ! ऐसा कुछ दया का पालन करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, रात में आहार नहीं करना, चौविहार करना (रात में खान-पान का त्याग), कंदमूल न खाना, - ऐसा तो सुना था; (परंतु) ऐसा मार्ग कहाँसे निकाला ? अरे...भाई ! तुझे मालूम नहीं है। जैनदर्शन का मार्ग दुनिया से कोई न्यारा है।

जैनपना माने वीतरागपना। यह वीतरागीस्वभाव भगावनआत्मा का है। अंदर यह भगवानस्वभाव न हो तो पर्याय में भगवानपना आयेगा कहाँसे ? पर्याय माने अवस्था। इस भगवानस्वभाव की वीतरागभाव से प्रतीति करके, सम्यग्दर्शन के आनंद का स्वाद लेकर, फिर राग से भिन्न करके उग्र स्वसंवेदन में आनंद का स्वाद लेनेसे इस जीव को निश्चयक्रिया - धर्म की (क्रिया) होती है।

कोई कहे अरे...! ऐसा मार्ग कहाँसे निकाला ? आहा...हा...! भाई ! वीतरागमार्ग दूसरी चीज़ है। लोगों के कान में (इसकी बात) पड़ी नहीं है और हम जैन हैं... जैन हैं ! बापू ! यह जैन : `घट घट अंतर जिन बसै, घट घट अंतर जैन।' `घट घट अंतर जिन बसै' - प्रत्येक देह में भगवानआत्मा अंदर जिनस्वरूप से - वीतरागस्वरूप से विराजमान है। और `घट घट अंतर जैन' - अंदर में राग की एकता तोड़कर, स्वभाव की एकता करे सो जैन। वह भी घट में अंदर बस रहा है। वह कोई बाह्यक्रिया में दिखता नहीं है। आहा...हा...!

`परमार्थवचनिका' में आता है न...! (मिथ्यादृष्टि) अध्यात्म का व्यवहार भी जानता नहीं है। अध्यात्म की क्रिया - व्यवहारक्रिया भी नहीं जानता। आगम के व्यवहार की क्रिया ये दया, दान और व्रतादि करके माने कि हम धर्म कर रहे हैं। आहा...हा...!

(यहाँ) यह अध्यात्म की व्यवहारक्रिय। वह यह `निश्चयक्रिया' है !

आहा...हा...! पहले तो यह समझना ही कठिन पड़े। मिथ्यात्व के कारण कीडें, कौअे और कुत्ते के भव कर करके (अनंत दुःख भोगा)। (दया, दानादि) क्रियाएँ अनंतबार करी परंतु इसमें धर्म माना) इसलिये मिथ्यात्व का पोषण और विपरीत श्रद्धा का शल्य तो रह गया।

इस (मिथ्यात्व) को टालने हेतु उसे (सर्वप्रथम) राग से भिन्न आत्मा के - अभेद स्वभाव का ज्ञान और समकित होनेके बाद भी जितना (चारित्रमोहजन्य) रागभावमें से भिन्न करता है, उतनी अंदर स्वरूप में स्थिरता होती है, वह सुस्थित-स्थिर हुआ। `(इस कारण से) उन परम संयमियों को (वास्तविक) चारित्र होता है।' आहा...हा...! यह चारित्र की व्याख्या !

अब कह रहे हैं : `प्रतिक्रमण' किसे कहना ? **`अतीत (-भूतकाल के) दोषों के परिहार हेतु जो प्रायश्चित किया जाता है वह प्रतिक्रमण है।'** `दोषों' माने पुण्य-पाप दोनों (ही) दोष हैं। `समयसार' में यह अधिकार आया है। वहाँ वर्तमान राग के परिणाम को दोष कहा है। (यहाँ कहा कि :) दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम भी दोष हैं। राग है (वह) दोष है। ऐसे दोष जो पूर्व (काल) के थे, उन दोषों के परिहार हेतु अर्थात् भूतकाल के पुण्य-पाप के दोषों के त्याग के हेतु जो प्रायश्चित किया जाता है, अर्थात् जो ज्ञानानंदस्वरूप में रमणता की जाती है (वह प्रतिक्रमण है)।

प्रायश्चित की व्याख्या है न...! प्रायश्चित माने ज्ञानस्वरूप भगवान। प्रायःश्चित = प्राय : अर्थात् (बहुधा) बहुभाग (ज्यादातर); चित्त अर्थात् ज्ञान। मात्र ज्ञानस्वरूप पुष्ट करते हैं प्रभु अंदर; उसे यहाँ प्रायश्चित कहकर उसे प्रतिक्रमण कहा जाता है। कुछ समझमें आया ?

अरे...! कहीं जरा-सी सूझ भी आई न हो और सुना भी न हो; और बाहर से मानकर बैठ गये कि हमने प्रतिक्रमण कर लिया। (प्रतिक्रमण के लिये) संध्या को और सुबह को जाय और बंगल में (कटासण बैठने का आसन) इत्यादि दबाकर ! - यह प्रतिक्रमण किया : मिच्छा मि दुक्कडं। कहाँ हुए ये प्रतिक्रमण इत्यादि, भाई ! प्रतिक्रमण किसे कहना इसकी तुझे खबर नहीं है। पहला तो मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण; उसे अर्थका परिज्ञान बताया। आत्मपदार्थ का परिज्ञान- अनुभव; उसे मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण हुआ। अब दूसरे पुण्य-पाप के दोष बचे उन दोषों के अभाव के लिये स्वरूप में स्थिरता करना यह प्रायश्चित है और यह प्रतिक्रमण है। ऐसी व्याख्या और ऐसा स्वरूप !

'दोषों के परिहार हेतु' - दोषों में दोनों हाँ ! (पुण्य-पाप)। ये दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम भी दोष हैं। ये दोष हैं तब जीव चीज़ अंदर भिन्न है। 'दोषों के परिहार हेतु।' (परंतु) यहाँ (संप्रदाय में) तो कहे - बाहर में व्रत और तप और भक्ति और पूजा करी तो हो गया वह धर्म ! अब यहाँ कहते हैं कि वह राग है, वह विकार है, वह दोष है, संसार है, उदयभाव है; इसके त्याग के हेतु जो प्रायश्चित किया जाता है अर्थात् आत्मा में - आनंद में रमणता की जाती है, प्रायः दृढता से ज्ञान में रमणता की जाती है उसे प्रतिक्रमण कहा जाता है। यह प्रतिक्रमण की व्याख्या ! कुछ समझमें आया ?

भगवान अंदर आनंद का दल पड़ा है, अतीन्द्रिय - अभेद। प्रथम इस अभेद की दृष्टि करके आनंद का अनुभव करना - तब तो उसने पदार्थ का परिज्ञान किया। अर्थात् जैसा पदार्थ है वैसा उसने ज्ञान किया। और बाद में जब चारित्र लेना है तब जो राग बाकी बचा है, अभी भिन्न किया है किन्तु राग-अस्थिरता से भिन्न हुआ नहीं अर्थात् स्थिर हुआ नहीं। अर्थात् (अभिप्राय में) अस्थिरता से भिन्न हुआ है कि 'मैं इस अस्थिरतारूप नहीं हूँ' किन्तु अभी स्थिरता जमी नहीं है और अस्थिरता से छूटा नहीं। उन्हें राग के - व्रतादि के विकल्प हैं वे दोष हैं। वह भाव अनंत काल में भी किया था वह दोष है। इसके त्याग के हेतु 'जो प्रायश्चित किया जाता है वह प्रतिक्रमण है।' आहा...हा...! ऐसी व्याख्या !!

(एक ओर ऐसा) कहे कि : एक पर्याय दूसरी पर्याय का स्पर्श नहीं करती ! यह छुरी है वह सब्जी के ऊपर यों गिरती है तो छुरीने सब्जी को छुआ ही नहीं है। - यह तो कौन माने ? यह गज़ब बात है ! यह तो वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा के कहे पदार्थ की यह (वस्तु)स्थिति - मर्यादा है। इस प्रकार सब्जी काटते हैं न...! तो छुरी ने सब्जी का स्पर्श नहीं किया और (सब्जी के) टुकडे होते हैं। (**श्रोता :**) छुरी निमित्तमात्र है ? (**उत्तर :-**) निमित्त माने कुछ नहीं ऐसा उसका अर्थ है। ये लोग बाहर के चमत्कारों की बातें करते हैं; परंतु प्रभु तो कहते हैं कि प्रत्येक द्रव्य का (स्वयं का ही) चमत्कार (है जिसकी) प्रभु ! तुझे खबर नहीं है। जमीन पर चलते हुए यों यह पैर रखता है इस पैर ने जमीन का स्पर्श नहीं किया; परंतु बापू ! इस चमत्कार का तुझे पता नहीं लगता। इस पैर के प्रत्येक परमाणु-रजकण में अपने अपने षट्कारक से पर्याय में क्रियाएँ होती है। उस क्रिया में - पर्याय में आधार है पर्याय का। उस पर्याय का आधार नीचे जमीन है ऐसा नहीं। यह तो कौन माने ?

आहा...हा...! ऐसी बात ! उस्तरा है उसने यहाँ (बालों को) छुआ भी नहीं है और बाल अलग हो जाते हैं। उन बाल में ही पर्याय के षट्कारक की परिणति है उस कारण से वे बाल वहाँसे हटकर यों अलग हो जाते हैं। आहा...हा...! ऐसा कौन माने ? सुनने तक भी मिला नहीं है। यह टोपी है वह इस सिर के आधार से रही है ऐसा नहीं है। चश्मा कान के आधार से रहे नहीं है। चश्मा का एक एक रजकण दूसरे रजकण के आधार से रहा नहीं है। ऐसी बातें, बापू ! प्रभु का मार्ग ! यह वीर का मार्ग है शूरों का, इन कायरों का वहाँ काम नहीं। आहा...हा...! यह चमत्कार नहीं है ? प्रत्येक परमाणु स्वयं के अपने आधार से है, पर के आधार से नहीं है; क्योंकि अपने में अपना आधार नाम का गुण है। वह आधार द्रव्य, गुण, पर्याय में व्याप्त है। वह पर के आधार से है ही नहीं। यह पुस्तक है वह इस (टिकटी) के आधार से रही ही नहीं है। यह (हकीक्त) कभी भी सुनने तक भी नहीं मिलती। आहा...हा...! (लोग) ये कारखाने सब चला रहे हैं न ? अरे...बापू ! क्या कहें ? प्रभु कह रहे हैं : इन कारखानों के रजकणों को उंगली के रजकण स्पर्श तक नहीं करते। और उंगली के रजकण को आत्मा स्पर्श नहीं करता। (**श्रोता :**) कारखाने तो बीजली से चलते हैं। (**उत्तर :-**) बीजली से भी नहीं चलते। बीजली के रजकण भिन्न और कारखाने के परमाणु भिन्न। बीजली के एक परमाणु ने उस कारखाने को छुआ ही नहीं है। अरे...! मार्ग तो मार्ग प्रभु का !! कपड़े की मशीन चल रही हो और धागा टूट जाय तो गांठ बाँधते हैं... (परंतु) उसे, वह पदार्थ (-हाथ) छुआ ही नहीं है और वह गांठ बंध गई है। इसे क्या कहें अब यह ? ऐसा है यह, बापू ! वीतराग त्रिलोकनाथ ने जड़ और चैतन्य के स्वभाव का जो वर्णन किया है वह चमत्कारिक है ! आहा...हा...! ऐसा (वस्तुविज्ञान) कहीं (दूसरी) जगह है ही नहीं। अन्यमत में (तो) यह बात ही नहीं है। बीजली है इसलिये मशीन चलती है ऐसा नहीं है। मोटर का जो पटिया चलता है वह नीचे जमीन के आधार से नहीं। अपने आधार से उसके एक एक रजकण की पर्याय स्वतंत्र अपने आप गति कर रही है ! कठिन बात ! और मोटर चल रही है इसलिये साथ में मोटर में बैठा हुआ आदमी इस तरह गति कर रहा है ऐसा भी नहीं है। आहा...हा...! क्या है यह बात तो ! आदमी को तो ऐसा (लगता) है कि जैनधर्म यह ऐसा होगा ? अरे...बापू ! तुझे जैनधर्म की खबर नहीं है। 'घट घट अंतर जिन बसै' - इस राग से भिन्न होकर (जिनस्वरूपी आत्मा की) दृष्टि की उसे जैन कहा जाता है। यह

जैनत्व अंदर घट में है; वह कोई बाह्य क्रिया में नहीं है। कुछ समझमें आया? और यहाँ तो चारित्र की व्याख्या है।

'अतीत (भूतकाल के) दोषों के परिहार हेतु जो प्रायश्चित किया जाता है वह प्रतिक्रमण है।' (मूल गाथा में) चौथा पद है न...! '**पडिक्कमणादी**' - '**आदि**' शब्द पड़ा है न...! तो कहते हैं कि : '**आदि**' **शब्द से प्रत्याख्यानादि का संभव कहा जाता है (अर्थात् प्रतिक्रमणादि में जो 'आदि' शब्द है वह प्रत्याख्यान आदि का भी समावेश करने के लिये है)।**' तो प्रतिक्रमण 'आदि' शब्द से प्रत्याख्यान भी सामिल कर लेना।

'प्रत्याख्यान' कहना किसे ? कि : कोई भी राग - दया, दान - के विकल्प से भिन्न, चैतन्यमूर्ति को विशेषरूप से देखकर जमना उसे यहाँ संवर कहते हैं। भूतकाल (के दोषों) का प्रतिक्रमण, भविष्य (के दोषों) का प्रत्याख्यान, और वर्तमान (के दोषों) की अलोचना। आता है न...! आलोचना माने संवर। अभेद भगवानआत्मा का ज्ञान करके और फिर राग से भी (भिन्न) पडकर और स्वरूप के आनंद में लीन हो उसे यहाँ प्रत्याख्यान, संवर, भक्ति, सामायिक, समाधि कहते हैं। आता है न...! समाधि के अधिकार में : उसे (समाधि को) सामायिक कहते हैं।

यह (संप्रदाय में) तो पाँच-छह साल की लड़की हो और मुँह पर (मुँहपट्टी) बाँधकर (यों) बैठती है और नमो अरिहंताणं... सिद्धाणं... तो वह सामायिक (कर रही है, ऐसा कहते हैं)। ये सब सामायिक करें उन्हें कटोरी बांधी जायेगी और फलाँन चीज़ देंगे। बैठ जाते हैं सो दोसौ-पाँचसो... वे जानते हैं कि हमने किया धर्म ! और (वह माने कि) हम धर्म की पैसे द्वारा सहायता कर रहे हैं ! दोनों ही मिथ्यादृष्टि हैं। वह धूल (बराबर) भी सामायिक नहीं है, भाई ! एक क्षण की सामायिक जन्म-मरण के अंत को लाती है। 'मध्यस्थ' कहा था न...? वह सामायिक है; माने वीतरागता है। साम+आयक='सम' अर्थात् समता; उसकी 'आय' अर्थात् लाभ; और 'इक' तो प्रत्यय है। तो वह वस्तु जो वीतरागस्वरूप अभेद है उसका ज्ञान हुआ अब वह अभेद में जमता है अर्थात् अंदर वीतराग स्वभाव में जमता है और वीतरागदशा होती है उसे सामायिक कही जाती है। आहा...हा...! उसे सामायिक कहते हैं।

यहाँ है न...! 'प्रत्याख्यानादि' - आदि माने इसे सामायिक कहते हैं। इसे संवर कहते हैं।

*

(इसी प्रकार (आचार्यदेव) `श्रीमद् अमृतचंद्रसूरि'ने (श्री `समयसार' की आत्मख्याति नामक टीका में १३१ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि :-)

तथा चोक्तं श्रीमद्मृतचंद्रसूरिभिः :-

(अनुष्टुभ)

`भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन।।'

`(श्लोकार्थ :-) जो कोई, सिद्ध हुए हैं वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं; जो कोई बँधे हैं वे उसीके (भेदविज्ञानके ही) अभावसे बँधे हैं।'।१३१।।)

*

भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा के श्रीमुख से निकली बातें संतों आड़तिया होकर जगत को माल देते हैं कि : अब तक जो कोई सिद्ध हुए, परमात्मा मोक्ष को प्राप्त हुए, वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं। उन व्रत और तप के परिणाम से भिन्न होकर और स्वरूप में अभेदरूप से जमते हैं ऐसे भेदविज्ञान को प्राप्त करनेवालों को सिद्धि होती है। आहा...हा...! अब तक उस भेदविज्ञान से अनंत (जीव) मुक्ति को प्राप्त हुए हैं।

(शुभ)राग यह पुण्यतत्त्व है। भगवान(आत्मा) ज्ञायकतत्त्व है। उस पुण्यतत्त्व से ज्ञायकतत्त्व को भिन्न करके उसका ज्ञान और सम्यग्दर्शन हुआ, फिर उसे (सर्वथा) भिन्न करके स्वरूप में जम गये ऐसे जीव भेदविज्ञान से मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। कोई व्रत और तप और भक्ति (द्वारा मुक्ति प्राप्त नहीं होती)।

हमने व्रत किये और तप किये और... बहनें यह वर्षीतप करती हैं न...! फिर कुछ खर्चा करे। माने कि लाख दो लाख खर्च किये इसलिये हो गया धर्म ! (उसमें) धूल में भी धर्म (होता) नहीं है, सुन तो सही !

`भेदविज्ञानतः सिद्धाः' - सर्वज्ञ परमात्मा का (यह) महासिद्धांत ! जिनेन्द्रदेव त्रिलोकनाथ, इन्द्र और गणधरों के बीच ऐसा कहते थे (वह) यह बात है। अरे...! यह बात लोगों को (सुनने तक) मिलती नहीं है। अनंतकाल में अनंते अनंते जीव भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं।

छह महीने और आठ समय में ६०८ (मनुष्य) मुक्ति को प्राप्त करते हैं। मनुष्य की संख्या बहुत है : नौ, नौ, नौ, नौ, नौ ऐसे २७ अंक रखो इतनी संख्या (उत्कृष्ट) है। और जघन्य हो तो एक एक एक ऐसे २७ अंक (रखो) इतनी संख्या मनुष्य की है। उनमें से छ महीने और आठ समय में ६०८ सिद्ध होते हैं, होते हैं और होते हैं। यहाँ न होवे तो महाविदेह में (तो शाश्वत) भगवान विराजमान हैं वहाँ परमात्म-सिद्धपद होता है। तो कहते हैं कि छह महीने और आठ समय में ६०८ सिद्ध हुए ऐसे अनंतकाल में अनंते सिद्ध अब तक हुए हैं। ये अनंते सिद्ध हुए वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं ! वे (कोई) राग की क्रिया से सिद्ध नहीं हुए। वे व्रत के परिणाम से सिद्ध नहीं हुए।

व्रत के परिणाम तो राग हैं, आस्रव हैं। उन्हें (लोगों को) कहाँ कुछ खबर है ? वे तो संवर है ऐसा (मानते हैं)। सर्व प्रथम (हम) १९८२ के संवत में जामनगर गये। व्याख्यान चल रहा था (उसमें) ऐसा आया कि : ये सब क्रियाएँ जितनी हैं (उनसे धर्म होता नहीं है)। वहाँ एक वृद्ध भाई, बहुत पढ़े हुए, बत्तीस सूत्र साधु-साध्वीयों को पढ़ाते थे। (वे भाई) 'चलता हुआ सूत्र' कहे जाते थे। नरम आदमी। वे व्याख्यान सुन रहे थे। दोपहर को अकेले आये। महाराज ! यह सब... यह सुनकर विरोध होगा। (मैंने) कहा : क्या है ? यह अपना 'ज्ञानसागर' देखो ! नामकर्म चार प्रकार से बंधता है; वहाँ (इन्द्रिय की), काया की, मन की, वचन की सरलता ली है, ये सरलता के परिणाम हैं, ये शुभभाव कषाय-राग हैं उनसे नामकर्म का पुण्य बंधता है; धर्म नहीं। उनसे पुण्य होता है और (शुभ) नामकर्म बंधता है, और यहाँ मन की सरलता के परिमाम हो, यह राग की मंदता से धर्म हो जाय ? ये सब कहाँ से आया ? मन की सरलता का भाव (वह) भी पुण्यबंध का कारण है। और यहाँ (संप्रदाय में) ऐसा कहे कि : मन की सरलता का भाव, व्रत और तप यह धर्म है ! भाई ! (सत्य) मार्ग तो यह है। व्रत और तप का भाव है वह तो कषाय मंद की हो तो उसे उसके द्वारा तो पुण्य बंधता है, धर्म नहीं (होता)। भाई ! सच्चा मार्ग तो यह है ! मान बैठे हैं व्रत और तप में धर्म ; ये सब वीतरागमार्ग से विरुद्ध है।

'ज्ञानसागर' पुस्तक जामनगर में छपा था। ६८ की साल में दीक्षा से पहले पालेज में पढ़ा था। उसमें 'थोकडा' सो हैं न...! वे पहले सीखे थे। सब मुखपाठ किये थे। परंतु (यथार्थ दृष्टि के बिना) सब बातों का लिखनेवाले और पढ़नेवाले को भी पता नहीं होता है कि जितनी मन में क्रिया, राग की मंदता - दया, दान, अनुकंपा,

व्रत, तप - की क्रिया ये सब पुण्यबंध का कारण हैं; (उनसे) धर्म नहीं।

देखो ! (यहाँ) यह है : 'भेदविज्ञानतः सिद्धाः' - क्या कहते हैं ? कि : व्रत और तप का भाव वह मोक्ष का कारण है, व्यवहार निश्चय का कारण है (ऐसा लोग मानते हैं) परंतु यहाँ कहते हैं कि व्यवहार से भेद (भिन्न) पड़े वह निश्चय का कारण है। कुछ समझमें आया ? व्यवहार-क्रिया करे तो फिर निश्चय होवे, व्यवहार साधन है और निश्चय साध्य है (ऐसा लोग मानते हैं) परंतु यहाँ तो कह रहे हैं कि : व्यवहार से भी भेद करे तो साधन प्रगट होवे।

आहा...हा...! भारी बातें !! अनंतकाल से यों ही जिंदगी गई। धर्म के नाम से उल्टे (मार्ग) सेवन किये, मिथ्यात्व का सेवन किया और संसार यों ही बढ़ता रहा। नरक और निगोद (के अनंत दुःख सहन किये)। आँख बंध हो जाय - कुछ नहीं रहेगा साथ में। संबंध कहाँ के कहाँ रह जायेंगे और कहाँ का कहाँ (वह) चल देगा।

(यहाँ) कहते हैं कि : जो कोई अभी तक सिद्ध हुए (वे) भेदविज्ञान से सिद्ध हुए। - लो (यह) एक ही सिद्धांत, एक ही यथार्थ नियम !

ये (लोग) कहते हैं : व्रत और तप करें उससे सम्यग्दर्शन हो और उससे धर्म हो। यहाँ तो कहते हैं कि : व्रत और तप के विकल्प से भेद(भिन्न) करे तो उसकी मुक्ति हो।

है न...! '**जो कोई सिद्ध हुए हैं वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं।**' यह भाषा तो सीधी-सरल है। बहुत संक्षिप्त शब्द ! आहा...हा...हा...! इस प्रकार राग से भेद किया है और अभेद का अनुभव किया (है), ऐसा कह रहे हैं। अखंडानंद प्रभु चैतन्यप्रकाश की मूर्ति अभेद का अनुभव करनेपर भेद से - राग से भिन्न पड़ता है; उसके - भेदविज्ञान के कारण सम्यग्दर्शन हुआ है, सम्यक्ज्ञान हुआ है, सम्यक्चारित्र हुआ है और उससे मुक्ति हुई है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

'**जो कोई बंधे हैं वे उसीके (भेदविज्ञान के ही) अभाव से बंधे हैं।**' देखो ! अब सिद्धांत : अनंतकाल में जो कोई मिथ्यात्व व अज्ञान से बंधे हैं वे उसीके ही (-भेदविज्ञान के ही) अभाव से बंधे हैं। कर्म से बंधे हैं और... कर्म के उदय की तीव्रता को लेकर बंधे हैं ऐसा नहीं। आहा...हा...! है न सामने (पाठ) ! वह तो सादी भाषा गुजराती है। अनंतकाल में जो कोई भटके हैं वे भेदविज्ञान के अभाव को लेकर भटके हैं। कर्म को लेकर भटके हैं ऐसा नहीं।

आहा...हा...! चौरासी लाख योनि में - एक एक योनिमें - अनंत अवतार किये। निगोद में - आलू और सकरकंद, (आलू की अभी जरा शंका है परंतु) लहसुन, प्याज; उसके एक एक राई के बराबर टुकडे में असंख्य शरीर और एक एक शरीर में अनंत जीव उसमें - एक श्वास में अठारह बार भव करे, यह एक श्वास लें... न उसमें तो अठारह भव हो जाय, ऐसे निगोद में - लहसुन और प्याज में और मूली में - अनंते अनंते भव किये हैं। मूली में जो कंद है उसमें अनंत जीव हैं और उसके पत्ते होते हैं वे प्रत्येक हैं।

कहते हैं कि : अभी तक जितने जीव चौरासी के अवतार में भटे हैं वे भेदविज्ञान के अभाव से (भटके) हैं (कर्म के जोर से भटके हैं ऐसा नहीं। (परंतु) भेदविज्ञान का अभाव अर्थात् राग की एकता का भाव; उससे बंधे हैं। (जीव) राग की एकता में खो गया है। चाहे तो दया, दान, व्रत, तप का भाव हो परंतु वह भाव राग है और उसकी एकता में मुझे लाभ होगा यह भाव मिथ्यात्व है, अज्ञान है और वह बंध का कारण है।

कहो ! इसमें समझमें आया ? बहुत अच्छा श्लोक है। संवर (अधिकार) का श्लोक है। महाश्लोक `अमृतचंद्राचार्य' का ! एक महासिद्धांत कि जो कोई मुक्ति को प्राप्त हुए; वे राग के - दया-दान के विकल्प से भिन्न होकर और अभेद की दृष्टि करी तब सम्यग्दर्शन हुआ; राग से भिन्न पड़कर अभेद का ज्ञान किया तब सम्यग्ज्ञान हुआ; फिर राग से भिन्न होर स्वरूप में जम गये तब चारित्र हुआ; - उससे मुक्ति हुए; और उसके अभाव से बंधे ! आहा...हा...!

ये तो सब दिगंबर के सेठ लोग, पुराने आदमी, उन्हें (यह) सुनने को मिला नहीं है। दिगंबर धर्म तो यह है। चाहे तो दया, दान, व्रत का भाव हो, उससे भिन्नता करके आत्मा का ज्ञान करना यह मोक्ष का मार्ग है। और राग से भिन्नता करके अंदर आनंद में स्थिरता करना (यह धर्म है)। चाहे तो शास्त्र की भक्ति हो या भगवान की भक्ति हो, यह सब राग है; उस राग से भेद किया नहीं इसलिये बंधे हैं। और राग से भेद किया वे सिद्धपद को प्राप्त हुए हैं। आहा...हा...! इसमें (इसे प्राप्त करने में) तो कोई जानपना बहुत ज्यादा हो तो, यहाँ (उसका) कुछ काम नहीं है। `राग का विकल्प है' वह क्या है ? (विकल्प) चाहे तो शास्त्रभक्ति का हो या भगवान की भक्ति का हो या पंचमहाव्रत का हो या श्रवण का हो; परंतु वह राग (है और वह) बंध का कारण है।

आहा...हा...! (जो कोई बंधे हैं) वे भेदविज्ञान के अभाव से बंधे हैं। और भेदविज्ञान के सद्भाव से वे मुक्ति को पाते (हैं) - यह एक ही सिद्धांत ! है...? 'जो कोई बंधे हैं वे इसीके - भेदविज्ञान के ही - अभाव से बंधे हैं।' - यहाँ तो ऐसा कहा। (परंतु) काललब्धि पकी नहीं है इसलिये बंधे हैं और कर्म का बहुत ज़ोर है इसलिये बंधे हैं - ऐसा नहीं लिया।

ये (जो कोई बंधे हैं वे) पर से भिन्न करने के अभाव से बंधे हैं। 'भावबंध' (अर्थात्) भेदज्ञान का अभाव वह भावबंध। भेदज्ञान का भाव वह 'भावअबंध' (अर्थात्) अबंधपरिणाम।

आहा...हा...! यह 'समयसार' का कैसा भेद है !? राग से भिन्न करके अनुभव करना यह तो 'समयसार' का कैसा प्रकार है !

इसका अर्थ विशेष (आगे) आयेगा।

***

धनादि मिलना दुर्लभ नहीं है, परन्तु मनुष्य-भव मिलना व ऐसा सत् श्रवण का योग मिलना दुर्लभ है। और उसे श्रवण कर उसकी प्रतीति करना तो महादुर्लभ है, अन्य कुछ भी दुर्लभ नहीं है। पूर्वके पुण्य-उदय अनुसार पैसा मिलता है, यह कोई वर्तमानके पुरुषार्थका फल नहीं है। और ऐसे संयोग तो अनन्त बार मिले हैं - वह कोई दुर्लभ नहीं है। अनन्तकालमें धर्मको नहीं जाना-अतः वही दुर्लभ है ।

(परमागमसार - ८६०)

प्रवचन- २२, दि. २०-२-१९७८

और इस (८२ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज `श्री पद्मप्रभमलधारिदेव' श्लोक कहते हैं) :-

'इति सति मुनिनाथस्योच्चकैर्भेदभावे स्वयमयमुपयोगाद्राजते मुक्तमोहः।
शमजलनिधिपूरक्षालितांहः कलंकः स खलु समयसारस्यास्य भेदः क एषः।
।११०।।'

(श्लोकार्थ :-) इस प्रकार जब मुनिनाथ को अत्यंत भेदभाव (- भेदविज्ञान परिणाम) होता है, तब यह (`समयसार') स्वयं उपयोग होनेसे मुक्त मोह (मोहरहित) होता हुआ, शमजलनिधि के पूरसे (उपशमसमुद्रके ज्वारसे) पापकलङ्क को धोकर, विराजता (-शोभता) है; - वह सचमुच इस `समयसार'का कैसा भेद है ! ।।११०।।

(`नियमसार') कलश-११०। कलश बोला जा चुका है कल। (कहते हैं :) **`इस प्रकार जब मुनिनाथ को'** - देखा : `मुनिनाथ' कहा ! जिसे आत्मा के स्वरूप का उग्र स्वसंवेदन प्रगट हुआ है, वह जिसका भावलिंग है उनको यहाँ `मुनिनाथ' कह रहे हैं। **`अत्यंत भेदभाव (- भेदविज्ञान परिणाम) होता है।'** केवल (भेदभाव ऐसा) नहीं (परंतु) `अत्यंत भेदभाव' (कहा। क्योंकि :) सम्यग्दृष्टि को भेदज्ञान है, परंतु राग से भिन्न हुआ उतना ही भेदज्ञान है; और मुनि को तो राग की अस्थिरता से (भी) भिन्न पड़ा भेदज्ञान है। (इसलिये) ऐसा कहा कि : `अत्यंत भेदभाव' (अर्थात्) भेदविज्ञान परिणाम

होता है।

(अब कह रहे हैं कि :) `**तब यह** (`**समयसार**) **स्वयं उपयोग होनेसे**' - आत्मभगवान, वह तो उपयोग स्वरूप ही है। त्रिकाल जानना-देखना, ऐसा उसका उपयोग स्वरूप है। उसका कायमी स्वभाव और स्वरूप तो उपयोग है। वह त्रिकाली दर्शन-ज्ञान है, उसे भी उपयोग कहा जाता है। आहा...हा...! स्वयं उपयोग होनेसे `**मुक्तमोह** (**मोहरहित**) **होता हुआ**' - पर्याय में भी स्वयं उपयोगरूप होनेसे मुक्तमोह होता हुआ (अर्थात् क्या कह रहे हैं ? कि :) पर के ओर की सावधानी का रागादि भाव (था) उससे स्व की ओर के अत्यंत भेदज्ञान को लेकर राग से मुक्त हुआ है। - ऐसा मुनिपना ! और इस मुनिपने के बिना मुक्ति नहीं है।

वे (मुनिनाथ) मुक्तमोह होता हुआ, `**शमजलनिधि के पूरसे**' - आहा...हा...! देखो ! (सबका) जोड़ (टोटल) ले आये : समतारूपी पानी के समुद्र का पूर, वीतरागरूपी निधि का पूर अर्थात् ज्वार आया है। शमरसजल से भरा भगवान, समतारूपी रससे वीतरागस्वभाव भरा प्रभु; उसे राग से भिन्न करके स्थिर होनेपर उसकी पर्याय में शमरसजल का ज्वार आया; उसका नाम चारित्र है।

`शम' का अर्थ समतारूपी जल निधि का दरिया, उसका पूर माने ज्वार, (उससे) `(**उपशमसमुद्र के ज्वार से**) **पापकलंक को धोकर** (**विराजता** (**- शोभता**) **है।**)' `शमजलनिधि के ज्वार' का इतना अर्थ किया : `उपशममुद्र का ज्वार'। फिर (कहा :) पापकलंक को धोकर (अर्थात्) स्वभावसन्मुख में वीतरागभाव प्रगट हुआ। इसलिये विभावभाव को धो डाले (हैं। यहाँ विभावभाव - पुण्य व पाप दोनों - पापकलंक हैं। ऐसा मार्ग है !

पहले तो भेदज्ञान द्वारा अर्थात् प्रज्ञाछैनी द्वारा, साधक के द्वारा। प्रज्ञाछैनी जो मूल तो अनुभव है - राग से भिन्न होकर स्वरूप का अनुभव - यह साधकदशा है, यह धर्म की पहली सीडी है। उससे आगे बढ़कर मुनिराज तो पर्याय में शमरसरूपी जल के समुद्र का ज्वाल लाकर, वीतरागपर्याय का ज्वार लाकर पापकलंक को अर्थात् पुण्य व पाप के भाव जो कलंक हैं उन्हें धो डाले हैं ! आहा...हा...! `विराजता है।' - पुण्य व पाप के भाव को धोकर और पर्याय में शमरसजल का ज्वार लाकर `शोभता है।'

आहा...हा...! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म है ! अंतर में स्वभाव का अभेदपना प्रगट हुए बिना धर्म की शुरूआत होती नहीं है। अभेद चीज़ तो सामान्य वस्तु चैतन्यघन, आनंदकंद, रसकंद; उसे दृष्टि में लेकर, अनुभव करना; उसका नाम तो प्रथम सम्यग्दर्शन

है। इसके बाद आगे बढ़कर (वे) राग के - अस्थिरता के भाव (जो) हैं उनसे भी भेद अर्थात् भिन्न होता हुआ, और वीतरागी समुद्रमें से वीतरागीजल की ज्वार लाकर पुण्य-पाप का व्यय करते हैं, वीतराग की परिणति को उत्पन्न करते हैं और ध्रुव-त्रिकाली तो दृष्टि में है ही !

आहा...हा...! (मार्ग का पता नहीं है इसलिये) ऐसी अपरिचित (बातें) लगें इसलिये आदमी को (लगे कि) यह क्या कह रहे हैं ? (परंतु) मार्ग तो यह है ! जिसे जन्म-मरण से रहित होना हो उसे, जन्म-मरण के कारणरूप भाव से भी भेद करके, अभेद के लक्ष से जो अभेदता प्रगट हो उसे यहाँ सच्चा भेदज्ञान कहते हैं। कुछ समझमें आया ?

अरेरे....! चौरासी लाख के अवतार भाई ! उसने सहन किये हैं। अपने यहाँ 'आत्मधर्म' गुजराती में आया था : नारकी के एक क्षण के दुःख, करोड़ों जीभों से और करोड़ों भव तक (कहते रहें तो भी) न कहे जाय, प्रभु ! क्या कहें ? ऐसे ऐसे दुःख एक क्षण के हाँ ! भगवान आनंदस्वरूप है; उससे विपरीत 'राग व पुण्य के भाव मेरे' ऐसा मिथ्यात्वभाव, जिसके फलस्वरूप नरक व निगोद; और वह नरक के एक क्षण का दुःख ! भाषा चाहे जो हो परंतु उसका भाव समझना बहुत कठिन, बापू ! आचार्य कह रहे हैं, अपने यहाँ 'भावपाहुड' में भी है कि : जिसके एक क्षण के दुःखों का वर्णन करोड़ों जीभ से और करोड़ों भव से नहीं होता, प्रभु ! तूने ऐसे दुःख, इस मिथ्यात्व के फलस्वरूप भुगते हैं। आहा...हा...! इन दुःख से मुक्त होना हो तो ज्ञायकस्वरूप भगवान आनंदस्वरूप है, वह सुख का अंदर समुद्र है, प्रभु ! ऐसे आनंदसागर भगवान को सम्हाल ले अर्थात् उसका स्वीकार कर ! और दृष्टिमें से राग और पर्याय का स्वीकार छोड़ दे ! आहा...हा...! यह तो (आनंद की) शुरूआत।

यहाँ तो 'मुनिनाथ' की बात है। मुनिपना - बापू ! वह तो परमेश्वरपद है; भाई ! वह कैसी चीज़ है !! आहा...हा...! जिसे अंतर में अतीन्द्रिय आनंद में शमजल का ज्वार आता है अर्थात् उत्पाद होता है। ध्रुवपने में तो सुखसागर - शमजलनिधि का समुद्र है प्रभु ! परंतु उसकी तरफ का स्वीकार होनेपर, वह चैतन्यमहामुनिरतन का अंतर में स्वीकार होनेपर उसे पर्याय में भी आनंद का भाव आता है। यहाँ तो मुनि की बात विशेष है। उनको तो अंदर में ऐसी स्थिरता जमी है कि पंचमहाव्रत के विकल्प में आना वह भी उन्हें बोझा लगता है। आहा...हा...! ऐसी (निरुपाधिक) चीज़ में जिसका खेल जम गया है, उसकी पर्याय में - अवस्था में वीतरागी ज्वार आता

है। (ऐसा) कहते हैं। (जिस प्रकार) घोडापूर (- घोडे की) तरह एकदम घसकर आनेवाली बाढ़। पानी का दल यों चला आता है। यहाँ पानी की बूँद न होवे और बीस मील दूर पाँच इंच बरसात हुई हो तो नदी में ऐसा घोडापूर एकदम चला आता है उस प्रकार वीतरागता की बाढ़ आती है। अंतर के आनंदस्वभाव भगवान का आश्रय लेकर, स्वीकार करके, राग से भिन्न होकर स्वरूप में स्थिर हुआ, उसकी दशा में तो वीतरागस्वभाव की बाढ़ आती है, अर्थात् ज्वार आता है। अरेरे...! ऐसी बातें !! वह (ज्वार) पुण्य-पाप के भाव के कलंक को नाश कर डालता है इसलिये वह शोभता है। वह वीतरागीपर्याय की बाढ़ है उसके कारण संतजन शोभते हैं। (इसके अलावा) अन्य कोई उपाय नहीं है। आहा...हा...! नग्नपना और महाव्रत का विकल्प, वह उसकी शोभा नहीं है। कुछ समझमें आया ?

(अब मुनिराज कह रहे हैं कि :) **`- वह सचमुच, इस समयसार का कैसा भद है !'** प्रगट हुई दशा उसका यह तो कैसा भेद है ! अर्थात् यह तो कौन-सी जाति है ? वह वीतरागी जाति है, ऐसा कहते हैं।

देखो : इतने शब्द पड़े हैं न...! `शमजलनिधि' उसकी `बाढ़'। द्रव्य ऊपर, इस वर्तमान पर्याय के - दृष्टि के जानेसे उसे शमजलनिधि का जघन्य - थोड़ा ज्वार आता है। और मुनि को तो चारित्रदशा यथार्थ प्रगट हुई है, उन्हें तो आनंद की और वीतरागता का विशेष ज्वार आता है। उस वीतरागता की दशा द्वारा पुण्य-पाप के कलंक को धो डालते हैं। - `शमजलनिधि' का यह अर्थ !!

जिज्ञासा :- यह तो मुनि की बात है। परंतु गृहस्थों के लिये ?

समाधान :- पहले समकिती के लिये कहा न...! फिर मुनि की बात कही। धर्म की पहली सीडी सम्यग्दर्शन पानेवाले को पहले राग से भिन्न होकर, स्वरूप का स्वीकार होकर आनंद का थोड़ा ज्वार आता है। - उन्हें समकिती - जघन्यधर्मी कहते हैं।पहली सच्ची बात `यह' है। दो-तीन बार आ गई है। ऐसी ही यह मैंने दान किया और फलाँ काम किया और धर्मशाला बनवाई और... इसलिये धर्म हो जायेगा, ऐसा नहीं है। बापू ! धर्म (तो) ऐसी यह (कोई अपूर्व) चीज़ है !!

आहा...हा...! (भगवानआत्मा) तो वीतरागस्वभाव का सागर प्रभु है; अकषायस्वरूपचारित्र उसका गुण है; और वह गुणस्वरूप ही है। ज्ञानसे देखो तो ज्ञानस्वरूप है। चारित्र से देखो तो चारित्रस्वरूप - वीतरागस्वरूप है। स्वच्छता से देखो तो स्वच्छस्वरूप है। प्रभुता से देखो तो प्रभुस्वरूप है। आनंद से देखो तो आनंदस्वरूप है। - इस

द्रव्य (की) पहली दृष्टि (अर्थात्) सम्यग्दर्शन - धर्म की पहली सीडी - धर्म का पहला सोपान (प्रगट) होनेपर उन्हें (समकिती को) भी अंतर में वीतरागीपर्याय (प्रगट होती है)। सम्यग्दर्शन वीतरागीपर्याय है। वहाँ से उसकी धर्म की शुरूआत होती है। राग चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति का हो परंतु उससे भिन्न होकर स्वरूप का अनुभव करना, दृष्टि (करनी; उसका नाम) दो के बीच प्रज्ञाछैनी लगाई; अर्थात् उपयोग को पकड़कर राग से भिन्न हो गया। आहा...हा...! ऐसे सम्यग्दर्शन में भी आंशिक आनंद और ज्ञान की शांति का ज्वार आता है। (यहाँ) तो यह मुनि की विशेष बात है। परमार्थ-प्रतिक्रमण है न...! (मुनि) अस्थिरता के राग से भी हट गये हैं और स्थिरता के समुद्र की पर्याय में झूलते हैं, वह उनकी शोभा है।

आहा...हा...! बात सुनना भी कठिन लगे। यह तो बाहर से कुछ नग्नपना लिया और पंचमहाव्रत (लिये, परंतु) इन पंचमहाव्रत के परिणाम के भी कहाँ ठिकाने हैं ? कठिन बात ! लोगों को ऐसा लगता है...!

`-वह सचमुच, इस `समयसार' का कैसा भेद है !' जिसमें वीतरागता प्रगट हो उस `समयसार' की कैसी दशा है ! आहा...हा...! स्वयं मुनि हैं न...! अतः मुनि से वे बात करते हैं : परमार्थ-प्रतिक्रमण उसे कहें।

श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्यदेवप्रणीत

श्री नियमसार

श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित संस्कृत टीका

(परमार्थ-प्रतिक्रमण अधिकार)

गाथा-८३

मोत्तूण वयणरयणं रागादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदि त्ति पडिकमणं ।। ८३ ।।
मुक्त्वा वचनरचनां रागादिभाववारणं कृत्वा।
आत्मानं यो ध्यायति तस्य तु भवतीति प्रतिक्रमणम् ।। ८३ ।।

दैनं दैनं मुमुक्षुजनसंस्तूयमानवाङ्मयप्रतिक्रमणनामधेयसमस्तपापक्षयहेतुभूतसूत्र-समुदयनिरासोऽयम्।

यो हि परमतपश्चरणकारणसहजवैराग्यसुधासिन्धुनाथस्य राकानिशीथिनीनाथः अप्रशस्तवचनरचनापरिमुक्तोऽपि प्रतिक्रमणसूत्रविषमवचनरचनां मुकत्वा संसारलतामूलकंदानां निखिलमोहरागद्वेषभावानां निवारणं कृत्वाऽखंडानंदमयं निजकारणपरमात्मानं ध्यायति, तस्य खलु परमतत्त्वश्रद्धानावबोधानुष्ठानाभिमुखस्य सकलवाग्विषयव्यापार-विरहितनिश्चयप्रतिक्रमणं भवतीति।

हिन्दी अनुवाद

रे वचन रचना छोड़ रागद्वेष का परित्याग कर।
ध्याता निजात्म जीव जो होता उसीको प्रतिक्रमण।।८३।।

अन्वयार्थ :- **[वचनरचनां]** वचनरचनाको **[मुक्त्वा]** छोड़कर, **[रागादिभाववारणं]** रागादिभावोंका निवारण **[कृत्वा]** करके, **[यः]** जो **[आत्मानं]** आत्माको **[ध्यायति]** ध्याता है, **[तस्य तु]** उसे **[प्रतिक्रमणं]** प्रतिक्रमण **[भवति इति]** होता है।

टीका :- प्रति दिन मुमुक्षु जनों द्वारा उच्चारण किया जानेवाला जो वचनमय

प्रतिक्रमण नामक समस्त पापक्षयके हेतुभूत सूत्रसमुदाय उसका यह निरास है (अर्थात् उसका इसमें निराकरण-खण्डन किया है)।

परम तपश्चरणके कारणभूत सहजवैराग्यसुधासागरके लिये पूर्णिमाका चंद्र ऐसा जो जीव (-परम तपका कारण ऐसा जो सहज वैराग्यरूपी अमृतका सागर उसे उछालनेके लिये अर्थात् उसमें ज्वार लानेके लिये जो पूर्ण चंद्र समान है ऐसा जो जीव, अप्रशस्त वचनरचनासे परिमुक्त (-सर्व ओरसे मुक्त) होने पर भी प्रतिक्रमणसूत्रकी विषम (विविध) वचनरचनाको (भी) छोड़कर संसारलताके मूल-कन्दभूत समस्त मोहरागद्वेषभावोंका निवारण करके अखण्ड-आनंदयम निज कारणपरमात्माको ध्याता है, उस जीवको - कि जो वास्तवमें परमतत्त्वके श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानके सन्मुख है उसे - वचनसंबंधी सर्व व्यापार रहित निश्चयप्रतिक्रमण होता है।

प्रवचन- २२, दि. २०-२-१९७८

(`नियमसार') गाथा-८३, टीका। `**प्रतिदिन मुमुक्षुजनों द्वारा**' - मोक्ष के अभिलाषी जीव द्वारा हमेशा सुबह व शाम `**उच्चारण किया जानेवाला जो वचनमय प्रतिक्रमण नामक समस्त पापक्षयके हेतुभूत सूत्रसमुदाय उसका यह निरास है (अर्थात् उसका इसमें निराकरण - खण्डन किया है)।**' वचनमय प्रतिक्रमण अर्थात् `मिच्छा मि दुक्कडं' और... यह नहीं और वह नहीं और यह नहीं, यह वचनमय रचना; वह समस्त पापक्षय के हेतुभूत है। यहाँ सिर्फ पाप लेना, पुण्य नहीं लेना। अशुभभाव के क्षय के हेतुभूत सूत्रसमुदाय अर्थात् भगवानकी वाणी (अनुसार) संतोंने जो पडिक्कमण रचा उसे जिस वाणी द्वारा, विकल्प द्वारा बोलते हैं उसका यह निरास है। ऐसा व्यवहारप्रतिक्रमण

का वचन और विकल्प उसका यह निरास है (अर्थात्) वह भी खंडन करने लायक, छोड़ने लायक है। कुछ समझमें आया ?

मुनिराजोंने - दिगंबर संतोंने जो प्रतिक्रमण की रचना की वह वचनमय रचना और वहाँ बोलते समय जो विकल्प उठे, ये दोनों व्यवहार (हैं) उनका यहाँ खंडन कर रहे हैं। (क्योंकि) वह कोई सच्चा प्रतिक्रमण नहीं है। है...! 'समस्त पापक्षय के हेतुभूत सूत्रसमुदाय उसका यह निरास है (अर्थात् उसका इसमें निराकरण - खंडन किया है।'

आहा...हा...! व्यवहारप्रतिक्रमण की शास्त्ररचना करे, अशुभ से यह 'मिच्छा मि दुक्कडं' न...! (यहाँ) कहते हैं कि : यह सूत्रसमुदाय और उसमें हो रहा विकल्प दोनों नाश करने लायक हैं, वे रखने लायक नहीं हैं, क्योंकि वह वचनव्यवहार है, वह बंध का कारण है। (इसलिये उसका) निराकरण - खंडन किया है। आचार्य-महाराज 'कुंदकुंदाचार्य' का यह श्लोक (गाथा) है। और 'कुंदकुंदआचार्य' ऐसा कहते हैं कि 'यह शास्त्र मेंने अपनी भावना के लिये बनाया हैं।' और उसकी टीका करते हुए 'पद्मप्रभमलधारिदेव' ऐसा कहते हैं कि : इसमें शुभ का - प्रतिक्रमण का (जो) विकल्प है, वह वास्तव में आवश्यक नहीं है; (इसलिये) उसका भी खंडन किया है।

अब परम तपस्या अर्थात् अंदर चारित्र हाँ...! (इस विषय में कहते हैं कि :) '**परम तपश्चरण के कारणभूत सहजवैराग्यसुधासागर के लिये पूर्णिमा का चंद्र ऐसा जो जीव**' - आहा...हा...! जिस प्रकार पूनम का चंद्र होता है तब समुद्र में ज्वार बहुत आता है, तेरस-चौदस आदि में ज्वार थोड़ा आता है, परंतु पूर्ण चंद्र जब उगता है तब समुद्र में ज्वार बहुत आता है; उस प्रकार जिसका आत्मा सहजवैराग्यअमृत के सागर के लिये पूर्णिमा के चंद्र समान ऐसा जीव '(**- परम तप का (चारित्र का) कारण ऐसा जो सहज वैराग्यरूपी अमृत का सागर उसे उछालने के लिये**)' जिस प्रकार समुद्र में पानी का ज्वार आता है उस प्रकार जिसे अंतर में आनंद का - निर्विकल्प आनंद और वीतरागता का - ज्वार पर्याय में आता है; उसका नाम निश्चय-सत्य - सच्चा प्रतिक्रण है।

'वैराग्य' कहा है न...! (अर्थात्) राग से हट जाता है न...! सहज वैराग्यरूपी अमृत का सागर उसे उछालने के लिये '**अर्थात उसमें ज्वार लाने के लिये जो पूर्णचंद्र समान है ऐसा जो जीव**' - मुनि हैं (जिनका खेल आनंदस्वभाव में जम गये हैं। आत्मा अतीन्द्रिय आनंद का पूर (बाढ़) प्रभु है, अतीन्द्रिय आनंद का सागर है; (उसकी) पर्याय

में जो पर से हटकर स्वभाविक वैराग्यरूपी अमृत का सागर उछालने के लिये समर्थ है (वे) पूर्णचंद्र समान हैं। (उन्हें) पर से तो वैराग्य है, परंतु जो पुण्य का विकल्प उठता है उससे भी वैराग्य है; ऐसा कह रहे हैं। इसलिये (कहा कि :) जो सहज वैराग्यरूपी अमृत का सागर उसे (उछालने के लिये) अर्थात् उसमें ज्वार लानेके लिये जो पूर्णचंद्र समान हैं। (ऐसे जो धर्मात्मा - चारित्रवंत, उन्हें मुनि कहते हैं और चारित्रवंत कहते हैं। आहा...हा...!

`**अप्रशस्त वचनरचना से परिमुक्त**' - अशुभभाव की रचना से तो परिमुक्त, अर्थात् अशुभभाव तो छोड़ दिया है। (ऐसा) कह रहे हैं। परिमुक्त=`परि' अर्थात् समस्त प्रकार से (`मुक्त' माने) छोड़ना। `(**- सर्व ओर से मुक्त**) **होने पर भी प्रतिक्रमणसूत्र की विषय** (**विविध**) **वचनरचना को** (**भी**) **छोड़कर**' यह व्यवहारप्रतिक्रमण जो बोलते हैं न... उसका विकल्प उठता है, ऐसी जो विषम वचनरचना - शास्त्र की रचना में `मिच्छा मि दुक्कडम्' यह मेरी भूल हुई (वह) `मिच्छा मि' (ऐसा आता है), यह वचनरचना विषम है (ऐसा) कहते हैं; और उसका भाव भी विषम - असमता है। जो व्यवहारप्रतिक्रमण है वह विषमभाव है, वह समताभाव नहीं है क्योंकि वह विकल्प और राग है।

ऐसी दशा पंचम काल के संतों की भी हो तो वे मुनि कहलाते हैं। अन्यथा मुनि नहीं कहलाते; ऐसा कह रहे हैं। स्वयं मुनि हैं। अपनी बात कर रहे हैं। `पद्मप्रभमलधारिदेव' स्वयं आचार्य नहीं हैं, मुनि हैं।

प्रतिक्रमणसूत्र की `विषम' (वचनरचना) का अर्थ `विविध' किया - विविध प्रकार के शब्द होते हैं न...! इसमें विकल्प भी विविध प्रकार के आते हैं न...! (`समयसार') `मोक्षअधिकार' में जिसे - व्यवहारप्रतिक्रमण के भाव को - विषकुंभ - ज़हर का घड़ा कहा है। और उससे रहित अर्थात् भगवान राग से भिन्न होकर (अपने में) जम जाय यह अमृत का कुंभ है। यहाँ `अमृत का सागर' कहा न...! वैराग्यरूपी अमृत के सागर को (उछालने के लिये अर्थात् उसमें) ज्वार लाने के लिये जो तैयार है। आहा...हा...! ऐसी कठिन बातें !

अभी (लोगों को) बाहर से निवृत्ति लेने का प्रसंग (अवकाश) नहीं ! यहाँ तो `(मुनि) अशुभ से तो छूटे हैं; शुभ से छूटे तब उन्हें सच्चा प्रतिक्रमण होवे' यह उसकी - वस्तु की स्थिति है; इस तरह का अभी जिसे श्रद्धा का ही ठिकाना नहीं है वह तो डांवाडोल - राग में एकाकार होकर पड़े हैं; उनको तो व्यवहारप्रतिक्रमण नहीं है और निश्चय भी नहीं है। यह निश्चय (प्रतिक्रमण) हो तो उसे ऐसा विकल्प -

व्यवहारप्रतिक्रमण होवे। वह भी ज़हर है (ऐसा) कह रहे हैं।

व्यवहारप्रतिक्रमण में जो शुभराग उठते हैं न...! वे अनेक प्रकार के विकल्प हैं और वचनरचना भी अनेक प्रकार की होती (है) - इस प्रकार उसे विविध प्रकार का कहकर, ऐसा कह रहे हैं कि (उसे भी) छोड़कर '**संसारलता के मूल - कन्दभूत**' - संसाररूपी बेल, संसार के वृक्ष की बेल जो अनादि से (फूली-फाली) है, अर्थात् एकेन्द्रिय, द्विइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय (आदि के) भव, ऐसी संसाररूपी बेल (के मूल) - कंदभूत '**समस्त मोहरागद्वेष भाव**' - ये मोहरागद्वेषभाव कैसे हैं ? कि : संसाररूपी बेल के मूल - कंदभूत हैं; मूल हैं, उनमें से समस्त संसार भाव फटता है।

आहा...हा...! यहाँ तो पुण्य - व्यवहार का प्रतिक्रमण है। उस (पुण्य को) भी संसार की लता में डाल देना है। (शामिल कर देना है) ! इसे लोग व्यवहारसाधन कहते हैं (कि :) यह साधन है और निश्चय साध्य है। अरे...भाई ! (ऐसा नहीं है)।

एक जैनपत्रिका में आज बहुत विरोधवाला लेख आया है : वे लोग (सोनगढ़वाले) निमित्त को मानते नहीं हैं। उपादान से ही काम होता है (ऐसा मानते हैं)। बहुत सारा (लिखा हुआ) आया है ! (परंतु) निमित्त उसे मानते हैं कि निमित्त का अस्तित्व है परंतु निमित्त से उपादान में कुछ भी हो जाय तो वह निमित्त कहाँ रहा ? वह तो अंदर उपादान में प्रवेश कर गया। एक बड़े विद्वान ने खुलासा (भी) किया है कि : सोनगढ़वाले निमित्त को मानते हैं; निमित्त नहीं है ऐसा नहीं मानते; परंतु निमित्त से पर में कार्य हो जाय, ऐसा नहीं मानते; यही यथार्थ है। निमित्त कहाँ नहीं है ? परंतु जिसकी पर्याय अपने कारण से (परिणमन होनेकी वज़ह से) उपादान हुई है, उसका नाम निमित्त कहा जाता है। निमित्त ने करवाया है ऐसा है ? (ऐसा नहीं है)। परद्रव्य (अन्य) परमें करे ऐसा कहीं भी नहीं है। आहा...हा...! ऐसी बात है।

यहाँ कहते हैं कि : इस संसार का बंध कब रुके ? कि : संसार लता के मूल - कंदभूत (समस्त) मोहरागद्वेष (भाव) '**उनका निवारण करके**' उनका अभाव करे (तो)। चाहे तो शुभराग हो तो भी उसका अभाव करे क्योंकि शुभराग है यह अभी संसार और भव का कारण है। आत्मा के आश्रय से जितनी ज्ञानधारा प्रगट हुई उतना अबंधपरिणाम है और साथ में जितना रागभाव है वे सब बंधधारा हैं, कर्मधारा हैं। (साधक को) ज्ञानधारा और कर्मधारा दोनों साथ में हैं। परंतु यहाँ तो उस कर्मधारा को छोड़कर स्वरूप में लीन होते हैं तब उन्हें निश्चय - सच्चा प्रतिक्रमण है। कुछ समझमें आया ?

उनका (-मोहरागद्वेषभावों का) निवारण करके `**अखंड-आनंदमय निज कारणपरमात्मा को ध्याता है।**' - पाठ में `**अप्पाणं जो झायदि**' उसका अर्थ किया है। भगवानआत्मा अखंड आनंदमय, (`आनंदवाला' ऐसा नहीं लिया परंतु) निज आनंदमय, भगवान अंदर अतीन्द्रिय आनंदमय, निज अतीन्द्रिय आनंदमय, अनाकुल, अन-इन्द्रिय, आनंदमय प्रभु, वह निज कारणपरमात्मा, अपना कारणपरमात्मा, त्रिकाली अखंड आनंदमय निज कारणपरमात्मा (ऐसा लिया)। आहा...हा...! ये तो कोई शब्द हैं !! ये तो शब्द हैं परंतु उनका वाच्य !! आहा...हा...! अखंड आनंदमय `निज' कारणपरमात्मा ! यहाँ वीतरागी परमात्मा नहीं; इसलिये `निज' शब्द लिया है।

परमात्मा का ध्यान करे और विकल्प करे वह भी राग है। (**श्रोता :-**) कषाय की पुष्टि होती है ? (**उत्तर :-**) एक एक कषाय है - भगवान की भक्ति का भाव स्वयं ही कषाय है। उसमें (`नियमसार' में) है। वह बात मिली नहीं थी। वह बात (श्वेतांबर में) थी नहीं न...! इस मार्ग को समझने के लिये या तो वीतरागसंस्कार चाहिए या तो वीतरागी संत चाहिए। बाकी इनके बिना यह मार्ग (समझना) बहुत सूक्ष्म पड़ता है; (अपने आप समझ लेवे ऐसा नहीं है)। या तो सम्यग्दृष्टि चाहिए, या उसे पूर्वके कोई संस्कार चाहिए; इसके बिना ये बातें बैठे ऐसी नहीं हैं। यह वस्तुस्थिति है।

`अखंड आनंदमय निज कारणपरमात्मा को' - पाठ में (है) `**अप्पाणं जो झायदि**' उसका अर्थ किया : `जो आत्मा को ध्याता है।' कैसे आत्मा को ? कौन आत्मा को ? कि : `अखंड-आनंदमय निज कारणपरमात्मा को।' आहा...हा...! उसे आत्मा कहा। शरीर नहीं, पुण्य-पाप के भाव नहीं, एक समय की पर्याय भी (यह आत्मा) नहीं। निर्णय करती है `पर्याय'। परंतु उसका विषय है यह `निज कारणपरमात्मा'। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

(`समयसार') गाथा-३२० तो यहाँ तक कहा कि : `जो सकलनिरावरण, अखंड, एक प्रत्यक्षप्रतिभासमय, अविनश्वर, शुद्धपारिणामिक परमभावलक्षण निजपरमात्मद्रव्य वही मैं हूँ' - ऐसा कौन कहता है कि : ज्ञान की वर्तमान धारा, उत्पाद, अंदर का सम्यग्ज्ञान, खंडज्ञान यह कह रहा है कि `मैं अखंड हूँ, `ध्रुव (है) वह मैं हूँ।' आहा...हा...! ऐसी बातें हैं !!

अरेरे...! अनंते भव चले गये, बापू ! वहाँ किसीकी सिफारिश काम नहीं आती। आहा...हा...! ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती हीरे के पलंग पर सो रहा था, हीरे का पलंग, सोलह

हज़ार देव सेवा में, छयानवे हज़ार रानियाँ। एक रानी की हज़ार देव सेवा करे, वह आदमी देवों की उपस्थिति में स्वयं मरकर सातवीं नरक में गया। उसे अभी हाल तो थोड़ा समय हुआ है। उसे ३३ सागर (वहाँ) गुज़ारने हैं, बापू ! चक्रवर्ती की संपदा - जिसके ३२ ग्रास का भोजन - उस भोजन में तो सब हीरे की ही भस्म होती है... उसका एक ग्रास ९६ करोड़ पायदल पचा नहीं सकता। उसकी रोटी में हीरे और माणिक की भस्म होती है... हलुआ बनाये तो अंदर हीरे की भस्म होती है... अरे...! ऐसा खानेवाला मरकर (नरक में गया) ! उसमें - धूल में (-संपदा में) कुछ नहीं है, बापू ! वह उसीमें ही मर गया !

यहाँ तो कहते हैं कि : सुबह-शाम करने का व्यवहारप्रतिक्रमण - शास्त्र की जिन संतों ने रचना की है, वह जो विकल्प उठता है वह भी दुःखरूप है, उससे हटकर, अखंड आनंदमय निजकारणपरमात्मा को ध्याता है।

यह प्रश्न हुआ था न...? कि : आप आत्मा को 'कारणपरमात्मा' कहो और कार्य नहीं आये तो उसे 'कारणपरमात्मा' कैसे कह सकते हैं ? उसे आप 'कारणपरमात्मा' किस प्रकार से कह रहे हो ? कारण हो तो कार्य आना ही चाहिए ! (तो) कहा : बात सही है। परंतु किसे 'कारणपरमात्मा' है ? ऐसा माना उसे या नहीं माना उसे ? 'अंदर कारणपरमात्मा भगवान पूर्णानंद का नाथ विराजमान है' यह (इसने) माना ही कहाँ है अभी ? वह (तो) राग की मंदता में संतुष्ट हो गया है, या फिर वर्तमान पर्याय में कुछ उघाड हुआ (तो) उसमें संतुष्ट हो गया। आहा...हा...! जिसकी एक समय की पर्याय का सामर्थ्य लोकालोक को जानने का है - इस समय भी हाँ ! एक समय की पर्याय में - छह द्रव्यों के द्रव्य-गुण-पर्याय लोकालोक को जाने, तब पर्याय का इतना सामर्थ्य पड़ा हुआ कहा जाता है। आहा...हा...! ऐसी जो दृष्टि पर्याय की है, उसे भी उठाकर (हटाकर); जो पर्याय में लोकालोक जानती है ऐसी पर्याय पर से दृष्टि हटाकर; (द्रव्यदृष्टि करे, तो) वह पर्याय स्वज्ञेय (- कारणपरमात्मा) को जानती है। परंतु जहाँ दृष्टि राग के ऊपर, अल्प(ज्ञ पर्याय) के ऊपर (पड़ी हो तो, वह स्वज्ञेय जानते हुए भी जानने में नहीं आता)। अन्यथा पर्याय का स्वभाव तो उसका (स्व-पर प्रकाशक) है (ही)।

('समयसार') १७-१८ गाथा। (भले ही) अज्ञानी (के) ज्ञान की पर्याय है। फिर भी उसका - पर्याय का स्वभाव तो स्व-पर प्रकाशक है न...! भले (पर्याय) छोटी है, एक समय की स्थितिवाली है परंतु उसका स्वभाव तो स्व-पर प्रकारशक है। तो

वह (पर्याय) स्व को प्रकाशित कर ही रही है। फिर भी उसकी (अज्ञानी की) दृष्टि में (स्व) तरफ का झुकाव (रुझान) नहीं है (इसलिये उसे वह स्व जानने में नहीं आता)। वह (स्व है वह) 'कारणपरमात्मा' है, उसे यह (स्व-पर प्रकाशक पर्याय) जानती है, परंतु वहाँ उसकी (अज्ञानी की) दृष्टि नहीं है। 'कारणपरमात्मा है' ऐसा उसे पर्याय में स्वीकार नहीं है। तो उसे कार्य किस तरह आवे (हो जाय) ? जिसे कारणपरमात्मा ही दृष्टि में नहीं है, जानने में नहीं है, मानने में नहीं है, अब (उसे) उसका कार्य किस प्रकार आये ? (परंतु) जिसे मानने में ऐसा है कि : यह कारणपरमात्मा, भगवान पूर्ण आनंदस्वरूप इसमें अनंत गुणरत्न के डिब्बे के डिब्ले भरे हैं; (जिसके) एक गुण की एक एक पर्याय लोकालोक को जानती है ऐसी अनंती पर्यायों का समुदाय वह ज्ञानगुण; लोकालोक को जानकर ऐसे ही अनुपात में एक श्रद्धा की पर्याय प्रतीति करती है, उस श्रद्धा की अनंती पर्याय अंदर एक श्रद्धागुण में हैं; ऐसी ऐसी अनंते गुण की एक एक पर्याय में जो अनंतता है उन सभी पर्यायों का समुदाय है वह गुण है और सभी गुणों का समुदाय वह द्रव्य है। कुछ समझमें आया ? ऐसा (वस्तुस्वरूप) है !!

लोग कहते हैं न... कि : वे (सोनगढ़वाले) व्यवहार को उड़ाते हैं ! परंतु व्यवहार है उसे उड़ते हैं या नहीं हो उसे ? जिसे निश्चय है उसे व्यवहार है, उसे उड़ाकर अंतर में जाना ऐसा कह रहे हैं। कुछ समझमें आया ? ऐसा मार्ग वीतराग का है।

जिनेन्द्रदेव (की) सभा में गणधर व एकावतारी इन्द्र थे। गणधरजन उसी भव में मोक्ष जानेवाले छद्मस्थ थे उनसे भगवान ऐसा फरमाते थे : यह 'वह' वाणी है यहाँपर। आहा...हा...! 'मुख ॐकार धुनि सुनि अर्थ गणधर विचारै, रचि आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारै।' यह भगवान की वाणी में ऐसा आया है कि :-

जो हमने बताया है ऐसा व्यवहारप्रतिक्रमण जो कर रहा है उसे भी छोड़कर अंदर में जा ! तो तुझे सच्चा प्रतिक्रमण होगा। हमने निश्चयसहित का जो व्यवहार कहा है उस व्यवहार को भी छोड़कर अंदर में जा ! तब सच्चा प्रतिक्रमण होता है। आहा...हा...!

'नियमसार' निश्चय-परमावश्यक अधिकार (गाथा : १४५) में आता है न...! 'जो द्रव्य-गुण-पर्यायों में (अर्थात् उनके विकल्पों में) मन को जोड़ता है, वह भी अन्यवश है' - पराश्रित है, परवश है। एक चीज़ अखंड कारणपरमात्मा भगवान; उसमें तीन भेद से उसका विचार करना वह भी विकल्प और अनावश्यक है; वह जरूरी नहीं

है ऐसा कहते हैं।

अरेरे...! ऐसा (प्रतिपादन अन्यत्र) कहाँ है, प्रभु ?! अरे...भाई ! ऐसे (सन्मार्ग से अनजान) लोग विरोध करे कि (सोगनढ़ का) विरोध करो... विरोध करो... - व्यवहार को नहीं मानते हैं, व्यवहार से (निश्चय) हो ऐसा नहीं मानते, मात्र उपादान से होता है ऐसा मानते (हैं), निमित्त से (उपादान में कार्य) हो ऐसा नहीं मानते। (परंतु) बापू ! है तो (वस्तुस्थिति) ऐसी ही; परंतु तुझे बैठे किस तरह से, भाई ? प्रत्येक पदार्थ की प्रत्येक समय जिसका (स्व) काल है वह पर्याय होती है। अब वह पर्याय होती है उसमें निमित्त सामने भले हो परंतु निमित्त से वह पर्याय हुई नहीं है। तभी उसे निमित्त कहा जाता है। कुछ समझमें आया ? उस प्रकार व्यवहार में प्रतिक्रमण का विकल्प हो परंतु उससे निश्चय में गया नहीं है, उसे छोड़कर (निश्चय में) जाता है। तो व्यवहार साधन है और निश्चय साध्य है ऐसा वहाँ रहता नहीं है।

(यहाँ कहते हैं :) `अखंड - आनंदमय निज कारणपरमात्मा को ध्याता है।' आहा...हा...! भगवानस्वरूप परमात्मा, साक्षात् शक्ति स्वभाव निजकारणपरमात्मा, मात्र भगवानस्वरूप सिद्धस्वरूप - द्रव्य हाँ ! ऐसा जो कारणपरमात्मातत्त्व; उसको जो ध्याता है। उसका जो स्तनपान करता (माँ के आँचल से दूध पीना) है (जिस प्रकार) बालक माता के स्तनमें से दूध पीता है (उस प्रकार) वस्तु के अंदर जो कारणपरमात्मा, अनंत आनंदमय है उसे पीता है, (उसका) स्तनपान करता है। उसका ध्यान करके उसमें से रस निकलता है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

प्रश्न :- ऐसी बातें कैसी होगी ! परंतु इसमें अब करें क्या ? प्रथम क्या करें ?

समाधान :- प्रथम यह करना - राग और विकल्प से भिन्न करना, और कारणपरमात्मा का अनुभव करना। पहले में पहला यह करना है। इसके बिना मुनिपना और चारित्र और सच्चा ध्यान, यह कुछ (भी) होता नहीं है।

(अब यहाँ कहते हैं कि :) `**उस जीव को**' - कारणपरमात्मा को ध्याता है उस जीव को `**- कि जो वास्तव में परमतत्त्व के श्रद्धान**' `परमतत्त्व' जो `कारणपरमात्मा' कहा वह। अखंडआनंदमय निज परमतत्त्व के श्रद्धान - नौ तत्त्व का श्रद्धान ये सब बातें निकाल दी - परमतत्त्व के श्रद्धान, परमतत्त्व के `**ज्ञान**' - शास्त्र का ज्ञान (है) वह नहीं। यहाँ तो कहते हैं कि : परमतत्त्व (जो) ज्ञान का सागर प्रभु, उस ज्ञान के सागर का ज्ञान। भारी बातें, बापू ! उस कारणपरमात्मा का श्रद्धान, कारणपरमात्मा का ज्ञान - वह कब हो ? कि : उसके स्वसन्मुख हो तब होता है। जो वस्तु है

उसके सन्मुख होवे तो उसका श्रद्धान-ज्ञान हो। आहा...हा...! '**और अनुष्ठान**' अर्थात् चारित्र। परमतत्त्व का अनुष्ठान अर्थात् कारणपरमात्मा का चारित्र अर्थात् पर्याय में आचरण। उस कारणपरमात्मा में आचरण-अनुष्ठान-स्थिरता, यह चारित्र है। आहा...हा...! '(वह) वचनसंबंधित समस्त व्यापार के बिना का (है)। अनुष्ठान के '**सन्मुख है**' अर्थात् मूल में तो स्वभाव के सन्मुख है, ऐसा कहना है।

यह तो आगे आता है न...! शुद्धउपयोगसन्मुख को सीख दी है। शुद्धउपयोग सन्मुख हुआ है, उसे समझाने के लिये तो ऐसा ही कहा जा सकता है न...? अंदर इस तरह जाना चाहता है उससे कहते हैं कि : शुद्धउपयोग को अंदर में जोड़ दे ! वह आवश्यक है। वह अवश्य करने लायक (है) और साधन है। बाकी व्यवहार-रागादि की क्रिया वह भी बंध का कारण है, विष है, ज़हर है।

'**उसे - वचनसंबंधी सर्व व्यापार रहित निश्चय प्रतिक्रमण होता है।**' लो ! उसे वचन और राग बिना का, निज अखंड परमात्मा का श्रद्धा-ज्ञान-आचारण - उसका आचरण - तत्त्व का आचरण (होता है) उसे सच्चा प्रतिक्रमण होता है; दूसरे को सच्चा प्रतिक्रमण होता नहीं है।

विशेष कहेंगे।.....

***

शरीरके पुष्ट अथवा निर्बल होने पर मैं पुष्ट या निर्बल होता हुँ - अज्ञानी ऐसा मानता है। मोटा या बारीक वस्त्र पहननेसे शरीर मोटा या पतला होता है - ऐसा नहीं मानता, पर शरीरके पतला या मोटा हो जानेसे स्वयं भी वैसा ही हो गया है ऐसा भ्रांतिसे मानता है। शरीर-अवस्थाको आत्माकी अवस्था मानता है। ज्ञान, राग, व शरीर...इन तीनोंको एकरूप मानता है और उनमें भेद नहीं जानता। (परमागमसार - ८६१)

प्रवचन- २३, दि. २१-२-१९७८

(इसी प्रकार (आचार्यदेव) `श्रीमद् अमृतचंद्रसूरि'ने (श्री `समयसार' की आत्मख्याति नामक टीका में २४४ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि :-

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचंद्रसूरिभिः :-

(मालिनी)

`अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पैरयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रान्न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति।।'

`(श्लोकार्थ :-) अधिक कहने से तथा अधिक दुर्विकल्पों से बस होओ, बस होओ; यहाँ इतना ही कहना है कि इस परम अर्थ का एकका ही निरंतर अनुभव करो; क्योंकि निजरस के विस्तार से पूर्ण जो ज्ञान उसके स्फुरायमान होनेमात्र जो समयसार (- परमात्मा) उससे ऊँचा वास्तव में अन्य कुछ भी नहीं है (- समयसार के अतिरिक्त अन्य कुछ भी सारभूत नहीं है)।'

❋

`नियमसार' गाथा-८३ में यह आखिर में आया न...! `अप्पाणं जो झायदि' निश्चयप्रतिक्रमण, सच्चा चारित्र अथवा सत्य समभाव, मोक्ष का मार्ग, उसकी बात है। `अमृतचंद्राचार्य' दिगंबर (संत) कहते हैं : **`अधिक कहने से तथा अधिक दुर्विकल्पों से बस होओ, बस होओ'** - अधिक बात क्या कहें ? जितने विकल्प उठते हैं वे सब बेकार हैं। अधिक से अधिक क्या कहें ? `अलमलम' - बस होओ, बस होओ - शब्द कहकर (कहा कि) समाप्त करो। (अन्य) क्या कहना ? **`यहाँ इतना ही कहना है कि'** भगवंत आचार्यमहाराज संत दिगंबर ऐसा कहते हैं कि : हमें इतना कहना है कि : **`इस परम अर्थ का एकका ही निरंतर अनुभव करो'** - आहा...हा...! यह

सिद्धांत ! परम पदार्थ जो भगवानआत्मा, द्रव्यस्वभाव, शुद्ध चिद्घन, आनंदकंद प्रभु ऐसा परमात्मा परम अर्थ आत्मा, वस्तु त्रिकाली जो चीज़ है वह तो परम पदार्थ परमात्मस्वरूप है - उस एकका ही (अनुभव करो)। आहा...हा...! वह वस्तु भगवान अनंतगुण की रत्नमाला अंदर पड़ी है ऐसा आत्मा अंदर (मौजूद है उस) एकका ही निरंतर अनुभव करो।

आत्मा अनंत आनंद और ज्ञानस्वरूपी प्रभु; उसका सम्यग्दर्शन, उसका सम्यक्ज्ञान और उसका (सम्यक्) चारित्र वह इसका (आत्मा का) ध्यान और अनुभव है। व्यवहार की कोई भी बातें हो, निमित्त की चाहे जो बातें हो परंतु (वे) पर हैं, वे आत्मा में नहीं हैं !

भगवानआत्मा तो अनंत अनंत गुण का राशि - पूंज - ढ़ेर ऐसा परमात्मा अपना स्वरूप उस 'एकका ही' आहा...हा...! 'एकका ही (निरंतर अनुभव करो)' - देखो ऐसा है ! आहा...हा...! जिसे मोक्षमार्ग प्रगट करना है उसे तो आत्मा चिदानंद प्रभु की अंतर्दृष्टि करके अनुभव करना। यह मोक्ष का मार्ग है ! कुछ समझमें आया ?

पाठ तो ऐसा है : '**परम अर्थ का एकका ही**' - दूसरी चीज़ (का) नहीं; राग का नहीं, निमित्त का नहीं और एक समय की पर्याय का भी नहीं; (इस एकका ही अनुभव करो)। मार्ग बहुत (साष्ट ! परंतु) अनंतकाल में कभी किया नहीं है इसलिये उसे चैतन्य का अनुभव (कठिन लगता है)। (आता है न...!) 'अनुभव चिंतामणिरतन, अनुभव है रसकूप; अनुभव मारग मोक्ष को, अनुभव मोक्ष स्वरूप।'

(यह परम अर्थ) वह परमात्मस्वरूप भगवानआत्मा है - 'घट घट अंतर जिन बसै।' अरे जिन बसै घट घट अंतर आत्मा जिनस्वरूपी - वीतरागस्वरूपी ही आत्मस्वभाव है। (**श्रोता :-**) द्रव्यस्वभाव या पर्यायस्वभाव ? (**उत्तर :-**) वस्तुस्वभाव ! पर्याय में वीतरागता कहाँ (प्रगट) है ? वस्तुस्वभाव वीतरागस्वरूप है। कहा न...! 'घट घट अंतर जिन बसै' जिन माने वीतरागस्वरूप, वह अंदर घट घट में विराजमान आत्मा (है); जिसमें दया, दान, व्रत, भक्ति का भाव भी नहीं है, जिसमें एक समय की पर्याय भी नहीं है। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, भाई ! मोक्ष का मार्ग (अलौकिक है) !

कहते हैं कि : भगवानआत्मा अनंतगुण का ढेर, आनंद से भरा पड़ा, लबालब अतीन्द्रिय आनंद से भरा पड़ा है ऐसे आत्मा का - एकका ही (निरंतर अनुभव करो)।

सूक्ष्म बात है, बापू ! अनंतकाल से (आत्मा का) अनुभव किया नहीं है। ये पंचमहाव्रतादि - क्रिया ये सब राग (क्रिया) हैं, वे कोई आत्मधर्म नहीं हैं, आत्मा नहीं

हैं।

यहाँपर तो परमात्मस्वरूप भगवान अंदर `सिद्ध समान सदा पद मेरो' - वस्तु हाँ ! सिद्ध (समान) पर्याय नहीं है। द्रव्य-वस्तु `सिद्ध समान सदा पद मेरो' ऐसी जो चीज़ है, उस एकका ही (निरंतर अनुभव करो।)

इस त्रिकाली चीज़ (आत्मा) का अनुभव होना और अनुभव में प्रतीति होना यह सम्यग्दर्शन है। यह अभी चतुर्थ गुणस्थान है। यहाँपर तो विशेष शब्द कहते हैं। इस एक का ही निरंतर - दर्शन-ज्ञान-चारित्र का अनुभव करो।

तीनों : दर्शन माने त्रिकाली भगवान पूर्णानंदस्वरूप का ज्ञान करके प्रतीति करना, निर्विकल्प दृष्टि करना, वह सम्यग्दर्शन। और आत्मा ज्ञानस्वरूप है उसका स्पर्श करके ज्ञान की वर्तमान पर्याय में सम्यग्ज्ञान की दशा प्रगट करना, वह ज्ञान है। और उस स्वरूप में स्थिरता करना अर्थात् अतीन्द्रिय आनंद भगवानआत्मा में स्थिरता, रमणता, जमना, आनंद का भोजन करना, वह चारित्र - इस एक का अनुभव करो।

आहा...हा...! आचार्य कह रहे हैं कि, विशेष क्या कहें ? बहुत कह चुके। परंतु इन सब विकल्पों से अब बस होओ। देह के रजकण से अंदर भिन्न भगवान, कर्म के परमाणु से भिन्न अंदर भगवानआत्मा, और पुण्य-पाप के शुभाशुभभाव से भी भिन्न, ऐसे (परम अर्थ का) एक का ही निरंतर (अनुभव करो)। (इस) द्रव्य से दृष्टि कभी भी खिसके नहीं, हटे नहीं इस प्रकार निरंतर अनुभव करो। ऐसा कह रहे हैं। ऐसी बात है, प्रभु ! सूक्ष्म बात (है)। अनंतकाल से कभी भी (आत्मानुभव) किया नहीं है।

(यहाँ कहा :) `एक का ही' - एकांत हो गया ? (नहीं)। वह सम्यक् एकांत है ! आहा...हा...! शुद्ध चैतन्यघन भगवानआत्मा का एक का ही निरंतर अनुभव करो। `अनुभव करना' यह पर्याय है, अवस्था है। जिसका अनुभव करना है वह द्रव्य है। द्रव्य अर्थात् वस्तु, ज्ञायकभाव, चिदानंदभाव, विज्ञानघनभाव, स्वभावभाव, सामान्यभाव, एकरूपभाव, सदृशभाव, (उसे) दृष्टि में लेकर, उसका ज्ञान करके, उसका अनुभव (और उसमें) स्थिरता करो।

`**क्योंकि निज रस के विस्तार से पूर्ण**' - आहा...हा....! कैसा है अंदर भगवानआत्मा ? कि : चैतन्यज्योत, चैतन्य की झगमगाती ज्योत है। अंदर अतीन्द्रिय आनंद की ज्योत है। इस निजरस के विस्तार से - निजशक्ति - निजगुण - निजस्वभाव के रस के विस्तार से - पूर्ण है। आहा...हा...! अंतर निजशक्ति के विस्तार से भगवान पूर्ण है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

नौ तत्त्व में शरीर और कर्म, वह तो अजीवतत्त्व है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोगवासना (ये) पापतत्त्व हैं। और दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम ये पुण्यतत्त्व (हैं)। (तथा) ये पुण्य-पाप दोनों मिलकर आस्रवतत्त्व हैं। - उनसे भिन्न भगवानआत्मा ज्ञायकतत्त्व (- जीवतत्त्व) है। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, भाई ! प्रथम सम्यग्दर्शन ही सूक्ष्म विषय है।

'निजरस के विस्तार से' - अपने गुण और स्वभाव के रस के विस्तार से पूर्ण '**जो ज्ञान**' यहाँ ज्ञान की प्रधानता करी। पूर्ण ज्ञान, पूर्ण दर्शन, पूर्ण आनंद, पूर्ण शांति, पूर्ण स्वच्छता - अंदर शक्ति हाँ ! '**उसके स्फुरायमान होने मात्र**' - उसकी प्रगटता अंदर शक्तिरूप से होनेमात्र; स्फुरायमान माने बाहर पर्याय नहीं। '**जो समयसार (-परमात्मा)**' - देखो ! त्रिकाली चीज़ ही अंदर स्फुरायमान है (ऐसा) कहते हैं। आहा...हा...! अंतर भगवानआत्मा अनंत गुण से स्फुरायमान पड़ा है, (वह) प्रगट तत्त्व, व्यक्त तत्त्व है, ऐसा कह रहे हैं। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? ऐसा सूक्ष्म मार्ग है।

बाहर की प्रवृत्ति - दया, दान, व्रत, भक्ति, यात्रा - जितनी हो, वे सब शुभभाव हैं। और हिंसा, झूठ, चोरी, धंधा-व्यापार के भाव, वे तो सब पाप भाव हैं - वे पाप और पुण्य के भाव से (भिन्न) जिनरस के विस्तार से वस्तु अंदर स्फुरायमान - प्रगट पड़ी है, ऐसा कह रहे हैं।

स्फुरायमान होनेमात्र 'जो समयसार माने परमात्मा' वह त्रिकाल अंदर ही अंदर अनंतशक्ति से स्फुरायमान है, ऐसा कह रहे हैं। अनंतशक्ति से भरा प्रभु अंदर पड़ा है। स्फुरायमान माने प्रगट (पर्याय) नहीं। यहाँ तो परमात्मा ऐसा है। उसका अनुभव करना यह पर्याय है।

'**उससे ऊँचा वास्तव में अन्य कुछ भी नहीं है।**' एक सेकंड के असंख्यवें भाग में माने एक समय में परिपूर्ण प्रभु आत्मा अंदर विराजमान है। ऐसा परमात्मा, अंदर अपना स्वरूप वह परमात्मा ही है, परम आत्मा - परमस्वरूप (है)। उसको कभी भी विश्वास में - दृष्टि में लिया नहीं है। और उसकी दृष्टि हुए बिना जो कुछ करे वह सब संसार के खाते में है। कुछ समझमें आया ?

'समयसार' का २७८ कलश है न...! यहाँ यह २४४ वाँ कलश है. उसका आधार 'प्रद्मप्रभमलधारिदेव' मुनि टीकाकार ने दिया है कि भाई ! 'अमृतचंद्राचार्य' भी ऐसा कह रहे हैं. मूल (गाथा में) तीसरा पद है न...! '**अप्पाणं जो झायदि**' उसकी

यह व्याख्या है कि : `जो आत्मा को ध्याता है' तो आत्मा कौन ? कि : अनंतशक्ति के विस्तार से भरा पड़ा परिपूर्ण परमात्मा वह आत्मा। इन शुभ-अशुभभाव से भी भिन्न और अपने परिपूर्ण स्वभाव से अभिन्न - ऐसा `**अप्पाणं**' - उसे यहाँ परमात्मा कहा। कुछ समझमें आया ?

`उससे ऊँचा वास्तव में अन्य कुछ भी नहीं है।' आहा...हा...! सर्वोत्कृष्ट वस्तु भगवान परिपूर्ण आत्मा, वह सर्वोत्कृष्ट वस्तु है। (ऐसा कह रहे हैं)।

सूक्ष्म बात है, बापू ! अपूर्व बात !! अनंतकाल में मनुष्य के भव अनंत किये उससे असंख्यगुणा अनंत नरक के किये और उससे असंख्यगुना अनंत स्वर्ग के किये। तो शुभभाव (अनुपात में) बहुत बढ़ गया। शुभभाव भी अनंतबार किये तो स्वर्ग मिला। परंतु सम्यग्दर्शन बिना वे जन्म-मरण मिटे नहीं (हैं)। कुछ समझमें आया ?

भगवानआत्मा अंदर परिपूर्ण परमात्मस्वरूप `अप्पा सो परमप्पा' आता है न `तारणस्वामी' में। आत्मा तो यहाँ स्वयं ही परमात्मा है। वस्तुरूप में स्वयं ही यह आत्मा परमात्मा है। आहा...हा...! उस परमात्मा का एनलार्ज (सम्यक् विकास) हो तब पर्याय में अरिहंतपना - परमात्मपना प्रगट हो।

दृष्टि-सम्यग्दर्शन उन्हें कहें कि जिनके ध्येय में - विषय में परिपूर्ण परमात्मा आया हो। ध्रुवस्वरूप नित्यानंद प्रभु - वह सम्यग्दृष्टि का विषय, वह उसका ध्येय, वह (दृष्टि मे) आया हो उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। और उसका ज्ञान करना वह सम्यग्ज्ञान है। शास्त्र-ज्ञान आदि तो अनंतबार किया, परंतु यह आत्मज्ञान किया नहीं। ज्ञान का ज्ञान किया नहीं। ज्ञानस्वरूप भगवानआत्मा का ज्ञान किया नहीं। (ज्ञानपर्याय को) स्वसन्मुख की नहीं है। अथवा स्व से विमुख होकर पर के सन्मुख होकर सब आचरण किया। वह तो निरर्थक गया। उससे भवभ्रमण मिटा नहीं।

`उससे ऊँचा वास्तव में अन्य कुछ भी नहीं है।' - सर्वोत्कृष्ट वस्तु परमात्मा - अपना स्वरूप उससे ऊँची कोई चीज़ है ही नहीं। `(**- समयसार के अतिरिक्त अन्य कुछ भी सारभूत नहीं है**)।' समयसार माने त्रिकाली चीज़ ! उसका अनुभव करना यह मोक्षमार्ग।

आहा...हा...! यह श्लोक `अमृतचंद्र आचार्य' (रचित है)। `कुंदकुंदआचार्य' संवत्-४९ में हुए। उन्हों ने शास्त्र बनाये। और `नियमसार' में तो ऐसा कहा कि : यह `नियमसार' तो मैंने अपनी भावना के लिये बनाया है ! इसमें आखिर में (गाथा-१८७) है : `णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं' - `कुंदकुंद आचार्य' कह रहे हैं

कि मैंने अपनी भावना - आनंद का नाथ प्रभु अनाकुल - शांतसागर उसकी एकाग्रता - हेतु यह शास्त्र बनाया है। उसके टीकाकार मुनिराज `पद्मप्रभमलधारिदेव' हैं और `समयसार', `प्रवचनसार' के टीकाकार `अमृतचंद्रआचार्यदेव' हैं।

*

और (इस ८३ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :-

तथा हि -

(आर्या)

अतितीव्रमोहसंभवपूर्वार्जितं तत्प्रतिक्रम्य।
आत्मनि सद्बोधात्मनि नित्यं वर्तेऽहमात्मना तस्मिन्।।१११।।

(श्लोकार्थ :-) अति तीव्र मोह की उत्पत्ति से जो पूर्व में उपार्जित (कर्म) उसका प्रतिक्रमण करके, मैं सद्बोधात्मक (सम्यग्ज्ञानस्वरूप) ऐसे उस आत्मा में आत्मा से नित्य वर्तता हूँ।।१११।।

`**अती तीव्र मोह की उत्पत्ति से जो पूर्व में उपार्जित (कर्म) उसका प्रतिक्रमण करके**' अती तीव्र मोह की - मिथ्यात्वादि की - उत्पत्ति से पूर्व में उपार्जित कर्म, उसका प्रतिक्रमण करके; पुण्य और पाप के भाव से हटकर, शुभ-अशुभ भाव से हटकर मैं परमानंदस्वरूप में रमणता कर रहा हूँ; उसका नाम सच्चा प्रतिक्रमण कहा जाता है। प्रति माने पीछे हटकर। `**मैं सद्बोधात्मक (सम्यग्ज्ञानस्वरूप)**' ऐसा यह आत्मा - यह तो ज्ञान की मूर्ति प्रभु, आत्मा चैतन्यज्योति झगमगाता हुआ सूर्य है। जिस प्रकार यह सूर्य परमाणु की शुभ्रता है, प्रकार है; उस प्रकार भगवान(आत्मा) चैतन्य के प्रकाश का नूर का पूर (बाढ़) है। आहा...हा...! ऐसा भगवान, ऐसा वह आत्मा सद्बोधात्मक

अर्थात् सम्यग्ज्ञानस्वरूप (है)। आत्मा तो त्रिकाल ज्ञानस्वरूपी है। बस ! **`ऐसे उस आत्मा में आत्मा से`** आहा...हा...! ज्ञानस्वरूप, चैतन्यसूर्य ऐसे उस आत्मा में आत्मा से अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग से आत्मा (में) **`नित्य वर्तता हूँ।`**

आहा...हा...! मुनिराज कह रहे हैं : मैं तो सद्बोधात्मक - ज्ञानस्वरूप भगवानआत्मा त्रिकाल ऐसे (उस) आत्मा में आत्मा से, `आत्मा से` माने पूर्ण पवित्र दशा से, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दशा वह आत्मा है (और) उस आत्मा से आत्मा में (नित्य वर्तता हूँ)।

सूक्ष्म बात, भाई ! मोक्षमार्ग बहुत सूक्ष्म। और यह मार्ग जैनदर्शन में ही है, इसके अलावा कहीं भी नहीं है। अन्य में भी कहीं नहीं है। यह तो सर्वज्ञ परमात्मा जिनेश्वरदेव का कथन है. जिसने मार्ग में सर्वज्ञ नहीं हैं उसके मार्ग में कोई बात सत्य होती नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञस्वभावी आत्मा है; आत्मा में सर्वज्ञशक्ति - स्वभाव निहित है - ऐसा आत्मा; उसके अवलंबन से, उसके आश्रय से पर्याय में सर्वज्ञता होती है। जिसमें सर्वज्ञपना नहीं है उसके आत्मा में सर्वज्ञस्वभाव है ऐसा भी नहीं है; तो उनके सर्वज्ञ होता नहीं है; (अर्थात्) आत्मस्वभाव की प्रतीति होती नहीं है। कुछ समझमें आया ?

`श्रीमद् राजचंद्रजी` हुए। १७ साल की उम्र में `श्रीमद्जी` (`भावनाबोध` `अशरणभावना` में) कह रहे हैं न...! `सर्वज्ञनो धर्म सुशर्ण जाणी` - सर्वज्ञभगवान का धर्म सुशर्ण, वह धर्म शरण है। भगवान ने जो परमात्मस्वरूप में लीन होनेकी विधि बताई वह परमशरण है। `आराध्य आराध्य प्रभाव आणी (लाकर)` - उस परमात्मस्वरूप की महिमा करके, महिमा करके आराधना कर ! भगवानस्वरूप परमात्मा का महिमा करके उसकी सेवा कर ! `अनाथ एकांत सनाथ थाशे, एना बिना कोई न बाँह स्हाशे।` अनादि का अनाथ आत्मा (यदि) इन सर्वज्ञ द्वारा कथित इस आत्मा की दृष्टि-ज्ञान करेगा तो अनाथ से सनाथ होगा। इसके बिना कोई बाँह नहीं पकड़ेगा, बापू ! आहा...हा...! बिलबिलाता बिलबिलाता (छटपटाता) हुआ अनंतबार मर चुका, राग की एकता और शरीर की एकता में भगवान स्वयं (अपने को) भूल गया। इस कारण उसने अनंत अवतार किये। उससे भिन्न, भगवान द्वारा कथित (जो) भगवानस्वरूपस्वभाव, उसकी दृष्टि, ज्ञान और आराधन - यह सर्वज्ञ का मार्ग है, (अब) उसका सेवन कर !

`ऐसे उसे आत्मा में आत्मा से नित्य वर्तता हूँ।` - मुनिराज कह रहे हैं. `नित्य वर्त` ऐसा दूसरों से (दूसरों के लिये) कहे। (यहाँ) तो `नित्य वर्तता हूँ` ऐसा मुनि (अपने लिये) कह रहे हैं : ज्ञानस्वरूप जो भगवानआत्मा उसमें मैं नित्य वर्तता हूँ, आत्मा में आत्मा से नित्य वर्तता हूँ, आहा...हा...! भाषा संक्षिप्त (परंतु) भाव अमाप !!

जिज्ञासा :- पूर्व में उपार्जित कर्म (कौन से) ?

समाधान :- करें क्या ? वे पूर्व में उपार्जित किये हुए हैं, ऐसा कह रहें हैं। पूर्व में मिथ्यात्वादि से उपार्जित कर्म। अभी नहीं, पूर्व में किया हुआ। यह पहले कह चुके न...! अति तीव्र मोह की उत्पत्ति से जो पूर्व में उपार्जित कर्म उससे मैं निवृत होता हूँ। यह बात भावकर्म की है। द्रव्यकर्म साथ में लेना है। भावकर्म से निवृत्त होता है। द्रव्यकर्म तो निमित्तमात्र है। साथ में होता है। उससे निवृत्ति होती है। उसके ऊपर से लक्ष छूट जाता है उसका नाम निवृत्ति। भाषा तो कर्म से आती है परंतु अंदर भाव भावकर्म का है। द्रव्यकर्म तो भिन्न ही पड़ा है। (उसने) आत्मा में प्रवेश ही नहीं किया, प्रवेश किया ही नहीं, वह तो जड़ है। अभी तक कर्म के लक्ष से जो विकार भाव मिथ्यात्व और राग-द्वेष किये उनसे मैं प्रतिक्रमण (करता हूँ), पीछे हटता हूँ और अपने आत्मा में आत्मा से नित्य वर्तता हूँ। आहा...हा...! लिखते समय भी `नित्य वर्तता हूँ !?'

आत्मा पूर्णानंदस्वभाव जो सम्यग्दर्शन में, सम्यग्ज्ञान होकर प्रतीत होता है। सम्यग्दर्शन का विषय - ध्येय जो `ध्रुव' वह समकिती को दृष्टिमें से कभी भी खिसकता नहीं है, वह तो नित्य (वर्तता है)। चाहे तो विकल्प में आओ, खाने-पीने में लक्ष जाओ; परंतु उस नित्य-ध्रुव की दृष्टि कभी भी खिसकती नहीं है। `खिसकती नहीं है' उसका अर्थ हटती नहीं है।

यहाँ यह कहा : `उस आत्मा में' - कैसे `आत्मा' में ? सम्यग्ज्ञानस्वरूप आत्मा में ऐसा (कह रहे हैं)। मात्र ज्ञान का पूर, पूंज, ज्ञान का चंद्र शीतल... शीतल... शीतल... शीतल... शीतल ऐसा जो भगवानआत्मा, ऐसे उस आत्मा में `आत्मा से' - उसकी निर्मल परिणति से `नित्य वर्तता हूँ।'

मुनि तो कह रहे हैं कि : मैं तो चौबीसों घंटे आनंद में वर्तता हूँ। मैं तो आनंदकंद भगवान में नित्य वर्तता हूँ। `वर्तता हूँ' वह पर्याय है। नित्य वर्तता हूँ - नित्य में नित्य वर्तता हूँ। भाषा सरल परंतु भाव बहुत सूक्ष्म हैं। नित्य प्रभु ध्रुव, सम्यग्ज्ञान की मूर्ति प्रभु (वह) आत्मा; ऐसे आत्मा में आत्मा से - वीतरागीपर्याय से - नित्य वर्तता हूँ। वह मेरा मोक्षमार्ग व मुनिपना है, ऐसा कह रहे हैं। गृहस्थाश्रम में समकिती को (सकल)चारित्र होता नहीं है। और यहाँ तो (सकल)चारित्रसहित तीनों की बात साथ में ली है। कुछ समझमें आया ?

श्रेणिकराजा को चारित्र नहीं था परंतु क्षायिकसमकित था। राज में रहते थे।

(परंतु) अंतर आत्मा का अनुभव करके आनंद का स्वाद लेकर क्षायिक प्रतीति (श्रद्धा) प्रगट करी। परंतु (उससे) पहले नरक का आयु बंध चुका था तब पूर्वकर्म के कारण नरक की स्थिति बहुत बांधी थी फिर भी जब सम्यग्दर्शन प्राप्त किया तो आयुष्य की स्थिति कम हो गई - चौरासी हज़ार (वर्ष) रह गई। श्रेणिकराजा भगवान (महावीर) के समय में ८४ हज़ार (वर्ष की) स्थिति लेकर नरक में गये हैं। वहाँ ढाई हज़ार (वर्ष) बीत गये हैं और साडे इक्यासी हज़ार वर्ष (अभी) बाकी हैं। परंतु आत्मा का सम्यग्दर्शन- अनुभव प्रगट किया इससे तीर्थंकरगोत्र बांधा तो भविष्य में पहली नरकमें से निकलकर तीर्थंकर होंगे। आहा...हा...! 'पद्मनाथ' नाम के तीर्थंकर ! जैसे महावीर भगवान थे (वैसे) ! यह प्रताप, आत्मा-पूर्णानंद के नाथ के अनुभव का और सम्यग्दर्शन (का है) !

यहाँ तो विशेष कहते हैं कि : दर्शन, ज्ञान व चारित्र की रमणता - तीनों की कहते हैं। मुनि हैं न...! मैं तो तीनों में ही नित्य वर्तता हूँ ! नित्य में नित्य वर्तता हूँ। आहा...हा...! कठिन काम है। इसका नाम मुनिपना है। - 'णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती साहूणं' - यह साधु... हाँ ! यह।

कुछ लोग कहते हैं : 'णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती साहूणं' इसमें जैन के सिवाय (भी) सभी को ही लेना ! (परंतु ऐसा नहीं है)। जैन परमेश्वर ने जो अनुभव किया वह अनुभव जैनशासन में ही होता है। अन्य मार्ग में यह हैं ही नहीं। तो 'णमो लोए सव्व साहूणं' - (इसमें) लोक में सभी साधुगण जो हैं उनको नमस्कार नहीं। जैन के संत जो इस प्रकार वर्तते हैं - आत्मा में - नित्य में - आनंद में नित्य वर्तते हैं - वे जैन के साधु। वे साधु 'लोए' में - 'लोक' में समाविष्ट हैं। कुछ समझमें आया ?

एक स्थानकवासी साधु कहते हैं कि : 'नमो लोए सव्व साहूणं' - (इसमें) जैन के सब और जैनेतर सब साधु लेना ! (ऐसा नहीं। यह) बिल्कुल झूठी बात है। समकित ही न होवे तो फिर साधुपना कहाँसे (हो) ? परमेश्वर जैन परमात्मा के पंथ के सिवा साधु और समकित होता नहीं है। (होना संभव नहीं है)। यह धर्म भी सच्चा और वह धर्म भी सच्चा ऐसा नहीं है।

वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेन्द्रदेव ने (जो) अनंतगुण का पिंड आत्मा कहा उस आत्मा की प्रतीति, ज्ञान और रमणता - निर्विकल्पदशा में नित्य वर्तता हूँ; ऐसा कहा गया है।

श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्यदेवप्रणीत

श्री नियमसार

श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित संस्कृत टीका

(परमार्थ-प्रतिक्रमण अधिकार)

गाथा-८४

आराहणाइ वट्टई मोत्तूण विराहणं विसेसेण।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा।।८४।।
आराधनायां वर्तते मुकत्वा विराधनं विशेषेण।
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात्।।८४।।

अत्रात्माराधनाय वर्तमानस्य जन्तोरेव प्रतिक्रमणस्वरूपमुक्तम्।

यस्तु परमतत्त्वज्ञानी जीवः निरन्तराभिमुखतया ह्यत्रुट्यत्परिणामसंतत्या साक्षात् स्वभावस्थितावात्माराधनायां वर्तते अयं निरपराधः। विगतात्माराधनः सापराधः, अत एव निरवशेषेण विराधनं मुकत्वा। विगतो राधो यस्य परिणामस्य स विराधनः। यस्मान्निश्चय-प्रतिक्रमणमयः स जीवस्तत एव प्रतिक्रमणस्वरूप इत्युच्यते।

हिन्दी अनुवाद

छोड़े समस्त विराधना आराधनारत जो रहे।
प्रतिक्रमणमयता हेतुसे प्रतिक्रमण उसको ही कहें।।८४।।

अन्वयार्थ :- **[विराधनं]** जो (जीव) विराधनको **[विशेषेण]** विशेषतः **[मृक्त्वा]** छोड़कर **[आराधनायां]** आराधनामें **[वर्तते]** वर्तता है, **[सः]** वह (जीव) **[प्रतिक्रमणम्]** प्रतिक्रमणम् **[उच्यते]** कहलाता है, **[यस्मात्]** कारण कि वह **[प्रतिक्रमणमयः भवेत्]** प्रतिक्रमणमय है।

टीका :- यहाँ आत्मा की आराधना में वर्तते हुए जीवको ही प्रतिक्रमणस्वरूप

कहा है।

जो परमतत्त्वज्ञानी जीव निरंतर अभिमुखरूपसे (-आत्मसंमुखरूपसे) अटूट (-धारावाही) परिणामसन्तति द्वारा साक्षात् स्वभावस्थितिमें - आत्माकी आराधनामें - वर्तता है वह निरपराध है। जो आत्माके आराधन रहित है वह सापराध है; इसीलिये, निरवशेषरूपसे विराधन छोड़कर - ऐसा कहा है। जो परिणाम 'विगतराध' अर्थात् *राध रहित है वह विराधन है। वह (विराधन रहित - निरपराध) जीव निश्चयप्रतिक्रमणमय है, इसीलिये उसे प्रतिक्रमणस्वरूप कहा जाता है।

*

* राध= आराधना; प्रसन्नता; कृपा; सिद्धि; पूर्णता; सिद्ध करना वह; पूर्ण करना वह।

'निमयसार' गाथा-८४ 'कुंदकुंदआचार्यमहारज' की गाथा है। 'प्रतिक्रमणवाले' ऐसा नहीं किन्तु 'प्रतिक्रमणमय'। **'यहाँ आत्मा की आराधनामें वर्तते हुए जीव को ही प्रतिक्रमणस्वरूप कहा है।'** - क्या कहा ? कि : भगवान आनंदस्वरूप, आनंद का सागर, अतीन्द्रिय आनंद का प्रभु आत्मा; उसमें जो वर्तता है, रमण करता है; उसका नाम प्रतिक्रमण है। आहा...हा...! सत्य-सच्चा-निश्चयप्रतिक्रमण उसे कहते हैं।

(अब) विशेष खुलासा कर रहे हैं : **'जो परमतत्त्वज्ञानी जीव'** - परमतत्त्वज्ञानी जीव; परमतत्त्व जो भगवानआत्मा वह परमतत्त्वज्ञानी जीव; उस परमतत्त्व का ज्ञानी जीव; 'परमतत्त्वज्ञानी जीव' (अर्थात् :) अपना परमतत्त्व जो आत्मा उसका ज्ञानी होकर (जो) **'निरंतर अभिमुखरूप से (- आत्मसन्मुखरूप से)'** - भगवान पूर्णानंदस्वरूप के सन्मुख - अभिमुख; (अर्थात् :) विकल्प से विरुद्ध - विपरीत से विमुख, रागादि से विपरीत - विमुख और स्वभाव से सन्मुख; परमतत्त्वज्ञानी अभिमुखरूप से (आत्मसन्मुखस्वरूप से)

अर्थात् आत्मा आनंदस्वरूप शुद्ध वीतरागमूर्ति प्रभु उसके अभिमुख-सन्मुख होकर `**अटूट (-धारावाही) परिणामसंतति द्वारा**' अंतर में निर्विकल्प सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र(रूप) जो वीतरागीपर्याय, उस परिणामसंतति द्वारा धारावाहीरूप से; (अर्थात् :) शुद्धस्वरूप की दृष्टि और ज्ञान जहाँ निर्मल हुआ, वह ज्ञान धारावाही है; बीच में रागादि आते हैं वह कर्मधारा है और यह स्वभावधारा है; (इस) परिणामसंतति द्वारा, इस वीतरागीपर्याय की निरंतर संतति द्वारा `**साक्षात् स्वभावस्थिति में - आत्मा की आराधना में - वर्ततता है।**' - आत्मा आनंदस्वरूप की सेवना में वर्तता है। आहा...हा...हा...! `राध' यह शब्द `समयसार' में लिया है। `राध' अर्थात् `सेवन'। आहा...हा...! किसका ? कि : भगवान आनंदस्वरूप प्रभु, निर्विकल्प शांतस्वरूप आत्मा; उसकी सेवना में - आराधना में वर्तता है वह निश्चयप्रतिक्रमण है। `**वह निरपराध है।**' आहा...हा...!

यहाँ तो जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बंधता है वह भी अपराध है। `पुरुषार्थ सिद्धिउपाय' `अमृतचंद्रआचार्य' (की रचना)। उन्होंने `समयसार' की टीका करी है। जिसे भाव से तीर्थंकरगोत्र बंधता है, जिस भाव से आहारक शरीर बंधता है वह भी अपराध है। राग है न...! आहा...हा...हा...! उस अपराध से रहित, निरपराधी भगवानआत्मा की सेवना में (जो) वर्तता है वह निरपराधी है। किस प्रकार से ? कि : उसने राग का गुनाह किया नहीं !

आहा...हा...! ऐसी बात है, भाई ! सूक्ष्म बहुत बापू ! अनतकाल में अनंतकाल का अभ्यास दूसरा और यह अभ्यास दूसरा। (उससे अलग)।

आहा...हा...! सतत (परिणाम) संतति द्वारा साक्षात् स्वभावस्थिति में - आत्मा की (- शुद्ध चिद्घन की) आराधना में वर्तता है वह पुरुष निरपराधी है। छह व्यवहार आवश्यक करे वह भी राग है, अपराध है। आहा...हा...! गज़ब बात है। शुभभाव आये वह भी अपराध है क्योंकि वह आत्मा का स्वभाव नहीं है।

अरे...! मनुष्यपना मिला और उसमें सत्य वस्तु सुनने न मिले तो उस सत्य वस्तु का सेवन - श्रद्धा-ज्ञान कब करें ? जगत बाहर की हूँफ में (के लालच) ऐसा का ऐसा चला जाता है ! अंदर भगवान की हूँफ नहीं ली है।

(यहाँ कहते हैं :) `**जो आत्मा के आराधनरहित है वह सापराध है।**' - भगवान शुद्ध चैतन्य (आनंदघन) प्रभु की सेवना में रहे वह आराधना है, वह निरपराध है और (जो) आत्मा के आराधनरहित है, शुद्धस्वरूप आत्मा की सेवना रहित है, वह सब सापराध है। आहा...हा...! व्यवहाररत्नत्रय का राग है वह अपराध है ऐसा कहते हैं।

आहा...हा...हा...! वीतरागमार्ग !!

(जो) निरंतर परिणामसंतति द्वारा आत्माकी आराधना में वर्तता है वह निरपराध है। और (जो) आत्मा की आराधनारहित है वह सापराध है। चाहे तो छह आवश्यकका विकल्प-राग हो, भक्ति का राग हो, वह शुभराग भी अपराध है। गज़ब बात है, प्रभु ! वीतरागस्वभाव की - वीतरागभाव की आराधना वह निरपराध है। और राग में रहना यह कर्मधारा में रहना यह सापराध है। कुछ समझमें आया ?

जिज्ञासा :- अतूट परिणमसंतति तो श्रेणि में रहती है ?

समाधान :- उस श्रेणि में भी नीचे (के गुणस्थानों में) धारावाही दृष्टि का ध्येय पकड़ा है न...! तो धारावाही ज्ञानधारा चलती है। क्षपकश्रेणी की तो बात ही क्या करनी वह तो अंतर्मुहूर्त में खत्म ! यह तो मुनिपद की बात कर रहे हैं। वे छठे-सातवें में वर्तते हैं। छठे में आते हैं तब राग आता है वह अपराध है। कुछ समझमें आया ?

कठिन बात है, प्रभु ! क्या करें ? वीतरागमार्ग अपूर्व है। पूर्व में कभी भी (उसका आराधन) किया नहीं है। अतः उसे दुष्कर लगे, जैसे कि नहीं किया जा सकता हो ! ऐसा लगे।

भगवान पूर्णानंद का नाथ अंदर विराजमान है। प्रभु स्वयं परमात्मास्वरूप है। क्योंकि उसमें एक 'प्रभुता' नामका गुण है। (जिस प्रकार) ज्ञानगुण है, दर्शनगुण है, आनंदगुण है उस प्रकार एक प्रभुता नामका गुण है इसलिये वह ईश्वरस्वरूप ही है। आहा...हा...हा...! अरे...! एक गुण नहीं किन्तु अनंते गुण ईश्वरस्वरूप ही हैं। और अनंतगुण का धणी (मालिक) स्वयं, वह तो महाईश्वरस्वरूप है आत्मा ! इसका क्या मतलब बापू !? यह लोगों को (मालूम नहीं है)। वर्तमान पुण्य व पाप के भाव में रुक गया, अटक गया - वह तो संसार है।

यहाँ तो (कहते हैं कि :) भगवानआत्मा आनंदस्वरूप प्रभु; उसमें लीन होकर आनंद की धारा बहती है वह निरपराधी। और (जो) (आत्म) आराधना रहित है वह शुभरागमें आता है वह अपराधी है।

अंदर (पाठ में) निरपराध और सापराध दोनों की व्याख्या है कि नहीं ? मूल पाठ में तो '**मोत्तूण विराहणं**' है न...! - 'विराधना को छोड़कर' (त्यागकर) राध में (आराधना में) आना (अर्थात् :) भगवान आनंद के घर में अंदर आना, उसकी आराधना - सेवना वीतरागभाव से करना, ऐसा आत्मा निरपराधी है। और इस आत्मा की सेवना

करना छोड़कर दया, दान, व्रत के रागादि की सेवना में रुकता है वह अपराधी है। कुछ समझमें आया ?

'इसीलिये, निरवशेषरूप से विराधना छोड़कर - (ऐसा कहा है)।' किस कारण से ? इस कारण से कि - आत्मा की आराधना में वर्तता है वह निरपराध है और आत्मा की आराधनारहित है वह सापराध है - इसीलिये, निरवशेषरूप से विराधन छोड़कर - क्या कह रहे हैं ? विराधनपना तो समस्तरूप से (चारों ओर से) छोड़कर। निरवशेषपने (माने) कोई भी अंश राग का बाकी (यह) 'विराधना' (है, उसे) छोड़ दे ! आहा...हा...! 'निरवशेष' (अर्थात्) कुछ भी बाकी छोड़े बिना राग - विराधना - को छोड़कर (अर्थात्) यह अंश ठीक है... यह अंश ठीक है ऐसा बिलकुल नहीं, राग के सभी अंश छोड़कर।

आहा...हा...! यह तो वीतरागमार्ग है, भाई ! राग से वीतरागपना आता नहीं है। (क्योंकि) राग की दिशा पर की ओर है और धर्म की - वीतराग की दिशा स्व की ओर है। दोनों की दिशा फर्क तो दशा फर्क। कुछ समझमें आया ?

'निरवशेषरूप से विराधन छोड़कर - ऐसा कहा है।' पाठ में है न...! 'मोत्तूण विराहणं विसेसेण' 'विसेसेण' अर्थात् निरवशेषरूप से - कुछ भी बाकी छोड़े बिना। कोई भी राग का अंश, गुण-गुणी के भेद का विकल्प भी अपराध है। आहा...हा...! अपराध है। क्या करें ? उस अपराध से निरपराधी हो सकता है ? व्यवहार से निश्चय हो जाय ? (- ऐसा नहीं है) ऐसा कह रहे हैं। क्यां करें, भाई ?!

यहाँ तो कहते हैं : जो अपने स्वरूप की आराधना में रत रहता है वह निरपराधी और उससे रहित वह सापराधी। इसीलिये, निरवशेषरूप से विराधन छोड़कर (पाठ में) ऐसा कहा है।

'जो परिणाम विगतराध' अर्थात् राधरहित है।' 'राध' की व्याख्या : आराधना - शुद्धस्वरूप की आराधना; शुद्धस्वरूप की प्रसन्नता; शुद्धस्वरूप की कृपा; यह कृपा। किसी 'पर' की कृपा वहाँ काम नहीं करती (ऐसा) कह रहे हैं। ऐसे शुद्धस्वरूप जो पुण्य-पाप से रहित ऐसे भगवानआत्मा का सेवन यह आराधना, यह राध अर्थात् सेवना, वह आत्मा की प्रसन्नता। शुद्धता वह आत्मा की प्रसन्नता। शुभराग वह आत्मा की अप्रसन्नता।

जिज्ञासा :- छह आवश्यक की प्रतिज्ञा ली हो उसका (क्या) ?

समाधान :- छह आवश्यक का विकल्प आये वह अपराध है। यह तो पहले कह चुके न...! गाथा-८३ : 'मोत्तूण वयणरयणं रागादिभाववारणं किच्चा' (विकल्प) आये किन्तु उन्हें छोड़कर स्वरूप की आराधना करना यह निश्चयप्रतिक्रमण है। व्यवहार

आता है परंतु यह अपराध है। ऐसा (वस्तुस्वरूप) है !

'जो परिणाम 'विगतराध'' (राध माने) प्रसन्नता। - आत्मा शुद्धस्वरूप पमरात्मा; उसका सेवन - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उसे आराधना कहें, प्रसन्नता कहें, कृपा कहें, सिद्धि कहें, वस्तु की सिद्धि हुई (ऐसा कहें), पूर्णता कहें। और सिद्ध करना वह, वस्तु की निर्मलदशा सिद्ध करना (होना) वह, और पूर्ण करना वह। - यह सारी राध की व्याख्या है।

यह 'समयसार' मोक्ष अधिकार (गाथा-३०४) में आता है : 'अपगतराध' अर्थात् राध से रहित है वह आत्मा अपराध है।' ऐसा यहाँ कहा : 'विगतराध' अर्थात् राध रहित है वह विराधन है। भगवान(आत्मा) की आराधना रहित है वह विराधन है। भगवानआत्मा की प्रसन्नता से विरुद्ध है वह विराधना है। आत्मा की कृपा से विरुद्ध है वह विराधना है। आत्मस्वरूपसिद्धि करें इसके अतिरिक्त (उपयोग) अन्यत्र जाय तो विराधना है। अपने पूर्ण स्वरूप में पूर्णता करने का प्रयत्न (पुरुषार्थ) न होवे और पर में जाय तो वह अपराध है। अपने स्वरूप की सिद्धि नहीं करके राग की सिद्धि करे तो वह अपराध है। पूर्ण करना (चाहिए, फिर भी) पूर्ण न करे और राग में जाय तो वह अपराध है। आहा...हा...!

कठिन काम, भाई ! मार्ग ऐसा है ! संतों ने खुला करके रख दिया है। दिगंबर संतोंने तो डंके की चोंट पर जगत के सामने जाहिर किया है। मानो न मानो... मार्ग तो यह है !

'**वह (विराधनरहित - निरपराध) जीव निश्चयप्रतिक्रमणमय है।**' - वह जीव निश्चय प्रतिक्रमण सहित है, विराधन रहित अर्थात् निरपराध निश्चयप्रतिक्रमणमय है। वह (जीव) निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप से वीतरागभाव में शुद्धउपयोग(मय) हो गया है। आहा...हा...हा...! पुण्य का भाव व पाप का भाव ये तो अशुद्धउपयोग है, वह तो अपराध है, गुनाह है। यहाँ तो आत्मा की ओर का शुद्धउपयोग वह आराधन है, वह प्रतिक्रमणमय (है) '**इसीलिये उसे प्रतिक्रमणस्वरूप कहा जाता है।**' - उस मुनि को, उस आत्मा को प्रतिक्रमणस्वरूप ही कहा जाता है। क्योंकि राग से रहित होकर अंदर स्वरूप की वीतरागपरिणति में तत्पर हुआ उस मुनि को आराधक कहा जाता है। (ऐसा मुनि) प्रतिक्रमणस्वरूप ही है।

व्यवहाररत्नत्रय भी राग है। आहा...हा...! ('नियमसार') निश्चयपरमावश्यक अधिकार में आया है। शुभोपयोग में भी परवश है। शुभ उपयोग होता है वह भी परवश है। स्व आवश्यक नहीं है। (**श्रोता :-**) द्रव्य-गुण-पर्याय का विचार करे तो ? (**उत्तर :**)

तीन विचार - भेद करे तो भी परवश है। आत्मा एक द्रव्य है, उसकी अनंत शक्ति है, उसकी पर्याय है - ऐसे तीन भेद विचारे तो वह परवश है; क्योंकि विकल्प-भेद है; वह आवश्यक नहीं है। आहा...हा...! ऐसी बात है, भाई !

यहाँ आचार्य तो पुकार करते हैं कि : निश्चय(प्रतिक्रमण) तो यह है, यह सत्य है। व्यवहार आता है परंतु है (वह) अपराध। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

यह आधार दे रहे हैं कि भाई ! यहाँ जो कहा वहीं 'कुंदकुंदाचार्य' ने वहाँ 'समयसार' गाथा-३०४ में) कहा है। (देखो पृष्ठ-३११)। इसे विशेष कहेंगे।.....

***

विपरीत-मान्यता व राग-द्वेषादि बंधका कारण एक ही हैं। गरीबीसे धनाढय हो सो तो अघातिकर्मसे निमित्तसे होता है। पूर्वमें जिस प्रमाणमें कर्म-बंध हुए हों उसी प्रमाणमें सामग्री मिलती है। वह सामग्री पैसा शरीरादि बंधका कारण नहीं है, अतः उन्हें छोड़नेसे कोई बंधन नहीं छूटता। कुटुम्बादि तो अघातिकर्मका ही फल हैं । कुटुम्बकी ममता करना तो संसारवृद्धिका कारण है, कुटुम्ब-योग संसारका कारण नहीं है। जो पुत्र-पुत्री-बहू-सगे-स्त्री आदि मिले हैं सो सब आत्मासे दूर, भिन्न हैं, वे कोई दोषका कारण नहीं हैं। शरीर, इन्द्रियादि तो एकक्षेत्रवगाही हैं - ये भी कोई बंधनका कारण नहीं हैं। तो फिर धनादि तो आत्मासे बहुत दूर हैं, वे तो पूर्व-कर्मके कारणसे मिले हैं, वे आत्माके बन्धका कारण नहीं हैं। क्योंकि परद्रव्य, बंधका कारण नहीं होता - यह निश्चित करे तभी मोह-नाशका उपाय हो ।

(परमागमसार - ८५३)

प्रवचन- २४, दि. २२-२-१९७८

(इसी प्रकार (`श्रीमद् भगवत् कुंदकुंदाचार्यदेव' प्रणीत `श्री समयसार'में (३०४ वीं गाथा द्वारा) कहा है कि :-

तथा चोक्तं समयसारे -

`संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधियं च एयट्ठं।

अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराधो।।'

`(गाथार्थ :-) **संसिद्ध, राध, सिद्ध, साधित और आराधित - ये ऐकार्थवाची शब्द है; जो आत्मा `अपगतराध' अर्थात् राध से रहित है वह आत्मा अपराध है।'**

`समयसार' (गाथा-३०४ का आधार देते हैं :) `**संसिद्धि, राध, सिद्ध, साधित और आराधित - ये एकार्थवाची शब्द है।**' - आत्मा के आनंदस्वरूप की सिद्धि होना (अर्थात्) ज्ञायक पूर्णस्वरूप के सन्मुख होकर निर्मल पर्याय प्रगट होना उसे संसिद्धि कहते हैं, उसे राध-सेवन कहते हैं; उसे सिद्ध कहते हैं (अर्थात्) त्रिकाली स्वरूप का सेवन (माने) ज्ञायकभाव पूर्णस्वरूप और गुणों का राशि-पूंज भगवान उसकी सेवा - अंदर स्वसन्मुख की एकाग्रता उसे यहाँ सिद्ध कहते हैं। वे पर्याय से सिद्ध हैं। सिद्ध स्वरूप है उसका साधन हुआ उस पर्याय को सिद्ध कहते हैं। आहा...हा...! साधित है, उसने साधा है, वस्तुस्वरूप का साधन किया (है)। आराधित (अर्थात्) उसने चैतन्यभगवान की आराधना की (है)। (अर्थात्) निमित्त का प्रेम छोड़कर, राग का प्रेम छोड़कर, एक समय की पर्याय पर की दृष्टि छोड़कर, त्रिकाल भगवान परमानंदस्वरूप का सेवन करना - `सेवन करना' यह पर्याय है। - उसे यहाँ आराधना कहते हैं। `**जो आत्मा `अपगतराध' अर्थात्**' ऐसी सेवना से रहित है वह `**राध से रहित है वह आत्मा अपराध है।**' आहा...हा...! चाहे तो शुभभाव में आया हो फिर भी वह अपराधी है। आहा...हा...! ऐसी बात है !! जो राध से रहित है वह आत्मा अपराध है।

*

(श्री `समयसार'की (`अमृतचंद्राचार्यदेव'कृत `आत्मख्याति' नाम की) टीका में भी (१८७ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि :-

उक्तं हि समयसारव्याख्यायां च -

(मालिनी)

`अनवरतमनंतैर्बध्यते सापराधः
स्पृशति निरपराधो बंधनं नैव जातु।
नियतमयशुद्धं स्वं भजन्सापराधो
भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी।।'

`(श्लोकार्थ :-) सापराध आत्मा निरंतर अनंत (पुद्गलपरमाणुरूप) कर्मों से बँधता है; निरपराध आत्मा बंधन को कदापि स्पर्श नहीं करता। जो सापराध आत्मा है वह तो नियम से अपने को अशुद्ध सेवन करता हुआ सापराध है; निरपराध आत्मा तो भलीभाँति शुद्ध आत्मा का सेवन करनेवाला होता है।'

*

`सापराध आत्मा' अर्थात् राग को अपना मानकर, राग की सेवा में - शुभभाव में भी खड़ा (हो) वह निरंतर सापराधी है। आहा...हा...! यहाँ तो जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे - तीर्थंकरगोत्र बांधनेवाला तो समकिती ही होता है, वैसे भाव मिथ्यादृष्टि को तो होते नहीं हैं - वह भाव भी अपराध है। आहा...हा...! ऐसी बात अभी लोगों को कठिन लगती है। सापराध आत्मा **`निरंतर अनंत (पुद्गलपरमाणुरूप) कर्मों से बँधता है'** - जिसने भगवान चिदानंद परमात्मस्वरूप की सेवा अर्थात् आराधन किया नहीं और राग - दया, दान, व्रतादि - के परिणाम का सेवन व आराधन किया वह अपराधी जीव है। उस अपराध से (वह) निरंतर अनंत कर्मों से बँधता है। अन्य रीति से कहें तो वह अपराधी (आत्मा) स्वभाव की शुद्धता का अनादर करके और अशुद्धता में एकाग्र होकर (अशुद्धता का) सेवन करता है वह नये अनंत कर्मों से बँधता है।

(सापराध आत्मा) अनंत पुद्गलपरमाणु से बँधता है ऐसा कहा न...! उसकी परिणति भी इतनी ज्यादा अशुद्ध है, स्वभाव से विरुद्ध है कि जिससे अनंत कर्म-परमाणु बँध जाय। अब यहाँ पलटा खाते हैं : **`निरपराध आत्मा'** - शुद्ध आनंदस्वरूप भगवान - सन्मुख की सेवा करनेवाला। आत्मा की सेवा कहो या सन्मुख की सेवा - सन्मुख

पर्याय है उसे सेवा कहो। `**बंधन को कदापि स्पर्श नहीं करता।**' अर्थात् वह राग के भाव को स्पर्शता ही नहीं है। कदापि माने किसी भी समय बंधन को स्पर्शता ही नहीं है। आत्मा आनंदस्वरूप भगवान, चैतन्य रत्नाकर प्रभु; उसके सन्मुख की दृष्टि ज्ञान व लीनता का सेवन; वह कदापि कर्म को बाँधता नहीं है। आहा...हा...! अबद्धस्पृष्ट ऐसा भगवानआत्मा; उसकी जिसने सेवा अर्थात् जिसने अबद्धपरिणाम प्रगट किये, (तो उससे पहले) जो अनंत कर्म बँधता था वह (अब) अनंत कर्म का (बँधना) रुक गया और (उसे) अनंती शुद्धि प्रगट हुई।

आहा...हा...! ऐसा (कथन) ! कठिन लगे उससे क्या होवे ? लोगों को एकांत-एकांत लगता है। (परंतु) अपने को जन्म-मरण रहित करनेका मार्ग तो यह है, बापू !

जिस प्रकार राग की सेवा में अनंतपना है इसलिये अनंत परमाणु बँधते हैं - आहा...हा...! `तेरी अशुद्धता भी बड़ी।' (परंतु) जब पलटा खाकर आत्मा पूर्णानंद प्रभु शुद्धस्वभाव के सन्मुख होकर, आत्मा का सेवन करता है, ऐसे परिणाम भी अनंत प्रगट हुए अतः उसे कर्म का बंध जरा भी नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जिज्ञासा :- एक परिणाम में अनंती शुद्धि !

समाधान :- `चारित्रपाहुड' में आया है - चारित्र अक्षय और अमेय है। वह परिणाम है। भगवानआत्मा अक्षय और अमेय - नाश न हो और (अमेय माने) अमर्याद - चीज़ है; उसका अवलंबन लेकर जो परिणाम हुए उन्हें भी प्रभु ! `कुंदकुंदआचार्य' ने तो कहा कि - अक्षय-अमेय है, बापू ! आहा...हा...हा...! सूक्ष्म बात है, बापू ! यह तो। बाहर के (बहिर्मुख) मनुष्य के साथ मेल बैठे ऐसा नहीं है।

आहा...हा...! दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, पूजा, नामस्मरण ये सब परिणाम अपराध है; ऐसा कह रहे हैं। और इस अपराध में पड़ा है उसे भी पर्याय में अनंत शुद्धि के विरुद्ध अनंती अशुद्धि हो गई है, इसलिये अनंत कर्म को बाँधता है। परंतु भगवानआत्मा, अनंत... अनंत... अनंत... अनंत - बेहद शक्तियों की संख्या और बेहद शक्तियों का सामर्थ्य (घरनेवाला है), ऐसे भगवानआत्मा के अंतर्मुख होता है उसे अंतर्मुख के परिणाम इतने प्रगट होते हैं कि उन परिणामों को आचार्य कह रहे हैं कि : वे अक्षय और अमेय हैं। आहा...हा...हा...! दूसरी तरह संतों - दिगंबर संतों - `कुंदकुंदआचार्य' तो ऐसा कह रहे हैं कि : जो कोई सम्यग्दर्शन-ज्ञान परिणाम प्रगट हुए वे अक्षय हैं अब पीछे हटनेवाले नहीं हैं। चारित्र में (यदि पूर्ण न होवे तो देव के भव में चारित्र क्षीण) हो जाय। परंतु अक्षयवाले कभी भी गिरते नहीं हैं। कुछ समझमें आया ?

अरे...! स्वयंभूरमण समुद्र के तल में तो रत्न भरे हैं और वहाँ (तल में) रेत (बालू) नहीं होती। क्या कहा ? - रत्न भरे हैं। तो यह भी स्वयंभू है प्रभु ! अंदर जो चैतन्य रत्नाकर प्रभु ! उसमें अनंतरत्न पड़े हैं। यहाँ स्वयंभूरमण समुद्र में नीचे (तल में) रेत नहीं है, कहते हैं कि केवल रत्नों की बेल हैं। असंख्य योजन का स्वयंभूरमण समुद्र। केवल रत्नों से भरा है। अरेरे...!! उसका क्षेत्र बड़ा है और ऐसे इस भगवानआत्मा का क्षेत्र भले छोटा, परंतु उसके भाव तो अनंत अनंत भरे हैं। भाई ! जिसे स्वभाव है उसे क्षेत्र की विशेषता की जरूरत नहीं है। उसकी शक्ति के सामर्थ्य की विशेषता है। आहा...हा...! अनंत ज्ञान रतन, अनंत दर्शन रतन, अनंत शांति रतन, अनंत आनंद रतन, अनंत जीवतर (आयुष्य) रतन, अनंत चिति रतन, (अनंत दृशि) रतन, (अनंत) वीर्यरतन, (अनंत) प्रभुता रतन, (अनंत) विभुता रतन - ऐसी अनंती शक्तियाँ संख्या से और एक एक शक्ति का अनंता सामर्थ्य, ऐसा जो भगवानआत्मा; उस पर्याय का भी लक्ष छोड़कर और द्रव्य के ऊपर दृष्टि करता है तब जो पर्याय प्रगट होती है वह अबंध परिणामी है। अबंध वस्तु के (लक्ष से हुए) परिणाम अबंधपरिणाम हैं। लो, आया भाई ! अबंध कहो या मुक्त कहो। जैसा मुक्तस्वरूप भगवान है उसके सन्मुख के परिणाम भी मुक्त हैं। ऐसे परिणामवाला आत्मा निरपराधी है।

`बंधन को कदापि स्पर्श नहीं करता है' ऐसा है। है ! संस्कृत में शब्द : `बंधनं नैव जातु' - `न एव जातु' - `नहीं ही'। आहा...हा...! जो भगवान अबंधस्वरूप परमात्मा, केवल अनंते चैतन्यरत्नों से भरा सागर प्रभु, उसकी सेवा जिसने की अर्थात् उसके सन्मुख होकर जिसने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र परिणाम प्रगट किये, वह निरपराध प्राणी, वह कर्म से बिल्कुल बँधता नहीं है। आहा...हा...!

यहाँ तो परमात्मा ऐसा कहते हैं कि : हमारा भजन - वह भाव भी अपराध है, क्योंकि हम परद्रव्य हैं; वह परद्रव्य का (भजन अपराध है)। `मोक्षपाहुड' १६ वीं गाथा : `परदव्वादो दुग्गइ।' वे तो वीतराग (हैं), दुनिया की दरकार किये बिना बात करते हैं। हम भी तेरे (लिये) परद्रव्य रूप हैं, प्रभु कह रहे हैं : हमारा भजन और हमारे प्रति लक्ष तू रखे (तो) वह भी अपराध होता है।

जिज्ञासा :- भगवान की भक्ति से कौन-सा कषाय पुष्ट होता है ?

समाधान :- वह सब पत्रिका में आया है : भगवान की भक्ति में कौन-सा कषाय ? बापू ! उन लोगों से इस (मामले) में क्या कहें ? परंतु भगवान की भक्ति ही राग और कषाय है। अरे ! क्या कहें, बापू !? स्वद्रव्यमें से हटकर जितने परद्रव्य की

और के भाव होते हैं (वे अपराध हैं)। सुबह तो कहा न कि : तीर्थंकरगोत्र समकिती को ही बँधता है, (क्योंकि) ऐसे परिणाम उनको ही होते हैं, परंतु वे अपराध हैं। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे वह भाव भी अपराध है। अधिक क्या कहें ? वे (संप्रदायवाले) तो खुसखुश हो जाय - आहा...हा...! तीर्थंकरगोत्र बँधा न...! परंतु गोत्र बँधा वह तो प्रकृति जड़ की बँधी और उसके कारण रूप तेरा शुभभाव वह तो अपराध है ! (**श्रोता :-**) तीर्थंकर हुए वे सब अपराध करके हुए ? (**उत्तर :-**) अपराध किया तब तीर्थंकरप्रकृति बँधी। उससे कल्याण नहीं है। उस अपराध के भाव का छेदन करके केवल(ज्ञान) होगा तब प्रकृति के उदय का संयोग होगा; उससे उन्हें क्या ? ऐसी बातें !! बहुत कठिन, बापू ! लोगों को बात बैठती नहीं न... इसलिये विरोध करते हैं। कुछ समझमें आया ?

यहाँ तो परमात्मा ऐसा कह रहे हैं कि : तेरे परमात्मामें से खिसक कर, हम ये भगवान हैं (तो) परमात्मा... परमात्मा... परमात्मा... परमात्मा (ऐसा) नामस्मरण, (एवं हमारे प्रति का) भक्ति का भाव, यात्रा का भाव, पूजा का भाव, ये सब अपराध हैं, प्रभु ! ऐसी बातें हैं !!

यह (आत्मा) तो ज्ञान व आनंदस्वरूप है न... प्रभु ! उसमें से (हटकर) जितनी (बाह्य)वृत्ति उठती हैं (वे) चाहे तो पंचमहाव्रत की, भगवान की भक्ति की (हो) वे अपराध हैं। और भगवान आनंदस्वरूप प्रभु; उसके सन्मुख की जो परिणति होती है वह वीतरागपरिणति वह निरपराध है।

अरे...रे...! (लोग) ऐसा (माने) कि : शरीर कुछ ठीक हो, इज्जत ठीक हो, बाहर में जरा वह (उघाड़ज्ञान - क्षयोपशमज्ञान हो, (तो) हो गयी छूट्टी ! (भले फिर स्वयं) उलझन में फँसा हो। व्रत और तप की कुछ क्रिया कर रहा हो तो संतुष्ट हो जाता है जैसे हमने अहोहो ! क्या कर लिया ! स्त्री-संतान छोड़े, पांच-दस लाख की आमदनी हो ऐसी दुकान छोड़ी (बस ! हो गयी छूट्टी)। अरे प्रभु ! (निवृत्ति लेकर) करनेका बापू यह है अभी !

जिज्ञासा :- वांचन करना वह अपराध है न...!

समाधान :- वांचन करना किन्तु उसमें लक्ष रखना न... कि : आत्मा का निर्णय करना है न...! आत्मा के भेदज्ञान का लक्ष रखकर वांचन करने से उसे भेदज्ञान का लक्ष होता है कि, यह (आत्मा) राग से भिन्न है उतना। फिर करना तो उसे (स्वयं) है।

यहाँ कह रहे हैं : निरपराध आत्मा बंधन को कदापि (स्पर्शता ही नहीं है)। **`बंधनं नेव जातु'** `जातु' है न...! `न एव जातु' - `जातु' माने कदापि - किसी भी समय `न एव'। आहा...हा...! यह तो अंतर की बातें हैं, भाई ! लाख तप करे और उपवास करे और करोड़ों का दान करे और अभिग्रह धारण करे और रसत्याग करे और; परंतु उसे जब तक आत्मा का रस प्रगट न हो तब तक वह अपराधी है।

जिज्ञासा :- अभी निवृत्ति ली उसकी प्रशंसा करी (आपने) और अब उसे (कह रहे हो कि अपराधी है) !

समाधान :- यह तो निवृत्ति ले उसे करना यह है, ऐसा कहा। निवृत्ति लेकर फिर करना तो यह है कि नहीं ? अंतरनिवृत्ति करनी है न...! प्रवृत्तिवाले को तो समय भी मिलता नहीं है। वह दुकान पर बैठा हो और आदमी-नौकर और ऐसी होहा... होहा...! और उसकी सब सावधानी। यहाँ देखो तो अंदर में न मिले - अंदर (स्वयं) कौन है और क्या है ? कुछ (सूझ) नहीं।

आहा...हा...! `निरपराधी आत्मा बंधन को कदापि' - `कदापि' किसका अर्थ किया : `जातु' का। `स्पर्श नहीं करता'। `नेव'=`न+एव' का अर्थ किया : नहीं ही, (स्पर्श नहीं करता)।

`जो सापराध आत्मा है' - जो प्राणी शुभराग को भी करता है, जो प्राणी कुछ दया, दान, व्रत, भक्ति के शुभराग को भी करता है वह अपराधी है। आहा...हा...! ऐसा सुनना कठिन लगे। मार्ग तो वीतराग का यह है, बापू !

जब तक वह आत्मा निरपराधी नहीं होता तब तक उसे स्वरूप की ओर का प्रयत्न करना पड़ेगा। वह प्रयत्न से होगा। तब क्रमबद्ध होगा न...? परंतु क्रमबद्ध का निर्णय प्रयत्न से होगा। आहा...हा...! जिस समय (जो) होना होगा वह होगा। `परंतु जिस समय होना होगा सो होगा' यह निर्णय प्रयत्न द्वारा करता है। कुछ समझमें आया ?

जो सापराध आत्मा है **`वह तो नियम से अपनेको अशुद्ध सेवन करता हुआ (सापराध है।)'** - देखा ! वह तो निश्चय से (अपने को) अशुद्ध सेवन करता हुआ (सापराध)। वे शुभ और अशुभभाव सब अशुद्ध है। अज्ञानी अशुद्ध को सेवता हुआ अपराधी होकर अनंत नये कर्मों को बाँधता है। सापराधी जीव - यह आत्मा वह तो निश्चय से अपने को अशुद्ध सेवन करता हुआ अर्थात् ये दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम मेरे हैं और (इनसे) मुझे लाभ होगा ऐसा अज्ञानी - सापराधी निश्चय से अशुद्ध का

ही सेवन करता है। आहा...हा...! एक एक गाथा और एक एक पंक्ति में (तत्त्व) समस्त - बेहद भरा हुआ है !

`निरपराध आत्मा तो भलीभाँति शुद्ध आत्मा का सेवन करनेवाला होता है।` `भलीभाँति` क्यों कहा ? **`भवति निरपराधः साधु`** - `साधु` है न...! (**`शुद्धात्मसेवी`**)। भलीभाँति शुद्ध आत्मा का सेवन करनेवाला, साधु-साधु माने भलीभाँति। - माने क्या ? कि उसने धारणा कर रखी है कि आत्मा शुद्ध है और अशुद्ध (है) - ऐसा नहीं। (परंतु) जैसा भगवान शुद्धस्वरूप पवित्र है, उसे उस प्रकार से - भलीभाँति - उसकी सेवना, एकाग्र (एकाग्रता) करता है। आहा...हा...! धारणा में धारण कर रखा हो कि : `आत्मा शुद्धात्मा है, अशुद्ध का सेवन करना वह इस प्रकार (दोष) है` फिर भी (सेवना न करे तो) तब तक वह अपराधी ही है। कुछ समझमें आया ?

`निरपराध आत्मा तो` - `आत्मा तो` क्यों कहा ? कि वह (- सापराध आत्मा) अशुद्ध का सेवन करता हुआ - कहा न...! इसलिये यह (निरपराध आत्मा) तो भलीभाँति शुद्धतात्मसेवी - शुद्ध आत्मा का सेवन करनेवाला - आत्मा का सेवन करनेवाला (होता है)। आहा...हा...! भगवान की सेवा करना या भक्ति करना (ऐसा नहीं)। यह तो आत्मा का असेवन करनेवाला है। आहा...हा...! ज्ञायकपरिपूर्ण परमात्मा; उसके सन्मुख की दृष्टि, ज्ञान व रमणता वह उसकी (आत्मा की) सेवना है। यह सेवना (है) वह मोक्षमार्ग है।

अरे...! अनंतकाल चला गया, फिर भी थका नहीं ! अशुभमें से शुभ में आया और शुभमें से अशुभ में आया, वहाँ की वहाँ वह खेल खेलता रहा !

निरपराधी भगवानआत्मा वह (तो) अशुभ का सेवन नहीं करता हुआ, पुण्य व पाप के मलिन भाव का सेवन नहीं करता हुआ, निर्मलानंद का नाथ प्रभु उसकी सेवना करता (हुआ) उसका सेवन करनेवाला होता है। आहा...हा...! बहुत संक्षिप्तमें परंतु बहुत भरा है। अहोहो...! संतों का सिंहनाद तो यह है। बकरों की टोली में सिंह घुस गया हो और (अपने को) बकरा... बकरा... जैसा लगे। परंतु जहाँ उसे दूसरा सिंह दिखे और उसकी गर्जना सुने वहाँ उसे त्राहि त्राहि नहीं होती। यह तो मेरे जैसा ही सिंह है और मैं उसके जैसा हूँ। जहाँ सिंह गर्जना करे वहाँ यह डरे नहीं। बकरे भाग जाय (परंतु) यह नहीं भागता। इस प्रकार भगवान ने दिव्यध्वनि द्वारा इस प्रकार गर्जना करी - तीन लोक का नाथ परमात्मा तू है न...! इस राग में कहाँ फँस गया ? बकरों की टोली में यह तू सिंह (होकर) कैसे घुस गया ?

'समयसार' पहली गाथा में कहा न...! सिद्ध प्रतिच्छंद के स्थान पर हैं। प्रतिध्वनि समान। इस प्रकार आवाज़ करे तो सामने से आवाज आती है - प्रतिध्वनि। हे भगवान ! तुम निरपराधी सिद्ध है। सामने से आवाज आती है - हे आत्मा ! तू निरपराधी सिद्ध है।

इसमें कोई लम्बें चौडे भाषण और भारी हो...हा...ये सब कुछ चलनेवाला नहीं है। (वस्तुस्वरूप ऐसा है)। दुनिया माने न माने स्वतंत्र है, बापू ! जो गुनाह में धर्म मानेगा उसका फल तो उसे भोगना पड़ेगा।

और (इस ८४ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :-

तथा हि -

(मालिनी)

अपगतपरमात्मध्यानसंभावनात्मा
नियतमिह भवार्तः सापराधः स्मृतः सः।
अनवरतमखंडाद्वैतचिद्भावयुक्तो
भवति निरपराधः कर्मसंन्यासदक्षः।।११२।।

(श्लोकार्थ :-) इस लोकमें जो जीव परमात्मध्यानकी सम्भावना रहित है (अर्थात् जो जीव परमात्माके ध्यानरूप परिणमनसे रहित है - परमात्मध्यानरूप परिणमित नहीं हुआ है) वह भवार्त जीव नियमसे सापराध माना गया है; जो जीव निरन्तर अखण्ड-अद्वैत-चैतन्यभावसे युक्त है वह कर्मसन्यासदक्ष (-कर्मत्यागमें निपुण) जीव निरपराध है।।११२।।

`**इस लोक में जो जीव परमात्मध्यान की सम्भावनारहित है**' - इस जगत के अंदर (जो) आत्मा अपने परमात्मध्यान की संभावना रहित है (अर्थात्) अपना परमात्मा जो शुद्ध चैतन्यघन उसके परमात्मध्यान की (संभावना रहित है), (अर्थात्) ऐसा कह रहे हैं : परमात्मस्वरूप पूर्ण अपना (स्वरूप) है (परंतु) इस लोक में जो कोई जीव उसके (स्वरूप के) ध्यान की संभावना से रहित है, ध्यान की एकाग्रता से रहित है `**(अर्थात्) जो जीव परमात्मा के ध्यानरूप परिणमन से रहित है**' - परमात्मस्वरूप के ध्यान की परिणति से रहित है, आहा...हा...! शुद्ध परमात्मस्वरूप की एकाग्रता से जो शुद्ध परिणति होती है उससे जो रहित है - `**परमात्मध्यानरूप परिणमित नहीं हुआ है**' - परमस्वरूप भगवानआत्मा के ध्यान द्वारा (अर्थात् उसे) ध्येय में लेकर जिसका परिणमन हुआ नहीं है, आहा...हा...! जो जीव परम आत्मस्वरूप ध्रुव, चैतन्यघन, आनंदकंद प्रभु, उसके ध्यान से माने उसके तरफ की एकाग्रता की परिणति से रहित है; वह चाहे कैसा भी साधु का नाम धारण किये हुए हो, द्रव्यलिंग ग्रहण किये हुए हो, निरतिचार पंचमहाव्रत का पालन कर रहा हो परंतु वह परमात्मा के ध्यान से तो रहित है `**वह भवार्त जीव**' - भव+आर्त=भव में परिभ्रमण करनेवाला जीव, भवार्त=भव में आर्त=भव में पीडित जीव - शुद्ध चैतन्य भगवान परम आनंद के ध्यान से रहित है अर्थात् शुद्ध परमात्मा के ध्यान की परिणति - पर्याय से रहित है और वह राग सहित है वह भवार्त है, भव में भ्रमण करनेवाला है।

आहा...हा...! ऐसा (तत्त्व) लोगों को कठिन लगे इसलिये लोग यह बाह्यक्रिया और तप और व्रत (की तरफ) चल पड़े हैं। अरे भगवान ! जहाँ परमात्मा विराजमान है वहाँ तो जाता नहीं है और बाहर की क्रिया में रुककर, परमात्मा के ध्यान से तो वह दूर वर्तता है। जैन दिगंबर साधु होकर नौवीं ग्रैवेयक गया फिर भी मिथ्यादृष्टि रहा। उसे शुक्ललेश्या थी परंतु वह शुक्ललेश्या (वह) अपराध है। वह भवार्त प्राणी है, भव में भटकनेवाला प्राणी है जो `**नियम से सापराध माना गया है।**' देखी भाषा ?

(पाठ में) है न...! `**नियतमिह भवार्तः**' - `नियतमिह' - निश्चय से वह। जिनस्वरूपी भगवानआत्मा की सेवना से रहित है और राग की सेवना से सहित है, वह नियम से भवार्त प्राणी है। आहा...हा...! `नियम से सापराध माना गया है।' है न...? `**सापराधः स्मृतः**' - ऐसा कहा न...! उसे अपराधी माना गया है। `स्मृतः' माने याद किया गया है। `**नियतमिह भवार्तः सापराधः स्मृतः सः।**' वह निश्चय से आर्तध्यान में - भवार्त में पड़ा है इस प्रकार उसका स्मरण किया जाता है अर्थात् ऐसा कहा जाता है

अर्थात् गिना जाता है।

इसमें पकड़ना (समझना) भी कठिन पड़े इसलिये लोग बेचारे चले जाते हैं, दूसरे रास्ते पर ! अरे बापू ! दूसरे (रास्ते) जाय, बापू ! इस (मार्ग) को श्रद्धा में भी न लाये कि यहाँ आत्मा की जितनी एकाग्रता होगी वही परिणति धर्म है। इसके बिना धर्म नहीं है। चाहे तो निरतिचार पंचमहाव्रत का पालन करे, मृत्युपर्यंत शरीर का ब्रह्मचर्यपालन करे - बालब्रह्मचारी रहे, करोड़ों रूपये (दान में) खर्च कर दे, चलती हुई दुकान को छोड़कर त्यागी हो जाय और शुक्ललेश्या प्रगट करे (तो भी) वह भवार्त प्राणी है। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं !!

अब (कह रहे हैं :) `**जो जीव निरंतर अखंड - अद्वैत-चैतन्यभाव से युक्त है**' - जो कोई आत्मा निरंतर - अंतर पड़े बिना - अखंड -अद्वैत-चैतन्यभाव से युक्त है। आहा...हा...! भगवानआत्मा अखंड है, अद्वैत है, त्रिकाल चैतन्यभाव स्वरूप है, उससे युक्त है।

यह निश्चय की बात माने वह यह है। अर्थात् सत्य बात यह है। व्यवहार की जितनी बातें हैं (वे) सभी अपराध की बातें हैं। ज्ञानी को व्यवहार आता है किन्तु वह अपराध है, वह कर्मधारा है; ज्ञानधारा नहीं। आहा...हा...! अज्ञानी उसे धर्मधारा समझते हैं। शुभभाव एक के बाद एक, एक के बाद एक किया करे न...! अब हम तो बस... पाप से निवर्तित हो गये हैं। परंतु वह पुण्य स्वयं पाप है, सुन... न ! शुभभाव स्वयं (संसार है)। (`योगसार' गाथा-७१ में आता है न...!) `पापरूप को पाप तो जाने जग में सब कोई; पुण्यतत्त्व भी पाप है, कहे अनुभवी बुद्ध कोई।' क्योंकि (शुभभाव के समय) चैतन्यस्वभाव - निजभावमें से खिसक जाना होता है न...! व्यवहाररत्नत्रय (के काल में) भी चैतन्यस्वभाव से दूर - हटना होता है तब व्यवहाररत्नत्रय होता है। उसका सेवन नहीं करनेवाला और अखंड-अद्वैत-चैतन्यभाव से सहित है अर्थात् जिसकी दृष्टि, ज्ञान व ध्येय में अखंड, चैतन्य वर्तता है। जिसे ध्रुव का ध्यान वर्तता है। आहा...हा...! वह अखंड, ध्रुव, चैतन्य, अद्वैत चैतन्य, एकरूप चैतन्य, जहाँ गुण-गुणी भेद भी नहीं है, अखंड माने खंड रहित, अद्वैत माने द्वैतरहित चैतन्यभाव उससे जो सहित है अर्थात् दृष्टि-ज्ञान सहित है `**वह कर्मसंन्यास सदक्ष (-कर्म त्याग में निपुण) जीव निरपराध है।**' - राग के त्याग में निपुण ऐसा जीव निरपराध है। आहा...हा...हा...!

पुराने लोगों ने सब पुरानी बातें सुन रखी हो उसमें यह ऐसा लगे कि - परंतु यह तो क्या कह रहे हैं ? बापू ! मार्ग तो यह है, भाई ! तू भगवानस्वरूप है

न...! उस भगवानस्वरूप की सेवा करना यह मुक्ति का मार्ग है। अतः जितना लक्ष परद्रव्य के ऊपर जाय - दया का - दान का व भक्ति का - वह सब अपराध है। आहा...हा...! ऐसा मार्ग !!

`कर्मसंन्यासदक्षः' - कर्म के त्याग में निपुण है, वह तो समझदार है। राग के अभावस्वभाव को करने में वह समझदार (चतुर) है, दक्ष है, निपुण है। राग के अभावस्वभाव को करने में वह विचक्षण है और स्वभाव की विचक्षणता प्रगट करने में वह निपुण है। दुनिया माने न माने। दुनिया में (अपनी) कीमत बढ़ाना इसके लिये यह मार्ग नहीं है। यह तो उसे अपनी गिनती में (कीमत में) आत्मा लेना हो उसमें (अपनी) गिनती करवाने की बात है।

यहाँ परमात्मा कह रहे हैं वह दिगंबर संत कह रहे हैं, वही केवली परमात्मा कह रहे हैं। (**श्रोता :-**) आप कह रहे हो वह क्या है ? (**उत्तर :-**) ये संत कह रहे हैं वह (हम) कह रहे हैं और अंदर बैठा है वह कह रहे हैं। आहा...हा...! (**श्रोता :-**) शब्द फर्क होवे, भाव फर्क नहीं है। (**उत्तर :-**) तब लोगों के (मन में वह) एकांत हो जाता है न...! उन्हें समझाओ... समझाओ, उनका एकांत हो गया है। ऐसा लिख रहे हैं सब बेचारे ! तुण समकिती हो, समकिती हो तुम, तुम्हें वात्सल्य होना चाहिए ! तो उन्हें स्थिर करो, ऐसा कह रहे हैं बेचारे। (और) क्या करें बेचारे वे ?

(यहाँ कह रहे हैं :) `वह जीव निरपराध है' - राग के त्याग में निपुण है वह निरपराध है। लो ! राग को करने में जो निपुण है वह सापराधी - मिथ्यादृष्टि है। कुछ समझमें आया ? `राग करने लायक है' ऐसी दृष्टि, और राग करने में जो निपुण है वह गुनाहगार, मिथ्यादृष्टि, सापराधी है।

अरे ! परमात्मा का विरह हो गया, तीन लोक के नाथ रहे नहीं, केवलज्ञानादि पूर्ण दशा प्रगट हो ऐसी योग्यता रही नहीं, और ये सब झगडे पैदा हो गये, बापू ! मार्ग तो यह है, भाई !

आहा...हा...! (यहाँ) एक ही श्लोक गज़ब करता है न...! आहा...हा...! एक एक गाथा और एक एक पद, (अति गहन है)। भाई ! यह तो निरपराधी और सापराधी की व्याख्या है। निरपराधी तो उसे कहे कि : (जो) राग के भाव का भी अभाव करके स्वभाव की सेवना करे, निर्विकल्प आनंद की दशा प्रगट करे, सुखरूप दशा प्रगट करे। (तो) वह सुख का, आत्मा का (सेवन किया कहा जाता है)। वह निरपराधी

है। आहा...हा...! और आनंद से विपरीत शुभभाव, वह दुःखभाव है; इस दुःख का सेवन करता है वह सापराधी प्राणी है। आहा...हा...! भगवानआत्मा आनंद स्वरूप (है) उससे (विपरीत) शुभराग है (अतः) दया, दान, व्रत का (भाव) यह भी अपराध है, गुनाह है, दुःख है। (इस) दुःख का सेवन करता है वह अपराधी जीव भवार्थ (है) - भव में भटकता रहेगा। कुछ समझमें आया ?

यहाँ तो अभी बाहर की सामग्री - शरीर व पैसा और यह औरत और बच्चें और मकान - ये (मेरे हैं ऐसा) मानता है और हम ऐसे हैं, देखो ! ऐसे बढ़ गये (प्रगति कर गये - फल-फूल गये)।

यहाँ तो कहते हैं कि तीनलोक के नाथ का स्मरण करना वह भी अपराध है। पाठ में है न...! दूसरी पंक्ति में : `**सापराधः स्मृतः सः**' - आहा...हा...! संतों का यह मार्ग है। दिगंबरधर्म यह है। यह कोई संप्रदाय नहीं है, बापू ! भगवान पूर्णानंद का नाथ निर्विकल्प वस्तु; उसकी सेवना उसका नाम ब्रह्मचर्य और ब्रह्म की चर्या है। (जिस की ऐसी चर्या हो) वह निरपराधी प्राणी है। और शरीर से ब्रह्मचर्य का पालन करे और ऐसा माने कि `हम धर्मी हैं' तो वह सापराधी प्राणी है। समझमें आया कुछ ?

लो, यह श्लोक (पूरा) हो गया। अब गाथा - ८५

श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्यदेवप्रणीत

श्री नियमसार

श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित संस्कृत टीका

(परमार्थ-प्रतिक्रमण अधिकार)

गाथा-८५

मोत्तूण अणायारं आयारे जो दु कुणदि थिरभावं।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा।।८५।।
मुक्त्वानाचारमाचारे यस्तु करोति स्थिरभावम्।
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणयो भवेद्यस्मात्।।८५।।

अत्र निश्चयचरणात्मकस्य परमोपेक्षासंयमधरस्य निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपं च भवतीत्युक्तम्। नयतं परमोपेक्षासंयमिनः शुद्धात्माराधनाव्यतिरिक्तः सर्वोऽप्यनाचारः, अत एव सर्वमनाचारं मुक्त्वा ह्याचारे सहजचिद्विलासलक्षणनिरंजने निजपरमात्मतत्त्वभावनास्वरूपे यः सहजवैराग्यभावनापरिणतः स्थिरभावं करोति, स परमतपोधन एव प्रतिक्रमणस्वरूप इत्युच्यते, यस्मात् परमसमरसीभावनापरिणतः सहजनिश्चयप्रतिक्रमणमयो भवतीति।

*

हिन्दी अनुवाद

जो जीव त्याग अनाचरण आचारमें स्थिरता करे।
प्रतिक्रमणमयता हेतुसे प्रतिक्रमण कहते हैं उसे।।८५।।

अन्वयार्थ :- **[यः तु]** जो (जीव) **[अनाचारं]** अनाचार **[मृक्त्वा] छोड़कर [आचारे]** आचारमें **[स्थिरभावम्]** स्थिरभाव **[करोति]** करता है, **[सः]** वह (जीव) **[प्रतिक्रमणम्]** प्रतिक्रमण **[उच्यते]** कहलाता है, **[यस्मात्]** कारण कि वह **[प्रतिक्रमणमयः भवेत्]** प्रतिक्रमणमय है।

टीका :- यहाँ (इस गाथा में) निश्चयचरणात्मक परमोपेक्षासंयमके धारण

करनेवाले को निश्चयप्रतिक्रमणका स्वरूप होता है ऐसा कहा है।

नियमसे परमोपेक्षासंयमवालेको शुद्ध आत्माकी आराधनाके अतिरिक्त सब अनाचार है; इसीलिये सर्व अनाचार छोड़कर सहजचिद्विलासलक्षण निरंजन निज परमात्मतत्त्वकी भावनास्वरूप *आचारमें जो (परम तपोधन) सहजवैराग्यभावनारूपसे परिणमित हुआ स्थिरभाव करता है, वह परम तपोधन ही प्रतिक्रमणस्वरूप कहलाता है, कारण कि वह परम समरसीभावनारूपसे परिणमित हुआ सहज निश्चयप्रतिक्रमणमय है।

* सहजचैतन्यविलासात्मक निर्मल निज परमात्मतत्त्वको भाना - अनुभव करना वही आचारका स्वरूप है; ऐसे आचारमें जो परम तपोधन स्थिरता करता है वह स्वयं ही प्रतिक्रमण है।

प्रवचन : दिनांक - २२-२-१९७८ चालु

आहा...हा...! अमृत बरसाया है। यह दिगंबर संतों की वाणी !! (दूसरी जगह यह बात) कहीं भी नहीं है। `नागा बादशाह से आघा' - (नंगा बादशाह से दूर) - दरकार तनिक भी नहीं, जगत की दरकार (शेह-शरम) नहीं मिलती कि ऐसा कहेंगे तो समाज (हमसे) दूर हो जायेगा कि नहीं ? समाज हमारा विरोध करेगा कि नहीं ? - दुनिया दुनिया का जाने। मार्ग यह है ! आहा...हा...!

`**यहाँ (इस गाथा में) निश्चयचरणात्मक**' - निश्चयस्वरूप, (निश्चय)चरणस्वरूप, स्वरूप, आनंदस्वरूप, निश्चयरमणतास्वरूप, `**परमोपेक्षासंयम के धारण करनेवाले को**' - जिन्हें राग से - व्यवहाररत्नत्रय से भी उपेक्षा वर्तती है उस परम उपेक्षा संयम के धारण करनेवाले को `**निश्चयप्रतिक्रमण का स्वरूप होता है ऐसा कहा है।**'

- क्या कहा, समझमें आया ? निश्चयचरणस्वरूप परम उपेक्षा संयम - स्वरूप की रमणतास्वरूप और राग की परम उपेक्षा(रूप) ऐसा संयम - उसके धारण करनेवाले

को निश्चय - सच्चा-सत्य प्रतिक्रमण होता है ऐसा कहा है।

यह स्थानकवाली - श्वेतांबर सुबह-शाम प्रतिक्रमण करते हैं न...! अहोहोहो... क्या कर डाला जाने ! ऐसा मानता है वह। दृष्टि मिथ्यात्व (की) और ज़रा शुभभाव करे (उसमें जाने हो गया धर्म !)

१९८० की बात है। बोटाद (शहर) में एक भाई से पूछा कि : यह सब तुम करते हो परंतु इसमें यह भगवान क्या और अनुभव क्या यह कुछ खबर है ? वह विभाव और अनुभव क्या ? तो कहने लगे कि - अपने को यह विभाव और अनुभव (कुछ) नहीं होता। एक साधुने तो कहा कि : वह सब वेदांत में होता है। (मैंने) कहा : यह क्या कर रहे हो, प्रभु ! वह साधु ऐसा कह रहा था। - विभाव और अनुभव जैनदर्शन में नहीं होता। विभाव और अनुभव यह अन्यमति कह रहे हैं। अरर...र..! कहा, क्या कर रहे हो, प्रभु यह तुम !

यहाँ कह रहे हैं कि : `निश्चयचरणस्वरूप परम उपेक्षा' - देखा ! आहा...हा...! राग की क्रिया है वह उपेक्षा करने लायक है। पंचमहाव्रत के परिणाम आदि उपेक्षा करने लायक है, अपेक्षा रखने लायक नहीं है, ऐसा कह रहे हैं। (परमोपेक्षासंयम के) धारण करनेवाले को निश्चयप्रतिक्रमण का स्वरूप होता है ऐसा कह रहे हैं।

विशेष कहेंगे।.....

***

जैन, कोई मत या पंथ नहीं । जो स्वभाव-बुद्धि व उसमें स्थिरता द्वारा विकार - रागकी पर्यायको जीते सो जैन है । `स्वभावके अवलम्बनसे विकारको दूर करे सो जैन है' । जो आत्मामें होनेवाले विकारों - पुण्य-पाप, दया-दान आदिको आत्माके भान व उसमें स्थिरता-द्वारा टाले, जीते वही जैन है। जैनकी दूसरी कोई व्याख्या नहीं है। (परमागमसार - ८४४)

प्रवचन- २५, दि. २३-२-१९७८

`नियमसार' गाथा-८५ टीका। `**यहाँ (इस गाथा में) निश्चयचरणात्मक परमोपेक्षासंयम के धारण करनेवाले को निश्चयप्रतिक्रमण का स्वरूप होता है ऐसा कहा है।**' - क्या कह रहे हैं ? कि : आत्मा पूर्णानंद और अखंडानंदस्वरूप है; इसका जिसे प्रथम राग से भिन्न होकर भान हुआ कि `मैं तो ज्ञायक और शुद्ध चैतन्य हूँ' उसी समय से वह राग से भिन्न हो गया अर्थात् राग का स्वामी नहीं है फिर भी जब (अभी) अस्थिरता है उसे भी छोड़कर अब मैं अपने स्वरूप में - आनंद के धाम में रमण करना चाहता हूँ।

व्यवहार-आचार आदि जितने हैं - पंचाचार : ज्ञानाचार, दर्शनाचार आदि पाँच हैं न...! (`प्रवचनसार' चरणानुयोगसूचक चूलिका।) ज्ञानाचार : ठीक समय पर पढ़ना, विनयपूर्वक पढ़ना ये इत्यादि (आठ प्रकार) व्यवहार, विकल्प है, राग है। दर्शनाचार : निःशंकितत्त्व आदि (आठ) बोल यह भी राग है। चारित्राचार : पंचमहाव्रत, समिति, गुप्ति यह व्यवहार भी सब राग है। तपाचार : अनशन आदि (बारह प्रकार) के विकल्प उठते हैं वह भी राग है। वीर्य को अशुभ में नहीं जाने देकर शुभ में रखना यह भी एक राग है। वहाँ तो ऐसा कहा है कि - पंचाचार ! तू मेरा स्वरूप नहीं है। परंतु जब तक मैं (पूर्ण) वीतरागपने को प्राप्त न करूँ तब तक तेरी कृपा से अर्थात् निमित्त से मैं इस प्रकार (पंचाचाररूप) शुभभाव का आचरण करता हूँ। `प्रसाद' से (कृपा से) लिया न... वहाँ व्यवहार(पक्ष)वाले पकड़ लेवे। (परंतु) यहाँ उसका निषेध कर रहे हैं. ये पाँचो ही आचार शुभविकल्प अनाचार हैं।

जिज्ञासा :- उन दोनोंमें से सही कौन-सा ?

समाधान :- यही सच्चा है। और वह भी सच्चा है, परंतु किस अपेक्षा से ? - निमित्त का ज्ञान कराया कि उसे ऐसा निमित्त होता है। जिसे आत्मज्ञान- सम्यग्दर्शन

हुआ है, उसे शुरू से राग का स्वामित्वपना छूट गया है, राग से विरक्त है और स्वभाव में रक्त है। परंतु अभी कमज़ोरी के कारण रागादि शुभाचरण आता है तो उसके लिये कह रहे हैं कि वह अनाचार है। सूक्ष्म बातें बापू !

(जीवने) बाहर में उडाउड की है। (परंतु) भीतर के भीतर क्या चीज़ है अंतर वस्तु, यह कभी देखने का उसने प्रयत्न किया ही नहीं है। (**श्रोता :**) प्रयत्न करते हुए भी दिखता न हो तो ? (**उत्तर :-**) प्रयत्न किया ही नहीं है। और उस जाति का प्रयत्न हो तो दिखे बिना रहे ही नहीं।

बहिन ने ('बहिनश्री के वचनामृत' / बोल-३६३ में) लिखा है : अंदर आत्मा में अतीन्द्रिय आनंद के भोजन के स्वादिष्ट थाल भरे हैं उसका स्वाद मुनिजन लेते हैं। आहा...हा...! मुनिपना किसे कहना !! अभी तो (लोगों को) भेदज्ञान किसे कहना (इसकी भी खबर तक नहीं है।

यहाँ तो राग से भिन्न करके अंदर में स्वरूप में गया है, राग की एकता के ताले तोड़ डाले हैं और स्वभाव की एकता के ताले खोल डाले हैं। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं ! दुनिया को अभी (खबर नहीं है) इसलिये बात बहुत अलग लगे। परंतु वस्तु तो प्रभु स्वयं परम अतीन्द्रिय आनंद का (नाथ), परम पारिणामिक स्वभाव, सहज स्वरूप, अनंत अनंत गुण के रत्नाकर से भरा (है) उसका जिसने प्रथम ही आश्रय लिया उसे तो प्रथम सम्यग्दर्शन हुआ। यहाँ तो इससे आगे ले जाना है - निश्चयप्रतिक्रमण कहना है न...! फिर (मुनिदशा में) तो जो राग की अस्थिरता है, व्यवहार के ज्ञानाचरण, दर्शनाचरण (समकित के निःशंक, निःकांक्ष आदि आठ व्यवहारचार) वे भी यहाँ तो अनाचार कहे जाते हैं। आहा...हा...! पंचमहाव्रत के परिणाम और पाँच समिति, (तीन) गुप्ति (रूप) व्यवहार उसे भी यहाँ अनाचार गिना जाता है। (क्योंकि) वह आत्माचरण नहीं है। ऐसी बात है ! २८ मूलगुण और महाव्रत और... ये सब अनाचार हैं।

(यहाँ टीका में) है ! '**नियम से परमोपेक्षासंयमवाले को**' - जो राग से निरपेक्ष - भिन्न पड़ा है - स्वरूप में स्थिरता की अपेक्षा से हाँ ! नियम से - निश्चय से परम उपेक्षा संयम; जिसे व्यवहार और संयम जो व्यवहार है उससे भी जिसे उपेक्षा हो गई है (उसे) '**शुद्ध आत्मा की आराधना**' - भगवान पूर्णानंद प्रभु; उसका अंतर में जाकर सेवन (वह) शुद्ध आत्मा की आराधना; 'शुद्धआत्मा' वह त्रिकाल; परंतु 'उसकी आराधना' यह वर्तमान सेवन। आहा...हा...! ऐसा मार्ग !! इसके अतिरिक्त सब अनाचार

है।

यह आत्मा शुद्ध आनंदकंद प्रभु; उसकी आराधना, उसकी अंतर एकाग्रता - सेवन, वीतरागी भाव का सेवन; इसके अतिरिक्त जितने क्रियाकांड के राग उठे - होवे - पंचमहाव्रत के परिणाम, व्यवहार समिति, गुप्ति, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का प्रेम - राग - ये सब अनाचार है !

जिज्ञासा :- करनेका तो कुछ रहा नहीं ?

समाधान :- (यह) करने का रहा न...! अंदर में जाना रहा। 'करनेका' यह करनेका है ! जहाँ परमात्मा स्वयं विराजमान है (वहाँ जाना है)। परंतु 'यह आत्मा' परमात्मस्वरूप और अतीन्द्रिय आनंद और अनंत अनंत शांति के रस का कंद है, यह बात उसे विश्वास में बैठती नहीं है।

अनादि से अनंतबार साधु हुआ दिगंबर... हाँ ! परंतु उसकी दृष्टि वर्तमान पर्याय और राग की क्रिया पर... बस ! (परंतु) इस राग से भिन्न, महा भगवान परमानंद का समुद्र है, अनंत चतुष्टय - अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य, अनंत आनंद - से भरा भगवान, वह तत्त्व है। अनंत अर्थात् उसकी कोई मर्यादा नहीं है ऐसा उसका स्वभाव है। उसके स्वभाव का सेवन उसका नाम आराधना। इसके अतिरिक्त जितने विकल्प - पंचमहाव्रत के, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति के उठते हैं वे भी अनाचार हैं। (ऐसा यथार्थ निर्णय भी कदापि किया नहीं !) है कि नहीं इसमें (टीका में) ?

जिज्ञासा :- सातवें गुणस्थान की अपेक्षा अनाचार और छठे गुणस्थान की अपेक्षा सदाचार ?

समाधान :- व्यवहार की अपेक्षा से सदाचार (है) और निश्चय की अपेक्षा से अनाचार - यह तो सब वैसा का वैसा ही है। व्यवहार से सदाचार माने अशुभ से छूटकर शुभ में आया इस अपेक्षा से व्यवहार। परंतु परमार्थ की दृष्टि से देखो तो वह सदाचार भी अनाचार है।

आहा...हा...! जगत को जैनपना समझना कठिन। और उसके बिना जन्म-मरण का अंत आये ऐसा नहीं है, प्रभु ! वे करोडपति और अरबपति यहाँ (भले ही) होवे, मरकर दूसरे ही क्षण गाय की कोख में, बकरी की कोख में बच्चा हो जाय; वे (लोगो) मांस व शराब खाते-पीते न हो इसलिये। वह पलंग पर सो रहा हो, वह मरकर बकरी के पेट में जाय। क्योंकि उसने आत्मा क्या चीज़ है ? उसके स्वरूप की ओर दृष्टि की नहीं है। और उसका महात्म्य आया नहीं इसलिये राग का महात्म्य

मिटा नहीं। इसलिये जो अनाचार है उसको आचार मानकर सेवन करता है वह मिथ्यादृष्टि है। आहा...हा...! ऐसी बात है !

है...! '**शुद्ध आत्मा की आराधना के अतिरिक्त (सब अनाचार है)।**' यह तो सादी भाषा है। (**श्रोता :-**) भाव गहन (है)। (**उत्तर :-**) भाव गहन है, बात सही।

तुम तो 'भगवानदास' हो न...! अंदर आत्मा में भगवान हो ! 'भग' अर्थात् अनंत... अनंत... अनंत ज्ञान-दर्शन- आनंद की लक्ष्मी, 'वान' अर्थात् वाला - स्वरूप=भग+वान है। उसकी सेवना (अर्थात्) निर्विकल्प ज्ञान, दर्शन और शांति से निर्विकल्प आराधना; राग के अभाव की अपेक्षा छोड़कर, ('(राग का) अभाव करना' ऐसी भी जहाँ अपेक्षा नहीं है अब (और तो क्या अपेक्षा ?) अंदर में निरपेक्षस्वरूप की स्थिरता की सेवना, इसके अतिरिक्त सब कुछ अनाचार है। आहा...हा...हा...! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बंधता है वह भाव भी अनाचार है। ऐसी बात !! वीतराग का मार्ग है, बापू !

अरे ! वह दुःखी हुआ है। वे निगोद के भव, एक श्वास में अठारह किये, भाई ! वह भूल गया, सब भूल गया ! वे नरक के एक क्षण के दुःख करोड़ों जीभ से, करोड़ों भव तक कहने में न आये, इतने दुःख झेले, बापू ! इस आत्मा के भान बिना। शुभ क्रिया करी तो स्वर्ग में गया परंतु वहाँ से - शुभ के बाद अशुभ होगा ही उसे। दोनों (शुभ व अशुभ) से रहित आत्मा है। उसका ज्ञान व सम्यग्दर्शन उसने कभी किया नहीं। अंदर में गया नहीं और बाहर से छूटा नहीं। और बाहर के लक्षपूर्वक जितने विकल्प होते हैं; - भगवान ऐसा कह रहे हैं कि : हमें मानने में तुझे जो राग होता है, वह भी हम तो निश्चय (अपेक्षा) से कह रहे हैं कि : वह अनाचार है। वीतराग (ही) ऐसा कहे ! (ऐसा कह सकते हैं !)

जिज्ञासा :- तो व्यवहार से निश्चय होवे ऐसा कहाँ रहा ?

समाधान :- लोग मानते हैं व्यवहार से निश्चय होता है। प्रभु ! कहाँ से हो ? ज़हर पीते पीते अमृत की डकार आ सकती है ? लहसून खाते खाते कस्तूरी की डकार आ जाय ?

आहा...हा...! अंदर मीठा सागर और अमृत के प्याले भरे हैं। भगवान तो वीतरागी अमृतस्वरूप है। उसका सेवन, उसका आराधन, वह भी वीतरागभावपूर्वक आराधन; इसके अतीरिक्त जितना व्यवहार-विकल्प उठता है (वह अनाचार है)।

संसार के - पाप के परिणाम वह तो ज़हर में ज़हर है। कमाने के और भोग के और ये पत्नी-बच्चों को सम्हालने के और बच्चों की पढ़ाई करवाने के भाव और

पैसे खर्च करने के और (सबको) प्रसन्न रखना और - ये भाव तो अनाचार हैं ही। परंतु शुभभाव भी अनाचार (हैं यह) यहाँ परमात्माने तो कहा है, भाई !

जिज्ञासा :- गृहस्थ को तो शुभभाव से मोक्ष कहा है न...?

समाधान :- नहीं, नहीं। वह तो निमित्त से कथन है। है न... चरणानुयोग में। उसे (गृहस्थ को) अशुभपना वर्तता है उसमें से शुभ में आता है उतना अशुभ छूटता है और फिर 'शुभ को छोडेगा' इस अपेक्षा से कहा है। यहाँ तो शुभभाव को अनाचार कहा न...! उस अनाचार से आत्मा को लाभ होवे ? कठिन काम, भाई !

जिज्ञासा :- यह 'कुंदकुंदाचार्य' अपने लिये कह रहे हैं !

समाधान :- अपने लिये नहीं। ऐसा यह मार्ग है, ऐसा कह रहे हैं। 'इसे' प्रतिक्रमणवाला कहना' ऐसा कहना चाहते हैं। 'प्रतिक्रमणमय' - वाला भी नहीं - ऐसे जीव को प्रतिक्रमणमय कहा जाता है। आहा...हा...हा...!

अरेरे...! बाहर के उत्साह और हर्ष में मर गया। यहाँ तो कहते हैं कि : व्यवहार का विकल्प उठे उसमें भी मर गया ! उसमें उत्साह में - हर्ष में - यह (व्यवहार) मेरा है और यह तो मैं कर रहा हूँ और उसकी दया का मैंने पालन किया और इतने व्रत किये और इतनी भक्ति करी और इतना मैंने पाँच-पच्चीस लाख का दान किया और - इस उत्साह में हर्ष ही हर्ष में - मर गया है वह ! आहा...हा...!

जिज्ञासा :- यह तो उत्सर्गमार्ग है। अपवादमार्ग होगा कि नहीं ?

समाधान :- अपवादमार्ग वह कौन-सा ? कि उसमें (आत्मा में) जम न सके तब (शुभ) आता है वह अपवादमार्ग। परंतु 'अप+वाद' न...? ऊपर यह सिद्ध किया : वह तो उत्सर्ग में जम न सके तब अशुभ से बचने के लिये शुभ आये; परंतु फिर भी है तो (वह) अनाचार। आहा...हा...! वह (छद्मस्थ) तो अंदर में जम नहीं सकता; वह तो हठपूर्वक (जिद्दपूर्वक) अंदर जा सके ऐसा है नहीं। सहज जा नहीं सकता। तो आचार्य ने किसीकी (शेहशरम) नहीं रखी है। समाज को जचे न जचे परंतु सत्य 'यह' है !

है...! 'शुद्ध आत्मा की आराधना के अतिरिक्त सब अनाचार है।' - 'शुद्ध आत्मा' अर्थात् केवल ज्ञानमूर्ति, आनंदमूर्ति, वीतरागस्वरूपी भगवान, पूर्णानंद का सागर ऐसा शुद्ध आत्मा - द्रव्य...हाँ ! उसकी आराधना, उसके संमुखता की दशा, इसके अतिरिक्त पर की ओर की दशा - विमुखता का भाव - ओहोहो...! वह तो अनाचार है, ऐसा कह रहे हैं। है ! 'आराधना के अतिरिक्त सब कुछ' - फिर 'सब कुछ' लिखा है -

अंदर स्वरूप में लीनता - आराधना के अतिरिक्त जितना व्यवहार का विकल्प उठे (वह) सब अनाचार है, वह आचार नहीं है।

'**इसीलिये सर्व अनाचार छोड़कर**' - क्यों (ऐसा) कह रहे हैं ? कि : आत्मा के आनंद में रमणता, अतीन्द्रिय आनंद में रमणता, वीतरागभाव की रमणता, इसके अतिरिक्त सब अनाचार कहा - 'इसीलिये (इसी कारण से) सर्व अनाचार छोड़कर' - वह शुभराग भी अनाचार है उसे छोड़कर, सत्य प्रतिक्रमण करना हो तो उसे इसमें (आत्मा में) रमण करना होगा। इस प्रतिक्रमण के शास्त्र की रचना करके जो बोले और उसका शुभराग आये, परंतु है वह परमार्थ से तो अनाचार। इसलिये सारा ही अनाचार छोड़कर - वह भी उपदेश है न...! बाकी वास्तव में तो स्वरूप में रमणता करता है तब वह अनाचार उत्पन्न नहीं होता। (तो) 'उसे छोड़कर' ऐसा कह रहे हैं। भगवान अपने धाम में - सुखधाम में आता है, आत्मा स्वयं अतीन्द्रिय सुखधाम में आता है तब उसे राग की - शुभ की उत्पत्ति होती नहीं है, इसलिये ऐसा कहा कि : 'अनाचार छोड़कर' - उपदेश की शैली, तो क्या आये ? - अनाचार - शुभ को भी छोड़कर।

'**सहजचिद्विलासलक्षण**' - 'सहज' अर्थात् स्वाभाविक, 'चिद्' अर्थात् ज्ञान माने आत्मा। सहजआत्मविलासलक्षण '**निरंजन निज परमात्मतत्त्व**' आहा...हा...हा...!

ऐसी स्पष्ट बात शास्त्र में पड़ी है और पढ़े नहीं और विचारे नहीं और (ऐसा कहे कि) 'इस व्यवहार से निश्चय हो जायेगा ऐसा न माने वह एकांत है।' (परंतु) प्रभु ! तू क्या कर रहा है यह ? तेरे स्वभाव की महिमा तुझे नहीं आ रही ! (तू) महा भगवान है और आनंद है ! इसके अतिरिक्त (जितना) व्यवहार है वह सब अनाचार है, स्वरूप का हनन करता है, घात करता है।

आहा...हा...! 'समाधिशतक' में कहा है : अरेरे...! जगत का नाश हो रहा है; आचार्य खेद कर रहे हैं - छद्मस्थ हैं (करुणा का) विकल्प है (तो कहते हैं :) अरेरे...! जगत का नाश हो रहा है। वह राग में नष्ट हो रहा है और फिर भी उसीमें उत्साहपूर्वक राचता है ! ज़हर पीकर - 'तृषा मिटा रहा हूँ' इस प्रकार हर्षित होता है ! आहा...हा...! ऐसा मार्ग है !!

'सहजज्ञानविलासलक्षण' यह तो ज्ञान का विलासलक्षण ऐसा 'निरंजन निज परमात्म(तत्त्व)' - और ! भगवान परमात्मा, ऐसा नहीं। 'निरंजन' जिसे कोई रागादिका मैल नहीं है ऐसा स्वरूप है। राग जो दया, दान, व्रत और भक्ति का भाव वह

भी अंजन-मैल है। इस मैल से रहित निरंजन निज तत्त्व। आहा...हा...! 'निज परमात्मतत्त्व' - अपना परमात्मतत्त्व। आहा...हा...! उसकी '**भावनास्वरूप आचार में**' - उसकी भावनास्वरूप अंतर रमणतास्वरूप आचार में - नीचे (फूटनोट में) कहा है : *'सहजचैतन्यविलासात्मक निर्मल निज परमात्मतत्त्व को भाना - अनुभव करना वही आचार का स्वरूप है।' - भगवान आनंदस्वरूप का अनुभव करना वही आचार का स्वरूप है।

आहा...हा...! ('भगवातकुंदकुंदाचार्य' ने यह शास्त्र) अपनी भावना के लिये बनाया है और जगत के सामने जाहिर कर रहे हैं कि : मार्ग 'यह' है, बापू ! (इस शास्त्र को) बने हुए दो हज़ार वर्ष हुए और अभी तो (आगे) रहेगा।

*'ऐसे आचार में जो परम तपोधन' - मुनि। तपरूपी धन है जिसके। अतीन्द्रिय आनंद में जमना वह तप। अतीन्द्रिय आनंद में स्थिर होना - जम जाना ऐसे जो तपोधन, जिनके पास तपरूपी धन है। वे तपोधन *'स्थिरता करते हैं' - ऐसे आचार में (जो) स्थिरता करता है वह तपोधन। (*वह स्वयं ही प्रतिक्रमण है।')

अनशन व उणोदरी को जो तप कहा वह तो व्यवहार कहा। व्यवहार (है सो) विकल्प है, उसे तो अनाचार कहा। बारह प्रकार के तप हैं न...? वह तो विकल्प है। वह तो निश्चय से अनाचार है। उसे छोड़कर, (जो) तपोधन (अर्थात्) जिसे अमृत के आनंद के अनुभव का स्वाद आता है ऐसा तपोधन; जिसके अतीन्द्रिय आनंद के स्वाद के सामने राग का स्वाद जिसे ज़हर समान, दुःखरूप लगता है; पंचमहाव्रत के परिणाम या भक्ति (के) भाव ये (जिसे) दुःखरूप लगते हैं; और भगवानआत्मा के आराधन में लीनता यह (जिसे) आनंदरूप लगती है; (ऐसा) जो तपोधन वह स्वयं ही प्रतिक्रमण है।)

आहा...हा...! ऐसी स्पष्ट बात शास्त्र में पड़ी है। शास्त्र में तो है न...! एक भाई ने तो पूछा था न...? कहा : यह (बात) तुम्हारे संप्रदाय में नहीं है, शास्त्र में है (यह) बात सच्ची, शास्त्र में है यह। (**श्रोता :-**) (शास्त्रः) सब मंदिर के भंडार में पड़े हैं। (**उत्तर :-**) उसका अर्थ करना आता नहीं। शास्त्र का प्रयोजन क्या है ? शास्त्र पढ़कर भी प्रयोजन क्या है ? - प्रयोजन तो 'अंतर में जाना' यह है। क्योंकि प्रत्येक शास्त्र का प्रयोजन वीतरागता है। 'पंचास्तिकाय' गाथा-१७२ में आया न : जैनदर्शन

---

* सहजचैतन्यविलासात्मक निर्मल निज परमात्मतत्त्व को भाना - अनुभव करना वही आचार का स्वरूप है; ऐसे आचार में जो परम तपोधन स्थिरता करता है वह स्वयं ही प्रतिक्रमण है।

के चारों अनुयोग के शास्त्र, उसका तात्पर्य वीतरागता (है)। तो यह 'वीतरागता' कैसे हो ? कि : स्व का आश्रय करे तो हो। उसका अर्थ ही यह आया कि 'स्व का आश्रय' वही शास्त्र का तात्पर्य है। आहा...हा...! क्या करें ?

(यहाँ कहते हैं :) *'जो परम तपोधन स्थिरता करता है वह स्वयं ही प्रतिक्रमण है।' (फूटनोट में) अपनी भावना के लिये (शास्त्र) बनाया परंतु ऐसा जो होवे वह स्वयं ही प्रतिक्रमण है ऐसा कहा। तपोधन मुनि, वस्तु का स्वभाव जो शुद्ध चैतन्य, आनंद, उसमें जो रमण करता है, निजधाम में जिसने रमण शुरू किया है वह तपोधन स्वयं प्रतिक्रमण है। वह (स्वयं) प्रतिक्रमणस्वरूप ही है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

(भावनास्वरूप) आचार में '**जो (परम तपोधन) सहज वैराग्यभावनारूप से**' - पर से - राग से सहज वैराग्य है अंदर। आहा...हा...!

'पुण्य-पाप के अधिकार' में आता है न...! कि): पुण्य-पाप के भाव से खिसक जाना वह वैराग्य है। पुण्य-पाप के भाव से हटकर खिसक जाना वह वैराग्य है। वैसे पत्नी - बच्चें छोड़े और परिवार छोड़ा और फलाँन (छोड़ा) उसका नाम वैराग्य नहीं है। उसे जो शुभभाव, जो राग आये उससे भी हट जाना उसका नाम वैराग्य है। कुछ समझमें आया ?

सुबह एक घंटा आया था सूक्ष्म और यह भी फिर से सूक्ष्म ! आहा...हा...! क्या करें, भाई ? अरेरे...! दुःखी दुनिया। उसे दुःख की खबर तक नहीं है। और कैसे शांति मिले... किसकी ओर जाने से धर्म मिले ? इसकी खबर तक न मिले.

भगवान(आत्मा) तो अकषाय सागर से भरा है। अकषाय - शांतिसागर का नाथ भगवान है। पूर्ण अकषाय, पूर्ण वीतराग, जिनस्वरूप विराजमान है। पूर्ण शांतरस का सागर प्रभु है। उसकी सेवना के अतिरिक्त सब कुछ अनाचार है। आहा...हा...! 'उसकी सेवना' माने भावना - एकाग्रता।

है ! सहजवैराग्यभावनारूप से '**परिणमित हुआ स्थिरभाव करता है**' - सहजरूप से राग से विराम पाकर स्वरूप में रमता है। आहा...हा...! सहजरूप से (राग से) विराम पाता है, हठपूर्वक नहीं - ऐसा कह रहे हैं। कुछ समझमें आया ? आहा...हा...! स्वाभाविक वैराग्यभावनारूप से (परिणमित होता है)।

वि.स. १९६७-६८ की बात होगी। भावनगर में एक बार ध्रुव का नाटक देखा था। अन्यमति में ध्रुव-प्रह्लाद आते हैं। उसकी माँ मर गई थी। उसके बापने नयी शादी की। वह फिर खुद साधु-बाबा हुआ। वन में ऐसे करके (आधार लेकर तपस्या

करने) बैठ गया। ऊपर (स्वर्ग) से दो इन्द्राणियाँ उतरकर आती हैं। उसे ललचा रही हैं कि, हे ध्रुव ! यह हमारे शरीर तो देखो : मक्खन जैसे शरीर सुंदर सुडौल, शरीर के यह सब अवयव ! इस तरह अंग अंग दिखाये और ऐसे दिखाये और वैसे दिखाये। इसके बाद ध्रुव इतना जवाब देता है : माता ! मुझे यदि (आगे) भव करना होगा तो वचनपूर्वक कह रहा हूँ कि तेरी कोख में आऊँगा ! बाकी सब बात हराम के बराबर है हाँ ! तेरी दूसरी बात मुझे ललचा नहीं पायेगी। वे लोग ऐसा वैराग्य करते थे। ऐसा नाटक में आता था। आहा...हा...! आजकाल तो फिल्मों ने हलाहल ज़हर फैला रखा है।

यहाँ हमें `इस' ध्रुव की बात करनी है हाँ ! (वहाँ) उस प्रकार की दृष्टि नहीं और तत्त्व की तो कुछ खबर नहीं होती है। (यहाँ) यह तो सहज वैराग्य है। आहा...हा...! अंतर के आनंद की हिलोरो में आने से राग से हट जाता है, सहजरूप से खिसक जाता है। अंदर अतीन्द्रिय आनंद के स्वाद में, धर्मी राग के विकल्प से सहज खिसक जाता है। आहा...हा...! ऐसे राग के अभावस्वभावरूप से परिणमित होता हुआ, (परिणमित) हो जानेसे (स्थिर होता है)।

बापू ! मार्ग निराला बहुत बापू ! वीतराग जिनेन्द्रदेव, त्रिलोकनाथ परमेश्वरी वाणी में `यह' मार्ग आया। अरे...! दुनिया को सुनने भी न मिले। वह कहाँ जाकर (अगले जन्म में) पैदा होगा ? यहाँ सुनने को मिल जाय तो उसे खयाल में ऐसा आये कि मार्ग कोई अलग है यह तो।

`सहज वैराग्य की भावनारूप से परिणमित होता हुआ' - वीतरागभावरूप परिणमित होता हुआ, राग से वैराग्य अर्थात् उदासीनरूप से परिणमित होता हुआ - `स्थिर भाव करता है।' अंतर में - आनंद में स्थिरता जम जाती है। आहा...हा...!

ये बच्चें रोटी खा रहे हो और फिर सक्कर की दो-चार छोटी डली दे फिर बच्चें खा ले और वह सक्कर गिली हुई हो और मक्खियाँ आये, उसे खाने बैठे फिर लड़का फिर से डली उठाये तब मक्खी के पंख भी दब जाय उस (डाली) में। फिर चिपकी हुई होनेसे जल्दी उड न सके। इस (सक्कर के) स्वाद के सामने पंख टूट जाय परंतु मक्खी वहाँ से खिसके नहीं। इस प्रकार जिसे आनंद का - सक्कर का स्वाद आया, वह राग के विकल्प से बिल्कुल हट गया है। उसे वह शरीर टूट जाय और भंग हो जाय तो भी दरकार नहीं है। उपसर्ग और परिषह अनेक आये किन्तु वे धर्मी को छूते नहीं हैं। आहा...हा...! बाहर में उपसर्ग व परिषह

के ढ़ेर आये फिर भी, खुद आनंद का रसिया वहाँ से (आनंद से) खिसकता नहीं है। जिस प्रकार वह मक्खी उडती नहीं है (उस प्रकार)। कुछ समझमें आया ? ऐसा मार्ग है, बापू ! अभी उसे पहिचान तक तो है नहीं, उसका ज्ञान भी नहीं है (तो) श्रद्धा तो कहाँ से लाये ? और स्थिरता तो कहाँ (रह गई दूर की बात)।

आहा...हा...! (सहजवैराग्यभावनारूप से) परिणमित होता हुआ स्थिरभाव करता है, '**वह परम तपोधन ही**' - दूसरा नहीं, ऐसे (कह रहे हैं)। अतीन्द्रिय आनंद के स्वाद में जम गया है ऐसा तपोधन ही - मुनि '**प्रतिक्रमणस्वरूप कहलाता है, कारण कि वह परम समरसीभावनारूप से परिणमित होता हुआ**' - अब, (पहले जिसे) 'स्थिरभाव' कहा वह क्या है ? (यह) कह रहे हैं : वह परम समरसीभावनारूप से परिणमित हुआ, परम वीतराग की एकाग्रतारूप परिणमित हुआ है। आहा...हा...! वीतरागीभावरूप से अंदर परिणमित हुआ है क्योंकि प्रभु स्वयं आत्मा वीतरागस्वरूप है; उसकी भावनारूप से वीतरागभावरूप से परिणमित हुआ है।

आहा...हा...! '**सहज प्रतिक्रमणमय है**' - लो ! वे सहज निश्चयप्रतिक्रमणमय हैं (अर्थात्) वे प्रतिक्रमणस्वरूप ही हैं। कुछ समझमें आया ?

भाव तो कठिन हैं, भाई ! अनंतकाल से कभी भी (इसका) अभ्यास नहीं। इस दुनिया के अभ्यास में मर गया। एल. एल. बी., एम. ए. डॉक्टर। - (ऐसे) बड़े पूच्छ (पूँछ) चिपका लिये। दुःख के मार्ग पर चला गया।

वह (परम तपोधन) ही स्वाभाविक निश्चयप्रतिक्रमणमय है। 'प्रतिक्रमणवाला है' ऐसा भी नहीं; प्रतिक्रमणमय ही है, ऐसा। आनंद के स्वाद में इतना तन्मय हो गया है कि प्रतिक्रमणस्वरूप ही है। पाप (और पुण्य) से हट गया है और स्वरूप में जम गया है। आहा...हा...! इसमें कोई शास्त्र की बहुत जानकारी की जरूरत है ? कि : ऐसा कुछ है नहीं। आहा...हा...! अंदर में जाकर जम जाना, बस ! यह सहज प्रतिक्रमणमय आत्मा है।

यहाँ (संप्रदाय में) तो प्रतिक्रमण शाम को करे तो बस ! हम प्रतिक्रमण कर आये। क्या प्रतिक्रमण ? किसे कहना (प्रतिक्रमण) ? मिथ्यात्व का सेवन करे - राग आये और ऐसा माने कि मैंने धर्म किया - मिथ्यात्व का सेवन करे और माने कि हमने प्रतिक्रमण किया। अरे...! क्या करें, बापू !

(अब इस ८५ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं :)

(मालिनी)

अथ निजपरमानन्दैकपीयूषसान्द्रं स्फुरितसहजबोधात्मानमात्मानमात्मा।
निजशममयवार्भिर्निभरानंदभक्त्या स्नपयतु बहुभिः किं लौकिकालापजालैः।
।।११३।।

(श्लोकार्थ :-) आत्मा निज परमानंदरूपी अद्वितीय अमृत से गाढ़ भरे हुए, *स्फुरित-सहज-ज्ञानस्वरूप आत्माको निर्भर (-भरपूर) आनंद-भक्तिपूर्वक निज शममय जल द्वारा स्नान कराओ; बहुत लौकिक आलापजालोंसे क्या प्रयोजन है (अर्थात् अन्य अनेक लौकिक कथनसमूहोंसे क्या कार्य सिद्ध हो सकता है ?।।११३।

* स्फुरित = प्रगट

आहा...हा...! '**आत्मा निजपरमानंदरूपी अद्वितीय अमृत से गाढ़ भरे हुए**' - कैसा है प्रभु ! यह आत्मा ? कि : निज परमानंदरूपी अद्वितीय-अजोड अमृत, उस अमृत के साथ किसीकी तुलना की जा सके ऐसी (कोई) चीज़ नहीं है। आहा...हा...! आत्मा निज परमानंदरूपी अजोड अमृत से गाढ़ भरा हुआ है, त्रिकाल....हाँ ! और वह '**स्फुरित**' है। '**सहज ज्ञानस्वरूप**' अंदर स्फुरित ही है, प्रगट ही है। - इस प्रकार यह बात पर्याय की नहीं है। आहा...हा...! अतीन्द्रिय आनंद से भरा हुआ, गाढ़ भरा हुआ - गाढ़ भरा हुआ, ऐसा। पोला नहीं। यह दूध में उफान - उबाल आये वह सब पोला आता है। दूध पाँच शेर हो उसमें उबाल आये तो वहाँ वह कोई बढ़कर दस शेर हो गया है ऐसा नहीं है। यह (आत्मा) तो अमृत से गाढ़ भरा हुआ भगवान; (वह) पोला नहीं है। आहा...हा...! भगवानआत्मा अतीन्द्रिय अमृत के सागर से गाढ़ भरा

(है)। वहाँ पोल नहीं है (कहीं भी)। जिस प्रकार रत्नों का करंड पूरा होता है उस तरह अमृत के सागर का करंड भगवान है। अमृत से गाढ़ भरा हुआ प्रगट सहज ज्ञानस्वरूप, प्रगट अर्थात् सहज स्वरूप ज्ञान अंदर शक्तिस्वभावरूप से प्रगट ही है। वह तो पर्याय की अपेक्षा से उसे अव्यक्त कहा परंतु अपनी अपेक्षा से वह तो व्यक्त - प्रगट ही है। आहा...हा...! भगवान अपने ज्ञानस्वरूप से प्रगट विराजमान है।

(स्फुरित (प्रगट) सहज) ज्ञानस्वरूप '**आत्मा को निर्भर (- भरपूर)**' - अब, क्या कह रहे हैं ? ऐसा जो भगवान अतीन्द्रिय अमृत के सागर से गाढ़ भरे हुए प्रभु (को) '**आनंद-भक्तिपूर्वक**' - भाषा तो देखो ! उसकी भक्ति कैसी ? कि : आनंदमय भक्ति। आहा...हा...! भरपूर - निर्भर आनंद-भक्तिपूर्वक। - फिर देखा ! स्वयं तो (अमृत से गाढ़) भरा हुआ है। परंतु उसकी भक्ति भी भरपूर आनंद(पूर्वक), भक्तिपूर्वक भरी हुई है। परम आनंदरूप से होना, यह निश्चयभक्ति है। व्यवहारभक्ति - देव,गुरु,शास्त्र की - यह तो विकल्प है, यह दुःख है। और यह भगवान अमृत से भरा उसकी परम आनंद - भक्ति - आनंद की भक्ति, ऐसा कहा (अर्थात्) परम आनंद दशा प्रगट हुई। आनंद - भक्तिपूर्वक '**निज शममय जल द्वारा**' - अपने वीतरागस्वभाव द्वारा, समता के जल द्वारा '**स्नान कराओ**' - आहा...हा...! लो, यह करने को कहा !

श्लोक कैसे बनाये हैं... देखो न...! आहा...हा...! (**श्रोता :-**) पवित्र तत्त्व है फिर स्नान कैसा ? (**उत्तर :-**) 'स्नान कराओ' माने (पवित्रता) प्रगट करो अर्थात् पर्याय में मलिनता का नाश हो जाय, ऐसा। पर्याय में आनंद-भक्ति से स्नान कराओ। वस्तु तो वस्तु है।

आहा...हा...! ऐसी बातें !! अब यह बाहर में मानकर बैठ जाना कि यह व्रत किया और अमुक (फलाँ) किया और वर्षीतप किया न ! मिट्टी के बराबर भी नहीं है। सब ज़हर के प्याले हैं।

यहाँ तो अमृतमय भक्ति। भरपूर आनंद-भक्तिपूर्वक आत्मा को निर्भर - भरपूर निज शमरस जल द्वारा (स्नान कराओ)। वह 'आनंद-भक्ति कैसी हैं ? वीतरागभाव जल द्वारा उसकी पर्याय में स्नान कराओ। अर्थात् तब अशुद्धता चल जाती है और शुद्धता है वह प्रगट होती है, ऐसा।

- क्या कहा यह ? मुनि कह रहे हैं : '**बहुत लौकिक आलापजलों से क्या प्रयजोन है ?**' भाई ! वह व्यवहार की - विकल्प की सब लौकिकजालें (हैं)। व्रत और तप और भगवान की भक्ति (ये) सब लौकिक जाल है। आहा...हा...! बहुत कहना-

बोलना, (यह) लौकिक आलापजाल (है)। ('समयसार' कलश-२४४ में) आया था न...! 'अलमलम' वह भाषा यहाँ स्वयं (टीकाकार मुनिराज ने) प्रयोग की है : बहुत कहकर क्या कहना, भाई ! इन आलापजालों से क्या प्रयोजन है ? बहुत कहने के कथन से क्या प्रयोजन है ? '**अर्थात् अन्य अनेक लौकिक कथनसमूहों से क्या कार्य सिद्ध हो सकता है ?**' आहा...हा...! व्यवहारक्रियाकांड और व्रतादि से आत्मा का कार्य क्या सिद्ध हो सके ऐसा है ? वह सब तो लौकिक है। आहा...हा...! यह लोकोत्तर कार्य है - भरपूर आनंद - भक्ति (द्वारा) आत्मा को शुद्ध करो - पर्याय में हाँ ! आहा...हा...! यह लोकोत्तर स्नान है। भरपूर आनंदस्वरूप है प्रभु; उसे पर्याय में भरपूर आनंद - भक्ति से शुद्ध करो। यहाँ ऐसी बातें !! यह भक्ति- आनंदस्वरूप भगवान में एकाग्र होकर आनंद की भक्ति करो इसका नाम भक्ति।

(भक्ति में) ढ़ोल बजाये... अरे... बापू ! वह क्या है, भाई ! वह क्रिया तो आत्मा करता नहीं है। परंतु अंदर राग हुआ वह आत्मा का कर्तव्य नहीं है। (लोग) ऐसा कहे : धीरे-धीरे चला जाय न...! कि एकदम कोई चला जाता होगा ? यहाँ तो कहते हैं कि : एकदम नहीं (या) धीरे... यही मार्ग है !

अंदर अतीन्द्रिय आनंद की भरपूर भक्ति कर ! वह भगवान की भक्ति है। (अन्य चीज़ों से) क्या काम सिद्ध हो सके ऐसा है ? बाकी व्यवहार के कथन चाहे जितने करो और राग की जाल चाले जितना खडा करो इससे आत्मा का क्या कार्य सिद्ध होनेवाला है ? आहा...हा...! भरपूर अतीन्द्रिय आनंद-भक्ति से आत्मा की भक्ति करे तो आत्मा का कार्य - आनंद का कार्य सिद्ध हो। आहा...हा...! ऐसी बातें !!

यह शास्त्र क्या यहाँ सोनगढ़ का बनाया हुआ है ? यह तो पहले का है। अंदर बहुत कुछ पड़ा है। आहा...हा...! 'अन्य अनेक लौकिक कथनसमूहों से क्या कार्य सिद्ध हो सकता है ?' दूसरा श्लोक :-

(स्त्रग्धरा)

मुक्त्वानाचारमुच्चैर्जनमृतकरंसर्वदोषप्रसंगं
स्थित्वात्मन्यात्मनात्मा निरुपमसहजानंददृग्ज्ञप्तिशक्तौ।
बाह्याचारप्रमुक्तःशमजलनिधिवार्बिन्दुसंदोहपूतः
सोऽयं पुण्यः पुराणः क्षपितमलकलिर्भाति लोकोद्धसाक्षी।।११४।।

(श्लोकार्थ :-) जो आत्मा जन्म-मरण के करनेवाले, सर्व दोषोंके *प्रसंगवाले अनाचारको अत्यंत छोड़कर, निरुपम सहज आनंद-दर्शन-ज्ञान-वीर्यवाले आत्मामें आत्मासे स्थित होकर, बाह्य आचारसे मुक्त होता हुआ, शमरूपी समुद्रके जलबिन्दुओंके समूहसे पवित्र होता है, ऐसा वह पवित्र पुराण (-सनातन) आत्मा मलरूपी क्लेशका क्षय करके लोकका उत्कृष्ट साक्षी होता है।।११४।।

* प्रसंग = संग; सहवास; संबंध; युक्तता।)

`जो आत्मा जन्म-मरण के करनेवाले, सर्व दोषों के प्रसंगवाले अनाचार को अत्यंत छोड़कर' - जो आत्मा जन्म-मरण को करनेवाले, यह शुभभाव भी जन्म-मरण के करनेवाला है, यह सभी - सारे दोष हैं। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं !! व्यवहाररत्नत्रय का भाव यह दोष है !

व्यवहाररत्नत्रय वह कारण और निश्चय वह कार्य। (इस प्रकार) शास्त्र में `तत्त्वार्थराजवार्तिक' में भी कार्य के दो कारण लिखे हैं। परंतु वह तो निमित्त का ज्ञान कराया है, बापू ! क्या करें ? `तत्त्वार्थराजवार्तिक' में `कार्य के दो कारण - उपादान व निमित्त, कहा, वह तो निमित्त का ज्ञान कराया है, दूसरी चीज़ साथ में थी, बस ! इतना इसलिये (निमित्त से) कार्य हुआ है ? (ऐसा नहीं), कार्य तो उपादान से ही हुआ है। उसे - शुद्ध को उत्पन्न करनेका निजक्षण है, वह निमित्त के कारण नहीं है। स्वभाव के आश्रय से (जो) वीतरागपरिणति प्रगट हुई है वह निजक्षण

है, उसके उत्पन्न होनेका वह काल है। निमित्त को लेकर (वह वीतरागपरिणति) उत्पन्न हुई है ऐसा नहीं। परंतु सिर्फ निमित्त साथ में है उसका ज्ञान कराने हेतु `दो कारण का कार्य' कहा गया है। ऐसे अर्थ न समझ पाये तो क्या होवे ? और बनियों को यह (समझने की) दरकार भी नहीं है, ऐसे के ऐसे पड़े सो पड़े रहे (अपने) संप्रदाय में, (व्यर्थ में) जिंदगी पूरी हुई और चले जायेंगे।

कहा नहीं था ? लाठी में अठारह वर्ष की एक स्त्री, दो साल शादी के हुए, हमने एक बार देखी थी, उसे शीतला का रोग हुआ, दाने-दाने पर पिल्लू। वह स्त्री यों करवट बदले तो वहाँ हज़ारों पिल्लू यों खिर पड़े और इधर करवट ले तो (भी ऐसा होवे)। स्त्री बेचारी कहे : माँ ! मैंने इस भव में ऐसे पाप किये नहीं हैं। यह मुझ से सहन नहीं हो रहा, करवट ले तो आग जलती है, यों फिरे तो आग जलती है और अंदर पिल्लू डंख मारती है, काटती है ! वह तो शरीर की अवस्था थी। उसने (पूर्व में) राग किया था... तो (अब) राग को भोगना पड़ रहा है। छोटी उम्र की थी, बेचारी हाँ ! उसीमें ही मर गई। नीचे गद्दी बिछायी थी। गद्दा तो क्या करें ? यहाँ (शरीर में) जहाँ छेद हो गये और पिल्लू पड़ गई वहाँ नीचे गद्दा (मुलायम बिस्तर) क्या करें, बापू !? आहा...हा....! ऐसे दुःखों को भी अनंतबार सहन किये हैं, प्रभु !

शुभ की क्रिया यह भी अनंतबार की है। परंतु आत्मा शुभाशुभभाव से भिन्न है उसके अंदर में गया नहीं, उस दरबार में घुसा नहीं; भिखारीपने में वह भटकता रहा है। आहा...हा...! भगवान भिक्षा मांग रहा है ! राग की भिक्षा मांग रहा है। कुछ राग दे दो... राग करूँ तो लाभ होवे... अरे...! भिखारी।!

यहाँ कहते हैं - `जो आत्मा जन्म-मरण के करनेवाले, सर्व दोषों के प्रसंगवाले' - उसमें शुभभाव भी सर्व दोषों का प्रसंग है।

आहा...हा...! ऐसी बात कठिन लगे। फिर (लोग) सोनगढ़ के लिये ऐसा कहे... सोनगढ़ में ऐसा है और वैसा है। बापू ! कहो, भाई ! मार्ग तो यह है, भाई ! और वह तेरे हित का पंथ है यही। बाकी अनंतकाल दुःखी होकर मर गया है।

यहाँ कितने शब्दों का प्रयोग किया : जन्म-मरण के करनेवाले, सर्व दोष - देखा ! वह पुण्य व पाप सब दोष, और प्रसंगवाले - उसका (पुण्य-पाप का) संग किया, सहवास किया, संबंध किया, जुडान किया, उससे भटककर मर गया है।

विशेष कहेंगे।.....

***

प्रवचन- २६, दि. २४-२-१९७८

'नियमसार' गाथा-८५ का श्लोक-११४। '**जो आत्मा जन्म-मरण के करनेवाले**' - जन्म और मरण, चौरासी के अवतार करनेवाले '**सर्व दोषों**' - ये सब शुभ और अशुभभाव जन्म-मरण के करनेवाले सर्व दोष हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोगवासना, यह तो पाप है, जन्म-मरण को उत्पन्न करनेवाले (हैं ही। परंतु (जो) दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के शुभ भाव हैं वे भी जन्म-मरण के करनेवाले दोष हैं. इन '**सर्व दोषों के**' - शुभ और अशुभ के असंख्य प्रकार (उसके) '**प्रसंगवाले**' - दोषों का संग, संबंध, सहवास, अर्थात् शुभ राग का सहवास, संग और शुभराग में जुडान, ये सब जन्म-मरण को करनेवाले हैं ऐसे '**अनाचार को**' - ये सब अनाचार हैं। आहा...हा...! जो पाँच महाव्रत और व्यवहार समिति, गुप्ति को लोग धर्म कह रहे हैं (उसे) यहाँ कहते हैं कि : वह राग है, अनाचार है।

एक तो समस्त दोष और उसका संग-सहवास-परिचय बारंबार अनंतकाल से किया है। ऐसे संगवाले (-प्रसंगवाले) अनाचार को '**अत्यंत छोड़कर**' - यहाँ तो निश्चयप्रतिक्रमण है न...! पहले समस्त राग से आत्मा को भिन्न करके आत्मा के आनंद की भावना करना यह तो प्रथम भेदज्ञान की दशा है। (परंतु यहाँ इससे विशेष बात है)।

(आत्म)स्वरूप शुद्ध चैतन्यघन (है)। आत्मा '**निरुपम सहज आनंद-दर्शन-ज्ञान-वीर्यवाला**' (है) आहा...हा...! कैसा है आत्मा अंदर ? कि : सहज आनंद, सहज दर्शन, स्वाभाविक ज्ञान, स्वाभाविक वीर्य(वाला है)। अनंत चतुष्टय लिया। आहा...हा...! अंतर आत्मा के स्वभाव में बेहद - अनंत आनंद, अनंत ज्ञान, अनंत वीर्य, अनंत दर्शन है। जिसका ध्रुवस्वरूप, उसमें अनंत आनंद आदि भरा हुआ है। - ऐसे अनंत आनंद, अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत वीर्य - इससे युक्त - ये चार गुण इत्यादि वाले '**आत्मामें**' - आत्मा इसे कहते हैं। (ऐसा) कह रहे हैं कि :) जिसमें अतीन्द्रिय अनाकुल आनंद अनंत

भरा है।

स्वभाव है न...! स्वभाव की मर्यादा क्या होवे ? आहा...हा...! स्वभाव तो अमाप है। जिसका माप अपरिमित है। आहा...हा...! ऐसा जो आनंद, ज्ञान, दर्शन और वीर्य स्वभाववाला आत्मा; ऐसे आत्मा में `**आत्मा से स्थित होकर**' अर्थात् निर्विकारी स्वरूप में निर्विकारी परिणति से स्थित होकर ऐसा। ऐसी बात है ! धर्म `यह' है !

अनंत ज्ञान - आनंदस्वरूप प्रभु; उसमें वर्तमान में निर्विकल्प श्रद्धा, ज्ञान और वीतरागपरिणति द्वारा इस आत्मा द्वारा - आत्मा में (अर्थात्) `आत्मा में आत्मा से' - `से-द्वारा' है न...! अपादान है न...! `से (माने आत्मा से)' `स्थित होकर' - आहा...हा...! ऐसी बात !!

अनंत आनंदवाला आत्मा। (उसमें) आत्मा में स्थिर होकर अर्थात् जितने पुण्य-पाप के विकल्प हैं वे तो अनाचार हैं, उन्हें छोड़कर, स्वरूप में जो स्थिर होता है वह वीतरागदशा, वह आत्मा है। ऐसा कहना चाहते हैं।

यहाँ आत्मा में आत्मा से - शुद्ध चैतन्य में शुद्ध चैतन्य की परिणति द्वारा स्थित होकर। (**श्रोता :-**) परिणति को आत्मा कहा ? (**उत्तर :-**) उस परिणति को अभी (आत्मा) कहा न...! शुद्ध परिणति है न उसकी ? उसके द्वारा आत्मा में आत्मा से, अर्थात् वीतरागीपरिणति से। आत्मा अतीन्द्रिय वीतरागस्वरूप है। आनंद और शांति सघनरूप से भरे हुए हैं। उसे वर्तमान में शांति और निर्मल वीतरागपर्याय द्वारा (अर्थात् इस आत्मा से) आत्मा में स्थित होकर। आहा...हा...! यह इसका नाम धर्म। और इसका नाम सच्चा प्रतिक्रमण। इसका नाम सत्य सामायिक।

अनादि से जिसका खेल एक समय की दशा-पर्याय में है, जो विचार आदि की वर्तमान पर्याय - दशा व्यक्त प्रगट है उसमें ही जिसका अनादि से खेल है इसके कारण उसने अंदर में झांका नहीं है (इसलिये) उसे ऐसा आत्मा जचना (कठिन है)।

अतीन्द्रिय अनंत आनंदस्वरूप भगवान; उसमें एकाग्र होकर `**बाह्य आचार से मुक्त होता हुआ**' - ये व्यवहार के जितने दया, दान, व्रतादि के व्यवहार; ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार ऐसे व्यवहार के आचार से, - बाह्य कहो या व्यवहार कहो - `बाह्य आचार से मुक्त होता हुआ' (अर्थात् :) यहाँ तो बाह्य आचार जो सब विकल्प हैं, वे सब बंध के कारण हैं, इसलिये जिसे अबंधपरिणाम प्रगट करने हैं वह अबंधस्वभावी भगवान का आश्रय लेकर अबंधपरिणाम से अंदर स्थिर होता है,

वह बाह्य आचार से मुक्त हो जाता है, छूट जाता है। इस तरह समझमें आये ऐसा है। 'मुक्त होता हुआ' माने अतीन्द्रिय आनंद में गहराई में जाकर जम जाता है इसलिये बाह्य के लक्षवाले जो विकल्प उनसे छूट जाता है। ऐसा बात !! कुछ समझमें आया ? 'बाह्य आचार' माने 'व्यवहार आचार' से मुक्त होता हुआ, निश्चयस्वरूप के आचार में स्थिर होता हुआ और व्यवहार के आचार से मुक्त होता हुआ।

यह देह की क्रिया नहीं; यह तो समय पर पढ़ना - विनयपूर्वक पढ़ना आदि ज्ञानाचार; निःशंक आदि समकित के आचार; पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति ये तेरह विकल्प चारित्र के आचार; बारह प्रकार के तप के विकल्प (ये) तप के आचार; वीर्य को अशुभ में जा रहा था उसे शुभ में (योजित करने का विकल्प वह वीर्याचार); और दया, दान, व्रतादि (के समस्त विकल्प) - ये भी अनाचार है। इन अनाचार से मुक्त होकर, स्वरूप में लीन होकर, '**समरूपी समुद्र के जलबिन्दुओं के समूह से पवित्र होता है।**'

आहा...हा...! यह पंचम काल के संत की वाणी है ! ऐसा कि यह तो चौथे काल के लिये है, ऐसा (कोई कहे तो वह सत्य नहीं है)। मार्ग तो 'एक होवे तीनकाल में परमारथ का पंथ' आहा...हा...! क्या करें ? (संप्रदाय में) पूरी बात (ही) फर्क हो गई है न...!

कहते हैं कि : भरे भंडार घर में पड़े हैं। अनंत आनंद, अनंत दर्शन, अनंत शांति, अनंत स्वच्छता - ऐसे में स्थिर होकर, (अर्थात्) ऐसा जो आत्मा उसमें स्थिर होकर, बाह्य आचार से मुक्त होता हुआ और अंतर आचार से सहित होता हुआ।

आहा...हा...! ऐसी बातें हैं !! कठिन लगे लोगों को। (इसका) अभ्यास नहीं और बाहर का अभ्यास। दूसरी और (विपरीत) प्ररूपणा। पूरी दूसरी श्रद्धा।

यहाँ तो कह रहे हैं : जो बाह्याचार है वह आत्मा से विरुद्ध - विपरीत है। ये पंचमहाव्रत के परिणाम ये सब विपरीत हैं, वे आत्मा के आचार से विपरीत हैं। (**श्रोता :-**) निश्चय से ? (**उत्तर :-**) निश्चय से माने वस्तुस्थिति से ही विपरीत है। वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। व्यवहार के राग का भाव, वह वस्तु का स्वरूप ही नहीं है; वह उसके (वस्तु के) स्वरूप की परिणति में भी नहीं है। स्वरूप नहीं है इसलिये स्वरूप की परिणति भी ऐसी है कि जिसमें व्यवहार आचार है नहीं। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? (**श्रोता :-**) व्यवहारवाले आपत्ति ही उठाये !? (**उत्तर :-**) (भले) उठाये। और क्या है अब उसमें। यह तो (सनातन) मार्ग है। यह कोई अभी का

है ? यह तो पहलेसे-हज़ारों वर्ष से चला आ रहा है। यह (बात) शास्त्र में है कि नहीं ? (यह) कोई घर की कल्पना है ?

आहा...हा...! आत्मा के बराबर सर्वोत्कृष्ट कोई चीज़ ही नहीं है। ऐसा जो भगवानआत्मा; उसे ज्ञान में बराबर जानकर निर्णय करके और अंतर में जम जाना; और व्यवहार आचार से छूट जाना, मुक्त होना; (यही एकमात्र सुख का पंथ है)।

जिज्ञासा :- तो मंदिर किसलिये बनाये ?

समाधान :- किसने बनाये हैं ? रामजीभाई ने ध्यान रखकर बनवाये होंगे ऐसा होगा ? ऐसा निमित्त से कहा जाता है। बाकी तो जो कुछ उस परमाणु की पर्याय भगवान की (प्रतिमा की) और मंदिर की जिस क्षण उसका जन्मक्षण था, उस उत्पत्ति के काल में, उसके कारण से उसकी उत्पत्ति हुई है।

अंग्रेजी में एक पत्र आया है। लिखा है कि आपकी ओर से पोन्नूरहिल में 'कुंदकुंदाचार्य' के तीर्थ की प्रसिद्धि हुई। आपने यह बहुत अच्छा किया है। तीर्थ को प्रसिद्धि में लाये हो। तो निकट में एक तीर्थ है वहाँ प्रतिमा है, चमत्कारिक है, रोग मिटा देती है और फलाँ है, इस तीर्थ की प्रसिद्धि करो। यहाँ कह रहे हैं कि यह बाहर की प्रसिद्धि कौन करे ? बापू ! वह तो जिस समय होनेवाला हो और ऐसे संयोगवाले हो और विकल्प आया हो तो उसे विकल्प को निमित्त कहा जाता है। वह शास्त्ररचना, प्रतिमा को बिराजमान करना, वह बाहर की चीज़, वह कोई आत्मा की क्रिया है ? वह शुभभाव की क्रिया (आत्मा में) होवे इसलिये वह बाह्य की क्रिया (कार्य) हो, ऐसा है ? अंदर शुभभाव भगवान की भक्ति आदि का आया हो इसके कारण वह (बाह्य में) क्रिया होती है ? प्रभु ! यह तो मार्ग कठिन है, बापू ! बहुत फर्क... बहुत फर्क, भाई !

अरेरे...! मृत्यु के समय पास में कोई नहीं रहेगा, जो स्वयं है वह आत्मा रहेगा। उसे चारों ओरसे (प्रतिकूलता आयेगी)। अभी उसे एक थोड़ा छोड़ना कठिन पड़ता है ! (परंतु) देह छूटने के समय वह सब कुछ छोड़ेगा। शरीर के अवयव काम नहीं करेंगे, श्वास नहीं चलेगा, सारे परिवार के लोग इकट्ठे हुए होंगे, देखते रहेंगे ऐसे कि क्या करें ? दे देते हैं कुछ ? दे देंगे कुछ ? आहा...हा...! जहाँ भंडार भरे हैं उनके सन्मुख नज़र नहीं करता और जिसमें स्वयं है नहीं उनके सामने देखकर 'मेरा कुछ ठीक हो जाय, कल्याण हो अथवा इस मरण के दुःख (भोगने न पडे' ऐसी आकांक्षा रखे। परंतु) एक क्षण में सब कुछ यों खटाक से छूट जायेगा -

वह मकान और दुकान और पैसा और ये पलंग और घरगृहस्थी का सामान - फर्निचर और...! आहा...हा...!

मुंबई में एक भाई के घर शाम को आहार करने गये थे। मकान में पाँच लाख रूपये का तो केवल फर्निचर था। एक-एक कमरे में मखमल बिछा हुआ। वहाँ मुझे तो ऐसा लगा कि : अरेरे...! यहाँ से (इसे) छूटना कठिन पड़ेगा। आहा...हा...! बाहर की वृत्ति में एकाकार हो गया था। भगवान स्वयं कहाँ है अंदर से भिन्न ? इसका पता तक न मिले। अरे... प्रभु ! कहाँ रजकण और कहाँ (यह भगवान) ! अरे...! (जिसे) राग के साथ भी जहाँ संबंध नहीं है तो फिर यह मकान और दुकान और व्यापार और फर्निचर और मखमल ये (सब) तेरे कहाँसे हो गये ?)

यहाँ कहा न...! शुभराग के प्रसंगवाला यह आत्मा है ? (ऐसा नहीं है)। शुभराग के प्रसंग ये तो सब दोष हैं। (अनाचार हैं)। आहा...हा...!

अकस्मात... एकदम अंदर फू... जैसे कि अंदर तो यह क्या हो गया ? आजकल तो देखो न...! लोगों को छोटी-छोटी उम्र में हार्ट फेइल हो गये। परंतु वह चीज़ (शरीर) की स्थिति है। वे तेरे में कहाँ हैं ? वे तो (परमाणु) उनकी स्थिति के (उनके द्वारा) किये हुए हैं। उन (परमाणु) को `मेरा' कहकर एकत्वबुद्धि से (अपना) माना, उन्हें छोड़ते समय, प्रभु ! बहुत दुःख होगा. (परंतु) उन्हें छोड़ते समय स्वयं राग से छूटकर (स्वभाव को) भिन्न देखा हो, राग से छूटकर जिसने ज्ञायकभाव अलग किया हो, उसकी मरते समय, वही ही दृष्टि पडेगी कि - `मैं तो यह हूँ, `मैं तो अनंत ज्ञान-आनंद से भरा भगवान हूँ, ज्ञायक हूँ।' `मैं राग में भी नहीं हूँ `मैं पूर्ण स्वरूप, एक समय की पर्याय में नहीं हूँ।' (तो दुःख न हो)।

(मृत्यु का) वह पल इस भव में आयेगा न... कि उस (अगले) भव में आयेगा ? इसी भव में वह पल आयेगा, बापू ! वे रिश्तेदार (तुझे) टुकुर-टुकुर देखते रहेंगे और रोयेंगे। लड़का हो तो ऐसा कहे : अरर...र...! भाई को अभी चैन नहीं है। राजकोट में वहाँ पर गये थे न...? एक भाईने नयी शादी की थी और अंतिम अवस्था आ गई, इसमें समस्त भरा-पूरा परिवार इकट्ठा हो गया, कमरा भरा गया था। महाराज को बुलाओ, दर्शन करने हैं। दोनों ही आँखों से आँसू की धार बह रही थी... यों हाथ काँप रहे... पीडा... पीडा... पीडा.... पीडा। आहा...हा...! एक दिन ऐसा आयेगा जैसे कि जन्म ही नहीं हुआ था। सगी पत्नी, तेरी वह कामिनी खडी हुई टुकुर-टुकुर देखेगी, इस काया में अब कुछ नहीं है ऐसे खडी खडी रोयेगी। हाय... हाय...

(करेगी)। वह उसके लिये नहीं रो रही। वह मरकर (ढोर में जायेगा कि नहीं उसका उसे कोई (दुःख) नहीं है। (परंतु) हमारी सुविधा जा रही है (इसके लिये रोती है)।

आहा...हा...! ऐसा भगवानआत्मा अंदर राग के संग और सहवास बिना का, उसे पर का संग व सहवास क्या लोभ करेगा ?

मुनियों के लिये नहीं कहा ? - (कि) लौकिकसंग छोड़ देना ! आता है न... 'प्रवनचसार' में : तू लोगों के साथ ज्यादा बातें मत करना। (नहीं तो) वहाँ भ्रमणा में पड़ जायेगा। तुझे वहाँ राग में रोकेंगे - इसका ऐसा कैसे और इसका वैसा कैसे और ऐसा कैसे ? अब भाई ! 'इसका कैसे' मरने दे ना... देह छूट जायेगा।

राजकोट के एक भाई म्युनिसिपालटी में अधिकारी। बरात में गये थे। मैसूबपाक इत्यादि बहुत खाया होगा तो एकदम डबलन्युमोनिया, अंतिम स्थिति। वहाँ एक पुलिसवाला आया, जिनको रावसाहब का खिताब मिला वह... वे यहाँ मर रहे हैं। मैं खड़ा था वहाँ। इधर औरत सिरके पास बैठी हुई कोनेमें जाकर पूछती रही कि हमें क्या करना इस बेटी का और फलाँ और...? (भाई की) आँखोंमें से अश्रुधारा (बहे)। आहा...हा...! कहा : अरे...! तुम अभी रहने दो न, भाई ! तुम क्या कर रहे हो यह ? देह छूटने का काल आया है न...! तुम यह पूछ रहे (हो) अपने स्वार्थ के लिये। लेकिन यह पीछे का होनेवाला होगा वह होगा। पर भली औरत छोड़े नहीं। आखिर तक वह औरत पूछती रही : लड़की का - लड़कों का - इसका कैसे करना ? मुझे क्या करना ? आहा...हा...! वह मर गया।

आता है न...? यह पूरी लूटेरों की - धूर्तों की टोली है ! (भाई) अनुकूल हो तब तक हमारा... हमारा करे। प्रतिकूल हो - बहुत लम्बा खिच जाय... छह छह महिनों से रात की जगारें... देह छूट नहीं रहा। (वे) बहुत दुःखी हो रहे हैं... परंतु बात यह कि हमें जगारें करनी पड़ती हैं इस बात को वे नहीं छोड़ेगे।

एक भाई यहाँ आकर ऐसा कहे कि महाराज ! (दादा) बहुत दुःखी हो रहे हैं... बहुत दुःखी। (मैंने कहा) तुम्हें जगारें करनी पड़े इसलिये तुम दुःखी न...? कोई पूछे कि कब मर गये... किस तरह मर गये ? तुम सो रहे थे ? इतना भी ध्यान नहीं रखा ? इसलिये एक के बाद एक सबको जगारें करनी पड़े इसके खातिर न...? परंतु बोले ऐसा कि : वे दुःखी हैं... (देह) छूट नहीं रहा, अर...र...र...! पंद्रह दिन अब खिंचे वह बात उसे पसंद नहीं आती; क्योंकि जगारें करनी पड़ेगी। आहा...हा...!

अरे... प्रभु ! तू कौन है, भाई ! कहाँ तू आ पड़ा है ? 'बहिन'ने ('बहिनश्री

के वचनामृत' / ४०१ में) लिखा न...! `यह विभावभाव हमारा देश नहीं है। इस परदेश में हम कहाँ आ पडे ?' भगवानआनंदस्वरूप व ज्ञानस्वरूप अपना निज वतन; उसे छोड़कर शुभराग में आये तो यह परदेश में आया, वह उसका देश नहीं है। वह (विभावभाव) उसका वतन नहीं। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं ! इस राग और पुण्य के विकल्प में आनेसे, वह दुःख के देश में आया। आनंद का देश भगवानआत्मा का, उसे तो छोड़ दिया ! आहा...हा...! तो फिर यह बाहर पत्नी, बच्चें और परिवार और मकान के लिये हैरान हैरान (यह तो अति अति दुःख के देश में आनेके बराबर है)। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

यहाँ कहते हैं : `शमरूपी समुद्र के जलबिंदुओं के' अर्थात् आत्मा आनंद और ज्ञानस्वरूपी आत्मा में जमता है तब उसे समतारूपी वीतरागी जल प्रगट होता है। शुभ-अशुभभाव वह तो राग का (भाव -) विषमभाव (है)। शुभ-अशुभभाव है वह असमता - विषमभाव है; उससे छूटकर अंदर में एकाग्र होता है तब शमरूपी - समतारूपी समुद्र के जलबिन्दु निकले। आहा...हा...! वीतरागरूपी समुद्रमें से वीतरागरूपी समुद्र के जलबिन्दु निकले। आहा...हा...! वीतरागरूपी समुद्रमें से वीतरागरूपी समुद्र के जलबिन्दुओं के `समूह से पवित्र होता है।'

आहा...हा...! वीतरागस्वरूपी भगवानआत्मा तो शांति... शांति... शांति... शांति, एकदम अकषायस्वभाव का पिंड प्रभु (है); उसमें एकाग्र होनेसे शांति के समुद्र के जल बाहर प्रगट होते हैं, समुद्रमें से शांति का जल बाहर आता है, उससे पवित्र होता है। इसलिये तो ऐसा कहा कि : उन (पंचमहाव्रतादि के) शुभराग से पवित्र नहीं होता। (परंतु) शुभराग को छोड़ता है तब पवित्र परिणाम से पवित्र होता है। आहा...हा...! ऐसी बातें !!

प्रभु शमरस का तो समुद्र है। पुण्य-पाप का भाव तो सिर्फ विषमभाव है, दुःखभाव है। भगवान तो समतारूप - आनंदरूप भाव है; उसमें एकाग्र होनेसे उसे समतारूपी जल के बिन्दु प्रगट होते हैं; उससे विषमभाव का नाश होकर, पवित्र होता है। उसका अर्थ कि : शुभभाव है वह अपवित्र है। आहा...हा...! प्रत्येक पद में आत्मा की पवित्रता और राग के दोष का वर्णन किया है !

ज्ञानी को राग हो परंतु उसे ऐसा होता (लगता है) कि : अरेरे...! यह कहाँ मेरे निजघरमें से निकलकर बाहर आया; यह बोझा ? यह बोझा-दुःख सहन नहीं होता। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? बात-बात में फर्क पड़ गया है।

`शमरूपी समुद्र के जल के बिंदुओं के समूह से पवित्र होता है' - पर्याय हाँ ! आहा...हा...! समतारूपी समुद्र, उसके जलबिंदु - पर्याय में वीतरागता के बिन्दु आये - उससे वह आत्मा (- पर्याय) पवित्र होता है। आहा...हा...हा...!

`**ऐसा वह पवित्र पुराण**' - ऐसा जो पवित्र सनातन भगवान, आहा...हा...! `पवित्रपुराण' (**-सनातन**)' है न...! (-सनातन) `**आत्मा मलरूपी क्लेश का क्षय करके**' आहा...हा...! शुभाशुभपरिणामरूपी मैल, उसका नाश - क्षय करके `**लोक का उत्कृष्ट साक्षी होता है।**' `उत्कृष्ट साक्षी' - ज्ञान-समकित में तो साक्षी है ही परंतु यह तो सिद्ध होने पर उत्कृष्ट साक्षी होता है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? ऐसी बातें हैं !!

`पवित्रपुराण (-सनातन) आत्मा मलरूपी क्लेश का क्षय करके लोक का उत्कृष्ट साक्षी होता है।' - केवलज्ञानी (होता है)। साक्षी तो समकिती भी है ही। आहा...हा...! यह (केवलज्ञानी) तो उत्कृष्ट साक्षी होता है। कुछ समझमें आया ?

पुण्य व पाप के शुभाशुभ भाव दोनों ही दोष हैं, ज़हर हैं, विषम हैं, दुःख हैं। आहा...हा...! पैसा और स्त्री-परिवार ये दुःख नहीं हैं, वे तो दुःख के निमित्त हैं। दुःख तो अंदर जो विषमभाव उत्पन्न होता है वह है। उसे छोड़कर; समता के जल से भरा भगवानआत्मा; उसमें से समता के जलबिंदु निकाले उनसे वह पवित्र होता है और क्लेश से छूट जाता है और उत्कृष्ट साक्षी होता है।

यह ८५ (गाथा) हुई। अब ८६।.....

श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्यदेवप्रणीत

श्री नियमसार

श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित संस्कृत टीका

(परमार्थ-प्रतिक्रमण अधिकार)

गाथा-८६

उम्मग्गं परिचता जिणमग्गे जो दु कुणदि थिरभावं।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा।।८६।।
उनमार्गं परित्यज्य जिनमार्गे यस्तु करोति स्थिरभावम्।
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणयो भवेद्यस्मात्।।८६।।

अत्र उन्मार्गपरित्यागः सर्वज्ञवीतरागमार्गस्वीकारश्चोक्तः।

यस्तु शंकाकांक्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसांसंस्त्वमलकलंकपंकनिर्मुक्तः शुद्धनिश्चयसदृष्टिः बुद्धादिप्रणीतमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रात्मकं मार्गाभासमुन्मार्गं परित्यज्य व्यवहारेण महादेवाधिदेवपरमेश्वरसर्वज्ञवीतरागमार्गे पंचमहाव्रतपंचसमितित्रिगुप्ति-पंचेन्द्रियनिरोधषडावश्यकाद्यष्टाविंशतिमूलगुणात्मके स्थिरपरिणामं करोति, शुद्धनिश्चयनयेन सहजबोधादिशुद्धगुणालंकृते सहजपरमचित्सामान्यविशेषभासिनि निजपरमात्मद्रव्ये स्थिरभावं शुद्धचारित्रमयं करोति, स मुनिर्निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप, इत्युच्यते, यस्मान्निश्चयप्रतिक्रमणं परमतत्त्वगतं तत एव स तपोधनः सदा शुद्ध इति।

हिन्दी अनुवाद

उन्मार्ग का कर परित्यजन जिनमार्गमें स्थिरता करे।
प्रतिक्रमणमयता हेतुसे प्रतिक्रमण कहते हैं उसे।।८६।।

अन्वयार्थ :- **[यः तु]** जो (जीव) **[उन्मार्गं]** उन्मार्गका **[परित्यज्य]** परित्याग करके **[जिनमार्गे]** जिनमार्ग में **[स्थिरभावम्]** स्थिरभाव **[करोति]** करता है, **[सः]** वह (जीव) **[प्रतिक्रमणम्]** प्रतिक्रमण **[उच्यते]** कहलाता है, **[यस्मात्]** कारण कि

वह **[प्रतिक्रमणमयः भवेत्]** प्रतिक्रमणमय है।

टीका :- यहाँ उन्मार्ग के परित्याग और सर्वज्ञवीतराग-मार्ग के स्वीकारका वर्णन किया गया है।

जो शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और *अन्यदृष्टिसंस्तवरूप मलकलंकपंकसे विमुक्त (-मलकलंकरूपी कीचड़से रहित) शुद्धनिश्चयसम्यग्दृष्टि (जीव) बुद्धादिप्रणीत मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रात्मक मार्गाभासरूप उन्मार्गका परित्याग करके, व्यवहारसे पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, पाँच इन्द्रियोंका निरोध, छह आवश्यक इत्यादि अट्ठाईस मूलगुणस्वरूप महादेवाधिदेव - परमेश्वर-सर्वज्ञ-वीतरागके मार्ग में स्थिर परिणाम करता है, और शुद्धनिश्चयनय से सहजज्ञानादि शुद्धगुणोंसे अलंकृत, सहज परम चैतन्यसामान्य तथा (सहज परम) चैतन्यविशेषरूप जिसका प्रकाश है ऐसे निज परमात्मद्रव्यमें शुद्धचारित्रमय स्थिरभाव करता है, (अर्थात्) जो शुद्धनिश्चय-सम्यग्दृष्टि जीव व्यवहारसे अट्ठाईस मूलगुणात्मक मार्गमें और निश्चयसे शुद्ध गुणोंसे शोभित दर्शनज्ञानात्मक परमात्मद्रव्यमें स्थिरभाव करता है,) वह मुनि निश्चय प्रतिक्रमणस्वरूप कहलाता है, कारण कि उसे परमतत्त्वगत (- परमात्मतत्त्वके साथ संबंधवाला) निश्चयप्रतिक्रमण है इसीलिये वह तपोधन सदा शुद्ध है।

* अन्यदृष्टिसंस्तव = (१) मिथ्यादृष्टि का परिचय; (२) मिथ्यादृष्टि की स्तुति। (मन से मिथ्यादृष्टि की महिमा करना वह अन्यदृष्टिप्रशंसा है और मिथ्यादृष्टि की महिमा के वचन बोलना वह अन्यदृष्टिसंस्तव है।)

प्रवचन : दिनांक - २४-२-१९७८

आहा...हा...! क्या कह रहे हैं ? '**यहाँ उन्मार्ग के परित्याग**' - जैनधर्म वीतरागी परिणति है। इस जैनधर्म के अतिरिक्त जितने मार्ग हैं वे सब उन्मार्ग हैं। अथवा यह

तो वस्तु का स्वभाव ही वीतराग-जिनस्वरूप है।

('समयसार नाटक' में आता है न...!) 'घट घट अंतर जिन बसै, घट घट अंतर जैन; मत-मदिरा के पानसौ मतवाला समुझैन।' - यह तो वस्तु का स्वरूप ऐसा है। आहा...हा...! आत्मा जिनस्वरूपी है, वीतरागी समतारस का सागर भरा है, वह जिन है। उसके आश्रय से परिणति होनेसे वह जैनदर्शन, जैनमार्ग है। यह किसी संप्रदाय की बात नहीं है। यह तो वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

(जो कोई) समभाव प्रगट करना चाहता है (तो) यह कहाँ से आयेगा ? वह समभाव माने वीतरागभाव से भरा ही भगवान है, वीतरागस्वभाव से भरा प्रभु (है); उसके सन्मुख होनेसे और रागादिक्रिया से विमुख होनेसे, उसे पवित्रता (समभाव) प्रगट होते हैं। यह उन्मार्ग का त्याग और मार्ग का ग्रहण (है)। यह (यहाँ) आयेगा :-

यहाँ उन्मार्ग का परित्याग '**और सर्वज्ञवीतराग-मार्ग के स्वीकारका वर्णन किया गया है।**' पहले व्यवहार ले रहे हैं :-

'**जो शंका**' - वीतरागमार्ग के व्यवहार की शंका, उसे जिसने छोड़ दिया है। '**कांक्षा**' - व्यवहार जिसने पर की इच्छा छोडी है। '**विचिकित्सा**' - दुर्गंछा छोड़ी है व्यवहार। '**अन्यदृष्टिप्रशंसा**' - अन्यदृष्टि की प्रशंसा छोड़ी है। '**और अन्यदृष्टिसंस्तव**' - जिसने मिथ्यादृष्टि का परिचय छोड़ा है (अर्थात्) जिसकी दृष्टि में मिथ्यात्व है - राग और दया-दान-व्रत से धर्म होता है वह मिथ्यादृष्टि है, ऐसे मिथ्यादृष्टि का जिसने परिचय छोड़ा है। वह यह अभी शुभभाव है। मिथ्यादृष्टि की स्तुति : जिसकी दृष्टि असत् - झूठी है उसकी स्तुति (वह) बड़ा दोष है उससे यह रहित है। यह व्यवहार से हाँ ! अभी यह तो मन से मिथ्यादृष्टि की महिमा करना - भारी त्याग कर रहा है ! भारी वैराग्य कर रहा है ! - वह अन्यदृष्टिप्रशंसा है और मिथ्यादृष्टि की महिमा के वचन बोलना वह अन्यदृष्टि संस्तव है। यह स्तुति, जिसने व्यवहारसमकित में भी छोड़ दी है। (वह) अन्यदृष्टिसंस्तव से रहित है। (अर्थात् - इन सभी) '**मलकलंकपंक से विमुक्त (- मलकलंकरूपी कीचड़ से रहित) शुद्धनिश्चयसम्यग्दृष्टि (जीव)**' - शुद्ध निश्चय आत्मा आनंदस्वरूप भगवान, उसकी जिसे अंतर्दृष्टि हुई है अर्थात् निश्चयसम्यग्दर्शन। निश्चयसम्यग्दर्शन उसे कहें। (वह) निश्चयसम्यग्दृष्टि जीव '**बुद्धादि प्रणीत मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रात्मक मार्गाभासरूप**' (उन्मार्ग का परित्याग है)।

(बुद्धादि प्रणीत) ये सब मार्गाभास हैं। बौद्धधर्म - वेदांतधर्म यह मार्ग नहीं है; मार्गाभास (अर्थात्) मार्ग जैसा आभास है। आहा...हा...! कठिन काम ! 'कुंदकुंदाचार्य' ने तो ऐसा भी कहा कि : ....'अंतर में वीतरागदशा और बाहर में नग्नदशा यह

मोक्षमार्ग है। इसके अतिरिक्त सब उन्मार्ग हैं। अंतर में आत्मा आनंदस्वरूप भगवान; उससे विरुद्ध ये सब उन्मार्ग हैं। जैनसर्वज्ञ वीतराग परमात्मा का कहा हुआ जो वीतरागभाव यह एक ही सन्मार्ग है। आहा...हा...! 'राग से लाभ होता है' ऐसा जैनमार्ग में नहीं होता। अन्य में उस राग से, पुण्य से, दया, दान, व्रत से लाभ होता है। - वे सब उन्मार्ग हैं। (यह वस्तुस्थिति है) क्या करें ?

यहाँ ये कहते हैं : शुद्ध निश्चय सम्यग्दृष्टि बुद्धादि प्रणीत - बुद्धादि से कहा गया - मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रात्मक मार्गाभ्यासरूप '**उन्मार्गका परित्याग करके**' - उस उन्मार्ग को छोड़ (कर) '**व्यवहार से पाँच महाव्रत**' - (उस) निश्चयसम्यग्दृष्टि को होता है। जिसे आत्मा के आनंद का स्वाद आया है, (अर्थात्) आत्मा अतीन्द्रिय आनंद की मूर्ति प्रभु है, जिसकी शांति को जिसने (स्वयं) देखी है और अनुभव किया है, उसे यहाँ शुद्ध निश्चयसमकिती निश्चय से कहते हैं। कुछ समझमें आया ?

भगवानआत्मा में मात्र शांति भरी है, केवल शांति का पर्वत है, शांति का सागर है, शांति का पहाड है, उसमें से जिसने शांति का नमूना स्वाद में लिया है, आहा...हा...! (वह शांति का मार्ग !) ऐसे शांति के मार्ग से (विरुद्ध) जिसने कल्पना से धर्म और वस्त्रसहित मुनिपना मनाया है वह भी उन्मार्ग है। कुछ समझमें आया ? ऐसा मार्ग है !

उन सब उन्मार्ग को छोड़कर के - परित्याग करके, समस्त प्रकार से छोड़कर पंच महाव्रत, '**पाँच समिति, तीन गुप्ति, पाँच इन्द्रियों का निरोध, छह आवश्यक इत्यादि अट्ठाईस मूलगुणस्वरूप महादेवाधिदेव-परमेश्वर-सर्वज्ञ-वीतराग के मार्ग में स्थिर परिणाम करता है।**' - अशुभ को छोड़कर इतना शुभभाव करता है। कुछ समझमें आया ?

'व्यवहार से' कहा है न...! निश्चसम्यग्दृष्टि है वह, अशुभ से छूटकर, ऐसे (अट्ठाईस मूलगुण स्वरूप) शुभभाव में आया है। परंतु जिसे (निश्चय) सम्यग्दर्शन नहीं है और महाव्रत के परिणाम हैं वह तो बिल्कुल मार्गाभास (है)। ऐसा है, सूक्ष्म बहुत, बापू ! क्या करें ? मार्ग निराला है !

'महादेवाधिदेव-परमेश्वर-सर्वज्ञ-वीतराग के मार्ग में (स्थिर परिणाम करता है)' - यहाँ समकित सहित के (शुभभाव) की बात है... हाँ ! केवल अशुभ भाव को छोड़कर महाव्रत में आये उसकी यहाँ बात नहीं है। जिसे निश्चय सम्यग्दर्शन, अनुभव, आनंद का स्वाद आया है और थोड़ी अंतर स्थिरता भी है उसे इस अशुभ को छोड़कर शुभ आता है इतनी व्यवहार से स्थिरता कही जाती है।

'**और शुद्ध निश्चयनयसे**' सम्यग्दृष्टि को आत्मा के आनंद का अनुभव होनेपर भी -

ऊपर आया था न... `व्यवहार से' - वह स्थिरता रख न सके तब उसे महाव्रतादि के शुभभाव होते हैं; फिर भी वह है बंध का कारण; परंतु वह व्यवहार होता है। पूर्ण वीतराग नहीं होता उसे आत्मानुभव सहित (व्यवहार से) पंचमहाव्रत आदि के परिणाम वीतरागमार्ग में होते हैं। ऐसा कहकर `व्यवहार होता है' इतना सिद्ध किया। परंतु शुद्ध निश्चयनय से तो `**सहजज्ञानादि शुद्धगुणों से अलंकृत**' है भगवान ! आहा...हा...! स्वाभाविक ज्ञान, स्वाभाविक आनंद, स्वाभाविक दर्शन, स्वाभाविक वीर्य ऐसे शुद्ध गुणों से अलंकृत है, शोभित है भगवान। वह शुभराग से शोभित नहीं है; शुद्धगुणों से अलंकृत है। वह उसका अलंकार है। आहा...हा...! ज्ञान, आनंद, शांति, दृष्टा, दर्शन आदि गुणों से वह अलंकृत है। ऐसा जो आत्मा `**सहज परम चैतन्यसामान्य**' - कैसा है (आत्मा) ? कि : स्वाभाविक परम चैतन्यसामान्य, (अर्थात्) दर्शन `**और (सहज परम) चैतन्यविशेषरूप जिसका प्रकाश,**' (अर्थात्) ज्ञान। (क्या कहा ? कि :) स्वाभाविक दृष्टा और स्वाभाविक ज्ञाता, ऐसा उसका स्वभाव है। उसके स्वरूपमें पर तो नहीं है, परंतु पर तरफ के लक्षवाला शुभभाव - वह भी उसके स्वरूप में नहीं है। परंतु जब (पूर्ण) वीतराग नहीं है और सम्यग्दृष्टि है; आत्मानुभवी जीव है उसे आगे बढ़ने पर ऐसे शुभभाव व्यवहार में बीच में आते हैं। कुछ समझमें आया ?

जहाँ सम्यग्दर्शन नहीं है उसे तो महाव्रतादि ये सभी परिणाम की तो यहाँ गिनती ही नहीं है। उसे (तो) व्यवहार भी नहीं कहा जाता। (यहाँ तो जिसे) अंतर के आत्मा के आनंद का भान है, अनुभव है (परंतु पुरुषार्थ की कमी के कारण) वह आनंद में जम नहीं सकता। इसलिये अशुभ छोड़कर शुभ में आता है इतनी बात है। - वह व्यवहार समकितदृष्टि का वह व्यवहार है। मिथ्यादृष्टि के तो व्यवहार होता ही नहीं है। आहा...हा...! भारी काम ! राग और पुण्य से धर्म माननेवाला उस मिथ्यादृष्टि के तो व्यवहार भी नहीं होता। वह तो व्यवहारभास है। आहा...हा...! ऐसा (वस्तु)स्वरूप है।

शुद्धनिश्चयनय से स्वाभाविक ज्ञान आदि शुद्ध गुणों से शोभित, परम चैतन्यसामान्य और परम चैतन्य विशेषरूप जिसका प्रकाश है - (परम)दर्शन और ज्ञान जिसका प्रकाश है। सूर्य का तेज जैसे प्रकाश है वैसे भगवान में ज्ञान व दर्शन जिसका तेज है। आहा...हा...! `**ऐसे निज परमात्म द्रव्य में**' - जिसका ज्ञाता-दृष्टा निज स्वभाव है ऐसे अपने आत्मा - निज परमात्मद्रव्य में `**शुद्ध चारित्रमय स्थिरभाव करता है।**' - देखा ! वह - वीतराग के मार्ग में स्थिर परिणाम (शुभभाव) करता है, वह व्यवहार था। और यह `शुद्ध चारित्रमय स्थिरभाव करता है' वह निश्चय। आहा...हा...! आनंदस्वरूप और

अतीन्द्रिय ज्ञान का भान - अनुभव होते हुए भी जिसे स्थिरता नहीं है उसे ऐसा (अट्ठाईस मूल गुण का) भाव आता है, वह व्यवहार कहलाता है। और उस व्यवहार को छोड़कर अंदर स्वरूप में जम जाय उसे निश्चय कहा जाता है। (ऐसे) मुनिलोग (होवे) उन्हें मुनि कहते हैं।

आहा...हा...! अनंत आनंद और अनंत अनंत ज्ञान जिसका स्वभाव है, ऐसे स्वभाव में - शुभभाव से रहित होकर - स्वरूप में (जो) वीतरागभाव से जम जाता है वह निश्चयचारित्र है। कुछ समझमें आया ? व्यवहारचारित्र (जो) कहा परंतु उससे पूर्व 'शुद्ध निश्चयसम्यग्दृष्टि(जीव)' ऐसा कहा, (तो यह बात) समकिती के लिये (है)। पहले व्यवहार और बाद में निश्चय हो, ऐसा यहाँ नहीं आया। कुछ समझमें आया ? प्रथम चैतन्य के आश्रय से विकल्प की अपेक्षा छोड़कर, निरपेक्षरूप से जिसे आत्मा का आनंद - अनुभव प्रतीति हुई है ऐसे (सम्यग्दृष्टि) जीव को, पूर्ण स्थिरता हुई नहीं है इसलिये बीच में ऐसे पंचमहाव्रत के परिणाम आते हैं, यह व्यवहार है, वह बंध का कारण है। निश्चय से तो उससे (ऐसे व्यवहार से) रहित होकर समता के भाव में जम जाते हैं (तो) शांति... शांति... शांति... शांति... शांति... शांति - वीतरागी शांति बढ़ जाती है, उसे निश्चयचारित्र कह रहे हैं !

भाई ! ऐसी बातें हैं !! वे (व्यवहारनय के पक्षवाले) चिल्ला पड़ते हैं। (परंतु) बापू ! मार्ग तो 'यह' है, भाई ! निश्चयसम्यग्दर्शन के बिना व्यवहार भी होता नहीं है। इसके लिये तो यहाँ पहली बात यह करी : 'शुद्ध निश्चयसम्यग्दृष्टि जीव।' - ऐसा कहा न...? वह (समकिती) व्यवहार से पंच महाव्रत, समिति, गुप्ति, इन्द्रियों का निरोध, छह आवश्यक, अट्ठाईस मूलगुण आदि महाव्रत इत्यादि व्यवहार में होते हैं। परंतु जब वह राग को छोड़कर, भगवान आनंदधाम में स्थिर होता है, स्थिरतापूर्वक जो निर्विकल्पदृष्टि अंदर में जम जाती है, उसे सत्य - निज चारित्र कहा जाता है। वह अपना चारित्र।

इसमें (लोग) आपत्ति उठाते हैं - व्यवहार से (निश्चय) होता है ! निमित्त से (उपादान में कार्य) होता है ! (परंतु) 'व्यवहार होता है' ऐसा तो कहा। परंतु होता है तब व्यवहार को छोड़कर (आत्मा में) स्थिर होता है। पहले वह राग को भिन्न करके सम्यग्दर्शन करता है। फिर अशुभ छोड़कर शुभ में आता है फिर उसे भी छोड़कर स्थिर होता है। आहा...हा...! ऐसा (वस्तु) स्वरूप है !

जिज्ञासा :- जो समकित सन्मुख है, निश्चयनय के पक्षवाला है वह किस कोटि में (श्रेणी में / कैटेगरी में) है ?

समाधान :- उसकी यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो सम्यग्दर्शन पाये हुए जीव को सच्चा मुनिपना होता है। व्यवहार से उसका व्यवहार ऐसा होता है, (यह बात है)। यह तो फिर उसे समझना रहा। समकित सन्मुख अभी तो मिथ्यादृष्टि है न...! यह उसकी बात नहीं है। यहाँ तो शुद्ध सम्यग्दृष्टि की बात ली है। इसलिये लिया न...! 'शुद्धनिश्चयसम्यग्दृष्टि जीव।' (यहाँ) प्राप्त कर चुके हैं उनकी बात है। प्राप्त करेंगे वे बाद में। यह तो प्राप्त किया हुआ है वह भी प्रथम अशुभ से छूटकर शुभ के पंचमहाव्रत में आता है तो उसे निश्चयसम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से व्यवहार कहा जाता है। परंतु उसे छोड़कर, स्वरूप में निर्विकल्प जम जाता है उसे निश्चयचारित्र कहते हैं। आहा...हा...! वस्तु इस प्रकार है - ऐसा पहले ज्ञान में निर्णय तो करे ! वस्तु की स्थिति ही इस प्रकार है !

वढवाण (शहर) में एक भाई भजन कर रहे थे - 'एक दिन जाना है निर्वाणी कर ले न आत्मा की पहिचानी, वह कौन है खान में भगवान।' आहा...हा...! बाकी सब थोथा है।

(यहाँ कहते हैं :) 'स्थिरभाव करता है,' देखा ! कोष्टक में लिया : ('**जो शुद्धनिश्चयसम्यग्दृष्टि जीव व्यवहार से अट्ठाईस मूलगुणात्मक मार्ग में और निश्चय से शुद्ध गुणों से शोभित दर्शनज्ञानात्मक परमात्मद्रव्य में स्थिरभाव करता है,) वह मुनि निश्चय प्रतिक्रमणस्वरूप कहलाता है।**' - लो ! सत्य प्रतिक्रमण इसे कहते हैं। '**कारण कि उसे परमतत्त्वगत (- परमात्मतत्त्व के साथ संबंधवाला) निश्चयप्रतिक्रमण है।**' - परमतत्त्व - भगवान - गत, उससे संबंधवाला, राग से संबंधवाला नहीं, आनंदकंद प्रभु के संगवाला - परिचयवाला निश्चयप्रतिक्रमण है '**इसीलिये वह तपोधन सदा शुद्ध है।**' - इस वज़ह से वे मुनि सदा शुद्ध हैं। आहा...हा...!

विशेष कहेंगे।.....

***

प्रवचन- २७, दि. २५-२-१९७८

`इसी प्रकार श्री प्रवचनसार की (अमृतचंद्राचार्यदेवकृत तत्त्वदीपिका नामक) टीका में (१५ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि :-'

चोक्तं प्रवचनसार व्याख्यायाम् -

(शार्दूलविक्रीडित)

`इत्येवं चरणं पुराणपुरुषैर्जुष्टं विशिष्टादरै -
रुत्सर्गादपवादतश्च चिचरद्बद्धीः पृथग्भूमिकाः।
आक्रम्य क्रमतो निवृत्तिमतुलां कृत्वा यतिः
सर्वतश्चित्सामान्यविशेषभासिनि निजद्रव्ये करोतु स्थितिम्।।'

`श्लोकार्थ :-) इस प्रकार विशिष्ट [१]आदरवाले पुराण पुरुषों द्वारा सेवन किया गया, उत्सर्ग और अपवाद द्वारा अनेक पृथक्-पृथक् भूमिकाओं में व्याप्त जो चरण (- चारित्र) उसे यति प्राप्त करके, क्रमशः अतुल निवृत्ति करके, चैतन्यसामान्य और चैतन्यविशेषरूप जिसका प्रकाश है ऐसे निजद्रव्य में सर्वतः स्थिति करो।'

सूक्ष्म बात है। चैतन्यघन अनंत आनंद, अतीन्द्रिय आनंद की मूर्ति प्रभु आत्मा है। और जो शुभभाव दिख रहे हैं वे सब दुःखरूप हैं। इन दुःखरूप भावों से भेदज्ञान करके (आनंदमूर्ति की दृष्टि करना वह धर्म।) और वे पुण्य-पाप के भाव चाहे शुभभाव हो तो भी, है तो वे अधर्म। (क्योंकि) अंदर आत्मा अतीन्द्रिय आनंद की मूर्ति है उससे वे भाव विरुद्ध हैं। इस प्रकार प्रारंभ में शुभ और अशुभभाव से (भेदज्ञान करके) आनंदस्वरूप ज्ञायक की रुचि करके अनुभव दृष्टि में करना यह धर्म की प्रथम शुरूआत है। सूक्ष्म बात है। शुभ से शुद्ध हुआ ऐसा नहीं, यों कह रहे हैं। शुभ से हटकर (शुद्ध

[१]आदर=सावधानी; प्रयत्न; बहुमान।

हुआ जाता है)। जिसे शुभराग - दया, दान, व्रतादि शुभराग आते हैं उनमें जिसे प्रेम है उसे चिदानंद भगवान पूर्णानंद ज्ञायकस्वरूप के प्रति द्वेष है। सूक्ष्म बात है, भाई ! यह बात अभी तो (संप्रदाय में प्रचलित नहीं है परंतु यह) परम सत्य बात है। आहा...हा...! आनंदघनजी कहते हैं न...! 'द्वेष अरोचक भाव।'

आत्मा अतीन्द्रिय आनंद और अतीन्द्रिय ज्ञान की मूर्ति (है)। जिस प्रकार गन्ने में रस भरा है (उस प्रकार आत्मा में केवल अतीन्द्रिय रस भरा है)। कुछ समझमें आया ? बात (लोक से) बहुत फर्क(वाली) है, भाई ! अंदर आनंदकंद प्रभु, सत् चिदानंद - 'सत्' अर्थात् शाश्वत - सनातन, 'चित्त' अर्थात् ज्ञान व आनंद - के पूर्णरूप से भरा पड़ा है; उसका - निर्विकल्प स्वभाव का अनुभव, पुण्य और पाप के विकल्प से भिन्न होकर, पहले करना; वहाँ से धर्म की प्रथम शुरूआत (होती है) यह प्रथम सीढ़ी है। आहा...हा... ! सूक्ष्म बात है, भाई !

लोग तो बाहर से (धर्म) मानकर बैठ गये हैं। इस तरह अनंत काल चला गया। अनंतबार स्त्री-परिवार छोड़े। अनंतबार बालब्रह्मचारी हुआ। और अनंतबार पंचमहाव्रत - अहिंसा, सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य का भाव - लिया; परंतु यह तो राग है, भाई ! तुझे खबर नहीं है। (जिस प्रकार) ज़हर पीते पीते, लहसून खाते खाते कस्तूरी की डकार आ सकती है ? उस प्रकार यह शुभभाव करते-करते धर्म की डकार आये ? - तीन काल में नहीं। बहुत सूक्ष्म बात, बापू ! प्रभु ! तेरा मार्ग (अलौकिक है) ! तेरी प्रभुता इतनी अंदर है ! वह तो अनंत आनंद और अनंत चैतन्यरत्न की खान है। खानमें से जिस प्रकार रतन निकले उस प्रकार अंदरमें से शांति और आनंद निकले ऐसी खान - निधान आत्मा में है।

यहाँ पहले यह कहा, देखो : '**इस प्रकार विशिष्ट आदरवाले पुराण पुरुषों द्वारा सेवन किया गया**' - ये शब्द नहीं यह तो पीछे-अंदर भाव भरे हैं। जिस प्रकार 'सक्कर' शब्द है न...? तो 'सक्कर' शब्द में कोई 'सक्कर' वस्तु नहीं है। 'सक्कर' - ये तीन अक्षर हैं, तो इन तीन अक्षर में 'सक्कर' है ? और 'सक्कर' में ये तीन अक्षर हैं ? ये तीन अक्षर, ये तो सक्कर पदार्थ में हैं नहीं। 'सक्कर' यह शब्द हुआ, इस शब्द में सक्कर वस्तु नहीं है। और सक्कर वस्तु में, वे सक्कर ऐसे तीन अक्षर नहीं हैं। ठीक है कि नहीं ? लोजिक (न्याय) से है। इस प्रकार भगवानआत्मा ! - 'आत्मा' यह तो शब्द है; परंतु उसका वाच्य वस्तु जो है वह तो अतीन्द्रिय आनंद और अनंत ज्ञान की खान है - वह वाच्य है। आत्मा वाचक - शब्द है उसका वह वाच्य है।

उस वाच्य में वाचक - शब्द नहीं है और आत्मा शब्द है उसमें वाच्य - वस्तु नहीं है। न्याय (है न...!)

यहाँ ऐसा कह रहे हैं कि : प्रभु आत्मा अंदर चैतन्यरत्न (है)। यह जम्बुद्वीप, लवणसमुद्र आदि के आखिर में जो स्वयंभूरमण समुद्र है, उसके तल में रेत नहीं है, रत्न है। (इस मध्यलोक में) असंख्य समुद्र और द्वीप भी इतने हैं। (पहला) यह जम्बुद्वीप एक लाख योजन का, (फिर) दो लाख योजन का लवणसमुद्र है। (फिर) चार लाख योजन का घातकीद्वीप (फिर आठ लाख योजन का समुद्र है। इस प्रकार एक से दूसरा दुगुना, ऐसे असंख्य द्वीप-समुद्र। (फिर) आखिर में असंख्य योजन का स्वयंभूरमण समुद्र पानी का है उसमें नीचे रेत नहीं है, (केवल रत्न हैं)। आहा...हा...! ये सब तो कौन माने ? यह तो सर्वज्ञ द्वारा सिद्ध हुआ। (**श्रोता :-**) वहाँ पहुँचने में कितने दिन लगेंगे ? (**उत्तर :**) वहाँ पहुँचे कौन ? ढाई द्वीप के बाहर मनुष्य जा नहीं सकते। वहाँपर अंदर (स्वयंभूरमण समुद्र के तल में) रत्न भरे हैं। यह तो हम यहाँ दृष्टांत दे रहे हैं। इस प्रकार भगवान स्वयंभू ! (वह) अनंत आनंद और अनंत ज्ञानादि गुणरत्नों का भंडार है। उसमें अंदर में पुण्य-पापभाव(रूप) रेत है नहीं। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? ज्ञानमूर्ति प्रभु ! आनंद की खान, स्वच्छता और प्रभुता के बड़प्पन से भरा पड़ा है। उसके सामने पुण्य व पाप तो रेत समान, मैल समान, और दुःख है।

जिज्ञासा :- पहले पाप छोड़े या पहले पुण्य छोड़े ?

समाधान :- पाप व पुण्य दोनों पाप हैं। ('योगसार' गाथा-७१ में कहा न...!) 'पापरूप को पाप तो जाने जग सब कोई; पुण्यतत्त्व भी पाप है, कहे अनुभवी बुध कोई।' - हिंसा-झूठादि को पाप तो सब कोई कहते हैं। परंतु धर्मी जीव - अनुभवी - आत्मा के ज्ञान और आनंद का वेदन करनेवाले (तो) उस शुभभाव - पुण्य को भी पाप कहते हैं। अंतर आनंदस्वरूपमें से हट जाना और राग में आना, यह तो ज़हर में आना है। आहा...हा...! कठिन बातें हैं, बापू ! लोगोंने सुनी नहीं है और आजकल (कहीं) चल भी नहीं रही। (**श्रोता :-**) पाप-पुण्य दोनों (भिन्न तत्त्व) ? (**उत्तर :-**) दोनों (भिन्न हैं)। यह तो कहा था न...! अंदर स्वरूप में भिन्न है। पुण्य-पाप भी भिन्न चीज़ है। इस भिन्नता का भान कभी भी किया ही नहीं है। वह दया, दान, व्रतादि का संतोष - लाख दो लाख दानादि में खर्च किये, दो लाख का मंदिर बनाया - हो गया धर्म ! धूल में भी धर्म नहीं है। सुन तो सही ! वह शुभ-अशुभ से भिन्न, पूर्ण

शुद्ध चैतन्यघन; उसकी दृष्टि करनेसे प्रथम अतीन्द्रिय आनंद का थोड़ा स्वाद आता है। यह धर्म की शुरूआत होती है।

यहाँ यह बात कह रहे हैं : 'इस प्रकार विशिष्ट आदरवाले पुराण पुरुषों - अनंत अनंत आत्मा हो गये, पुराणपुरुषों। उनके द्वारा ('सेवन किया गया') - सेवित। 'आदर' का अर्थ : सावधानी, दरकार; प्रयत्न; बहुमान। नीचे फूटनोट है। क्या कह रहे हैं ? कि : जिसकी अंदर पूर्णानंदस्वरूप में सावधानी हुई, जिसका अपना प्रयत्न पूर्णानंद में घूस गया और पुण्य-पाप-राग का बहुमान छोड़कर जिसे अंतर वस्तु का बहुमान आया उसे प्रथम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और यहाँ तो विशेष चारित्र की बात है। मुनि होते हैं, सच्चे मुनि हाँ ! (उनकी बात है)।

सच्चे मुनि तो नग्न होते हैं। उनके पास वस्त्र का टुकडा भी नहीं होता। और सच्चे मुनि को अंतर में अहिंसा, सत्य, दत्तादि के - पंचमहाव्रत के परिणाम आते हैं उन्हें भी राग जानकर, दुःख जानकर छोड़ना चाहते हैं। आहा...हा...! वे मुनि अंतर अतीन्द्रिय आनंद के रसिया हैं। जिस प्रकार (लोग) यह स्वाद लेते हैं न...! यह आइसक्रीम चूसते हैं न...! उस प्रकार सम्यक्दृष्टि - स्वच्छदृष्टि (जीव) राग से भिन्न होकर, (जो) अंतर आनंदस्वरूप प्रभु है उसके आनंद को चूसते हैं। आहा...हा...हा...! जिस प्रकार गन्ने में रस है वह और कूच्चा है वह, दोनों भिन्न चीज़ हैं। उस प्रकार भगवानआत्मा में आनंद व शांति है वह रस है। और पुण्य व पाप शुभाशुभ भाव हैं वे कुच्चे हैं। तो दोनों को परकर भिन्न करते हैं। गन्ने का रस निकालना हो तो कूच्चा को अलग करके निकालते हैं (उस तरह)।

वह दृष्टांत पहले दिया था न...! जिस प्रकार सकरकंद के ऊपर का जो लाल छिलका है वह कोई मूल चीज़ नहीं है। परंतु लाल छिलके के अंदर अर्थात् लाल छिलके के सिवा, उस छिलके से भिन्न जो (कंद) है वह मीठास का पिंड है, सक्कर का पिंड है इसलिये सकरकंद कहते हैं। उस प्रकार (आत्मा) शरीर से तो भिन्न है, परंतु अंदर में पुण्य-पाप के (जो) भाव हैं वे छिलका है, उस छिलके के पीछे देखो तो अंदर में यह भगवान अतीन्द्रिय आनंद का कंद पड़ा है प्रभु !

अरे...! उसको कैसे बैठे ? (आत्महित का) किसी भी दिन विचार नहीं किया और पूरा दिन इस दुनिया की होली - यह करना और वह करना। यह पत्नी और ये बच्चें (सम्हालने)... और व्यापार और कमाना। आहा...हा...! एक जुवान आदमी से मैंने इतना पूछा कि यह २५-५० या ६०-७० वर्ष आयु की कही जाती है वह

देह की या आत्मा की ? कहने लगा कि यह मुझे कुछ खबर नहीं है। उसकी समझका कोई ठिकाना नहीं था। बेचारा पूरा दिन कमाना और उसीमें फँसे रहना। कहा : यह आयुष्य कहा जाता है कि यह ५० हुए, ४७।। वर्ष हुए, यहाँ ८८ हुए - किसके ? ये तो शरीर के। (**श्रोता :-**) आत्मा की उम्र कितनी ? (**उत्तर :**) आत्मा तो अनादि-अनंत है, अविनाशी है, उसकी उम्र क्या ?

ऐसी चीज़ (आत्मा) में अंतर अतीन्द्रिय आनंद की सक्कर की मीठास, अन-इन्द्रिय आनंद पड़ा है, अन-इन्द्रिय अमृत से गाढ़ भरा हुआ है। (उसका) पहले में पहला, शुभभाव में भिन्न होकर, अनुभव - सम्यग्दर्शन करना। इसके बाद की यहाँ बात है। फिर जब मुनि होते हैं तो नग्न होते हैं, वस्त्र का टुकडा भी नहीं और अंतर में अतीन्द्रिय आनंद (के धोध - प्रपात बहता है)। जिस प्रकार समुद्र के किनारे पर ज्वार आता है उस प्रकार आत्मा में जब सच्चा मुनिपना होता है (उन्हें) तो भगवानआत्मा में अंतर्मुख स्वसंवेदन करके पर्याय अर्थात् वर्तमान दशा में - अपने किनारे पर अतीन्द्रिय आनंद का ज्वार आता है। आहा...हा...हा...!

ऐसी बात !! कभी भी (सुनी नहीं है)। दुनिया के - यह डॉक्टर की या वकालत की - पढ़ाई ये सब कुज्ञान है। जज के पास दलील करे और लोग बहुत प्रशंसा करे, परंतु वह ज्ञान तो सब कुज्ञान (है)। जहाँ भगवान आनंद का नाथ प्रभु है उसका ज्ञान हुआ नहीं तो बाहर का सब ज्ञान कुज्ञान है। हाथ का जो हथियार अपना सिर काट डाले वह हथियार किस काम का ? इस प्रकार जो पर का ज्ञान है वह तो आत्मा का नुकसान करनेवाला है, अरे...! अंतर्स्वरूप भगवानआत्मा सत्चिदानंद प्रभु; उसके अंतर्मुख होकर ज्ञान करे तो उस ज्ञान में अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद साथ में आता है। तो यहाँ आचार्य कह रहे हैं कि उसके (आत्मा के) स्वाद में लीन होना वह चारित्र की निश्चय दशा है।

चारित्र अर्थात् चरण करना। चरण करना अर्थात् स्वरूप की दृष्टि जो हुई है, स्वरूप का भान हुआ है, उस स्वरूप में चरना, रमना और जमना, अंदर आनंद में जम जाना उसका नाम चारित्र है। (**श्रोता :-**) सदाचार ? (**उत्तर :-**) वह सदाचार अनाचार है। यह अपने यहाँ (गाथा-८५ में) आ गया न...! लोग जितने सदाचार कहते हैं वे सब अनाचार हैं। (**श्रोता :-**) सब बातें झूठी ? (**उत्तर :-**) दुनिया झूठी है ! आहा...हा...! अपनी निज चीज़ की क्या कीमत है, उस कीमत को नहीं करके पूरी दुनिया की कीमत करता है !! `परखे माणिक-मोती, परखे हेम-कपूर।' इन सबको

परखा, परंतु यह 'स्वयं कौन है' उसकी परीक्षा नहीं करी ! कुछ समझमें आया ?

यहाँ कह रहे हैं कि : महापुरुषों ने - विशिष्ट अर्थात् खास आदरवाले पुराण पुरुषों। आदर किसमें ? जिनको शुद्धस्वरूप में आदर था, प्रयत्न था, सावधानी थी। इन (पुरुषों का) सेवन किया हुआ - सेवित '**उत्सर्ग व अपवाद।**'

क्या कह रहे हैं ? यह तो अध्यात्मभाषा है। यह 'प्रवचनसार' का (श्लोक) है। 'उत्सर्ग' का अर्थ क्या ? कि : मुनि होकर (जो) अपने अतीन्द्रिय आनंद में लीन रहते हैं वह उनका निश्चय - उत्सर्ग अर्थात् मुख्य मार्ग है। परंतु उसमें (स्थिर) न रह सके, अर्थात् - भान है 'मैं शुद्ध ज्ञान हूँ, आनंद हूँ' (और) ऐसा वेदन है; परंतु उसमें लीन न हो सके तब शुभभाव आते हैं। अहिंसा - अदत्त आदि पंचमहाव्रत और शुभभाव को यहाँ अपवादमार्ग कह रहे हैं। और अंतर में लीन होना उसे निश्चय-उत्सर्ग मार्ग कह रहे हैं। आहा...हा...! भाषा दूसरी। भाव दूसरे। यह तो लोकोत्तर बात है, भाई !

'पुरुषों द्वारा सेवन किया गया, उत्सर्ग और अपवाद **द्वारा अनेक पृथक्-पृथक् भूमिकाओं में व्याप्त जो चरण (-चारित्र)**' - यह चारित्र... हाँ ! स्वरूप - आनंद में चरना, रमना, जमना।

दूध होता है उसके नीचे अग्नि रखे तो दूध में उबाल आता है। तो (क्या) दूध बढ़ रहा है ? (नहीं, वह तो) पोलापन है। (परंतु) ऐसा आत्मा में नहीं है, ऐसा कह रहे हैं। आत्मा में ध्यानाग्नि लगाने से उसकी वर्तमान दशा में आनंद का भरपूर ज्वार आता है, अतीन्द्रिय आनंद का भरपूर ज्वार आता है, गाढ़ा ज्वार आता है। वह दूध के पोलेपन की माफिक नहीं है। दूध के उबाल में दूध एक बूँद भी बढ़ा नहीं है। इस प्रकार यह बाहर में पैसे बढ़ गये और पत्नी-बच्चें और बाहर का ज्ञान - वह उबाल है, वह पोला उबाल है। कुछ समझमें आया ?

यह आत्मा...! जहाँ निधान - चैतन्यरत्नाकर भरे हैं, प्रभु ! वहाँ पर दृष्टि करके लीन होना वह चारित्र। उस चारित्र के बिना सब व्यर्थ है। अथवा ऐसी दृष्टि नहीं है और चाहे जितने क्रियाकांड करे वे सब व्यर्थ (हैं), चार गति में भटकानेवाले हैं। कुछ समझमें आया ?

मोक्ष का अर्थ क्या ? अनंत दुःख से आत्यंतिक मुक्त होना। मोक्ष अर्थात् छूटना है न...! रागादि दुःख हैं उनसे मुक्त होना और उसके स्थान पर अतीन्द्रिय आनंद का उत्पन्न होना उसका नाम मोक्ष है। कुछ समझमें आया ? - क्या कहा ? आत्मा

में अतीन्द्रिय आनंद जो शक्तिरूप है (वह पर्याय में प्रगट होता है)। जिस प्रकार लींडीपीपर होती है उसे वैद्य घोंटते हैं तो चौसठप्रहरी तीखास प्रगट होती है। वह चौसठप्रहरी माने सोलह आना माने रुपया माने पूर्ण तीखास अंदर में भरी है और हरा रंग अंदर पूर्ण भरा है तो घोंटने से, है वह प्रगट होता है, उसमें है वह प्राप्त होता है। यदि घोंटने से (ही) आता हो तो कोयला और लकडी न घोंटे ? है कहाँ अंदर, जो आ जाय ? उसमें लींडीपीपर में चौसठप्रहरी तीखास भरी है और हरा रंग पूर्ण भरा है; (तो वह बाहर आता है)। उस प्रकार यह भगवानआत्मा में सोलह आना अर्थात् चौसठ पैसा अतीन्द्रिय आनंद और अतीन्द्रिय ज्ञान पूर्ण भरा है; - जिस प्रकार (लींडी पीपर को) घोंटते हैं उस प्रकार यहाँ एकाग्र होते हैं उसका नाम घोंटना; - उसमें एकाग्र होनेसे जो अंदर शक्तिरूप से पूरा - पूर्ण ज्ञान है वह उनकी दशा में प्रगट होता है। आहा...हा...! यह धर्म !

बात-बात में फर्क है। ऐसी ऐसी बातें। लोग कहे कि मंदिर बनाओ, भक्ति करो, पूजा करो, व्रत करो, शरीर से ब्रह्मचर्य का पालन करो ! (परंतु यहाँ कह रहे हैं कि :) सुन तो सही...! ये सब तो अनंतबार किया है। परंतु ब्रह्मचर्य माने ब्रह्म अर्थात् प्रज्ञा ब्रह्मस्वरूप - आनंदस्वरूप भगवान; चर्य अर्थात् अंदर चरना; इस अतीन्द्रिय आनंद में चरना यह ब्रह्मचर्य है। शरीर से ब्रह्मचर्य का पालन किया वह तो शुभराग-पुण्य है, वह कोई धर्म नहीं है। (**श्रोता :-**) वह अब्रह्मचर्य है ? (**उत्तर :-**) निश्चय से तो वह अब्रह्मचर्य ही है। स्त्री का सेवन नहीं किया - ऐसा शुभ भाव, शुभराग है। निश्चय से अब्रह्मभाव है। वह आत्मा का ब्रह्मभाव नहीं है। (आत्मा में) अमृत का सागर अंदर डोल रहा है। प्रभु अमृत से छलाछल भरा है। उसमें एकाग्र होकर, पुण्य के परिणाम से भिन्न होकर, जो शांति व आनंद होता है वह सच्चा धर्म और सच्चा मार्ग है। बाकी सब बिना एकका अंक लगे हुए (मात्र) शून्य हैं। पहले अनंतबार, ऐसे पंचमहाव्रत का पालन किया था, अनंतबार स्वर्ग में गये, ऐसी चीज़ तो अभी है ही नहीं; फिर भी कभी भी आत्मा को प्राप्त किया नहीं; क्योंकि आत्मा उस क्रियाकांड के राग से अंदर भिन्न है। तो राग से भेद करके, पूर्णानंद के नाथ में अंदर में चरना - रमना जिससे कि अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद एवं वेदन आये उसका नाम धर्म है। (**श्रोता :-**) आवले के छिलके निकालकर उसका रस पीना ! (**उत्तर :**) अरे इस आत्मा का रस निकालकर पीना ! यहाँ ऐसा कह रहे हैं। भगवान आनंद का नाथ प्रभु अंदर है, उसमें एकाग्र होकर चूसो। उस आवले के रस के मुकाबले

इसमें मीठास की कोई सीमा नहीं है, वह तो जड़ का रस है। ऐसी बात (अन्यत्र) कहाँ है, भाई ? (धर्म के नाम से क्या चल रहा है) सब पता है न... दुनिया की। मोटर द्वारा पूरा हिन्दुस्तान तीन बार संवत् - २०१३, २०१५ और २०२३ में देखा है। इस दस हज़ार माईल तीन बार घूमे हैं। भोपाल में पंचकल्याणक था वहाँ सभा में ४० हज़ार आदमी, परंतु हमारे पास व्याख्यान तो यही (रहता) है। यहाँ अपने यहाँ (परमागममंदिर का) उद्घाटन हुआ, २६ हज़ार लोग थे। सागर में गये वहाँ १५ हज़ार लोग। बात तो हमारे पास यह है, बापू ! यह चीज़ है। बाकी सब थोथा है। आहा...हा...! आज समझो, कल समझो... परंतु यह समझेगा तभी उसके जन्म-मरण का अंत आये ऐसा है। बाकी तो मनुष्य मरकर ढोर-पशु, कीडा, कौआ, कंथवा (छोटे जीव) के अनंतबार भव किये, प्रभु ! मिथ्यात्व वह संसार है। - यह आया है न...! विपरीत मान्यता यही संसार - महादुःख है। राग से धर्म होगा और मुझे राग से कल्याण होगा - वह महा मिथ्याश्रद्धा, महापाप (है)। उस पाप के गर्भ में अनंतभव का भ्रमण (छिपा) पड़ा है। जिस प्रकार स्त्री के गर्भ में बच्चा आता है न...! उस प्रकार मिथ्या श्रद्धा-पुण्य से धर्म होगा। और शुभ करते-करते धर्म होगा, इस मिथ्याश्रद्धा के पेट में अनंते भव के गर्भ पड़े हैं। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं !

यहाँ ऐसा कहते हैं : मुनियों को ऐसा चारित्र करना कि अंतर वस्तु में लीन होकर, स्वसंवेदन के अतीन्द्रिय आनंद के स्वाद में रहना। - यह निश्चयचारित्र है। और उसमें (स्थिर) रह न सके तो हठ नहीं करनी। तब (जो) शुभभाव आते हैं तो वे अपवाद हैं। अपवाद माने दृष्टि यहाँ (अंतर वस्तु के ऊपर) है, आदरभाव स्वभाव पर है, परंतु निर्विकल्प - स्थिर न हो सके तो शुभराग आता है उसे अपवाद कहते हैं। उत्सर्ग एवं अपवाद की यह व्याख्या है। यह तो प्रत्येक शब्द की व्याख्या भिन्न है, भाई ! आहा...हा...! मुनियों को अंतर आनंद के स्वाद में रहना। उसमें रह न सके तो (भी) दृष्टि तो वहाँ त्रिकाली शुद्ध चैतन्य ध्रुव भगवान पर है। परंतु स्वरूप में रह न सके तब उसे शुभरागरूपी - दया, दान, व्रत के परिणामम - अपवादमार्ग आता है।

यह कलश `प्रवचनसार' का है। २३२-गाथा से (`मोक्षमार्ग प्रज्ञापन') शुरू होता है न...! आहा...हा...! इस श्लोक के ऐसे अर्थ ! परंतु पढ़ डाले (बिना समझे) गडगड गडगड करके। (परंतु) अरे भाई ! एक-एक श्लोक के भाव बहुत गंभीर हैं। यह तो अध्यात्मग्रंथ है। यह कोई वार्ता-कथा का शास्त्र नहीं है।

`उसे यति प्राप्त करके' - है ! यति माने मुनि। यति अर्थात् यत्ना करे, जत्ना करे, रक्षा करे। - किसकी ? अपने स्वरूप की। ये यति ये साधुबाबा जति हो जाते हैं वे नहीं हाँ ! स्वरूप-पूर्णानंद के नाथ की यत्ना - प्रयत्ना में रहना उसका नाम यति है। (अन्य में) जति होते हैं वे नहीं। वे जति तो बिना मतबल के (होते हैं)। हमने तो वडोदरा में बड़ा जति देखा है। मकान बनाया `हाथीपोल' (महोल्ला) है वहाँ। परंतु वे जति बाहर की क्रिया में। अंतर यति नहीं।

(यहाँ) क्या कहा ? है...! उत्सर्ग और अपवाद द्वारा बहुत पृथक् पृथक् भूमिकाओं में व्याप्त जो चरण (-चारित्र) `उसे यति प्राप्त करके' - राग से भिन्न होकर, अपने आनंदस्वरूप का भान तो हुआ। और मुनि हैं उन्हें अंदर में स्थिरता भी जम गई है। वे (मुनि) भी अंदर स्थिरता में विशेष नहीं रह पाते। निर्विकल्प - स्थिरता में रहना यह निश्चयचारित्र है। वह यथार्थ वस्तु है। परंतु उसमें रह न सके तो शुभभाव - अहिंसा, सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य का शुभभाव आता है, उसमें रहते हैं। वहाँ (शुभभाव में) हठपूर्वक रहना ऐसा भी नहीं और स्वरूप में रह न सके तो (उसमें) हठ करना ऐसा भी नहीं। - क्या कहा ? आनंदस्वरूप का भान हुआ है, वेदन है; परंतु अंदर निर्विकल्प में रह न सके तो शुभराग में आता है। और शुभराग में हठ नहीं करना कि यह मार्ग है। (परंतु) मैं अंतर में रह नहीं सकता, मेरी कमज़ोरी के कारण शुभभाव आता है; बस...! परंतु वह शुभभाव बंध का कारण है; (वह) धर्म का कारण है ऐसा नहीं...

`क्रमशः अतुल निवृत्ति करके' - क्रमपूर्वक उपमा न हो इतनी निवृत्ति - आनंद में रहना। जहाँ प्रभु पूर्णानंद से विराजमान है वहाँ राग से अतुल अर्थात् उपमा न हो ऐसी निवृत्ति करके। मुनि की विशेष बात है न...!

गृहस्थाश्रम में सम्यग्दर्शन होता है। राग से भिन्न अपना अनुभव होता है। परंतु चारित्र गृहस्थाश्रम में नहीं होता। चारित्र तो (मुनि को) अंतर में स्वरूप रमणता करने से, पूरा गृहस्थाश्रम छोड़कर व्यापार-धंधा छोड़कर, उस महाव्रत का शुभभाव आता है। परंतु उसे भी (वे) अपवादमार्ग जानते हैं। अपवाद माने (सामान्य नियम में बाधा अर्थात्) दोष ! अरे ! (ऐसी) बात ! अनुभवी को दृष्टि अंतर में होनेके बावजूद भी स्वभाव में स्थिर न रह सके तो शुभभाव में आते हैं, यह अपवाद है, दोष है; परंतु आये बिना रहे नहीं। (आत्मा का) भान है। दृष्टि वहाँ है। ध्रुव पर ध्येय है। (परंतु पुरुषार्थ की कमज़ोरी के कारण) अंदर में निर्विकल्प - स्थिर नहीं हो सकते। (इसलिये

अपवादमार्ग में आते हैं।)

ध्रुव का तारा होता है न...! उसके लक्ष्यपूर्वक पानी के जहाज (रात में) चलते हैं। क्योंकि ध्रुव तारा खिसकता नहीं है। एक स्थान पर बराबर रहता है। इसलिये दिशा का पता चलता है। इस प्रकार भगवान ध्रुव नित्य; उसका लक्ष करना इसका मतलब है ध्रुव की धार पर चलना। कुछ समझमें आया ?

अरे...! परंतु यह किस प्रकार का (व्याख्यान) ? क्लिष्ट जैसा लगे। कभी अभ्यास किया नहीं। यों ही दुनिया में दुनिया का हर्ष करके मर गया यों का यों ही। कुछ भगवान का स्मरण - `णमो अरिहंताणं... णमो सिद्धाणं...' किया, (तो) वह शुभराग है, वह कोई धर्म नहीं है।

परंतु यहाँ तो कहते हैं कि : धर्म प्रगट हुआ है। चारित्रदशा अंदर हुई है। परंतु अंदर निर्विकल्प अनुभव में विशेष स्थिरता नहीं रह पाये तो उन्हें (मुनि को) शुभभाव आता है। और शुभभाव के समय भी दृष्टि तो वहाँ रखनी कि यह (शुभ) छोड़कर अंदर में वहाँ जाना है। कुछ समझमें आया ? इस प्रकार अतुल निवृत्ति करके `**चैतन्यसामान्य**' - दर्शनगुण है वह चैतन्यसामान्य है, देखने का स्वभाव है वह चैतन्यसामान्य है। `**और चैतन्यविशेषरूप**' - जानने का स्वभाव है वह चेतन का विशेष है, भेद है। देखना वह सामान्य है और जानना वह विशेष है। वह सामान्य और विशेषस्वरूप भगवानआत्मा है।

आहा...हा...! ऐसी अक्षर की (अध्यात्म की) बातें ! आहा...हा...! अनंतकाल जन्म-मरण ! तो (किये) बापू ! अनादि चौरासी के अवतार में अनंतकाल अनंत दुःख के दिन गये हैं। अरे...! यहाँ ज़रा-सी सुविधा मिले वहाँ ऐसा हो जाता है कि आहा...हा...! हम जैसे बहुत (आगे) बढ़ गये न ! पाँचपचास लाख मिले... जहाँ बच्चों का ठीक चले और दो-पाँच लाख की आय महिने की हो... - हम सुखी हैं ! - धूल भी नहीं है सुना तो सही। (**श्रोता :-**) देखने देखने की दृष्टि में फर्क है ! (हमें) वहाँ सुख लगता है। (**उत्तर :-**) वहाँ धूल लगे, मानता है (खाली)। आहा...हा...! देह और राग की एकत्वबुद्धि में जब देह छूटेगा तब पिलायेगा, बापू ! जिस प्रकार तिल कोल्हू में पेले जाते हैं उस प्रकार जिसे यह शुभराग और देह में एकत्वबुद्धि है (वह) इस दुःख से पिल-पिलकर देह छोड़ेगा। और भवभ्रमण में जायेगा।

परंतु जिसने मेरी चीज़ राग से भिन्न है, ऐसा अनुभव किया, तो मृत्यु समय भी `मैं तो राग से और देह की क्रिया से भिन्न हूँ' ऐसी दृष्टि का अनुभव लेकर,

(अभी) जो थोड़ा राग बाकी हो उसे जाननेवाला रहता है। परंतु उसे राग से स्वर्गादि मिलते हैं। परंतु उस स्वर्ग के मिलने में सुख नहीं मानता।

स्वर्ग के देव हैं। सागरोपम का बड़ा आयुष्य। सागर+उपम=सागरोपम। समुद्र है, उसके पानी के बिन्दु की उपमा असंख्य है; उस प्रकार देव का आयुष्य असंख्य अरब वर्ष का है। यह आपकी भाषा में थोड़ा कह रहे हैं, शास्त्रभाषा बहुत कठिन है। सागरोपम-सागर की उपमा जिसकी आयुष्य की, इतना बड़ा आयुष्य। परंतु वह भी आत्मा के भान बिना पुण्यक्रिया करके स्वर्ग में गया, वहाँ से मरकर धूल में - पशु में जायेगा। आहा...हा...!

और धर्मात्मा का यह जो उत्सर्ग और अपवाद (मार्ग है); उसमें (उत्सर्ग में) जो अंदर रह न सके, (वहाँ) जो (अपवाद -) राग आया (तो) पुण्यबंध हो जायेगा, स्वर्ग का बंध हो जायेगा, स्वर्ग में जायेगा; वहाँ भी `मैं राग और परवस्तु से भिन्न हूँ' ऐसा अनुभव तो साथ में लेकर जाता है। वहाँ लाखों-करोड़ों इन्द्र-इन्द्राणियाँ (होवे परंतु) कहीं भी सुखबुद्धि नहीं है। धर्मीजीव को पर में कहीं भी सुखबुद्धि नहीं है। सुख तो अंतर आत्मा में अतीन्द्रिय आनंद में (है) वहाँ सुखबुद्धि है। परंतु उसमें स्थिर रह न सके तो तो वह अपवादमार्ग आ गया, परंतु उसमें सुखबुद्धि नहीं है।

आहा...हा...! अब ऐसा (सत्यस्वरूप) कब समझे और कब (प्रयोग में लागू करे?) आहा...हा...! जितने क्षण जाते हैं... जिंदगी चली जाती है। इस देह की स्थिति पूरी होनेका निश्चित काल है। उसमें एक क्षण बढ़े नहीं और कम न हो। देह छूटने का समय निश्चित है। जिस क्षेत्र में, जिस काल में, जिस संयोग में (देह) छूटनेवाला है वह (उसी प्रकार) छूटेगा, छूटेगा, छूटेगा। निश्चित ही यह वस्तु(स्थिति) है। तो जितने क्षण और दिन जा रहे हैं वे सब मृत्यु के समीप जाते हैं। देह छूटने के समीप जाते हैं। आहा...हा...! वह जानता है कि `मैं बड़ा हो गया...' `मैंने बाहुबल से पैसे बढ़ाये !' भगवान कहते हैं कि तू मृत्यु के समीप जा रहा है।

(यहाँ कह रहे हैं कि :) `अतुल निवृत्ति करके, चैतन्यसामान्य और चैतन्यविशेषरूप' **`जिसका प्रकाश है ऐसे निजद्रव्य में'** - निज द्रव्य माने वस्तु। द्रव्य माने ये तुम्हारे पैसे नहीं। निजद्रव्य वस्तु भगवान, अस्ति - अविनाशी अनादि-अनंत ऐसी चीज़ है। `है' उसकी उत्पत्ति क्या ? `है' उसका नाश क्या ? `है' उसके स्वभाव का अभाव क्या ? स्वभाव अंदर त्रिकाल पड़ा है। कुछ समझमें आया ? किसका प्रकाश ? - जिसका दर्शन और ज्ञान प्रकाश है, ऐसे निजद्रव्य में **`सर्वतः स्थिति करो।'** - दर्शन

व ज्ञान प्रकाशस्वरूप ऐसा भगवानआत्मा ! ऐसे निजपदार्थ में स्थिति करो। प्रभु ! तुम्हें मुक्ति चाहिए तो वहाँ स्थिर होओ। परमानंद का भाव व परमदुःख का अभाव, ऐसा यदि करना हो तो यह करो। अन्यथा तो भटक रहे हो, भटको। कुछ समझमें आया ?

आयुष्य के पल जितने हैं उतने ही रहेंगे... हाँ ! लाख उपाय करे तो कोई (बढ़ जाय) ? उपाय करे, तो आयुष्य विशेष बढ़ गया ! - सारी झूठी बातें हैं। आयुष्य निश्चित है, उतनी ही वहाँ रहने की योग्यता आत्मा की है।

जिज्ञासा :- जितने श्वास लेने के हो इतने लो। धीरे से ले तो ज्यादा समय जीये ?

समाधान :- वह बात भी गलत है। वे सारी बातें गलत हैं। (वह भी) लाठी (गाँव में) देखा था। बहुत सालों पूर्व की, संवत १९७१ की बात है। (एक) वृद्ध था। धीरे-धीरे चले। उससे मैंने पूछा कि शरीर तो निरोग है तो इस तरह क्यों चल रहे हो ? - धीरे-धीरे चलने से श्वास ज्यादा न लेने पड़े तो आयुष्य बढ़ जाय। (**श्रोता :-**) डॉक्टर लोग बहुत कह रहे हैं ! (**उत्तर :-**) डॉक्टर भी सब गप चलाते हैं। (**श्रोता :-**) आराम लेने का तो कह रहे हैं न...? (**उत्तर :-**) तो क्या आराम अंदर है या बाहर है ? दुनिया से विरुद्ध है न... बापू ! दुनिया की सब खबर है, बापू ! पूरी जिंदगी इस तरह (निवृत्ति में) निकाली है। प्रवृत्ति थोड़ी... पाँच वर्ष... त्रेसठ से अड़सठ - पालेज में दुकान चलाई थी... बस ! फिर छोड़ दिया था। उसे छयासठ वर्ष हुए। (अभी) दुकान बड़ी चल रही है। तीस पैतीस लाख रुपये हैं। एक वर्ष की तीन-चार लाख की आमदनी है। हमारे भागीदार का लड़का है। - धूल में भी कहीं कुछ नहीं है। (**श्रोता :-**) पहले बखान करते हो फिर तुम कहते हो धूल ! (**उत्तर :-**) धूल में भी... परेशान होकर मर गया। यहाँ तो (कहते हैं कि :) पुण्य भाव आता है और (यदि) उसमें रुक जाय तो हैरान होकर दुःखी होता है। आहा...हा...! वह पुण्यभाव जिसे सत्कार्य कहे, वह दुःख है, विकल्प है, राग है, विकार है।

आहा...हा...! उससे (पुण्यभाव से) भिन्न भगवान - भगवान अपना स्वरूप हाँ ! निजद्रव्य लिया न...! - निजद्रव्य में सर्वतः - चारों ओरसे - स्थिति करो। तब मुक्ति मिलेगी। तब अतीन्द्रिय आनंद का लाभ होगा। और अनंत दुःख से मुक्ति होगी। कुछ समझमें आया ?

और (इस ८६ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :-

`**तथा हि -**

(मालिनी)

`विषयसुखविरक्ताः शुद्धतत्त्वानुरक्ताः तपसि निरतचित्ताः शास्त्रसंघातमत्ताः।
गुणमणिगणयुक्ताः सर्वसंकल्पमुक्ताः कथममृतवधूटीवल्लभा न स्युरेते।।११५।।

(श्लोकार्थ :-) जो विषयसुखसे विरक्त हैं, शुद्ध तत्त्वमें अनुरक्त हैं, तपमें लीन जिनका चित्त है, शास्त्रसमूहमें जो [२]मत्त हैं, गुणरूपी मणियोंके समुदायसे युक्त हैं और सर्व संकल्पोंसे मुक्त हैं, वे मुक्तिससुंदरीके वल्लभ क्यों न होंगे ? (अवश्य ही होंगे)।।११५।।

([२] मत्त=मस्त; पागल; अति प्रीतिवंत; अति आनंदित।)

`जो विषय सुख से विरक्त हैं' - पर की ओर के झुकाववाला जो विषयसुख है उससे (जो) अंदर विरक्त हैं, वे मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं, ऐसा कह रहे हैं !

`शुद्ध तत्त्व में अनुरक्त हैं' - शुद्ध भगवान चिदानंद प्रभु उसमें (जो) अनुरक्त हैं। आहा...हा...! विषय से विरक्त हैं, स्वभाव में अनुरक्त हैं। आहा...हा...! जो स्वभाव में अनुरक्त नहीं है वह स्वभाव से विरक्त है, राग से रक्त है। आहा...हा...! ऐसी बातें !! सुनने तक तो मिले नहीं। विषयसुख के विरक्त... परंतु विषयसुख से सिर्फ विरक्त नहीं परंतु शुद्धतत्त्व में अनुरक्त (हैं)। इस आत्मा के आनंदस्वरूप का रंग जिसे चढ़ा है (वे) शुद्ध तत्त्व में अनुरक्त हैं।

`तप में लीन जिनका चित्त है' - तप माने चारित्र। स्वरूप में (लीन) उसे तप कहते हैं। यह उपवास करना और फलाँ चीज़ करना यह कोई तप नहीं है; ये तो सब लंघन है। अंतर आनंदस्वरूप में प्रतपन करना, (अर्थात्) जिस प्रकार स्वर्ण

(सोने) को गेरु लगाते हैं उस प्रकार भगवानआत्मा में सम्यग्दर्शनपूर्वक अंदर लीन होना, जिससे आनंद से ओजसयुक्त (चमकता हुआ) आत्मा प्रगट होता है, उसका नाम तप है। 'तपन्ति इति तपः'। आहा...हा...! अरे...! कभी भी (सच्चा तप) किया नहीं। (सत्य समझने की) दरकार करी नहीं। और यह तप - वर्षीतप करे और उपवास करे और (मानकर बैठ जाय कि) हो गया धर्म ! आहा...हा...! तप 'यह' है। 'तप में लीन जिनका चित्त है।' - यह ज्ञान, ज्ञान में लीन है।

'**शास्त्र समूह में जो मत्त हैं**' - आहा...हा...! वे शास्त्र में मत्त हैं, पागल हैं। दुनिया से भिन्न हो गये (हैं)। आहा...हा...! शास्त्रसमूह के भाव में मस्त हैं। शास्त्रसमूह में मस्त-दीवाने हैं, दीवाने हैं वे धर्मी शास्त्रसमूह में दीवाने हैं। (लोग कहते हैं) क्या कह रहे हैं यह ? पागल जैसी बातें कह रहे हैं ! पागल लोग धर्मात्मा - मुनियों को देखकर पागल कहते हैं। - क्या बात कर रहे हैं यह ? - आत्मा ऐसा है और आत्मा वैसा है। बापू ! भगवान तू है। (इस आत्मा को) समझमें ले तो तुझे (उसका) पता लगे। आहा...हा...! शास्त्रसमूह में मत्त हैं, (मस्त हैं), पागल हैं, अति(शय) प्रीतिवंत और अति आनंदित हैं। शास्त्र के (भाव का) अंदर अपने भाव में जो अनुभव हुआ उसमें अतीन्द्रिय आनंद है।

शास्त्र का मात्र ज्ञान नहीं, शास्त्र की ओर झुकाव इतनी बात नहीं; परंतु शास्त्र जो कह रहे हैं कि 'तेरा स्वरूप अंदर पूर्ण आनंद है' (उसका श्रद्धान-ज्ञान करने से) ऐसी अंदर आनंद में मस्ती चढ़ गई, मस्ती आ गई मस्ती ! मस्त आहा...हा...! जिस प्रकार शराब पीकर मस्त हो जाते हैं न...! उस प्रकार आत्मा की शांति प्रगट करके मस्त हो जाते हैं। उन्हें दुनिया की कुछ पड़ी नहीं है। आहा...हा...! अति आनंदित होते हैं। - वे शास्त्रसमूह में मत्त हैं।

'**गुणरूपी मणियों के समुदाय से युक्त हैं**' - भगवानआत्मा में अनंतगुण पड़े हैं। संख्या से गुण अनंत हैं। वस्तु एक। सूक्ष्म बात ! जिस प्रकार सक्कर एक; परंतु सफेदपना, मीठास, चीकनापना आदि उसकी शक्ति हैं। उस प्रकार वस्तु एक; परंतु ज्ञान, दर्शन, आनंद आदि अनंत गुण हैं। आहा...हा...! 'गुणरूपी मणियों के समुदाय से युक्त हैं।' जिसकी दृष्टि में गुणयुक्त आत्मा आया, उस गुणरूपी मणियों का समुदाय - पिंड पूरा भगवान, उससे सहित है। ऐसा कहकर क्या कहा ? देखो ! गुणरूपी मणियों अर्थात् अंदर गुणरूपी मणियों - ज्ञान, आनंद, स्वच्छता, प्रभुता, कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, दर्शन, ज्ञान, वीर्य ऐसे अनंत गुणरूपी मणि अंदर - पड़े हैं। गुणरूपी

मणियों से सहित है। आहा...हा...हा...!

'**और सर्व संकल्पों से मुक्त हैं।**' - पर की एकताबुद्धि से जो संकल्प-विकल्प होते हैं (उनसे मुक्त हैं)। दोनों की ज़रा (अलग) परिभाषा है। संकल्प में पर की एकताबुद्धि। विकल्प में अस्थिरता। - इन दोनों से मुक्त हैं। 'समयसार' में ३५ वें पृष्ठ पर (कलश-१०) आता है न...! राग और पर की एकत्वबुद्धि वह संकल्प। और अस्थिरता का भाव होना अनंतानुबंधी, वह विकल्प। प्रत्येक का अर्थ करने चले तो सूक्ष्म पड़ेगा। (सर्व) संकल्प-विकल्प से मुक्त हैं। 'मैं आनंदस्वरूप हूँ' ऐसा विकल्प भी जिन्हें अंतर में छूट गया है। आखरी बात है वह कर रहे हैं। और अतीन्द्रिय आनंद में मस्त हो गये हैं। आहा...हा...!

'**वे मुक्तिसुंदरी के वल्लभ क्यों न होंगे ?**' आहा...हा...! क्या कह रहे हैं ? ऐसा जो आत्मा आनंदस्वरूप, अनंत गुण के मणियों से सहित है; ऐसा (जिसे) भान हुआ, दृष्टि हुई और स्थिरता हुई तो वह, मुक्तिसुंदरी - मुक्तिरूपी दशा, पूर्णानंद प्राप्तिरूप दशा वह मुक्तिसुंदरी, इस मुक्तिरूपी सुंदरी - (का वल्लभ होगा)।

पाठ में 'स्त्री' कहा है न...! '**कथममृतवधूटी वल्लभा न स्पुरेते।**' वधू माने स्त्री। ऐसा भगवानआत्मा, (ऐसे) आत्मा में जिनकी दृष्टि और ज्ञान व रमणता जम गई है वे मुक्तिरूपी सुंदरी का वल्लभ क्यों न होंगे ? आहा...हा...! अर्थात् क्या कह रहे हैं ? कि : उन्हें पूर्णानंद की प्राप्ति में वल्लभ अर्थात् प्रेम होगा। वही वल्लभ (प्रेमी) हैं। मुक्तिरूपी सुंदरी का वल्लभ (हैं)। जिस प्रकार पति, पत्नी का वल्लभ है उस प्रकार ये मुक्तिरूपी सुंदरी के वल्लभ होंगे। पूर्णानंद की प्राप्ति वह चारित्र और सम्यग्दर्शन के प्रताप से, शुद्ध आत्मा के अनुभव के प्रताप से वे पूर्ण सुंदर - मुक्तिरूपी सुंदरी के वल्लभ क्यों न होंगे ? - निश्चयपूर्वक उनकी मुक्ति होगी ही। उनको मुक्ति (प्राप्त) होगा ही। ऐसा कह रहे हैं ('**अवश्य ही होंगे**')। - इस आत्मा की दृष्टि और (उसका) अनुभव और (उसमें) स्थिरता करनेवाले जरूर मुक्ति प्राप्त करेंगे।

कोई दूसरा करवा रहा है, करवा सकता है ? - स्वयं करता है। कोई मोक्ष दे सकता है ? मोक्ष तो उसका अंदर आनंद पड़ा है, इस आनंद को प्रगट करने का (काम) इसे है। और दुःख जो दशा है उसका नाश करना वह व्यय। अनंत आनंद का प्रगट होना वह उत्पाद। और ध्रुवपने से तो त्रिकाल है। ऐसी मुक्ति की प्राप्ति क्यों न हो ? - होगी, होगी ही होगी !

श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्यदेवप्रणीत

श्री नियमसार

श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित संस्कृत टीका

(परमार्थ-प्रतिक्रमण अधिकार)

गाथा-८७

मोत्तूण सल्लभावं णिस्सल्ले जो दु साहु परिणमदि।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा।।८७।।

मुक्त्वा शल्यभावं निःशल्ये यस्तु साधुः परिणमति।
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणयो भवेद्यस्मात्।।८७।।

इह हि निःशल्यभावपरिणतमहातपोधन एव निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप इत्युक्तः।

निश्चयतो निःशल्यस्वरूपस्य परमात्मनस्तावद् व्यवहारनयबलेन कर्मपंकयुक्त्वात् निदानमायामिथ्याशल्यत्रयं विद्यत इत्युपचारतः। अत एव शल्यत्रयं परित्यज्य परमनिःशल्यस्वरूपं तिष्ठति यो हि परमयोगी स निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप इत्युच्यते, यस्मात् स्वरूपगत-वास्तवप्रतिक्रमणमस्त्येवेति।

❋

हिन्दी अनुवाद

कर श्लयका परित्याग मुनि निःशल्य जो वर्तन करे।
प्रतिक्रमणमयता हेतुसे प्रतिक्रमण कहते हैं उसे।।८७।।

अन्वयार्थ :- [यः तु साधुः] जो साधु [शल्यभावं] शल्यभाव [मुकत्वा] छोड़कर [निःशल्ये] निःशल्यभावसे [परिणमति] परिणमित होता है, [सः] वह (साधु) [प्रतिक्रमणम्] प्रतिक्रमण [उच्यते] कहलाता है, [यस्मात्] कारण कि वह [प्रतिक्रमणमयः भवेत्] प्रतिक्रमणमय है।

टीका :- यहाँ निःशल्यभावसे परिणत महातपोधनको ही निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप कहा है।

प्रथम तो, निश्चयसे निःशल्यस्वरूप परमात्माको व्यवहारनयके बलसे कर्मपंकयुक्तपना होनेके कारण (- व्यवहारनयसे कर्मरूपी कीचड़के साथ संबंध होनेके कारण) 'उसे निदान, माया और मिथ्यात्वरूपी तीन शल्य वर्तते हैं' ऐसा उपचारसे कहा जाता है। ऐसा होनेसे ही तीन शल्योंका परित्याग करके जो परम योगी परम निःशल्य स्वरूपमें रहता है उसे निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप कहा जाता है, कारण कि उसे स्वरूपगत (-निज स्वरूपके साथ संबंधवाला) वास्तविक प्रतिक्रमण है ही।

❋

प्रवचन- २८, दि. २६-२-१९७८

'नियमसार' ८७ वीं गाथा। 'परमार्थ-प्रतिक्रमण अधिकार' है न...! **'यहाँ निःशल्यभाव से परिणत महातपोधन को ही निश्चयप्रतिक्रमण स्वरूप कहा है।'**

- क्या कहा ? 'तत्त्वार्थसूत्र' में आता है न...! 'निःशल्यो व्रती।' निःशल्य अर्थात् मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यात्वशल्य। (ये) तीन महादोष हैं। इन तीन शल्यों को छोड़कर, निश्चय निःशल्यभाव से परिणत। अर्थात् शल्यरहित, अंदर आनंद और ज्ञान की परिणति से परिणत। परिणत अर्थात् अवस्था में उस-रूप परिणमन होना। ऐसे महातपोधन - महासंत - तपोधन को ही निश्चयप्रतिक्रमण होता है। है न...! 'निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप कहा है।'

'प्रथम तो,' - मुख्य बात यह है कि - **'निश्चय से निःशल्यस्वरूप परमात्मा'** यह आत्मा ही है वह निःशल्य, त्रिकाल निःशल्य ही है। भगवानआत्मा का स्वरूप परमात्मा; उसका स्वरूप निःशल्यभावरूप ही है। आत्मा निःशल्यभावरूप है तो पर्याय में निःशल्यभाव परिणत होता है।

पहली बात करी : निःशल्यस्वरूप परमात्मा ! आहा...हा...! यहाँ भगवान अरिहंत की बात नहीं है। यहाँ त्रिकाल भगवान निःशल्यरूप परमात्मास्वरूप; यह इसका

(- इस आत्मा का) स्वरूप है, प्रथम सम्यग्दर्शन के विषय में 'इन तीन शल्यरहित परमात्मा है।' यह सम्यग्दर्शन का विषय है। 'निःशल्य परमात्मास्वरूप' यह सम्यग्दर्शनप्राप्ति का विषय है। सम्यग्दर्शन का विषय - ध्येय - निःशल्य परमात्मस्वरूप, ध्रुव है। समकित का विषय निमित्त नहीं, राग नहीं और शुद्ध पर्याय भी नहीं। यह (आत्मा) तो निःशल्यस्वरूप ही है। यदि निःशल्यस्वरूप है तो पर्याय में निःशल्यस्वरूप से होता है। कुछ समझमें आया ? ऐसी बातें हैं !!

जिज्ञासा :- पर्याय में शल्यभाव नहीं है ?

समाधान :- इस पर्याय में शल्य है, (परंतु) वस्तु में नहीं है। वस्तु द्रव्यस्वभाव जो द्रव्य; उसका तो निःशल्यरूप ही परिणमनस्वभाव है।

ऐसे निःशल्यस्वरूप '**परमात्मा को, व्यवहारनय के बल से**' - वह तो पर्याय का - व्यवहारनय का विषय है इस कारण से '**कर्मपंकयुक्तपना होनेके कारण**' - पंक अर्थात् मैल-कीचड़ कर्म है उसके साथ युक्तपना; वह युक्तपना व्यवहारनय से है। निश्चयनय में तो कर्म के साथ युक्तपना है ही नहीं। आहा...हा...! ऐसी ऐसी (बातें !)

पहले निःशल्यरूप से परिणमित हो वह प्रतिक्रमण है, ऐसा कहना है। वह पहले निःशल्यपरमात्मा ही है, ऐसा बताया है। स्वरूप जो ध्रुव नित्यानंद प्रभु ! उसमें तो न माया है, न निदान है। निदान माने यह पुण्य करूँ और फिर कुछ स्वर्ग मिले या चक्रवर्तीपद मिले, ऐसा (निदान); स्वरूप में तो है ही नहीं। उस प्रकार मिथ्याशल्य जो मान्यता - राग से धर्म हो, पुण्य से धर्म हो - ऐसा जो मिथ्याशल्य; वह स्वरूप में तो है ही नहीं। आहा...हा...! ऐसा जो निश्चय से निःशल्य परमात्मस्वरूप; वह व्यवहार से कर्मपंक से मलिनता सहित दिखता है। ऐसा होनेके कारण - '(**व्यवहारनय से कर्मरूपी कीचड़ के साथ संबंध होनेके कारण**) **उसे निदान, माया और मिथ्यात्वरूपी तीन शल्य वर्तते हैं।**' - आहा...हा...! वस्तुस्वरूप निःशल्य परमात्मा होनेके बावजूद भी (वह) पर्याय में तीन शल्यरूप प्रवर्तन करता है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

पहले तो यह सिद्ध किया कि तीन शल्यरूप पर्याय में वर्तता है। 'वर्तता है' उसे छोड़ना है। आत्मा शल्यरूप परिणमन करे ? कि - हाँ। व्यवहारनय से परिणमन करे ? डॉक्टर गांगुली का एक प्रश्न बारंबार आता था कि - आत्मा रागरूप हो जाय ? आहा...हा...! तत्त्व की कुछ ख़बर न होवे। तत्त्व जो द्रव्यस्वभाव, शक्तिरूप स्वभाव, आत्मा के साथ तादात्म्य गुण के स्वभावरूप वस्तु, वह तो बिल्कुल निर्दोष-पवित्र है; परंतु वह आत्मा ही स्वयं अपना स्वरूप भूलकर और पर्याय में मिथ्यात्वभाव,

मायाशल्य, निदानशल्य, (ये) पर्याय में परिणमित होते हैं। कुछ समझमें आया ? (**श्रोताः**) यहाँ माया आयी, क्रोध-मान नहीं आये ! (**उत्तर :-**) यहाँ मायाशल्य लेना है। कपट का अंदर गहराई में शल्य पड़ा रहता (है)। 'माया हृदय हाथ न आवे' ऐसे माया-कपट-कुटिलता, यह लेना है। मिथ्यात्व और माया (-कपट) और निदान... बस ! तीन शल्य हैं। फिर राग की अस्थिरता का भाव मुनि के (भी) होता है। परंतु यहाँ तो तीन शल्यरहित महातपोधन (होते हैं। अर्थात्) भगवत्स्वरूप आचार्यमुनि की परिणति में तीन शल्यों से रहित दशा होती है। और उसके (-शल्य के) स्थान में अतीन्द्रिय आनंद और अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय अनंत शांति की उग्रता का परिणमन होता है। शांति... शांति... शांति, आनंद... आनंद ! आहा...हा...हा...!

धर्मी को, किसी परचीज़ में, अपनी चीज़ से अधिकता और विशेषता कहीं भी भासित नहीं होती। कुछ समझमें आया ? धर्मी को अपने आत्मा के आनंदस्वरूप की विशेषता - चमत्कारिक माहात्म्य भासित हुआ है इसलिये (उसे) किसी बाह्य पदार्थ - शरीर सुंदर, बहुत लक्ष्मी, करोड़ों रूपयों के बड़े बंगलों - की विस्मयता- आश्चर्यता नहीं लगती। आहा...हा...! इन्द्र के इन्द्रासन होवे तो भी समकिती को (उसमें) आश्चर्यता - विस्मयता नहीं लगती।

(आत्मा को) ये तीनों शल्य (वर्तते हैं) '**ऐसा उपचार से कहा जाता है।**' - क्या कहा ? भगवानआत्मा परमानंदस्वरूप, ध्रुव; उसमें तो तीन शल्य नहीं हैं। परंतु पर्याय, कर्म के संग से - कर्म के संयुक्तपने के कारण - तीन शल्यरूप है; ऐसा व्यवहारनय से - उपचार से कहा जाता है। उपचार से माने द्रव्य में नहीं है परंतु पर्याय में है, अतः उपचार है। कुछ समझमें आया ? व्यवहारनय से कहो या उपचार से कहो तो इन तीन शल्यरहित वर्तता है। वर्तता है (अर्थात्) यह आत्मा तीन शल्यों में वर्तता है। पर्याय में तीन शल्य (हैं)। इन्द्रियों में सुखबुद्धि, पुण्य के भाव में हितबुद्धि, पाप के परिणाम में आनंद का - सुख का भासना - ये सब मिथ्यात्वभाव; इस भाव में जीव व्यवहारनय से वर्तता है। (**श्रोता :-**) उपचार करना माने ? (**उत्तर :-**) वह पर्याय में है, वही उपचार। वस्तु में नहीं और पर्याय में है इसे व्यवहार कहो या उपचार कहो (ऐकार्थ है)। पर्याय में तीन शल्यपना है, उसे आत्मा - द्रव्य - जीव वस्तु तो निमित्तमात्र है। निमित्त माने कुछ नहीं। पर्याय उपादानरूप से अपने में तीन शल्यरूप से वर्तती है।

'ब्रह्मसत्य और जगत मिथ्या' माने जगत नहीं है उस प्रकार से दोष पर्याय में

नहीं है (- ऐसा नहीं)। परम-सत्य प्रभु में दोष नहीं है किन्तु उसकी पर्याय में दोष नहीं है - ऐसा (वस्तु) स्वरूप नहीं है। यदि दोष न हो तो उसे अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव (होना) चाहिए।

कह रहे हैं कि : वह तीन शल्यों के भावसहित वर्तता है, ऐसा कहा। कर्म को लेकर वर्तता है ऐसा नहीं। स्वयं अपने को भूलने से (उसे) कर्म का संयुक्तपना - संबंध है... बस ! आहा...हा...! अंदर गहराई में राग के अंश के भाव से (मुझे) लाभ होगा - ऐसा जो मिथ्यात्व शल्य है, उसमें व्यवहारनय से वह जीव वर्तता है उसको उपचार से कहा जाता है।

तीन शल्य वर्तते हैं, ऐसा कहा न...! दोष चैतन्य की पर्याय में नहीं है, ऐसा नहीं है। उस तरह कर्म को लेकर (दोष) है, ऐसा (भी) नहीं है। वैसे वह (दोष) है इसलिये वह निश्चय से है, ऐसा भी नहीं है। अशुद्ध निश्चय से उसे कहा जा सकता है, परंतु अशुद्धनिश्चय वह व्यवहार ही है। कुछ समझमें आया ? परचीज़ है वह तो निमित्तमात्र है। आहा...हा...! अरे...! दोष है उसे भी भगवान - द्रव्य तो निमित्तमात्र है। अतः (दोष) उससे (त्रिकाली द्रव्य से) होता नहीं है और इससे (कर्म से) होता नहीं है। (**श्रोता :-**) पर्याय में है परंतु छूट जाता है इसलिये (ऐसा कहते हैं) ? (**उत्तर :-**) है, व्यवहार है, तो छूट जाता है। निश्चय से यदि (दोष) उसके स्वभाव में हो तो छूटे नहीं। (क्योंकि) वह (दोष) तो उसका वस्तुस्वरूप हो गया।

यहाँ तो मुनिपने की दशा निःशल्यरूप से वर्तती है, उसका वर्णन है। और उन्हें (मुनि को) सच्चा प्रतिक्रमण होता है। वे शल्य से पीछे हटे हैं। प्रतिक्रमण है न...! व्यवहार से जो शल्य है उससे वे धर्मी व्यवहार से पीछे हटे हैं। तब उन्हें निःशल्य परिणमन पर्याय में - अतीन्द्रिय आनंद की व्यक्तदशा परिणमनरूप से - होती है। उसे यहाँ सत्य-निश्चय प्रतिक्रमण कहकर, प्रतिक्रमणमय वे जीव हैं। - निःशल्यपरिणमनसहित ही वे जीव हैं।

'ऐसा उपचार से कहा जाता है...' है ! '**ऐसा होनेसे ही**' (अर्थात्) वस्तु के त्रिकाल स्वभाव में तो, परमात्मस्वरूप में तो, उन तीन शल्योंमें से एक भी शल्य है ही नहीं; परंतु पर्याय में तीन शल्यरूप वर्तता है - अतः 'ऐसा होनेसे ही' '**तीन शल्यों का परित्याग करके**' (अर्थात्) हैं उन्हें छोड़ता है न...! भगवानआत्मा परमानंदस्वरूप, निःशल्यस्वरूप; उसका आश्रय लेकर जहाँ स्थिरता होती है वहाँ (वे) तीन शल्य छूट जाते हैं। अतः तीन शल्यों का उन्हें प्रायश्चित हुआ, प्रतिक्रमण हुआ। 'तीन शल्यों

का परित्याग करके' - सिर्फ 'त्याग करके' शब्द नहीं लिया (परंतु) 'परित्याग करके' अर्थात् समस्त प्रकार से छोड़कर। आहा...हा...!

आनंद का नाथ प्रभु अतीन्द्रिय अमृत का सागर ! जिसके स्वाद के आगे इन्द्र के इन्द्रासन (सड़े हुए तिनके के समान लगे)। अर्धलोक का स्वामी शक्रेन्द्र और उसकी करोड़ों इन्द्राणियाँ - ये (कोई) इस अनाज के गुड्डे नहीं हैं, उन्हें तो हज़ारों वर्ष में कंठ से अमृत झरता है। उसके (इन्द्र के) भोग भी ज्ञानी को दुःखदायक और ज़हर के समान लगते हैं। क्योंकि उन्हें अतीन्द्रिय आनंद के स्वाद की तुलना में उन विषयभोग के राग का स्वाद ज़हर जैसा दुःखरूप लगता है। अतः उन्हें आनंद के स्वरूप में रमण करते करते उस शल्य का त्याग हो जाता है।

जिज्ञासा :- बाहुबलीजी को शल्य था न ?

समाधान :- बाहुबली को ज़रा विकल्प था। मिथ्यात्वशल्य नहीं था। राग ज़रा-सा - उतना रह गया था। विकल्प खिसकता नहीं था। जरा-सा (राग) वहाँ (मुनि को) रह जाता है। (मुनि) छठे-सातवें, छठे-सातवें (गुणस्थान में) रहा ही करते हैं। सातवे में जाय तो भी (अस्थिरतावश) फिर छठे में आया करते हैं। (विकल्प) छोड़कर अंदर (श्रेणी में) जा नहीं सकते। उतना ज़रा राग रह गया था; शल्य नहीं; राग। व्यवहार से कहा जाया इस तरह ज़रा - उस राग में अटक गये कि : मैं किसीकी जमीन में खड़ा हूँ, उस प्रकार। भरत को दुःख लगा होगा ? ऐसा जो विकल्प, वह छठे में आये तब, रह गया। सातवे में जाय और वापिस फिर छठे में आये, (परंतु) वह विकल्प हटे नहीं। आहा...हा...! वे जब अंतर-अंदर में उतर गये (तब) उस विकल्प का नाश हो गया और विशेषरूप से - उग्र निर्विकल्प आनंद की धारा बही। आहा...हा...! उसे प्रतिक्रमण कहा जाता है। ऐसी बात है !! समझमें आया ?

संवत्-१९८० में बोटाद में सब भाई शाम को प्रतिक्रमण करने आते थे। एकबार मेरे से सबको ऐसा कहा गया कि : भाई ! यह प्रतिक्रमण है वह तो ठीक; परंतु आत्मानुभव और विभाव क्या चीज़ हैं यह ख़बर है ? वे तो बोले नहीं परंतु फिर यह (दूसरे साधु) बोले कि यह विभाव और अनुभव; ऐसा अपने यहाँ नहीं होता। आहा...हा...! कुछ पता नहीं है (तो) क्या कहे ? और वैसे कहे जाते थे जैन के बारिस्टर (वकील)। इस बारिस्टर में इतनी होशियारी ! ७२ के संवत् की बात है। एकबार मैंने चीतल में पूछा कि : धर्मास्तिकाय में गुण की संख्या कितनी ? तब कहा कि उसमें दो गुण हैं - एक गति और दूसरा अरूपी। (**श्रोता** :-) तब यह चलता ही नहीं था।

(**उत्तर :-**) यहाँ तो प्रभु कहते हैं कि : प्रत्येक द्रव्य में सामान्य गुण भी अनंत और विशेष भी अनंत हैं। अब वे बड़े बारिस्टर कहे जाते थे, उन्हें इतना भी पता नहीं ! यहाँ तो कहते हैं कि यह भी एक वस्तु है। वह अपनेरूप है और पररूप नहीं है, तो उसमें अनंत धर्म हो जाते हैं। यह तो सुना तक न हो कि : उसमें (आत्मा में) अनंतधर्मत्व नाम का तो एक गुण है। (ऐसे) अनंत धर्म, अनंत गुण, अनंत शक्ति आत्मा में है। वह विभाव और अनुभव और ये कोई बात (संप्रदाय में है ही नहीं)।

भाई ! राग के भाव से छूटकर, भगवान पूर्णानंद का प्रवाह बहता है, उसका अनुसरण करके अंदर दशा प्रगट करना उसका नाम आत्मा का अनुभव है। और वह अनुभव रत्नचिंतामणि (है)। आहा...हा...! `अनुभव चिंतामणिरतन, अनुभव है रसकूप।' - वह अनुभव रस का समुद्र है। आहा...हा...! जिसमें अनंत पर्यायें एक साथ शुद्धरूप से परिणमन करती (है)। आहा...हा...! उस अनुभव का नाम भी न आये किसी को (- संप्रदाय में) कि अपने यहाँ अनुभव की बात नहीं है। यहाँ कहा : `अनुभव चिंतामणिरतन' - रत्नचिंतामणि। ऐसे आत्मा का राग से भिन्न होकर अंदर में अनुभव करना यह तो रत्नचिंतामणि है। अर्थात् चिंतामणि का पथ्थर मिल जाय तो (जो) चिंतवन करे वह हो जाय। वह पथ्थर देवअधिष्ठित होता है, उस प्रकार भगवानआत्मा राग से भिन्न होकर भेदज्ञान में आया तब जिस आत्मा का अनुभव हो वह तो रत्नचिंतामणि है। अनुभव हाँ ! वस्तु की तो क्या बात करनी ? आहा...हा...! पूर्णानंद का नाथ ! जिसमें अनंत अतीन्द्रिय आनंद भरचक भरा है। (अनंत) अतीन्द्रिय ज्ञान, अनंत अतीन्द्रिय श्रद्धा शक्तिरूप से, अनंत... अनंत... अनंत अतीन्द्रिय प्रभुता - उसका तो प्रभु है वह भगवान ! उसकी तो बात क्या करनी ? परंतु उसका अनुभव पर्याय में हो उसे भी हम अनुभव रत्नचिंतामणि कहते हैं। आहा...हा...हा...!

यह (लिखावट) शास्त्र में सब है...हाँ ! परंतु पढ़ते नहीं हैं। दिगंबर शास्त्र में सब चीज़ हैं। ऐसी (बात) अन्यत्र कहीं नहीं है। दिगंबर शास्त्र में तो सब कुछ भरा है। दिगंबर का कोई भी शास्त्र छोटे से छोटा - `द्रव्यसंग्रह' लो, `इष्टोपदेश' लो !

इष्ट उपदेश - प्रिय उपदेश, यथार्थ उपदेश - किसे कहे ? वहाँ ऐसा ३५ वीं गाथा में कहा कि : जीव गति करे तब धर्मास्तिकाय को निमित्त कहा जाता है। (जीवने) निमित्त से गति नहीं करी है। स्वयं गति करता है तब सामने निमित्त धर्मास्तिकाय को कहा जाता है। इस प्रकार (निमित्त) सभी को धर्मास्तिकायवत् (होता है)। ऐसा पाठ है। (फिर भी कई लोगों को) यह बात बैठती नहीं है। नहीं ! वह

निमित्त कुछ करे। निमित्त कुछ (उपादान में) करे। अग्नि आये तो पानी गरम हो। छुरी निमित्त है तो सब्जी के दो टुकडे होते हैं। - सब झूठी बातें हैं। उस (सब्जी के) टुकडे होने का (उस) पर्याय का काल, उसका अपना स्वकाल था तो हुए हैं। तब छुरी को निमित्त कहा जाता है।

यहाँ कहते हैं : 'तीन शल्यों का परित्याग करके' - समस्त प्रकार से छोड़कर, और समस्त प्रकार से पूर्णानंद के नाथ का अवलंबन लेकर, चारों ओरसे भगवान के आश्रय में आकर।

'प्रवचनसार' में 'आसन' कहा न...! मूल आसन वह है। उस आसन में आत्मा मिलता है। सम्यग्दर्शन - ज्ञान ये अंदर आसन हैं। वहाँ तुझे आनंद का धाम - भगवान मिलता है। जिस प्रकार उस बड़े मकान में जायेगा तो तुझे राजा वहाँ होगा वह मिलेगा उस प्रकार इस (आत्मा) का आसन सम्यग्दर्शन-ज्ञान; वहाँ जा तो तुझे भगवानआत्मा मिलेगा। आहा...हा...!

इन तीनों शल्यों का परित्याग करके '**जो परम योगी**' देखो ! ये योगी - चौथे गुणस्थानवाले मुमुक्षु को भी योगी - कहते हैं। स्वयं निर्मलपर्याय को जितनी द्रव्य के साथ जोड़ता है वह उतना योग का साधन - योगी हैं। और जो राग के साथ को जोड़ता है वह भोगी जीव, भोग का - विकार का भोक्ता - भोगी प्राणी है। उन जोगी से भोगी भिन्न जाति है।

यहाँ कह रहे है : 'जो परम योगी' - केवल योगी शब्द का उपयोग नहीं किया है। क्योंकि चौथे गुणस्थान में भी योगी तो कहा है। हमने कहा था न...! मोक्षार्थी सिद्धांत तो इस प्रकार सेवन करे। संस्कृत में है। मुमुक्षु माने योगी, ऐसा शब्द है। यहाँ तो समकितदृष्टि शुरू हुई तबसे उन्हें योग का जुड़ान स्वभाव की ओर हुआ इसलिये उन्हें योगी कहने में आया। और मुनि तो परम योगी हैं। शब्द पड़ा है न...? आहा...हा...!

जिसने माया, निदान और मिथ्यात्वशल्य छोड़ा है। (**श्रोता :-**) व्यवहारनय से वर्तता है। (**उत्तर :-**) वर्तता है न...! अज्ञानी को पर्याय में मिथ्यात्व वर्तता है। (अज्ञानी को) पर्याय में मिथ्यात्व है कि नहीं ? वस्तु में नहीं है। पर्याय में मिथ्यात्व है, निदान है (और माया शल्य) है; उन्हें पर्याय में छोड़कर, निर्मलपर्याय प्रगट करे। - यह तो बात आ चुकी न...! मिथ्यात्व, निदान और माया, ये पर्याय में वर्तते हैं, उसकी दशा में वर्तते हैं; कर्म में वर्तते हैं ऐसा नहीं। (**श्रोता :-**) यह मिथ्यादृष्टि की बात

है ? (**उत्तर :-**) हाँ, मिथ्यादृष्टि की बात है। और मिथ्यादृष्टि चली गई तब फिर मिथ्यात्व वर्तता नहीं है; परंतु अंदर अचारित्र रागादि का होता है। परंतु यहाँ तो उत्कृष्ट बात अर्थात् मुनि की (बात) लेनी है न...! मुनि को तो तीनों शल्यों से रहित सिर्फ आनंद की दशा (वर्तती है)। आहा...हा...! चाहे जितने परिषह और उपसर्ग आये तो भी उनमें वे (मुनि) घबडाते नहीं हैं वे (तो) उत्कृष्ट आनंद में जुड़ जाते (हैं), आनंद का स्वाद लेनेके लिये वे अंदर में घुस जाते हैं - जहाँ अतीन्द्रिय आनंद का अंदर ढेर पड़ा है !

जिज्ञासा :- ऐसी बात कहीं हो तो (आत्मा) गया कहाँ ? ऐसा बोले कि महाराज ! बहुत प्रशंसा करते हो : आत्मा ऐसा है और ऐसा है ! तो वह धूली हुई मूली जैसा साफ-निर्मल आत्मा वह गया कहाँ ? ऐसा एक भाई कह रहे थे।

समाधान :- गया कहीं भी नहीं है। परंतु तुझे भान नहीं है इसलिये तुझे दिखता नहीं है। आहा...हा...! अंदर भगवान पूर्णानंद का नाथ, धूली हुई मूली की माफिक स्वच्छ पड़ा है !

यहाँ तो कहा न...! कि : वह तो निःशल्यस्वरूप परमात्मा है। उसके स्वरूप में तो शल्य की गंध नहीं है। आहा...हा...! ध्रुव... ध्रुव...! ध्रुव के ध्येय को ध्यान में लेकर जिसने आत्मा का अनुभव किया उसे तीन शल्य रहित दशा हुई वह परम योगी कहलाता है। उन अन्यमति के योगी 'बावा' कहलाते हैं, वे नहीं... हाँ ! यह तो स्वरूप परमानंद का नाथ - ढीम, अतीन्द्रिय आनंद का - ढीम-ढेर, महा अरूपी स्वभाव पड़ा है; उसमें जिसने जुड़ान जोड़ दिया है - राग में जो जुड़ान था वह छूटकर, स्वरूप में जुड़ान किया है और वह भी उग्ररूप से किया है - अतः उन संतों को परम योगी कहा जाता है। आहा...हा...! यह संतों की स्वरूपदशा !!

आहा...हा...! (यह जीव) बड़ी मुश्किल से निगोद से निकलकर, एकेन्द्रियमें से निकलकर, द्विइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चौरेन्द्रिय, पंचेइन्द्रिय, उसमें से मनुष्य अर्थात् पंचेन्द्रियमें से मनुष्य होना, आहा...हा...! (अति दुर्लभ है, भाई ! और) उसमें भी आर्यकुल, उसमें उत्तम जैनधर्म का कुल मिलना - आहा...हा...! उसमें भी वीतराग की वाणी यथार्थ सुनने को मिलना, - आहा...हा...! (उत्तरोत्तर दुर्लभ होता है)। आहा...हा...! (अब) ऐसी दुर्लभ चीज़ मिली; उसे कृतार्थ किया (सही उपयोग किया) कब कहा जाय ? कि - उस राग से भिन्न भगवानस्वरूपी प्रभु की दृष्टि और (उसका) अनुभव करो तो मनुष्यपना सार्थक किया कहा जाय।

यहाँ कहा जाता है कि : (जो) परम योगी `**परम निःशल्यस्वरूप में रहता है**' - देखा ! पहले मिथ्यात्व आदि में वर्तता था वह जब - वहाँ से छूटकर स्वरूप में - आनंद में आया तब निःशल्यरूप से रहता है। पहले शल्यरूप से रहता था। (वह) बात पर्याय की है। वस्तु तो (त्रिकाल) निःशल्य है। कुछ समझमें आया ?

श्वेतांबर में तिक्खुतो, पडिकमण, काउसग्ग, लोगस्स, नमोत्थुणं आदि सात पाठ आते हैं। वह पडिकमण - सामायिक करता है न... पालेज में आठ दिन मैं ही कराता था। आठ दिन सब इकट्ठे मिलते थे, पडिकमण मुखपाठ किया था। सुने सब। - धर्म हो गया, लो ! आहा...हा...! वह तो एक पहाडे (याद किये) थे। वह शुभभाव और उसमें फिर धर्म माना। (वह) मिथ्यात्वशल्य था।

यहाँ तो कहते हैं : (जो परम योगी परम) `निःशल्यस्वरूप में रहता है' - भाषा देखी। अनादि से मिथ्याशल्य में रहता था - वे मिथ्यात्व, निदान और कपट (माया) के भाव को छोड़कर, शुद्ध चैतन्यघन के निःशल्यभाव में परिणमित होते हैं, उन्हें संत और परम योगी और प्रतिक्रमणमय कहा जाता है। वह आत्मा प्रतिक्रमणस्वरूप ही है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

`**उसे निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप कहा जाता है**' - देखा ! जो परम योगी निःशल्यरूप से स्वरूप में रहते हैं उन्हें सच्चे प्रतिक्रमणस्वरूप, सत्य प्रतिक्रमणस्वरूप - वास्तव में जिससे हट जाना है वहाँ से हटे हैं और स्वरूप में आये हैं अतः उन्हें सच्चे प्रतिक्रमणस्वरूप कहा जाता है। `**कारण कि उसे स्वरूपगत**' - वह (जो) राग का संबंध था वह छूटकर अब स्वरूप का संबंध हुआ है। है...! स्वरूप के साथ संबंध (अर्थात्) अब ज्ञायक और अतीन्द्रिय आनंद का दल प्रभु के साथ जिसका संबंध हुआ है। अनादि से राग और पुण्य-पाप के भाव के साथ संबंध था और `वे मेरे हैं' ऐसा मानकर मिथ्यात्व में था उससे छूटे हैं; निःशल्यपने से रहते हैं, स्वरूप में निःशल्यरूप से रहते हैं। `उसे स्वरूपगत' - वे स्वरूप में रमण करते हैं। अब स्वरूप के साथ संबंध हो गया है। राग का संबंध छूटकर स्वरूप का संबंध किया है। आहा...हा...!

ध्यान करना तो उसे आता है। समझमें आया ? परंतु आर्तध्यान और रौद्रध्यान। एक बाप था। लड़के की शादी। बरात चली गई। और स्वयं एकांत में बैठा हुआ विचार कर रहा था। आधे घंटे तक विचार करने में ऐसा तन्मय हो गया कि इसके लिये क्या करना और कैसे करना ? बरात चली गई बाजार में। खुद को साथ में होना चाहिए। उसके बजाय कोने में बैठकर विचार करने में उसे कुछ पता नहीं

कि वह बरात कहाँ गई ? देखो ! ध्यान करना आता है। सब कुछ भूलकर ध्यान तो करना आता है। परंतु उल्टा ! तो जैसे ध्यान उस प्रकार (उल्टा) आता है वैसे इस प्रकार (सीधा) करना (भी) आता है।

आहा...हा...! (परम योगी को) `**निज स्वरूप के साथ संबंधवाला**' - अनादि से तो राग और विकार के साथ संबंधवाला ध्यान था, अप्रतिक्रमण था। और `यह' निजस्वरूप के साथ संबंधवाला `**वास्तविक प्रतिक्रमण है ही।**' - वास्तव में उसे वास्तविक - यथार्थ प्रतिक्रमण कहा जाता है। आहा...हा...!

यहाँ (संप्रदाय में) तो शाम को जाकर प्रतिक्रमण किया और हो गया (कर्तव्य) लो ! कुछ न समझे अर्थ को। न समझे भाव को। प्रतिक्रमण हमेशा सुबह-शाम दो बार करते हैं। अरे, भाई ! प्रतिक्रमण तो `उसे' कहें। कहा न...! उन्हें वास्तविक प्रतिक्रमण है ही। राग को छोड़कर, स्वरूप को ग्रहण करके, स्थिर होते हैं उन्हें ही वास्तविक प्रतिक्रमण है ही। आहा...हा...! ऐसी प्रतिक्रमण की व्याख्या !

(अब इस ८७ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं :)

`(अनुष्टुभ्)'

`शल्यत्रयं परित्यज्य निःशल्ये परमात्मनि।
स्थित्वा विद्वान्सदा शुद्धमात्मानं भावयेत्स्फुटम्।।११६।।'

(श्लोकार्थ :-) तीन शल्योंका परित्याग करके, निःशल्य परमात्मामें स्थित रह कर, विद्वानको सदा शुद्ध आत्माको स्फुटरूपसे भाना चाहिये।।११६।।

बहुत पढ़ा हो और (अभ्यास) किया हो वह विद्वान नहीं। यहाँ तो `तीन शल्यों का परित्याग करके,' (-छोड़कर), `**निःशल्य परमात्मा में स्थित**' (रहे) उन्हें विद्वान करते हैं, (ऐसा) कह रहे हैं। आहा...हा...! मतलब क्या ? कि : पहले कहा था - त्रिकाली

आत्मा, निःशल्य परमात्मा है। उस निःशल्य परमात्मा में स्थित `**रहकर, विद्वान को**' - धर्मात्मा को, ज्ञानियों को `**सदा शुद्ध आत्मा को**' - त्रिकाल भगवान परमात्मस्वरूप को `(**स्फुटरूप से**)' प्रगटरूप से `**भाना चाहिये** !' आहा...हा...! पर्याय में उसकी भावना करना। वस्तु तो वस्तु है ही; परंतु प्रगटरूप से उसकी भावना करना। (अर्थात् :) अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप में प्रगटरूप से उस आनंद की भावना करना। (अर्थात्) पर्याय में आनंदरूप से परिणमन करना। उसे प्रतिक्रमण कहा जाता है।

है न...! आत्मा को - शुद्ध आत्मा को माने त्रिकाल, वह सदा। विद्वान को - धर्मी जीव को सदा शुद्ध आत्मा को (प्रगटरूप से भाना चाहिये)। शाम को - सुबह को प्रतिक्रमण किया, ऐसा नहीं; (परंतु) यहाँ तो कहते हैं : सदा शुद्ध आत्मा को भाना चाहिये। उसे चौबीसों घंटे प्रतिक्रमण है। वे स्थानकवासी शाम को - सुबह को प्रतिक्रमण करते हैं न...? आहा...हा...! यहाँ तो कहते हैं : सदा। ज्ञानी को सदा शुद्ध आत्मा को प्रगटरूप से - प्रत्यक्षरूप से भाना चाहिये।

आहा...हा...! बातें बहुत कठिन। भारी तो वास्तव में...! असंभव नहीं है, कठिन (है)। बहुत पुरुषार्थ की जरूरत है। सत्य प्रतिक्रमण के लिये बहुत पुरुषार्थ की जरूरत है। राग के कण से भी हटकर और निःशल्य परमात्मस्वरूप में जमना यह कोई कम पुरुषार्थदशा है ? वह अंदर की अध्यात्मदशा, यह व्यवहार हुआ।

`परमार्थवचनिका' में आता है न...! अज्ञानी को अध्यात्म के व्यवहार की भी खबर नहीं है। आहा...हा...! अध्यात्म का व्यवहार यह कि : त्रिकाल वस्तु है वह निश्चय, और उसके आश्रय से हुई वीतरागी - निर्मलदशा वह अध्यात्म का व्यवहार है अर्थात् आत्मा का वह आत्मव्यवहार है। रागादि ये तो मनुष्यव्यवहार, लौकिक व्यवहार, संसार व्यवहार है। वह (`प्रवचनसार' गाथा-९८ में कहा है। वह यहाँ कह रहे हैं।

(यहाँ) कितने विशेषणों का उपयोग किया है - देखो न...! निःशल्य परमात्मा में स्थित रहकर, शुद्ध चैतन्यघन भगवान उसमें स्थित रहकर, विद्वान को माने धर्मी को, ज्ञानी को सदा - चौबीसों घंटे (इस शुद्ध आत्मा को भाना चाहिये)।

जिसने (शल्य) छोड़ा है, वह (शल्य) चौबीसों घंटे अंदर छूटा ही पड़ा है ! (संप्रदाय में लोग) सुबह-शाम प्रतिक्रमण करे उसमें (कहाँ कुछ छोड़ा हुआ होता है)। वह तो एक शुभभाव है, वह बंध का कारण है; माने कि `मैंने धर्म किया' (तो वह मिथ्याशल्य है)।

`स्फुटरूप से भाना चाहिये' - `भाना' अर्थात् पर्याय हुई, प्रगट पर्यायरूप से (भाना

चाहिये)। शक्तिरूप से तो भगवान पूर्णानंद निःशल्य है ही; परंतु पर्याय में निःशल्यरूप से भाना चाहिये, परिणमन करवाना, परिणमित होना, उसका नाम यथार्थ प्रतिक्रमण है। उसे प्रतिक्रमण है ही। आहा...हा...! ११६ वाँ श्लोक हुआ।

'(पृथ्वी)'

'कषायकलिरंजितं त्यजतु चित्तमुच्चैर्भवान्
भवभ्रमणकारणं स्मरशराग्निदग्धं मुहुः ।
स्वभावनियतं सुखं विधिवशादनासादितं
भज त्वमलिनं यते प्रबलसंसृतेर्भीतितः ।। ११७ ।।'

श्लोकार्थ :-) हे यति ! जो (चित्त) भवभ्रमण का कारण है और बारंबार कामबाण की अग्नि से दग्ध है - ऐसे कषायक्लेश से रंगे हुए चित्त को तू अत्यंत छोड़; जो विधिवशात् (-कर्मवशताके कारण) अप्राप्त है ऐसे निर्मल *स्वभावनियत सुखको तू प्रबल संसारकी भीतिसे डरकर भज।।११७।।

* स्वभावनियत=स्वभावमें निश्चित रहा हुआ; स्वभावमें नियमसे रहा हुआ।

आहा...हा...! उत्कृष्ट बात है न...! यह तो मुनि की बात है। '**हे यति** !' उन (अन्य में) जति होते हैं वे नहीं... हाँ ! स्वरूप की यत्ना करनेवाला, जतन करनेवाला, वस्तु जैसी है वैसी उसे दृष्टि - ज्ञान में रखनेवाला, उसे यहाँ यति कहा जाता है। आहा...हा...! हे यति ! '**जो चित्त**' अर्थात् अज्ञानभाव - मिथ्यात्वभाव '**भवभ्रममण का कारण है।**' जो (चित्त) भवभ्रमण का कारण है, रागवाला चित्त (है) वह भवभ्रमण का कारण है। चाहे तो शुभरागवाला चित्त हो तो भी वह संसार है। और इसलिये उसे अनआवश्यक कहा है। शुभ में रहा प्राणी भी अनआवश्यक (अर्थात्) आवश्यक में नहीं है। अवश्य जो करने लायक है उसमें वह नहीं है।

हे यति ! जो चित्त भवभ्रमण का कारण है `**और बारंबार काम बाण के अग्नि से दग्ध है**' - क्या कह रहे हैं ? - पाँच इन्द्रियों के बाह्य आकर्षक विषयों में दग्ध है, जल गया है। आहा...हा...! जो ज्ञान की वर्तमान दशा बाह्यपदार्थ की विस्मयता देखकर खींच जाता है - शरीर सुंदर, वाणी सुंदर, हड्डी सुंदर, अंदर खून अच्छा, ऐसे बाह्य में जो चित्त आकर्षित हो जाता है - (वह) बारंबार कामबाण के अग्नि से दग्ध है, उसे बाह्य की चीज़ें अनुकूल लगने पर वहाँ रुक जाता है। - वह ज्ञान दग्ध है, कामबाण के अग्नि से जल गया है; (ऐसा) कह रहे हैं। पाँच इन्द्रियों के विषयों की ओर का खींचाव - आकर्षण (होने पर) वह चित्त - ज्ञान कामबाण के अग्नि से (दग्ध है)। कह रहे हैं : वह (खींचाव) तो अग्नि है। आहा...हा...! शरीर सफेद - गोरा हो, हड्डी-मांस (सुघड-गठीला) हो, उस पर ज़रा इत्र लगाकर (शरीरः यों चमक रहा हो उसे देखकर, (यहाँ) कह रहे हैं : वह कामबाण के अग्नि से जल गया है। समझमें आया ? अनुकूल शब्द प्रशंसा के सुनने, वह कामबाण - राग है, उसमें रूक गया (तो) वह कामबाण से दग्ध हो गया है। ओहो ! तुमने तो बहुत काम किया... तुमने तो ऐसा काम किया और वैसा काम किया... तुमने तो बहुत सेवायें की है - गाँव की सेवा की, ज्ञाति की सेवा की, ढोर की सेवा की...! (इस प्रकार के) प्रशंसा के शब्द सुने, इन सब राग में रूक जाता है; (तो यहाँ) कह रहे हैं : उसका चित्त जल गया है, अंदर उसे काम के बाण लगे हैं, चित्त जल गया है। कुछ समझमें आया ?

`कामबाण के अग्नि' - भाषा देखो : कषाय अग्नि है। पर की ओरके झुकाव - रुझान में जो खींच जाता है, वह कामबाण की अग्नि है, उससे उसका चित्त जल गया है, अरर...र...! जल गया है। आहा...हा...! जिस प्रकार चमड़ी उघेडकर कोई गर्म पानी छिडके तो अग्नि के बाण (जैसा लगे), उस प्रकार उसके राग में, पर के प्रेम में दग्ध-जल गया है, अंतर की शांति को जला दी है।

`**- ऐसे कषायक्लेश से रंगे हुए चित्त को**' - कषाय का क्लेश है (उससे) रंगे हुए चित्त को `**तू अत्यंत छोड़।**' - ये रंग लगे उन्हें छोड़, प्रभु ! और अंतर आनंद के नाथ में रंग लगा; ऐसा कह रहे हैं। प्रतिक्रमण है न...? निवर्तन करना। ऐसा प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण के सारे पाठ तो (जीवने) बहुत किये (परंतु अब) चित्त को तू अत्यंत छोड़।

`**जो विधिवशात् (-कर्मवशता के कारण) अप्राप्त है**' - क्या ? (कि :) आत्मा।

आहा...हा...! राग की ताबेदारी में रहनेवाले को आत्मा अप्राप्त है। शुभाशुभ के राग के गुलाम हो गये हैं उनको प्रभु - आत्मा अप्राप्त है।

'**ऐसे निर्मल स्भावनियत**' - स्वभाव में निश्चित रहे हुए स्वभाव में नियम से रहे हुए, '**सुख को तू प्रबल संसार की भीति से डरकर भज।**' आहा...हा...! आनंदस्वरूप भगवान अतीन्द्रिय आनंद है। 'स्वभावनियत' - स्वभाव में निश्चितरूप से रहा है। स्वभाव में नियम से अतीन्द्रिय आनंद रहा है। 'ऐसे निर्मल स्वभावनियत सुख को' - इस अतीन्द्रिय आनंद को तू प्रबल संसार की भीति से डरकर (अर्थात्) चार गति के भव के भय से डरकर भज। वह आनंद का धाम भगवान उसे भज। आहा...हा...! ऐसी व्याख्या है ! इसे प्रतिक्रमण कहते हैं !!

***

शरीर कोई संसार नहीं है, स्त्री, कुटुम्ब, पैसा संसार नहीं है, और कर्म भी संसार नहीं है। यदि शरीर ही संसार हो, तो उसके जल जाने पर संसार भी जलकर राख हो जाए व मुक्त हो जाए; परन्तु ऐसा नहीं होता । स्त्री-पुत्रमें भी संसार नहीं है। ``आत्माका संसार तो आत्माकी पर्यायमें है''। अज्ञानी, जो परमें संसार मानता है उसे संसारका भी पता नहीं है । तो फिर संसार-रहित मोक्षकी तो उसे खबर ही कैसे हो ? - नहीं होती है । (परमागमसार - ८४९)

श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्यदेवप्रणीत

श्री नियमसार

श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित संस्कृत टीका

(परमार्थ-प्रतिक्रमण अधिकार)

गाथा-८८

चत्ता अगुत्तिभावं तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहू।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा।।८८।।
त्यक्त्वा अगुप्तिभावं त्रिगुप्तिगुप्तो भवेद्यः साधुः।
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात्।।८८।।

त्रिगुप्तिगुप्तलक्षणपरमतपोधनस्य निश्चयचारित्राख्यानमेतत्।

यः परमतपश्चरणसरःसरसिरुहाकरचंडचंडरश्मिरत्यासन्नभव्यो मुनीश्वरः बाह्यप्रपंचरूपम् अगुप्तिभावं त्यक्त्वा त्रिगुप्तिगुप्तनिर्विकल्पपरमसमाधिलक्षणलक्षितम् अत्यपूर्वमात्मानं ध्यायति, यस्मात् प्रतिक्रमणमयः परमसंयमी अत एव स च निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपो भवतीति।

*

हिन्दी अनुवाद

जो साधु छोड़ अगुप्तिको त्रय-गुप्तिमें विचरण करे।
प्रतिक्रमणमयता हेतुसे प्रतिक्रमण कहते हैं उसे।।८८।।

अन्वयार्थ :- **[यः साधुः]** जो साधु **[अगुप्तिभावंहि]** अगुप्तिभाव **[त्यक्त्वा]** छोड़कर, **[त्रिगुप्तिगुप्तः भवेत्]** त्रिगुप्तिगुप्त रहता है, **[सः]** वह (साधु) **[प्रतिक्रमणम्]** **प्रतिक्रमण [उच्यते]** कहलाता है, **[यस्मात्]** कारण कि वह **[प्रतिक्रमणमयः भवेत्]** प्रतिक्रमणमय है।

टीका :- त्रिगुप्तिगुप्तपना (- तीन गुप्ति द्वारा गुप्तपना) जिसका लक्षण है

ऐसे परम तपोधनको निश्चयचारित्र होनेका यह कथन है।

परम तपश्चरणरूपी सरोवरके कमलसमूहके लिये प्रचंड सूर्य समान ऐसे जो अति-आसन्नभव्य मुनीश्वर बाह्य प्रपंचरूप अगुप्तिभाव छोड़कर, त्रिगुप्तिगुप्त-निर्विकल्प परमसमाधिलक्षणसे लक्षित अति - अपूर्व आत्मा को ध्याते हैं, वे मुनिश्वर प्रतिक्रमणमय परमसंयमी होनेसे ही निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप हैं।

प्रवचन- २९, दि. २७-२-१९७८

('नियमसार' गाथा ८८ की) टीका :- '**त्रिगुप्ति(गुप्त)पना (-तीन गुप्ति द्वारा गुप्तपना)।**' (अर्थात् :) मन, वचन और काया की तरफ से खिसककर तीन गुप्ति (गुप्त) (अर्थात्) अंतर में गुप्त होना। आहा...हा...! पाप के भाव से तो हट जाना परंतु मन-वचन-काय के जो व्यवहार - समिति - गुप्ति का विकल्प - राग (है) उससे हट जाना, अंदर गुप्ति करना। यह तो साधु की बात है। परंतु साधु(दशा) पूर्व सम्यग्दर्शन में भी, इस चीज़ (आत्मा) चैतन्यरत्नाकर भगवान में - दृष्टि की अपेक्षा से, किसी भी (सर्व) प्रकार के राग के भाव से हटकर - शुद्ध आनंदस्वरूप में गुप्त होना (होता है); तो उसे प्रथम सम्यग्दर्शन होता है, परंतु बाद में भी मन, वचन, काया से संबंधित राग - पाप के, कोई पुण्य के विकल्प तो रहते हैं। परंतु मुनि तो इस राग को छोड़कर (विशेष स्वरूपगुप्त हुए हैं)।

यहाँ तो परमात्मा ऐसा कह रहे हैं कि - हमारी ओर लक्ष करेगा तो तुझे राग होगा। एकाग्र कहाँसे होगा ? तू एकाग्र कहाँसे होगा ? राग आता है, होता है परंतु वह पाप का - पुण्य का विकल्प है वह दुःखरूप है।

यहाँ तो जिसे तीन गुप्त से गुप्त होना है (अर्थात्) मन, वचन और काया की ओर के झुकाव के जो विकल्प है, राग (है), उससे छूटकर अंदर गुप्त होना है। मुनि की बात है न...! साधु की उत्कृष्ट बात है। उनको पंचमहाव्रत के परिणाम

हैं वे भी कोई गुप्ति नहीं हैं; अगुप्ति हैं।

भगवान(आत्मा) चैतन्यस्वरूप, केवल आनंद आदि रत्नों से भरा भगवान है। आहा...हा...! उसे निर्विकल्प करनेके लिये उस विकल्प की जाति शुभ हो या अशुभ हो - दोनों से छूटकर, अंदर में एकाग्र होना उसे गुप्ति कहा जाता है। शुभ उपयोग (है) वह अगुप्ति है उसे छोड़कर, अंदर में शुद्ध उपयोग करना (यह गुप्ति है)।

'सम्यग्ज्ञानदीपिका' (विरुद्ध) का (लेख) निकाला था न...? (भाई !) वह तो (वहाँ) दूसरी अपेक्षा से कहते हैं। वह दूसरी अपेक्षा है। पाप तो स्वस्त्री हो या परस्त्री हो (दोनों में है)। परस्त्री(सेवन) में तो महापाप (है)। और स्वस्त्री में भी जहाँ विषय की वासना है वह पाप (है)। उससे भी छूटना है। (तो) क्या वह (भोग) करके छूटा जा सकता है ? (ऐसा नहीं हो सकता) ! ऐसा मार्ग है !

आहा...हा...! राग से हटकर वह चैतन्यब्रह्म भगवान, पूर्णानंदस्वरूप; उसमें गुप्त होना है। उससे पहले - सम्यग्दर्शन में भी भेद की दृष्टि और राग की दृष्टि छोड़कर, अभेदस्वरूप भगवान पूर्णानंद प्रभु में दृष्टि लगाई उस समय भी उतना तो वह श्रद्धा - ज्ञान से गुप्त हुआ है; पर से गुप्त हुआ है।

आहा...हा...! यहाँ तो यह प्रतिक्रमण माने चारित्र का अधिकार है। चारित्र माने चारित्र के प्रभेद में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, समाधि, भक्ति आदि ये सब उसके भेद हैं। परंतु ये सब निर्विकल्प-वीतरागीदशा के भेद हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार से हटना पड़ता है न...? इस प्रकार का लक्ष लेकर किसीको प्रतिक्रमण कहा, किसीको प्रत्याख्यान कहा, किसीको समाधि, किसीको भक्ति (कही)।

यहाँ कह रहे हैं कि : निश्चयगुप्तपना '**जिसका लक्षण है ऐसे परम तपोधन को**' आहा...हा...! धन्य दशा ! मुनिदशा ! उसके बिना मुक्ति नहीं है। चारित्र से मुक्ति है। चारित्र का कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान हो तो फिर चारित्र आयेगा अरे...! चौरासी के अवतार में प्राणी दुःखी है। चारों ओर बेचारे चीखते-चिल्लाते हुए दुःखी (हैं)।

यहाँ कह रहे है : ऐसे जो परम तपोधन। ये (मुनि) परम तपोधन हैं। जिन्होंने अमृत का सागर उछाला है वे परम तपोधन हैं। उनके पास तपरूपी लक्ष्मी है। आहा...हा...! उनके पास वीतरागी-निर्विकल्प समाधि, राग बिना का निर्विकल्प चारित्र, परम तपोरूपी धन है। आहा...हा...! वे धन(वान) करोड़ों-अरबोंपति होवे फिर भी वे तो सब रंक और भिखारी हैं। (उनको) वराका कहा है। आहा...हा...! वे (अपना सुख) पर के पाससे

माँगते हैं। (इसलिये) भिखारी हैं... भिखारी। और ये (जो) परम तपोधन (मुनि) हैं वे बादशाह हैं। उनके तपरूपी धन-लक्ष्मी अंदर प्रगट हुई है। आहा...हा...! जिसका अतीन्द्रिय आनंद स्वभाव; उस पर एकाग्रता होने पर, पर्याय में - अवस्था में अतीन्द्रिय आनंद का ज्वार उछाले मारता है, उन्हें परम तपोधन कहते हैं।

ऐसा चारित्र और यह मुनिपना !! धन्य अवतार है न...! आहा...हा...! जिसने मनुष्यपना पाकर, करने का कार्य तो यह था वह किया। दुनिया में गिनती हो या न हो उसकी कोई बात (कीमत) नहीं है। स्वयं अंदर मोक्षमार्ग में गिना जा चुका (उसमें) सब कुछ समा गया। (वे तो) परमानंद-अनाकुल शांति... शांति... शांति (में केलि कर रहे हैं) !

सुबह कहा था न...! 'भेदविज्ञान जग्यौ जिन्ह के घट, शीतल चित्त भयौ जिम चंदन।' आहा...हा...! प्रथम सम्यग्दर्शन में भी 'भेदविज्ञान जग्यौ जिन्ह के घट।' राग का विकल्प चाहे तो शुभ हो (या पाप अशुभ); अंतिम स्थिति में तो वहाँ पाप नहीं है परंतु वह विकल्प जो पुण्य का शुभ है) उससे भेदविज्ञान करके, आहा...हा...! 'भेदविज्ञान जग्यौ जिन्ह के घट, शीतल चित्त भयौ जिम चंदन।' - चंदन जैसे शीतल (है, वैसे) उसकी पर्याय में शीतलता - शांति - अकषायभाव(रूप) शांति प्रगट हुई। और यहाँ तो (मुनि को) उग्र शांति प्रगट हुई (है)। जहाँ पंचमहाव्रत के विकल्प हैं उनसे भी हटकर अंदर (आत्मा में) गुप्त हुए, ऐसे तपोधन को '**निश्चयचारित्र होनेका यह कथन है।**' ये प्रतिक्रमणादि सब चारित्र के भेद हैं न...! सच्चा चारित्र होनेका यह कथन है।

'**परम तपश्चरणरूपी सरोवर के कमलसमूह के लिये**' आहा...हा...! अतीन्द्रिय आनंद का कमल जिसने अंदर से खिलाया है। आहा...हा...! परम तपश्चरण - आनंदरूपी सरोवर के कमलसमूह के लिये - उसकी प्रगट - विकास शक्ति के लिये '**प्रचंड सूर्य समान ऐसे जो अतिआसन्नभव्य मुनीश्वर**' आहा...हा...! कह रहे हैं कि, परम अतीन्द्रिय आंदरूपी सरोवर, (उसके) जो कमल का समूह है उसके (लिये) प्रचंड सूर्य समान (ऐसे जो) अतिआसन्नभव्य, अर्थात् जिनका संसार कम हो गया है, अतिनिकट(भव्य) जिन्हें निकट भव्यता - योग्यता प्राप्त हुई है ऐसे मुनीश्वर '**बाह्य प्रपंचरूप अगुप्तिभाव छोड़कर,**' आहा...हा...! वह शुभभाव भी प्रपंचरूप अगुप्तिभाव है।

आहा...हा...! अब जहाँ शुभभाव से भी लाभ नहीं है वहाँ फिर ये पाप के, भोग के, वासना के पाप से लाभ होवे, निर्विकल्प होवे ?? रजनीश की पुस्तक है उसमें

ऐसा लिखा है - संभोग से समाधि होती है ! अरर...र..! यह तो कैसा (लेख) ? यह क्या किस तरह की बात ? पाप का सेवन करते हुए मुक्ति हो जाय ? पाप करके फिर निर्विकल्प हो जाय ? भोग हो और वासना न हो, ऐसा कैसे हो जाय ? यह तो कोई ऐसा मार्ग (हो सकता है) ? अरे...! ऐसे (पाप की बात) इस हिन्दुस्तान में - लौकिक आर्य धर्म में (भी) नहीं होती है !

यहाँ तो कह रहे हैं : जिन्हें राग से भिन्न, सम्यग्दर्शन हुआ (उन्हें) भी जब पंचमहाव्रतादि के विकल्प होते हैं तब अगुप्ति है, ऐसा कहते हैं। (वे) वहाँ से हटकर अंदर गुप्त होते हैं। (क्योंकि) यह (पंचमहाव्रतादि का) शुभराग का भाव भी अंदर विघ्नकारी है। (अंतर) अतीन्द्रिय आनंद का सरोवर, उसके कमल के समूह - ढेर पड़े हैं। इस अनंतगुण का विकास - अंदर आनंद की कला और अनंत ज्ञान की कला की खिलावट का - विकास का समूह, ऐसे जो मुनि, वे सूर्य समान हैं। जिस प्रकार सूर्य उदय होवे और कमल खीले उस प्रकार इस आत्मा का (मुनि का) उग्र प्रयत्न - पुरुषार्थ है उससे अनंतगुण की राशि के कमल खील गये हैं।

आहा...हा...! ऐसी अपूर्व बातें हैं, भाई ! वह बाहर से कोई व्यवहार से और इससे और उससे करके (अर्थात्) मिथ्याशल्य से मर गया।

उसका (आत्मा का) स्वभाव चैतन्य भगवान ! उसके स्वभाव में जो अनंतस्वभावरूपी सरोवर; उसमें जो अनंतगुणरूपी कमल; उसके समूह को खिलाने के लिये मुनिराज, वीतरागीदशा से, उन कमलों को खिलाते हैं। आहा...हा...! गुलाब की कली जिस प्रकार सूर्य उगने पर खिल जाती है उस प्रकार अनंतगुण के कमलसमूहरूप गुण वे, अंदर वीतरागीदशा (प्रगट) करने पर खिल जाते हैं।

आहा...हा...! ऐसा मार्ग है ! अब जो व्यवहार करते-करते (निश्चय) हो; राग करते-करते निर्विकल्प हुआ जा सकता है (तो); वह बात कहाँ रही ?

(यहाँ कहते हैं :) 'ऐसे (जो...) मुनीश्वर बाह्य प्रपंचरूप अगुप्तिभाव छोड़कर' आहा...हा...! अहिंसा, सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्यादि के भाव जो शुभ हैं वे अगुप्तिरूप प्रपंच हैं। आहा...हा...! वे (शुभभाव) बाह्य हैं। वे अंतर्वस्तु नहीं हैं। पंचमहाव्रत के भाव, २८ मूलगुण के भाव वे विकल्प का जाल, बाह्य प्रपंच हैं। बाह्य प्रपंचरूप अगुप्तिभाव; इन अगुप्तिभाव को छोड़कर। (यहाँ) इन शुभभाव (के लिये) भी बाह्य, प्रपंच और अगुप्ति, (इस प्रकार) तीन शब्द लागू किये हैं। मुनि को (छठे (गुणस्थान) के योग्य आत्मशांति प्रगट हुई है; (परंतु) उसकी योग्यतानुसार, उसका (पंचमहाव्रतादि का) शुभभाव होता

है फिर भी वह बाह्य प्रपंच(रूप) अगुप्ति है।

आहा...हा...! ये कायर के काम नहीं है, बापू ! ये तो वीरों के काम है। यह कोई कोरी बातों से काम हो जाय ऐसा नहीं है। अंतर भगवानआत्मा, पूर्ण चीज़ का ज्ञान में भास होनेके बाद भी जितने शुभविकल्प के जाल वर्तते हैं वे सब बाह्यभाव हैं, प्रपंच हैं, अगुप्तिभाव हैं। (तो) इन अगुप्तिभाव से अंदर में जाया जाय, निर्विकल्प हुआ जाय ? (ऐसा नहीं है। परंतु) उन्हें छोड़कर हुआ जा सकता है ! ऐसा (वस्तुस्वरूप(है !! एक गुण-गुणी के भेद का विकल्प भी जहाँ दुःख है। आहा...हा...! अंदर गुण-गुणी का भेद करना (अर्थात्) अभेद में भेद करना यह भी एक विकल्प और दुःख है। है तो यह शुभ(भाव) परंतु है तो दुःख, है तो बाह्य प्रपंच। (इसलिये) अंतर में जानेके कारणों में वह कारण नहीं है। उसे छोड़कर अंतर में जाया जाता है। `छोड़कर' कहा न...! बाह्य प्रपंचरूप अगुप्तिभाव - अगुप्तिभाव के दो विशेषण : बाह्य और प्रपंच; (उन्हें) - छोड़कर, `**त्रिगुप्तिगुप्त - निर्विकल्प - परम समाधिलक्षण से लक्षित**' - गुप्ति `गुप्तिगुप्त' (अर्थात्) मन, वचन, काया तरफ के विकल्प से छूटकर, (गुप्ति के पालन करने का जो) विकल्प - राग था उसे छोड़कर, छूटकर, निर्विकल्पसमाधि - निर्विकल्प परमशांतिलक्षण से लक्षित, (आत्मा को ध्याते हैं ।) आहा...हा...! (गुप्ति का) शुभभाव का भाव वह बाह्य प्रपंचरूप अगुप्ति - अशांति थी, वह बाह्य विकल्प था, वह अशांति थी। उसे छोड़कर निर्विकल्प - परमसमाधिलक्षण से लक्षित `**अति-अपूर्व आत्मा को ध्याते हैं।**' आहा...हा...हा...!

सम्यग्दृष्टि (आत्मा को) तो ध्याते हैं। परंतु ये तो मुनि ! अति अपूर्व आत्मा को ध्याते हैं। आहा...हा...! अंदर लीन हो गये हैं। भगवान के आनंदधाम में, आनंदभूमिका में लीन हो गये हैं। जिसकी नज़रों में अभेद होकर अंदर लीन हो गये हैं, उन्हें सच्चा प्रतिक्रमण और सच्चा चारित्र होता है।

ऐसी बात है ! पहले जैसा है ऐसा उसका - स्वभाव का ज्ञान तो करे। अपनी कल्पना से माने कि ऐसे (मोक्ष) होगा, और व्यवहार से ऐसे होगा, (कोई क्रिया से) ऐसा होगा। परंतु (वास्तव में तो) व्यवहार का अभाव करके (मोक्ष) होगा; व्यवहार से नहीं होता। गुप्तिपना वह तो बाह्य प्रपंच अगुप्ति है। उससे अंतर में स्थिरता-रमणता-गुप्तभाव हो जाय ? (- नहीं ही होवे)। आहा...हा...! बहुत कठिन काम है। इन सब बाह्य की कषायअग्नि की जाति में लक्ष जाता है (तो) वे ऐसा कह रहे हैं कि, कषायअग्नि अशांत है उसे छोड़कर स्वरूप में जमते हैं उन्हें सारे शांति

के कमल खील जाते हैं। आहा...हा...! शांतरूपी सरोवर, वीतरागरूपी सरोवर, उसमें अनंतगुणोंरूपी कमल, उसमें राग से भिन्न होकर जमते हैं तब वे अनंत कमल खील जाते हैं। गुण का विकास, पर्याय में हो जाता है। उसे यहाँ चारित्र व प्रतिक्रमण निश्चय से कहा जाता है।

प्रश्न :- यह तो ठीक किन्तु उसका प्रथम साधन क्या ?

समाधान :- साधन ही वह है। प्रज्ञाछैनी को साधन नहीं कहा ? राग से भिन्न होकर अनुभव (करना) यही साधन है। अन्य साधन (ही) नहीं है। ध्येय को पकड़कर और निर्विकल्प सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करना यह साधन (है)। साध्य माने मोक्ष। यह मोक्षरूपी साध्य का साधन यह है। आहा...हा...! 'नियमसार' में तो आगे कहा है : हे मुनि ! तू कदाचित् (चारित्र) पालन न कर सके तो भी श्रद्धा में फ़र्क मत करना कि, उससे (व्यवहार से) भी (निश्चय) होगा, ऐसी श्रद्धा मत करना। श्रद्धा तो बराबर रखना कि राग से रहित होकर स्वरूप में अनुभव करके जमना वही तेरा साधक(पना) है। श्रद्धा में कुछ फर्क पड़ा तो मिथ्यादृष्टि व अज्ञान है। आहा...हा...! पंचम काल है इसलिये इसका साधन कुछ हल्का होना चाहिए न...? हल्का कहो या उग्र कहो, या जो हो सो कहो वह यह है। आहा...हा...! पूर्ण चैतन्य अनंतशक्ति के कमल से भरा प्रभु; उसे विकसित करनेके लिये, खिलवट करने के लिये, राग से भिन्न होकर एकाग्र होना वही उसको खिलवट करने की कला और रीत है। (इसीलिये) 'अति अपूर्व आत्मा को ध्याते हैं।' अति अपूर्व (अर्थात्) पूर्व में नहीं ध्यान किया हुआ - (नहीं) ध्याया हुआ। इस अपूर्व भगवानआत्मा को तूने ध्यान में लेकर ध्याया नहीं है। इस राग को लक्ष में लेकर राग के आचरण में पड़ा (है) यह तो अनात्मा का साधन है। (वह आत्मसाधक नहीं है)।

(यहाँ कह रहे हैं :) ऐसे अपूर्व आत्मा को ध्याते हैं, '**वे मुनीश्वर**' - मुनियों में ईश्वर '**प्रतिक्रमणमय परम संयमी होनेसे**' - वह प्रति=पूरी तरह से हट गये हैं राग से, अतः अंदर के अतीन्द्रिय आनंद में रम रह हैं। जिस प्रकार बाग में फूल भरे हो और (उसकी) सुगंध ले उस प्रकार वे तो अनंत आनंद की सुगंध में लीन पड़े हैं, उन्हें सच्चा प्रतिक्रमण और चारित्र होता है।

आहा...हा...! ऐसी चारित्र की व्याख्या !! इसे साधारण कर डालना यह तो सब (सत्यमार्ग का) विरोध है। 'परमसंयमी होनेसे ही' - ऐसा है न...? त्रिगुप्तिगुप्त - निर्विकल्प - परमसमाधिलक्षण से लक्षित (अति अपूर्व आत्मा को ध्याते हैं, वे) मुनीश्वर

प्रतिक्रमण परम संयमी होनेसे `**ही निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप हैं।**' - वे (वास्तव में) राग से हटे हुए, स्वरूप में स्थिरतायुक्त, सत्य प्रतिक्रमणस्वरूप ही वे हैं। प्रतिक्रमण करनेवाले व प्रतिक्रमणवाले ऐसा नहीं (परंतु) वे तो प्रतिक्रमणस्वरूप ही हो गये हैं। वीतरागी अनंत शक्तियों में जिनकी लीनता (है), (- जो उसमें) खो गये हैं, वे मुनिश्वर प्रतिक्रमणस्वरूप ही हैं।

पहले इतनी तो बहुत उग्र बात ! परंतु इसकी पहली दशा की बात किस तरह प्राप्त हो ? उस पहली दशा की बात तो पहले शुद्धभाव (अधिकार) में कह गये कि : पर्यायमात्र नाशवान है इसलिये हेय है। दया-दान का विकल्प तो हेय है परंतु सम्यग्दर्शन-ज्ञान की पर्याय प्रगट हुई है वह भी हेय है। नौ तत्त्व आ गये न...! `जीवादिबहित्तच्वं हेयम्' - जीव की एक समय की संवर-निर्जरावाली पर्याय, एक समय की राग और पुण्यवाली पर्याय (नाशवान है)। वहाँ तो केवलज्ञान को (भी) नाशवंत कहा है। (क्योंकि) (केवलज्ञान) एक समय रहनेवाला (है)। और चीज़ (आत्मा) तो ऐसा का ऐसा अनादि से पड़ा है। आहा...हा...! चैतन्य के रत्नों से भरा भगवान अनादि से ऐसा का ऐसा रहा और पड़ा है। उसकी अपेक्षा तो केवलज्ञान भी नाशवान तत्त्व है। सर्वोत्कृष्ट - अविनाशी तत्त्व तो ध्रुव है।

*

(अब इस ८८ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :)

`(हरिणी)'

'अथ तनुमनोवाचां त्यक्त्वा सदा विकृतिं मुनिः
सहजपरमां गुप्तिं संज्ञानपुंजमयीमिमाम्।
भजतु परमां भव्यः शुद्धात्मभावनया समं
भवति विशदं शीलं तस्य त्रिगुप्तिमयस्य तत्।

श्लोकार्थ :-) मन-वचन-कायकी विकृतिको सदा छोड़कर, भव्य मुनि सम्यग्ज्ञानके पुंजमयी इस सहज परम गुप्तिको शुद्धात्माकी भावना सहित उत्कृष्टरूपसे भजो। त्रिगुप्तिमय ऐसे उस मुनिका वह चारित्र निर्मल है।।११८।

कोई ऐसा कहते हैं कि, भोग-संभोग करने में जो आनंद आता है वह आत्मा के आनंद का अंश है, अरेरे...प्रभु ! (वह) ज़हर है ! राग का ज़हर है !! वह तो निर्विकल्प अमृत को घाव मारता है। आहा...हा...! यहाँ तो कह रहे हैं कि : पाप तो भिन्न है उसे तो छोड़; परंतु पुण्य का - महाव्रतादि का, समिति, गुप्ति - व्यवहार का - विकल्प, उसे भी छोड़; क्योंकि, वह भी दुःखरूप है। वह विकल्प भी अशांतिरूप है, भाई ! तेरी शांति उससे भिन्न है। आहा...हा...! वह (तू तो) शांति का सरोवर है। भगवान(आत्मा) तो शांति - अकषायस्वरूप - चारित्रस्वरूप (है)। जिस प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा, उस प्रकार वह चारित्र - अकषायस्वरूप आत्मा (है)। वह (चारित्र) तो शांत... शांत... अकषायस्वभाव से भरी (वह) पूर्ण शांति है। उस शांति को प्राप्त करने के लिये `**मन-वचन-काया की विकृति को सदा छोड़**' (दे) ! तीनों के लिये मन का विकल्प उठे उसे छोड़ !

`मन-वचन-काया की विकृति' - उस ओर का झुकाव, वही विकृति है, उसे सदा छोड़कर (अर्थात्) हमेशा के लिये छोड़कर `**भव्य मुनि**' - वे भव्य मुनि हैं। वे मोक्ष जानेके लायक हो गये हैं। जहाँ परमानंद की प्राप्ति, अतीन्द्रिय आनंद के ढेर भरे हैं, वे मुनि भव्य हैं।

भव्य मुनि `**सम्यग्ज्ञान के पुंजमयी इस सहज परम गुप्ति को**' देखा ! यहाँ तो `गुप्ति' विशेषण लंगाया - सम्यग्ज्ञान के पुंजमयी इस सहज परम गुप्ति को। आहा...हा...! इस ज्ञान का पुंज प्रभु; परंतु उसमें एकाग्र हुआ वह भी ज्ञान का पुंज है, (ऐसा) कह रहे हैं। जैसा ज्ञान का पुंज प्रभु है, ऐसा ही पर्याय में ज्ञान का पुंज जिसने - राग से रहित पुंज - प्रगट किया है। आहा...हा...! भव्य मुनि (इस) सम्यग्ज्ञान के पुंजमयी यह परम सहज गुप्ति `पुंजमयी' है, - देखा ! सम्यग्ज्ञान का पुंज तो प्रभु है; परंतु उसमें लीन हुआ यह सम्यग्ज्ञान का पुंज है, (ऐसा) कह रहे हैं। उसे वह शांति का ढेर प्रगट हुआ है। रवा (गुड़ की ढेली) को सूर्य (की किरण) स्पर्श करे और फिर गुड़ झरने लगे; उस प्रकार भगवान (आत्मा) आनंद का खा है उसमें एकाग्र होता है तब (उसमें से) अतीन्द्रिय आनंद झरता है, वह भी ज्ञान का पुंज है, (ऐसा) कह रहे हैं। जो ज्ञान, राग में खंडखंड होता था; उस राग से हटकर ज्ञानस्वरूप में एकाग्र हुआ, वह एकाग्रता भी ज्ञान का पुंज है। कह रहे हैं कि : पर्याय में ज्ञान का पुंज, उसकी केलि ऐसी ! आहा...हा...! कुछ समझमें आया ? ऐसी भाषा !! यह सारा अलग तरह का (विवेचन) !

('समयसार') आठवीं गाथा में कहा है न...! कि : व्यवहार से उपदेश दिया जा सकता है। तो वहाँ (कुछेक लोगोंने इन शब्दों को) पकड़ लिाय कि देखो - व्यवहार से परमार्थ की स्थापना कर रहे है कि नहीं ? वह उस दिन यहाँ कहा था न...! लीमडीवाले वकील, १९९७ में मंदिर बनता था तब आये थे, तब यह निकाला कि, देखो ! इसमें ('समयसार' में) कहा है कि - व्यवहार से परमार्थ को समझाया जाता है ! परंतु समझाया जाता है यह तो भेद से समझा रहे हैं; परंतु व्यवहार से निश्चय होता है ऐसा कहाँ आया ? उसकी श्रद्धा वेदांत की थी। जैन की श्रद्धा ! - जैन कोई संप्रदाय नहीं है। 'घट घट अंतर जिन बसै, घट घट अंतर जैन।' राग से एकता तोड़कर, स्वभाव में - वीतरागस्वरूपी भगवानआत्मा में एकता होनी यह जैन है। वह (जिनके आश्रय से) जैन हो गया। जिनस्वरूपी भगवान का आदर किया वहाँ जैन हो गया। राग का आदर कर रहा था तब तक अजैन था।

एक भाईने लिखा है कि : यहाँ (सोनगढ़ में) सब भोले हैं, इसलिये सब 'हाँजी' करते हैं ! यहाँ रामजीभाई भोले होंगे ? बेन ('बहिनश्री चंपाबेन') जैसेका आत्मा भोला होगा इसलिये हाँजी भरते होंगे ऐसा ?

भाई ! मार्ग तो ऐसा है, बापू ! सत्य और सत्यवस्तु को सामने रख। श्रद्धा में फेरफार मत कर। (निश्चयचारित्र) पालन न कर सके इसलिये उससे (व्यवहार से) होगा ऐसा मत कर। श्रद्धा में यदि फ़र्क हुआ तो मिथ्यादृष्टि है, मूढ है। उसमें संसार का बड़ा गर्भ निहित है। मिथ्यात्व में अनंत संसार का गर्भ पड़ा है। आहा...हा...! अरे...! कहाँ जायेगा ? चौरासी के अवतार में जाने कहाँ... कहाँ निगोद... कौन-सा क्षेत्र, कौन-सा काल, कौन-सा भाव ? भाई ! तू अपने स्वरूप से अलग रहेगा और उससे (व्यवहार से) लाभ होगा ऐसा मानेगा तो अलग रहकर तुझे भटकना पड़ेगा। आहा...हा...! अरे प्रभु ! यह तो तेरे हित की बात है न...! उसमें तुझे ऐसा लगे कि, अरे...! यह तो एकांत है; कुछ व्यवहारसाधन तो बताते ही नहीं हैं। (तो कहते हैं :) भगवान के पास जा। भगवान तो यहाँ ना बोल रहे हैं. भगवान के पास जानेके लायक उतने पुण्य भी कहाँ हैं ?

इन्द्र व गणधरों से भगवान ऐसा फरमाते थे। 'मुख ॐकार ध्वनि सुनि, अर्थ गणधर विचारे;' (ॐकार) ध्वनि में से निकाले हुए ये आगम हैं। आहा...हा...! 'रचि आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारे।' निःसंशयस्वरूप भगवान है। राग से लाभ

होगा (ऐसा माने तो) वे सारे संशय-मिथ्यात्वभाव हैं। इस जिनवाणी को सुनकर (भविक जीव संशय निवारे।)

'नियमसार' गाथा-८९ में कहेंगे : 'जिनवरनिर्दिष्टसूत्रेषु' - भगवान द्वारा कथित सूत्रो में कही हुई यह बात है ! आहा...हा...! गाथा-८९ में चौथा पद है। पाठ इतना है : 'जिनवरनिर्दिष्टसूत्रेषु।' टीकाकार तो ऐसा कहेंगे : जिनवर के मुखारविंदमें से निकली हुई वाणी... टीका में है। 'परमजिनेन्द्र के मुखारविंद से निकले हुए द्रव्यश्रुत में (ऐसा) कहा है।' उस द्रव्यश्रुत में ऐसा कहा है ! आहा...हा...! राग से भिन्न होकर स्वभाव में एकाग्र हो तब उसे गुप्ति और उसे प्रतिक्रमण कहा जाता है। उस प्रकार द्रव्यश्रुत-भगवान की वाणी, (उसमें से) रचित शास्त्र, उसमें ऐसा कहा है :-

मन-वचन-काय की विकृति को सदा छोड़कर, सहज परम गुप्ति को '**शुद्धात्मा की भावना सहित**' वह तो जो (सम्यक्)ज्ञानपुंजमय गुप्ति कही वह शुद्धात्मा की भावना है। शुद्धभगवान, पूर्ण परमात्मा स्वरूप; उसकी भावना - एकाग्रता (वह परम गुप्ति है उसे) शुद्धात्मा की भावना सहित '**उत्कृष्टरूप से भजो।**' यह (उत्कृष्टपना) तो मुनि को है न...! सम्यग्दर्शन में (चौथे गुणस्थान में तो) अभी जघन्यरूप से भजते हैं। (यहाँ) चारित्र की व्याख्या है न...! '(यह सहज) - स्वभाविक परम गुप्ति को शुद्धात्मा की भावना सहित उत्कृष्टरूप से भजो।' वह तो भावना कहो, भजो कहो, (सम्यक्) ज्ञान का पुंज गुप्ति कहो (सब एकार्थ है)।

आहा...हा... ! '**त्रिगुप्तिमय ऐसे उस मुनि का वह चारित्र निर्मल है।**' जिन्हें छठे गुणस्थान में अभी राग वर्तता है, सम्यग्दर्शन है, चारित्र (में) तीन कषाय का अभाव है परंतु अभी राग है तब तक चारित्र मलिन है। आहा...हा...!

'उत्कृष्टरूप से (परम गुप्ति को) भजो' ऐसा है न...! यह निश्चयप्रतिक्रमण - चारित्र का अधिकार है न...! तो चारित्र है वह उत्कृष्टरूप से स्वरूप का आश्रय और (उसे) भजो, ऐसा है। सम्यग्दर्शन में जघन्य आश्रय है। उससे पाँचवे में विशेष आश्रय है। और छठे में उससे विशेष (आश्रय) है। और सातवे में उससे विशेष (आश्रय) है इसलिये वहाँ गुप्ति(गुप्त) हुआ; ऐसा कह रहे हैं। (**श्रोता :-**) यहाँ द्रव्य और पर्याय दोनों को साथ में लिया ? (**उत्तर :-**) पर्याय तो है। भावना (है) वह पर्याय है। परम गुप्ति यह पर्याय - परिणति है। शुद्धात्मा (द्रव्य) वह तो त्रिकाली। और सम्यग्ज्ञान की पुंजमयी यह सहज परम गुप्ति (यह) वर्तमान, उसे भावना कहा, उसे भजो कहा। उसे इस वस्तु की पर्याय को एक को भजो। 'भावना उत्कृष्टरूप से भजो।' भजन तो ऐसा

ही होवे न...! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भक्ति करो, ऐसा कहे न...! आगे (गाथा-१३४, परमभक्ति अधिकार में) आता है न...! भक्ति तो द्रव्य की करनी है। परंतु उस द्रव्य में भक्ति इस (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की) करी इसलिये द्रव्य की भक्ति उसमें साथ में हुई (हो गई)। (तो कहा) इसकी भक्ति करो। राग की जो भक्ति कर रहे हैं उसकी जगह इस की करो तो द्रव्य पर दृष्टि (अर्थात्) उसीका विशेष आश्रय (हुआ) अरे...! ऐसी बातें !! मार्ग तो कोई ऐसा है, बापू ! आहा...हा...!

वीतरागस्वरूप परमात्मा; उनमें ज्ञान के पुंजरूपी गुप्ति, - यह वर्तमान हाँ ! उसे शुद्धात्मा की भावना, उससे भगवान को भजो ! आहा...हा...! निज भगवान को भजो ! शुद्धात्मा माने निजात्मा। भजो - भजन यह पर्याय है।

'त्रिगुप्तिमय ऐसे उस मुनि का वह चारित्र निर्मल है।' इससे पहले चारित्र होता है परंतु अभी राग है (इसलिये) वह मलिन है, ऐसा कह रहे हैं। सराग चारित्र है। चारित्र तो है; (वह) जितने अंश में (है) उतना तो वीतराग है। किन्तु अभी राग का अंश है अतः उसे वीतरागी चारित्र जितना चाहिए उतना नहीं है। 'त्रिगुप्तिमय ऐसे उस मुनि का वह चारित्र निर्मल है।' मन से भी विकल्प छूटकर अंदर स्थिर होते हैं इन मुनि का चारित्र निर्मल है।

आहा...हा..! एक घंटे में कितनी भाषा और कितनी सूक्ष्म सूक्ष्म बात ! बापू ! यह तो जन्म-मरणरहित होनेका मार्ग (है) ! (एक) घंटे में भिन्न-भिन्न बातें आती हैं। याद कितना रहे ? स्मृति में इतना याद रखना कि : 'वस्तुस्वरूप पूर्ण है उसकी ओरकी स्थिरता करना' - इतना याद रखना। फिर उसके विशेष चाहे जितने आये (वे सभी जानने के विषय हैं।)

आहा...हा...! 'उत्कृष्टरूप से भजो' ऐसा है न...! (श्लोक में) तीसरा पद है : 'भजतु परमां भव्यः' परम परम परम परम उत्कृष्ट भजन कर ! - यह ८८ गाथा (पूरी) हुई।

*

श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्यदेवप्रणीत

श्री नियमसार

श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित संस्कृत टीका

(परमार्थ-प्रतिक्रमण अधिकार)

गाथा-८९

मोत्तूण अट्टरुद्दं झाणं जो झादि धम्मसुक्कं वा।
सो पडिकमणं उच्चइ जिणवरणिद्दिट्ठ सुत्तेसु।।८९।।
मुक्त्वार्तरौद्रं ध्यानं यो ध्यायति धर्मशुक्लं वा।
स प्रतिक्रमणमुच्यते जिनवरनिर्दिष्टसूत्रेषु।।८९।।

ध्यानविकल्पस्वरूपाख्यानमेतत्।

स्वदेशत्यागात् द्रव्यनाशात् मित्रजनविदेशगमनात् कमनीयकामिनीवियोगात् अनिष्टसंयोगाद्वा समुपजातमार्तध्यानम्, चौरजारशात्रवजनवधबंधननिबद्धमहद्द्वेष-जनितरौद्रध्यानं च, एतद्द्वितयम् अपरिमितस्वर्गापवर्गसुखप्रतिपक्षं संसार-दुःखमूलत्वान्निरवशेषेण त्यक्त्वा, स्वर्गापवर्गनिःसीमसुखमूलस्वात्माश्रितनिश्चयपरमधर्मध्यानम्, ध्यान-ध्येयविविधविकल्पविरहितान्तर्मुखाकारसकलकरणग्रामातीतनिर्भेदपरमकलासनाथ-निश्चयशुक्लध्यानं च ध्यात्वा यः परमभावभावनापरिणतः भव्यवरपुंडरीकः निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपो भवति, परमजिनेन्द्रवदनारविन्दविनिर्गतद्रव्यश्रुतेषु विदितमिति। ध्यानेषु च चतुर्षु हेयमाद्यं ध्यानद्वितयं, त्रितयं तावदुपादेयं, सर्वदोपादेयं च चतुर्थमिति।

हिन्दी-अनुवाद

जो आर्त रौद्र विहाय वर्ते धर्म-शुक्ल सुध्यानमें।
प्रतिक्रमण कहते हैं उसे जिनदेवके आख्यान में।।८९

अन्वयार्थ :- **[यः]** जो (जीव) **[आर्तरौद्रं ध्यानं]** आर्त और रौद्र ध्यान **[मुकत्वा]**

छोड़कर **[धर्मशुक्लं वा]** धर्म अथवा शुक्लध्यानको **[ध्यायति]** ध्याता है **[सः]** वह (जीव) **[जिनवरनिर्दिष्टसूत्रेषु]** जिनवरकथित सूत्रोंमें **[प्रतिक्रमणम्]** प्रतिक्रमण **[उच्यते]** कहलाता है।

टीका :- यह, ध्यान के भेदोंके स्वरूपका कथन है।

(१) स्वदेशके त्यागसे, द्रव्यके नाशसे, मित्रजनके विदेशगमनसे, कमनीय (इष्ट, सुंदर) कामिनीके वियोगसे अथवा अनिष्टके संयोगसे उत्पन्न होनेवाला जो आर्तध्यान, तथा (२) चोर-जार-शत्रुजनोंके बध-बंधन संबंधी महा द्वेषसे उत्पन्न होनेवाला जो रौद्रध्यान, वे दोनों ध्यान स्वर्ग और मोक्षके अपरिमित सुखसे प्रतिपक्ष संसारदुःखके मूल होनेके कारण उन दोनोंको निरवशेषरूपसे (सर्वथा) छोड़कर, (३) स्वर्ग और मोक्षके निःसीम (-अपार) सुखका मूल ऐसा जो स्वात्माश्रित निश्चय-परम-धर्मध्यान, तथा (४) ध्यान और ध्येयके विविध विकल्प रहित, *अंतर्मुखाकार, सकल इन्द्रियोंके समूहसे अतीत (-समस्त इन्द्रियातीत) और निर्भेद परम कला सहित ऐसा जो निश्चय-शुक्लध्यान, उन्हें ध्याकर, जो भव्यवरपुंडरीक (-भव्योत्तम) परमभावकी (पारिणामिक भावकी) भावनारूपसे परिणमित हुआ है, वह निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप है - ऐसा परम जिनेन्द्रके मुखारविंदसे निकले हुए द्रव्यश्रुतमें कहा है।

चार ध्यानोंमें प्रथम दो ध्यान हेय हैं, तीसरा प्रथम तो उपादेय है और चौथा सर्वदा उपादेय है।

*अंतर्मुखाकार = अंतर्मुख जिसका आकार अर्थात् स्वरूप है ऐसा।

प्रवचन- २९, दि. २७-२-१९७८

जिनेश्वरभगवान त्रिलोक के नाथ, उनने जो सूत्र कहे उसमें यह कहा है - राग बिना की, स्वरूपस्थिरता और रमणता का नाम चारित्र और उसका नाम प्रतिक्रमण है। ऐसा जिनवर भगवान के कहे हुए आगमों में - शास्त्रों में तो यह कहा है। (तो कोई कहे कि,) यह कहा है तो व्यवहार है वह कहाँ गया ? - वह तो जानने

लायक है। व्यवहार है वह जानने लायक है; आदरने लायक नहीं है। अतः यहाँ आदरने लायक में तो 'त्रिकाली भगवान में अंदर स्थिर हो,' ऐसा जिनवरकथित शास्त्रों में - द्रव्यश्रुत में भी ऐसा कहा है।

लो ! इसमें आया 'द्रव्यश्रुत'। ('समयसार' गाथा-१५ में आया था) 'अपदेससन्तमज्झं' एक (वर्तमान जैन मुनि) कहते हैं कि : अपदेश का अर्थ अखंड लेना। परंतु बापू ! 'अपदेससन्तमज्झं' का अर्थ ऐसा नहीं है। यहाँ तो इस द्रव्यश्रुत में ऐसा लेते हैं कि : अपदेश माने कथन। भगवान की वाणी में भी यह आया है कि, आत्मा को अबद्धस्पृष्ट देखे - अनुभव करे वह 'जैनशासन' है। - ऐसा वीतराग की वाणी में आया है। वह द्रव्यश्रुत। तब (वे) कहते हैं कि : उस द्रव्यश्रुत की व्याख्या तो करी नहीं है उनको (टीकाकार आचार्य को) कुछ समझमें नहीं आया होगा। अरे... अरे बापा ! ऐसा (कहना) रहने दे भाई ! द्रव्यश्रुत में कहा है वह बात छोड़ दी; भावश्रुत 'यह' है ऐसा उन्होंने बताया। (पुनःश्च) भावश्रुत ऐसा है यह कहनेवाला तो द्रव्यश्रुत है। आहा...हा...! अरे प्रभु ! स्वयं अपनी कल्पना के अनुसार शास्त्र के अर्थ में भी हेराफेरी करे, ऐसा नहीं करना चाहिए, भाई ! परमेश्वर का कहा हुआ, त्रिलोकनाथ जिनवरदेव, जिन्हें चैतन्य के अनंते रत्न पूरे खील गये हैं। जिनके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को भी जब रत्न कहा तो उसकी पूरी दशा को क्या कहना ? आहा...हा...! ऐसे रत्नों की राशियाँ (पूंज) जिसको खिल गई है, भाई ! तुझे विश्वास आना चाहिए, भाई ! आहा...हा...! जैसे अनंत रत्न चैतन्य के द्रव्यस्वभाव में पड़े हैं ऐसे ही पर्याय में अनंत रत्न खिल गये हैं ! जब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को रत्नत्रय कहते हैं तो फिर पूर्ण दशा के रत्न की भावना की क्या बात करना ?! भावना माने पर्याय। और उसकी पूर्ण पर्याय को भी जहाँ महारत्न के ढेर प्रगट हुए, ऐसा कहते हैं तो वस्तु के रत्न की क्या बात करनी ?! भगवान परमात्मा के अनंत चैतन्यरत्न ध्रुवरूप हैं, आहा...हा...हा...! उसकी क्या बात करनी ?!

'जो आर्त रौद्र विहाय वर्ते धर्म-शुक्ल सुध्यानमें।
प्रतिक्रमण कहते हैं उसे जिनदेवके आख्यान में।।८९'

इसमें (गाथा में) ऐसा आया : '**जिणवरणिद्दिट्ठसुत्तेसु**' 'जिणवरणिद्दिट्ठ' - जिनवरद्वारा कहा गया... बस ! तब 'अपदेससन्तमज्झं' में यह आया। अरेरे...! (मतिकल्पना से अर्थ नहीं किये जा सकते।)

टीका : '**यह, ध्यान के भेदों के स्वरूप का कथन है।**'

`**स्वदेश के त्याग से**' उत्पन्न होनेवाला आर्तध्यान। स्वदेश छोड़कर कहीं परदेश में कि जहाँ कुटुंब नहीं, कबीला नहीं और अकेले चले जाना - ये कमाने के लिये जाते हैं न... अफ्रीका और अरबस्तान (इत्यादि देशों में)। पहले कहीं कुटुंब-कबीले को छोड़कर (चले जाते हैं)। फिर तो वहाँ मकान बनाये और फिर कुटुंब इकट्ठा हो जाय। (पहले) ऐसे अकेला चला जाता है कोई सगा-संबंधी नहीं। आहा...हा...! कहते हैं कि, उस स्वदेश के त्याग में उसे जो ध्यान हो (वह) आर्तध्यान (है)। अरेरे...! कोई नहीं मिलता (अपना)। इस बात का आर्तध्यान है।

`**द्रव्य के नाश से**' आर्तध्यान होता है। यह पैसा... पैसा...पैसा कम हो जाय या नष्ट हो जाय (तो) वह चिंता लिपट जाय अंदर में। हम ऐसे (बड़े) कहलाते थे और अब लक्ष्मी कम हो गई - इसकी चिंता। इसका आर्तध्यान।

इसे छोड़कर अब कहना है कि आर्तध्यान छोड़कर आत्मा का ध्यान कर ! क्योंकि वह (आर्तध्यान) तो किया है, (ऐसा) कह रहे हैं।

`**मित्रजन के विदेशगमन से**' - प्रियजन बाहर जाय, सगे-संबंधी-कुटुंबीजन (बाहर चले जाय और यह) यहाँ देश में अकेला रहता हो, उससे उसे आर्त ध्यान होता है। अरेरे...! कोई मिले ! (**श्रोता** :) पहले के समय की बात बता रहे हो (परंतु) अब तो हवाई जहाज से दो घंटे में पहुँचा जा सकता है। अफ्रीका छह घंटे में पहुँच जाते हैं। (**उत्तर** :) परंतु छह घंटे अकेला रहे उसीमें से उसे कुछ हो जाय... हाय...! हाय...! कोई नहीं मिल रहा...! यह आर्तध्यान है।

`**कमनीय कामिनी के वियोग से**' - प्रिय-सुंदरी स्त्री जिसकी कमनीय माने स्वरूपवान (हो) वह मर जाय, उसमें सारे सुख की कल्पना कर रखी हो सुख और कल्पना में उतने में उसका वियोग हो जाय - मर जाय तो उसके वियोग से (आर्तध्यान होता है)। (**श्रोता** :-) तल्लाक ले, वह भी वियोग ? (**उत्तर** :-) तल्लाक को और क्या कहें ? स्त्री को पोषाता न हो तो तल्लाक करे। आदमी को भी पोषाता न हो तो तल्लाक करे। गड़बड़ हुई हो तो फिर कोर्ट में शादी करे। कुंवारे में गड़बड़ हो गई हो फिर उसकी शादी करे। यह सब (आर्तध्यान है)।

`**अथवा अनिष्ट के संयोग से उत्पन्न होनेवाला** (**आर्तध्यान**)' - प्रतिकूल संयोग, रोग आये या दुश्मन आये, उससे उत्पन्न होनेवाला आर्तध्यान। - उस आर्तध्यान की व्याख्या की। उसे छोड़कर, स्वरूप का ध्यान करना ऐसा कह रहे हैं।

विशेष कहेंगे।.....

***

प्रवचन- ३०, दि. २८-२-१९७८

`नियमसार' गाथा-८९। ध्यान के प्रकार कह रहे हैं। आर्तध्यान की बात हो चुकी। फिर से : स्वदेश के त्याग से होनेवाला आर्तध्यान। द्रव्य का नाश, (अर्थात्) लक्ष्मी का नाश हो, उससे होनेवाला आर्तध्यान। मित्रजन के विदेशगमन से होनेवाला पाप (आर्त)ध्यान। कमनीय (इष्ट और सुंदर) कामिनी के वियोग से अथवा अनिष्ट के संयोग से उत्पन्न होनेवाला जो आर्तध्यान। - उसे आर्तध्यान - पाप ध्यान कहते हैं। उससे संसार के दुःख में भटकता रहता है। पाप में एकाग्रता है न...! अतः ध्यान (कहा)। यह कमाने में और खाने-पीने में और अनुकूलता में एकाग्रता है न...! वह राग-ध्यान है। दुकान, दवाखाना, धंधे में (उसके) राग में एकाग्र हो जाता है कि ऐसा करना है और वैसा करना है और इसका ऐसा करना है। और अच्छे मित्र का वियोग हो जाय, परदेश चला जाय, यहाँ साथ में बातचीत की संगत रहे नहीं इसलिये आर्तध्यान हो जाय। यह आर्तध्यान की व्याख्या करी।

अब, रौद्रध्यान। दोनों (ही) खराब (दुष्ट) ध्यान हैं। (२) `**चोर-जार (व्यभिचारी) - शत्रुजनों के वद-बंधन संबंधी**' - किसी चोर से, किसी (पर) स्त्री के भोदादि से, शत्रुजनों के वध (अर्थात्) शत्रुजन आकर वध करे, खटियासे बांधे, मारे (ऐसे) (वध)-बंधन संबंधी `**महाद्वेष से उत्पन्न होनेवाला (जो) रौद्रध्यान**' आहा...हा...! ये चोरलोग आते हैं न...! वह (मकान-मालिक) सो रहा हो उसे पहले रस्सी से खटिया के साथ बांध दे और फिर (कहे) ला, माल की चाबी तेरी कहाँ है ? सिरपर बंदूक रखकर खडे हो जाय। देख ! यह तुझे बांधा है परंतु यहाँ बंदूक की ओर देख... चिल्लायेगा तो...! उस समय उसे अंदर से ऐसा द्वेष हो जाय - रौद्रध्यान। हाय...हाय...! उसे (चोर को) मार डालूँ या क्या करूँ ? परंतु साधन (चारा) कोई रहे नहीं। आहा...हा...!

`**वे दोनों ध्यान स्वर्ग और मोक्ष के अपरिमित सुख से**' - देखो : यहाँ तो पूर्ण शुभभाव मोक्षमार्ग में होता है। अपरिमित अर्थात् बहुत सुख है न...! सागरोपम का।

सागरोपम : एक पल्योपम में असंख्याते अरब वर्ष जाय और ऐसे ऐसे दस क्रोडाक्रोडी पल्योपम का एक सागरोपम। ऐसे ऐसे ३३-३३ सागर सर्वार्थसिद्धि के। यहाँ अपरिमित माने दीर्घ काल का सुख। और मोक्ष का अपरिमित सुख - दोनों साथ में। मोक्ष का सुख वास्तविक है। और स्वर्ग का (सुख) राग की मंदता के फलस्वरूप आता है और वहाँ तो फिर अशुभभाव है। वह `**प्रतिपक्ष**' - स्वर्ग व मोक्ष के अपरिमित सुख के प्रतिपक्ष `**संसारदुःख के मूल होनेके कारण**' आहा...हा...! आर्तध्यान और रौद्रध्यान (ये) संसारदुःख के मूल हैं। `**उन दोनों को निरवशेषरूप से (सर्वथा) छोड़कर,**' - जो कोई प्राणी इस आर्त और रौद्रध्यान को छोड़कर और (३) `**स्वर्ग और मोक्ष के निःसीम (-अपार) सुख का मूल**' अर्थात् अपरिमित - बेहद (सुख का मूल) `**ऐसा जो स्वात्माश्रित निश्चय (- परम) धर्मध्यान।**' - निश्चयधर्मध्यान तो भगवानआत्मा के आश्रय से होता है। उसका फल तो पवित्रता है। परंतु बीच में समकिती धर्मी को जो राग रह जाता है; पूर्ण ध्यान नहीं है इसलिये राग रहता है; उसके फलस्वरूप स्वर्ग है। अतः यहाँ दोनों (स्वर्ग व मोक्षसुख) लिये। आत्मा के आश्रय से निश्चयधर्मध्यान - उसमें पूर्णता नहीं है। अतः (जितना) आश्रय (आत्मा का) लिया उतनी तो पवित्रता (और वह) मोक्ष का कारण। और जितना अंदर महाव्रतादि का रागभाव शेष बचा है उसके फलस्वरूप स्वर्ग आता है। निश्चय और व्यवहार दोनों ही लिये हैं। स्वात्माश्रित है वह निश्चय है। और पूर्ण आश्रय नहीं है उतना, अंदर राग दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का आता है उसके फलस्वरूप उसे (साधक को) स्वर्ग है। सम्यग्दृष्टि जीव मनुष्य या तिर्यंच होवे (उसे) अंदर पूर्ण - शुक्लध्यान की - एकाग्रता नहीं है। अतः उसे अपूर्ण आश्रय है। जितना द्रव्य का आश्रय है उतनी तो पवित्रता है। उसका फल तो मोक्ष ही है। परंतु उसके साथ स्थित (जो) शुभराग है (वह) पूर्ण धर्मध्यान नहीं है। धर्मध्यान की पूर्णता तो शुक्लध्यान में होती है। अतः उसे निःसीम सुख का कारण स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यान (है)।

अब (४) शुक्लध्यान : `**ध्यान और ध्येय के विविध विकल्प रहित**' - ध्येय - आत्मा का ध्यान कर रहा हूँ ऐसे जो भेद पड़े हैं विकल्प-राग, उनसे - विकल्पों से रहित - `ध्यान और ध्येय के विविध विकल्प रहित' `**अंतर्मुखाकार**' - अंतर्मुख जिसका स्वरूप है। केवल अंतर्मुक है, ऐसा कहना है। उसमें (धर्मध्यान में) `स्वात्माश्रित' लिया था किन्तु वहाँ अभी पूर्ण अंतर्मुख नहीं था। कुछ समझ में आया ? आहा...हा...! भगवान परमानंद, चिद्घन वस्तु, जिनस्वरूपी, वीतराग परमात्मस्वरूप आत्मा; उसका

आश्रय लिया उतना वहाँ धर्मध्यान कहा। और अपूर्ण है वहाँ शुभराग (आता है) वह व्यवहारधर्मध्यान; उसका फल स्वर्ग है। यहाँ तो (जो) बिल्कुल `अंतर्मुखाकार' कहा (वह) शुक्लध्यान तो अंतर्मुखस्वरूप है। (उसमें) आत्मा का बिल्कुल - पूर्ण आश्रय लिया है। आहा...हा...! है न... नीचे (फूटनोट में) - अंतर्मुखाकार (अर्थात्) अंतर्मुख जिसका आकार अर्थात् स्वरूप है ऐसा। अंतर्मुखस्वरूप !

`**सकल इन्द्रियों के समूह से अतीती (-समस्त इन्द्रियातीत)**' - वहाँ किसी भी इन्द्रिय का लक्ष नहीं है। अतीन्द्रिय आनंद के ध्यान में किसी इन्द्रिय का लक्ष नहीं होता। वहाँ शुक्लध्यान में ऐसे अतीन्द्रिय आनंद का घ्यान है। आहा...हा...!

`**और निर्भेद**' - जिसमें भेद नहीं है। धर्मध्यान में तो थोड़ा रागभाव बाकी है, भेद पड़ते है। (जितना) स्व का आश्रय है उतना निर्भेद है और जितना राग है उतना भेद पड़ता है (यह शुक्लध्यान) तो बिल्कुल निर्भेद (है)।

`**परम कला सहित**' - केवलज्ञान को ले ऐसी परम कला सहित (है)। शुक्लध्यान (है वह) स्वभावशक्ति का विकास करने की परम कला है। आहा...हा...!

`**ऐसा जो निश्चय - शुक्लध्यान उन्हें ध्याकर**' - यहाँ तो ध्यान को ध्याकर लिया है। ध्यान में ध्येय तो आत्मा है। परंतु ध्यान को ध्याकर, ऐसा इसमें कहना है न...! चार ध्यान कहे हैं न...? दो ध्यान (आर्त व रौद्र) को छोड़कर, दो ध्यान (धर्म व शुक्ल) को ध्याना। आहा...हा...!

जिज्ञासा :- ध्यान को ध्याया। परंतु ध्यान के विषय को नहीं ध्याया ?

समाधान :- यह तो कईबार कहा जा चुका है : `सम्मत्तणाणचरणे जो भत्तिं' (`नियमसार' गाथा-१३४) - भक्ति तो द्रव्य की है। परंतु उसकी भक्ति करे इससे उसकी (सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की) भक्ति करे, ऐसा कहा जाता है। कुछ समझ में आया ?

ऐसा कहा न...! धर्मध्यान (और शुक्लध्यान) को ध्याकर, `**जो भव्यवरपुंडरीक (-भव्योतम) परमभाव की (पारिणामिक भाव की) भावनारूप से परिणमित हुआ है**' - धर्मध्यान में अभी परमभाव की पूर्ण भावना नहीं थी अतः राग था, वह स्वर्ग का कारण (था)। (परंतु) यहाँ तो परम (भाव) - पारिणामिकभाव (स्वरूप) पूरा भगवान, पूर्ण शुद्ध स्वभाव; उसकी भावना (अर्थात्) पंचमभाव की भावना (रूप परिणमित हुआ है)। इसमें क्षायिक की और उपशम की भावना नहीं लेनी है। उसमें लिया कि : (धर्म व शुक्ल) ध्यान को ध्याना। ध्यान तो क्षयोपशम और क्षायिकभाव से है। यहाँ अब कहा कि :

परमपारिणामिकभाव को ध्याकर, भावना करके, आहा...हा...! पूर्णानंद प्रभु आत्मा, परमपारिणामिकभाव, सहज पारिणामिक, (उसकी भावनारूप से परिणमित हुआ है)।

'पंचास्तिकाय' संस्कृत टीका में आता है न...! 'परिणामे भवः पारणामिकः' - सहजरूप से होता है। उसे किसी कर्म के निमित्त की अपेक्षा नहीं है। निमित्त के अभाव की अपेक्षा नहीं है। क्षायिक, क्षयोपशम में तो अभी निमित्त के अभाव की अपेक्षा है। औदयिक में राग के उदय की अपेक्षा (है)। परंतु सहज स्वरूप पारिणामिक त्रिकाल है; उसमें तो निमित्त के अभाव की व निमित्त के सापेक्षता के भाव की अपेक्षा नहीं है। आहा...हा...!

ऐसा जो परमपारिणामिकस्वभाव, परम स्वाभाविकभाव त्रिकाली ध्रुव; उसकी भावना। अर्थात् क्षायिक, क्षायोपशमिक आदि परिणतिरूप परिणमित हुआ। वह उसकी भावना। परमस्वभावभाव की भावना, अर्थात् उसमें एकाग्रता वह परिणति है, पर्याय है। परमपारिणामिकभाव है वह द्रव्य है, वस्तु है। और उसकी भावना है वह पर्याय है। परमपारिणामिक, परमभाव - ऐसा लिया है न...! परमभाव; उसकी भावना। ऐसी भाषा है। फिर तो स्पष्ट किया। पारिणामिकभाव वह परमभाव (है)। क्षायोपशामिक, क्षायिक आदि (ये) परमभाव नहीं हैं, वे पर्यायभाव हैं। और यह तो त्रिकाल परमभाव वस्तु... वस्तु... वस्तु... वस्तु ! उसे ध्येय बनाकर, और जो भावना अर्थात् एकाग्रता करी है, वह मोक्ष का कारण है।

प्रश्न :- पंचमकाल में शुक्लध्यान तो अभी नहीं है। फिर भी उसे क्यों कहा ?

समाधान :- बात तो सब करे कि नहीं ? इस समय भले स्वाश्रित धर्मध्यान (है) और जरा राग बाकी हो। परंतु उसे फिर परमपारिणामिकभाव की पूर्ण भावना में जाना है न...? (तो) वह बात शुरू से करते हैं। उसकी भावनारूप परिणमित हुआ है। भाषा देखी ! 'परमपारिणामिक त्रिकाल स्वभाव है' ऐसा विकल्प करके धारणा में नहीं पड़ा है। परंतु परमपारिणामिकभाव की भावनारूप परिणमित हुआ है। वह वीतरागी परिणतिरूप परिणमित हुआ है। क्योंकि परमपारिणामिकभाव परमवीतरागस्वरूप है; और उसकी भावनारूप परिणमित हुआ है वह भी वीतरागभाव है।

ऐसा जो जीव '**वह निश्चयप्रतिक्रमण स्वरूप है।**' - वह सच्चा प्रतिक्रमण। राग के विकल्प से भी हटकर, आत्मा के आनंद में लीन हो गया है; वह प्रतिक्रमणस्वरूप है। हैं बारहवें गुणस्थान तक ले लेना ? (**उत्तर :-**) यहाँ तो नीचे से - सातवें से बात है। इसके बाद शुक्लध्यान आठवें में होता है। आठवे से शुक्लध्यान लिया है। उस (रूप) परिणमित हो रहा हूँ और - ऐसा विकल्प, वहाँ कहाँ है ? यहाँ तो उसका

स्वरूप बताते हैं।

आहा...हा...! परमस्वभाव का पूंज प्रभु, अतीन्द्रिय आनंद स्वरूप से - स्वभाव से त्रिकाल भरा हुआ भगवान, वह परमभाव, पारिणामिकभाव; उसकी एकाग्रता में जो अतीन्द्रिय आनंदरूप परिणमित हुआ है, वह अतीन्द्रिय आनंद - यह उसकी भावना है। कुछ समझ में आया ? `वस्तु' तो पूर्ण स्वरूप है, त्रिकाल भावस्वरूप है; उसकी भावनारूप परिणमित हुआ वह `पर्याय' है।

पहले तो बात (वस्तुस्थिति) अभी खयाल में आनी (चाहिए)। आहा...हा...! कहते हैं कि : संपूर्ण प्रभु यहाँ (अंतर में) बिराजमान है न...! ज्ञायकभाव से भरा हुआ परमभाव (है)।

प्रश्न :- ज्ञायक क्यों कहा ?

समाधान :- जैसे पारिणामिकभाव तो परमाणु में भी है, चार द्रव्य में भी है। परंतु इसमें (जीव में) पारिणामिक न कहकर प्रारंभ में ही ज्ञायक लिया। `समयसार' गाथा - छठी, ग्यारहवीं। `भूयत्थम' - `भूतार्थ' वह `ज्ञायक'। क्योंकि `जाननेवाला' उसका त्रिकाली स्वभाव, ऐसा जो परमपारिणामिकभाव; इस प्रकार। ज्ञान का जो वर्तमान क्षयोपशम, उपशम, क्षायिक है वह तो पर्याय है, वह तो भावना है। किन्तु भावना किसकी ? - त्रिकाल चैतन्यमूर्ति भगवान, ऐसा जो परमभाव अथवा परमपारिणामिकभाव; (उसकी भावना)। आहा...हा...! उस परमभाव की अपेक्षा क्षायिकभाव भी अपरमभाव है। कुछ समझमें आया ?

ऐसी सब बातें हैं ! धर्म का मार्ग बहुत सूक्ष्म है, भाई ! बाकी तो दिनभर पाप करता है। यह तो पहले आ चुका न...! दिनभर आर्तध्यान और रौद्रध्यान। यह व्यपार किया और यह लिया और यह दिया और व्याज पैदा किया और पैसे जमा किये और लड़के को अमरिका भेजा और पढ़ाया और - यह सब अनिष्ट ध्यान है।

भगवान अंदर अतीन्द्रिय आनंद और अतीन्द्रिय ज्ञान का सागर; उसमें डूबकी लगा दे ! वह डूबकी माने भावना। यहाँ तो ध्यान की व्याख्या है न...! जिससे मोक्ष मिले, स्वर्ग मिले। (अर्थात्) निश्चय धर्मध्यान से मोक्ष, और उस धर्मध्यान में बाकी बचे व्यवहार - दया, दान, व्रत - का (जो) विकल्प उठे उसका फल स्वर्ग है।

यह ऐसा आया कि भाई ! निश्चय है वह मोक्ष का साक्षात् मार्ग है और व्यवहार है यह परंपरा (मार्ग) है। ऐसा आता है न...? (परंतु) यहाँ तो व्यवहार है वह स्वर्ग का कारण है, ऐसा लिखा है। (**श्रोता :-**) निश्चय हो उसके लिये वह बात है न...? (**उत्तर :-**) यहाँ उसकी बात है फिर भी भेद किया है, मुझे ऐसा कहना है। -

क्या कहा वह ? कि : निश्चयआत्मस्वभाव का भान है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुआ है वह निश्चयमोक्षमार्ग और (वहाँ उसे) देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति आदि का (जो) राग बाकी रहता है वह व्यवहार मोक्षमार्ग। और उसे परंपरा कारण कहा। यहाँ निश्चय (सहित) के व्यवहार को स्वर्ग का कारण कहा। वह वास्तव में कारण नहीं है। आरोपित (कारण) है। अतः यहाँ खुलासा कर दिया कि जो राग बाकी था, उसे व्यवहार (और) परंपरा कारण कहा था, वह स्वयं सीधा कारण तो स्वर्ग का है। (वास्तव में) ऐसी बात है !

यहाँ-वहाँ व्यवहार (को कारण) कहा हो वहाँपर उसे निमित्त देखकर (उपचार से कारण कहा हुआ होता है।) निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह तो स्वचैतन्य भगवान के अवलंबन से ही होता है। और जो बाकी राग रहा वह परलक्ष से होता है, उस राग को वहाँ व्यवहार और उसे (परंपरा कारण) कहा है। यहाँ निश्चयवालों की ही बात है। निश्चयवालों को परंपरा कारण और (निश्चय बिना के) व्यवहारवालों को (भी) परंपरा कारण ऐसी बात यहाँ है ही नहीं। - क्या कहा यह ? कि : जिसे आत्मा परमानंद प्रभु से भेंट सम्यग्दर्शन-ज्ञान में हुई है और कुछ स्थिरता कम है, और जो व्यवहार रत्नत्रय का राग आये वहाँ उसे मोक्ष का परंपरा कारण कहा। उसका अर्थ कि उसे (व्यवहार को) छोड़कर (आत्मस्थिरता) करेगा। अन्यथा वह (व्यवहार) तो बंध का कारण है, स्वर्ग का कारण है। कुछ समझ में आया ? यहाँ (व्यवहार को) स्वर्ग का कारण कहे, और वहाँ मोक्ष का परंपरा कारण कहते हैं; तो उसका अर्थ क्या है ? (**श्रोता :-**) उसमें से आपने गूढ रहस्य निकाला ! (**उत्तर :-**) वस्तुस्थिति ही ऐसी है। आहा...हा...!

वहाँ चरणानुयोग में श्रावक की अपेक्षा से परंपरा कारण कहा। श्रावक को तो वह व्यवहार से - शुभभाव से परंपरा होती है, ऐसा कहा। उससे (व्यवहार से) होता है, ऐसा कहा। परंतु वह किस अपेक्षा से ? कि - उसका अभाव करेगा। और (वह) वास्तव में तो निश्चय के - स्व के आश्रय से हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में (होता है); उसे, जो शुभभाव हुआ वह अशुभ से बचा है। मिथ्यादृष्टि को तो 'अशुभ से बचना' ऐसा कुछ है ही नहीं। क्योंकि उसे तो मिथ्यात्व ही महापाप पड़ा है उससे बचा नहीं है तो वहाँ फिर अशुभ से बचना...? बात कुछ समझ में आ रही है ? फिर भी व्यवहार से ऐसा बोला जाता है कि अशुभ छोड़कर शुभ करो। चरणानुयोग में (ऐसी बात) आती है।

आहा...हा...! यहाँ तो स्वर्ग का कारण और मोक्ष का कारण `ध्यान' कहा। तो ध्यान माने : आत्मा अंदर चिदानंद प्रभु; जिसके अमृत के स्वाद आये, डकार आई - वह निश्चय (ध्यान)। परंतु अभी अपूर्ण आश्रय है इसलिये आनंद पूर्ण प्रगट नहीं हुआ है, उतना वहाँ रागरूपी दुःखभाव है। पूर्ण आनंद का अभाव है अतः वहाँ राग है, दुःख है। पूर्ण आनंद हुआ (हो तो) वहाँ राग और दुःख नहीं है। परंतु यहाँ (साधक को) पूर्ण आनंद नहीं है, परंतु अपूर्ण आनंद प्रगट हुआ है; उसे जो राग आता है उसे आरोप करके व्यवहाररत्नत्रय कहा। (परंतु) वास्तव में वह व्यवहाररत्नत्रय वस्तु (साध्य) नहीं है। वह यहाँ खुलासा कर दिया। भाई ! वह व्यवहाररत्नत्रय का भाव स्वर्ग का कारण है, पुण्य का कारण है, स्वर्ग मिले; समकिती हैं न...! अतः उन्हें तो पुण्यभाव से स्वर्ग मिले। और उन्हें चौथे-पाँच वें (गुणस्थान में) पापभाव (भी) आता है, उन्हें आर्तध्यान होवे, रौद्रध्यान होवे, विषय की वासना ज़रा अस्थिरता होवे; फिर भी उसे स्वर्ग का आयुष्य बंधनेवाला है इसलिये जब शुभभाव आयेगा तभी ही आयुष्य बंधेगा। उसे (अशुभ काल में) भविष्य का आयुष्य नहीं बंधेगा। और तिर्यंच का और मनुष्य का (भी आयुष्य) नहीं बंधेगा। उसे तो स्वर्ग का ही बंधेगा। वैमानिक का देव होगा; देवी नहीं। इस अपेक्षा को लेकर कहा है कि : जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, परंतु धर्मध्यान है, अर्थात् अभी अपूर्ण आश्रय है, उसे पर का आश्रय - व्यवहार रह गया है, उस व्यवहार का फल स्वर्ग है। परंतु उसका सुख तो बेहद और अपरिमित है, ऐसा कहना है। वहाँ बहुत काल है न... इस अपेक्षा से। बाकी वास्तव में तो वह (सुख नहीं) दुःख है वहाँ।

`प्रवचनसार' (गाथा-७६ में) कहा न... `तो पुण्य भी पाप की भाँति, दुःख का साधन है ऐसा फलित हुआ।') पाप और पुण्य में कुछ फर्क मानता हो तो हम कह रहे हैं कि पाप के फल में नरक का दुःख और पुण्य के फल में स्वर्ग में भी वहाँ राग से दुःख ही है। जिसके फल में जब दुःख है तो उसका शुभभाव अच्छा और अशुभभाव खराब ऐसे दो भेद कहाँ से आये ? आहा...हा...! (स्वर्ग का) फल दुःख ही है। यहाँ तो ज़रा अन्य, नरक व तिर्यंच के दुःख की अपेक्षा ज़रा शातावेदनीय आदि का सुख है, यह भाषा से - व्यवहार से बात की है। बाकी शुभभाव है उसका फल स्वर्ग का सुख है, उस सुख को भोगने के समय में तो उसका भाव पाप है। स्वर्ग के सुख की ओर लक्ष जानेसे जो राग होता है वह तो अशुभ-पाप है। किस किस अपेक्षा से होता है, यह न समझे और एकांत तानता रहे (ऐसा नहीं

करना)। यह तो प्रभु का स्याद्वादमार्ग है।

आहा...हा...! (यहाँ) है न...! 'परम(भाव की) पारिणामिकभाव की भावनारूप से परिणमित हुआ है।' धारणा में बात समझ रखी है कि धर्मध्यान ऐसा और शुक्लध्यान ऐसा, इस तरह से नहीं; ऐसा कह रहे हैं। उस रूप दशा हुई है। आनंद का नाथ भगवान, प्रभु अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप का आश्रय हुआ है, इसलिये परिणति हुई है अर्थात् वीतरागीपर्याय, आनंदवाली पर्याय प्रगट हुई है; ऐसे जीव को अधूरा धर्मध्यान है, पूरा नहीं है; अतः उसके शुभभाव के व्यवहार को (उपचार से) धर्मध्यान गिनकर ऐसा लिया कि : धर्मध्यान से स्वर्ग व मोक्ष सुख मिलता है। और पाठ में तो फिर इतना लिया कि स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यान। पराश्रित राग है अतः (उससे) स्वर्ग का फल ऐसा (स्पष्ट) नहीं कहा है। परंतु पराश्रितभाव से स्वर्ग है यह बात वहाँ गौण रख दी है। स्वाश्रित ध्यानमें से उसका भाग बाकी रह जाता है यह बात गौण करके रखी है। उसका फल उसे स्वर्ग है। पाठ में ऐसा नहीं लिया है - देखो : 'स्वर्ग और मोक्ष के निःसीम सुख का मूल स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यान।' स्वर्ग का भी कारण (निश्चयधर्मध्यान, ऐसा नहीं)। (**श्रोता :-**) आपने गर्भित बात को खुली कर दी। (**उत्तर :**) तो (क्या) स्वआश्रय में उसे स्वर्ग मिलेगा ? किन्तु यहाँ अधूरा है अर्थात् स्वआश्रित है ऐसा निश्चय तो है, परंतु अधूरा धर्मध्यान है, शुक्लध्यान की दशा जैसा नहीं है; अतः वहाँ राग होता है उसका फल उसे स्वर्ग है। आहा...हा...! परंतु किसको ? कि, जिसे स्वआश्रित दशा हुई है उसको। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं !

अरेरे ! ये सब जगत के उल्लास... वे सब आर्तध्यान और रौद्रध्यान के उल्लास हैं। यह उपार्जन किया और यह कमाया और इतने हुए और... ये सभी उल्लास हैं, कमाने का ऐसा उत्साह... उत्साह... पैसे मिले, करोड़ रूपये हुए और पाँच करोड़ रूपये हुए - इतने कमाये ! क्या है यह सब ? कमाया है या नुकसान उठाया है ? आहा...हा...! करों आज तो चूरमा के लड्डु, लपसी बनाओ, आज पाँच लाख पैदा हुए हैं। क्या है यह ? आर्तध्यान और रौद्रध्यान है, भाई ! (शास्त्र में) आता है : 'लक्ष्मी का बारंबार चिंतवन यह रौद्रध्यान है।' अपरिचित भाषा है। परिग्रह का उग्र चिंतवन वह रौद्रध्यान है। उसके फलस्वरूप तो संसार के दुःख हैं। तब फिर शुभभाव में सुख है ऐसा कहा !

'प्रवचनसार' में ऐसा कहा कि : उसके (शुभभाव के) फल में भी वहाँ (स्वर्ग में) दुःख ही है। पंडितजी ! वहाँ तो ऐसा कहा कि : शुभभाव से अशुभभाव को

अलग कैसे करें ? अशुभ व शुभ भिन्न कैसे हो सकते हैं ? दोनों की एक ही जाति है। क्यों ? उसके फल में भी वहाँ दुःख ही है। अज्ञान आदि से वह विषय को भोगता है, वह दुःख है, दुःख (भोगता है)। और तुम भेद करते हो कि शुभ में यह फल और अशुभ में यह (फल)। दोनों का एक ही फल (दुःख है)। वहाँ ऐसा कहा। और अन्यत्र ऐसा कहा है कि जहाँ निश्चय का आश्रय है वहाँ (उसका) व्यवहार वह परंपरा कारण है। (और यहाँ कहा : धर्मध्यान में) पूर्ण आश्रय नहीं है, अतः बीच में राग आता है; तो उस स्वाश्रयवाले को राग आता है ऐसा मानकर स्वाश्रय - धर्मध्यानवाला स्वर्ग व मोक्ष में जाता है। ऐसा कहा है। कुछ समझ में आया ? आहा...हा...! ये तो अध्यात्म शास्त्र तो गंभीर बहुत, भाई !

'वह निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप है।' - वहाँ शुक्लध्यान कहा। सिर्फ परम आश्रय। - भगवानआत्मा; जिसकी परिणति - भावना द्रव्य में जम गई है। जिसका बाह्य लक्ष ही नहीं है। अभी धर्मध्यान में तो राग था इसलिये बाह्य लक्ष था अतः उसका फल स्वर्ग कहा। यहाँ तो बाह्य लक्ष (ही नहीं है), मात्र अंतर्लक्ष में खो गया है। ऐसा निश्चयप्रतिक्रमण स्वरूप है।

'**ऐसा**' - भाषा देखो फिर से। पाठ में ऐसा था : 'जिणवरणिद्दिट्ठसुत्तेसु।' अब यह अर्थ क्या कर रहे हैं कि : 'ऐसा' (अर्थात्) यह ध्यान की व्याख्या करी। ऐसा **'परम जिनेन्द्र के मुखारविंद से निकले हुए द्रव्यश्रुत में कहा है।'**

आहा...हा...! भगवान सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा (वीतराग का ही उपदेश देते हैं।) 'आत्मावलोकन' में (गुरु अधिकार में) आता है न...! ('वीतरागं वीतरागं जीवस्य निजस्वरूपो वीतरागं मुहुर्मुहुः गृणाति कथयति स पुरुष गुरुपदं स्थानं भासति शोभते।') मुनिजन तो वीतराग का ही उपदेश देते हैं। ऐसी बात है। 'मुहुर्मुहु' माने बारंबार। वे तो स्वात्मा के आश्रय की - वीतरागता की ही बात करते हैं। पराश्रित भाव को बताते हैं किन्तु आदरणीय के रूप में तो स्वाश्रितभाव को ही वीतरागभाव रूप बताते हैं। आहा...हा...! (गुरु इसे कहते हैं)।

अतः 'परमात्मप्रकाश' में कहा न...! कि : जिसे शुभराग उपादेयरूप है उसे भगवानआत्मा हेयरूप है। जिसे वह दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का शुभभाव आदरणीय और उपादेयरूप है उसे भगवानआत्मा हेय है, उसे आत्मा त्याग ने योग्य हो गया है। आहा...हा...! जिसे आत्मा उपादेय है उसे राग हेय है। फिर भी राग आता है ऐसा कहकर यों कहा कि (उसे) स्वर्ग का सुख मिलता है। और वे स्वर्ग के सुख

मिले अर्थात् संयोग मिले। अब (उन्हें) भोगते समय कोई पुण्य नहीं है। सामग्री मिली उतनी अपेक्षा से कहा कि : जितना आत्मा का आश्रय था उतना धर्मध्यान तो पवित्र है और मोक्ष का मार्ग है और जितना आश्रय अधूरा है उतना रागभाव आता है, उस राग का फल स्वर्ग के सुख हैं। वे स्वर्ग के सुख हैं इसलिये वहाँ वह सुख भोगता है ? वहाँपर सुख की सामग्रियाँ तो बहुत हैं। शुभभाव के कारण बहुत सारी सामग्री मिली हैं बस...! किन्तु उन्हें भोगने जाता है तब तो पाप ही होता है। कुछ समझ में आया ?

अरे...! उसने (अपने) घर की बात तो सुनी नहीं। और घर के बाहर आया तो उसका फल क्या ? समकिती भी घर से बाहर आया, उसका फल क्या ? कि : बाहर शुभभाव में आया तो उसका फल स्वर्ग का सुख, अर्थात् स्वर्ग की अनुकूल सामग्री। उसे भोगने की ओर लक्ष जाता है तब तो पाप है। और इसीलिये तो कहा : ('समयसार') कर्ता-कर्म गाथा-७६ में कि : शुभभाव वर्तमान दुःख है और भविष्य में भी दुःख (का कारण) है। क्या कहा वहाँ ? और यहाँ कहा कि, शुभभाव का फल सुख है। वह तो सामग्री की अपेक्षा से कहा। कुछ समझ में आया ? और यहाँ गुरु कह रहे हैं कि, भाई ! शुभ व अशुभभाव दोनों ही दुःख का कारण है। वर्तमान दुःख का कारण है। और भविष्य में अर्थात् स्वर्ग मिलेगा वहाँ भी दुःख होगा। क्योंकि उसका लक्ष जायेगा तो उसे दुःख ही होगा।

आहा...हा...! गज़ब बात है न...! कितनी अपेक्षा आ गई दिमाग में ! कहाँ का कहाँ आया ! किसे मालूम यह (सब) कहाँ से किस तरह आता है !!

आहा...हा...! वह भगवानआत्मा, चैतन्यस्वभाव; उसका आश्रय लेकर जिसे धर्मध्यान प्रगट हुआ है, शुद्धि प्रगट हुई है; (परंतु अभी) उसे शुद्धि कम होनेके कारण राग की - शुभभाव की अशुद्धि है। तो एक ज़गह ऐसा कहा कि : (उस) अशुद्धि का फल परंपरा से मुक्ति है। (और) यहाँ कह रहे हैं कि : (इस) अशुद्धि का फल स्वर्ग का सुख है। और अन्यत्र ऐसा कहा कि : शुभ का फल भविष्य में दुःख है। वह दुःख, भोगने की अपेक्षा से है; सामग्री की अपेक्षा से (तो) शुभभाव की सामग्री मिली है, इतना। आहा...हा...! कुछ समझ में आया ? वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है, भाई !

'ऐसा' कहाँ कहा है ? - परम जिनेन्द्र के मुखारविंद से ! देखो : वहाँ भी एक तरफ ऐसा सिद्धांत में (कहा) है कि : भगवान की वाणी मुख से नहीं निकलती।

होठ हिलते नहीं। मुख से वाणी नहीं। पूरे शरीर में से वाणी आती है। और यहाँ : `मुखारविंदसे' - मुखरूपी कमल से। (क्योंकि) लौकिक(जन तो) ऐसा जानते हैं कि, भाषा तो मुख से निकलती है, इस अपेक्षा से (कहा है)। अन्यथा भगवान के तो होठ बंध रहते हैं, कंठ हिलता नहीं है, होठ हिलते नहीं; अंदर से ॐ ध्वनि उठती है। आहा...हा...! `मुख ॐकार धुनि सुनि अर्थ गणधर विचारै।' कुछ समझ में आया ?

यहाँ `मुखारविंद से निकले हुए' ऐसा कहा। परमात्मा जिनेन्द्रदेव वीतराग परमेश्वर के - मुखकमल (अर्थात् मुखरूपी) अरविंद - मुखरूपी कमल से निकली हुई वाणी। वाणी तो पूरे शरीर से निकलती है। यहाँ तो (कहा) : `मुखमें से'। परंतु लौकिक लोग ऐसा जानते हैं, इस अपेक्षा से बात कही है। मतलब, वाणी का साधन तो मुख है। (परंतु) उन्हें (भगवान को) यह शरीर कहाँ कोई साधनरूप रहा है ? और वाणी बोलूँ ऐसा भी कहाँ है ? ॐ... बोलना ऐसा भी कहाँ है ? समझ में आया ?

`मुख ॐकार धुनि सुनि अर्थ गणधर विचारै।' `बनारसीविलास' (ज्ञानबावनी) में है न...! `ॐकार शब्द विशद या के उभयरूप, एक आतमीक भाव एक पुद्गलको।' - `ॐ' शब्द विशद है और उसका उभयरूप है - एक आत्मिक शुद्धस्वरूप ही है वह `ॐ' है। और एक वाणी निकलती है वह शब्दात्मक `ॐ' है। कुछ समझ में आया ? आहा...हा...! (`शारदाष्टक') जिनादेशजाता... में आता है : `सो सत्यारथ शारदा तासु, भक्ति उर आन; छंद भुजंगप्रयात में, अष्टक कहौं बखान।' आहा...हा...! `बनारसीदास' ने बहुत सुंदर लिखा है। `बनारसीविलास' में आता है।

यहाँ (`मुखारविंदसे') कहा। (परंतु कहीं भी) विरोध नहीं है ! लोगों को खयाल में आ सके ऐसी शैली से बात करी है। कुछ समझ में आया ?

दूसरी बात - `परम जिनेन्द्र के मुखारविंद से।' `जिन' तो चौथे गुणस्थान में भी कहे जाते हैं। बारहवें में गणधर भी जिन कहलाते हैं। यह तो `परम जिनेन्द्र' तेरहवीं भूमिका, तेरहवाँ सयोगी गुणस्थान, उनको मुखारविंद होता है न...! सिद्ध को मुखारविंद कहाँ है ? परमात्मा जिनेन्द्रदेव, सर्वज्ञ प्रभु; उनके मुखरूपी कमल - अरविंद से `निकले हुए द्रव्यश्रुत'। आहा...हा...! दूसरी तरह कहें तो भगवानने केवलज्ञान का वर्णन नहीं किया है, श्रुत का ही वर्णन किया है। वाणी में श्रुत का ही वर्णन है। उसकी वाणी श्रुत कही जाती है। कुछ समझ में आया ? क्योंकि सुननेवाले को भावश्रुत का (वह) निमित्त है अतः यहाँ वाणी को द्रव्यश्रुत कहा जाता है। भगवानने श्रुत द्वारा उपदेश दिया, ऐसा `धवल' में आता है। केवलज्ञान से उपदेश दिया, ऐसा नहीं कहा।

केवलज्ञान तो वस्तु है। वाणी में तो द्रव्यश्रुत आया है। उनकी वाणी में द्रव्यश्रुत के निकले हुए ये वचन हैं; ऐसा सिद्ध किया, देखा !

और उसकी टीका हम करते हैं वह भी हमने अपनी कल्पना से नहीं कही है, ऐसा कहते हैं। वह ठीक गणधरों से उनकी टीका का भाव चला आ रहा है। हम तो मंदबुद्धि कौन होते हैं ? आहा...हा...! 'पद्मप्रभमलधारिदेव' दिगंबर संत, जिनकी वाणी ! कि यह टीका में गणधरदेवश्री से चली आ रही है परंपरागत। हम इस टीका को करनेवाले कौन मात्र ? मुझे दूसरी बात कहनी है कि : उसमें परंपरा ऐसी आई कि 'मुखारविंद से निकली हुई' ऐसी परंपरा से चली आ रही है। कुछ समझ में आया ? आहा...हा...! क्या उसकी गंभीरता ! क्या उसकी गहराई ! आहा...हा...! वीतरागवाणी, 'ॐ' ऐसा आत्मा, उसे बतानेवाली है। ऐसा द्रव्यश्रुत में कहा है।

यह तो कल कहा था न...! 'अपदेससन्तमज्झं' - क्या कि 'पस्सदि जिणसासणं सव्वं' - जो कोई आत्मा को अबद्धस्पृष्ट देखें, राग व कर्म के संबंध बिना का है ऐसा देखे, सामान्य देखे, कषायरहित देखे, विशेष रहित देखे, व्यवहाररहित निश्चय (स्वरूप) देखे, उसने - 'पस्सदि जिणसासणं सव्वं' - (समग्र) जिनशासन को देखा। तो जिनशासन यह भाव हुआ वहाँ; और द्रव्यश्रुत में भी ऐसा कहा है। उसका - द्रव्यश्रुत का अर्थ (टीकाकार ने) नहीं लिया, इसलिये 'अपदेससन्तमज्झं' में 'अमृतचंद्राचार्य' परेशान हो गये थे, ऐसा नहीं है। वहाँ उन्हें (इस) 'भाव' के अर्थ की जरूरत थी अतः उसे भाव कहा (कि) द्रव्यश्रुत में ऐसा कहा है। द्रव्यश्रुत में भी यही कहा है। 'जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं' - जो (पुरुष) आत्मा को अबद्धस्पृष्ट देखे वह सम्यग्दृष्टि जीव सर्व जिनशासन को देखे - ऐसा द्रव्यश्रुत में कहा है और भावश्रुत 'यह' है। जो अंदर आत्मा को अबद्धस्पृष्ट जाने वह भावश्रुत है। और भावश्रुत है वह शुद्धोपयोग है। और शुद्धोपयोग है वह जैनशासन है। कुछ समझ में आया ? ऐसी बात ! अब याद रहना मुश्किल। कितने पहलू !! अहोहो...!

फिर कहेंगे : '**चार ध्यानों में प्रथम दो ध्यान (आर्त और रौद्र) हेय हैं,**' छोड़ने लायक हैं। '**तीसरा प्रथम तो उपादेय है।**' शुरूआत में (धर्मध्यान में) आत्मा का आश्रय है अतः वह उपादेय है; पूर्ण नहीं है फिर भी उपादेय है। '**और चौथा सर्वदा उपादेय है।**' पूर्ण आश्रय है वह सर्वदा उपादेय है। कुछ समझ में आया ?

प्रश्न :- वह व्यवहारधर्मध्यान भी कहें किसको ?

समाधान :- जिसे निश्चयधर्मध्यान, आत्मा के अवलंबन से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, वीतरागी

दशा प्रगट हुई है, जिसे अतीन्द्रिय आनंद का नमूना स्वाद में आया है; ऐसे जीव को जो राग (बाकी रहे) उसे व्यवहार कहा जाता है। उसे व्यवहार कहा।

परंतु उसे व्यवहार कहा है वह बात उन्हें यहाँ नहीं बतानी है। उन्हें तो द्रव्यश्रुत में व भावश्रुत में यह अबद्धस्पृष्ट आत्मा देखा उसने सब देखा। क्योंकि वीतरागभाव वह जैनशासन है। - क्या कहा ? कि : भगवान का मार्ग भी वीतरागभाव है; और चारों अनुयोग का तात्पर्य वीतरागभाव है; क्योंकि भगवान ने वीतरागभाव का ही उपदेश दिया है। और दूसरा उपदेश कहा वह जानने के लिये कहा; परंतु यह तो आदरने के लिये वीतरागने यही उपदेश कहा (है)। कुछ समझ में आया ?

'तीसरा प्रथम तो उपादेय है।' 'प्रथम' माने क्या ? कि : स्वद्रव्य का आश्रय है परंतु पूरा नहीं है इसलिये अभी (धर्मध्यान को) उपादेय कहा गया है। और 'चौथा सर्वदा उपादेय है', (ऐसा कहा)।

(तथा चोक्तम् -

इसी प्रकार (अन्यत्र श्लोक द्वारा) कहा है कि :-

(अनुष्टुभ)

'निष्क्रियं करणातीतं ध्यानध्येयविवर्जितम्।
अंतर्मुखं तु यद्ध्यानं तच्छुक्लं योगिनो विदुः।।'

'(श्लोकार्थ :-) जो ध्यान निष्क्रिय है, इन्द्रियातीत है, ध्यानध्येयविवर्जित (अर्थात् ध्यान और ध्येय के विकल्पों रहित) है और अंतर्मुख है, उस ध्यान को योगी शुक्लध्यान कहते हैं।'

'**जो ध्यान निष्क्रिय है।**' आहा...हा...! निष्क्रिय अर्थात् राग के संबंध बिनाका है। जितना विकल्प उठता है वह सक्रिय है। और शुक्लध्यान है वह राग की क्रिया बिना का है, निष्क्रिय है। है तो ध्यान - परिणति वह सक्रिय; परंतु राग को सक्रिय मानकर रागरहित परिणति वह निष्क्रिय है; ऐसी कही है। कुछ समझ में आया ?

एक तरफ अभी आगे कहेंगे कि : परिणति - ध्यान यह कोई अंदर वस्तु के स्वरूप में नहीं है। यह ध्यान और उसकी सब बातें करें; परंतु वह वस्तु के स्वरूप में नहीं है। अर्थात् पर्याय अंदर नहीं है। ऐसा भगवान का शासन इन्द्रजाल जैसा है।

'जो ध्यान निष्क्रिय है' - किस अपेक्षा से ? ध्यान है तो परिणति। परिणति है वह सक्रिय है। द्रव्य है वह निष्क्रिय है। आहा...हा...! शुद्धपरिणति को क्रिया कही

है न...! जड़ की क्रिया भिन्न। राग की क्रिया भिन्न। और शुद्धपरिणति की क्रिया भिन्न। इस प्रकार तीन परिणति ली हैं। तो वहाँ रागरहित परिणति को भी सक्रिय कहा है। जो परिणमन करता है वह सक्रिय है। त्रिकाल द्रव्य है वह निष्क्रिय है। परंतु यहाँ दूसरी अपेक्षा लेनी है कि : जैसा वह निष्क्रिय तत्त्व है वैसी ही परिणति हुई है। अतः वह परिणति रागरहित है; अतः राग की क्रिया रहित परिणति को यहाँ निष्क्रिय कहते हैं। आहा...हा...हा...!

इसमें कितना याद रखना ? कितनी बातें बदल जाती हैं ! मार्ग, बापू ! (गहन) है। उसका अभ्यास चाहिए। यह तो (उसे) अनंतकाल से अभ्यास नहीं। उसका अभ्यास, बारंबार रटन, बारंबार धून, उसकी बारंबार लगनी लगनी चाहिए ! अरेरे...! देह छूट जायेगा, बापू ! कहाँ जायेगा तू ? आहा...हा...! अनंतकाल भविष्य में व्यतीत करना है; क्योंकि यह अविनाशी तत्त्व है। तो अब भविष्य में अनंतकाल कहाँ जायेगा, भाई ? यदि राग के प्रेम की रुचि में पड़ा तो मिथ्यात्व में तेरा अनंतकाल भविष्य में जायेगा अर्थात् दुःख के गर्भ में जायेगा, बापू !

और जिसने राग से रहित मेरा स्वरूप चैतन्यमूर्ति भगवान तो निष्क्रिय है ही; परंतु (ऐसी) परिणति करी, उसे भी यहाँ निष्क्रिय - राग की क्रिया रहित गिनकर निष्क्रिय - कही है, वह जीव तो मोक्ष में जायेगा। और जिसे बाकी कुछ राग रहा तो स्वर्ग में जाकर, फिर मनुष्य होकर मोक्ष में जायेगा।

आहा...हा...! देखो न...! सुनते हैं कि छोटी-छोटी उम्रवाले - फलाँको न्यूमोनिया हुआ (और मर गया !) वहाँ जामनगर में एक लड़का अभी मर गया। १९ वर्ष का युवान लड़का। पढ़ रहा था। एकदम डबल न्यूमोनिया हो गया। अस्पताल में भरती किया। आठ दिन बाद खत्म हो गया बापू ! उसकी (देह की) स्थिति पूरी हो जाय तब कौन रख सके ? उसे डॉक्टर या दवा कौन रख सके ? युवान अवस्था में चला जाता है। देह छूट जाता है। आहा...हा...! (आत्महित) करने का रह जाता है ! अभी बाद में करेंगे, बाद में करेंगे, बाद में करेंगे। अभी युवानी है। अभी तो पढ़ लें, कमाई कर लें। - कहाँ जायेगा, बापू !?

यहाँ कह रहे हैं कि : तीन लोक के नाथ शुद्धपरिणति को निष्क्रिय कहते हैं। कह रहे हैं कि : '**इन्द्रियातीत है, ध्यानध्येयविवर्जित (अर्थात् ध्यान व ध्येय के विकल्पों से रहित) है और अंतर्मुख है, उस ध्यान को योगी शुक्लध्यान कहते हैं।**' शुक्ल(ध्यान) अर्थात् उज्जवल - पवित्र ध्यान। आहा...हा...!

*

(अब इस ८९ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं :)

(वसंततिलका)

`ध्यानावलीमपि च शुद्धनयो न वक्ति
व्यक्तं सदाशिवमये परमात्मतत्त्वे।
सास्तीत्युवाच सततं व्यवहारमार्ग-
स्तत्त्वं जिनेन्द्र तदहो महदिन्द्रजालम् ।। ११९ ।।'

(श्लोकार्थ :-) प्रगटरूप से सदा शिवमय (-निरंतर कल्याणमय) ऐसे परमात्मतत्त्व में *ध्यानावली होना भी शुद्धनय नहीं कहता। `यह है (अर्थात् ध्यानावली आत्मा में है)' ऐसा (मात्र) व्यवहारमार्ग में सतत कहा है। हे जिनेन्द्र ! ऐसा वह तत्त्व (- तूने नय द्वारा कहा हुआ वस्तुस्वरूप), अहो ! महा इन्द्रजाल है।।११९।।

* ध्यानावली = ध्यानपंक्ति; ध्यानपरंपरा।

भगवान तेरा तो यह अंदर इन्द्रजाल है। एक नय से हाँ। और दूसरे नय से ना। एक नय से, शुद्धात्मा के पवित्र आनंद का स्वाद आये वह धर्म। और दूसरे नय से, उसके साथ राग आये उसे व्यवहारधर्म - पुण्य। एक तरफ पुण्य को बंध का कारण कहो। एक ओर पुण्य को परंपरा कारण कहो। - ऐसे तेरे न्याय के वाक्य, प्रभु ! आहा...हा...! कुछ समझ में आया ?

`प्रगटरूप से सदाशिवमय' - भगवानआत्मा तो अंदर सदा मोक्षस्वरूप ही है। शिव-कल्याणमूर्ति प्रभु है। प्रत्येक में भगवान अंदर बिराजमान है, यह आत्मा भगवत्स्वरूप शिवस्वरूप ही है। उपद्रव और अकल्याण रहित है। सदा कल्याणस्वरूप ही है। आहा...हा...!

`ऐसे परमात्मतत्त्व में' - ऐसा जो परमात्मतत्त्व प्रभु; अभी हाँ ! तीनों काल यह

परमात्मस्वरूप, कल्याणस्वरूप ही त्रिकाल है। ऐसे तत्त्व के विषय में **`ध्यानावली होना भी शुद्धनय नहीं कहता।'** - ध्यान की पंक्ति, ध्यान की परंपरा, यह त्रिकाली द्रव्य में नहीं है। ध्यान - मोक्ष का मार्ग-पर्याय, वह भी त्रिकाली द्रव्य में नहीं है। `ध्यानावली माने ध्यान की पंक्ति होनेका भी शुद्धनय नहीं कहता।' आहा...हा...! गज़ब है न...! **`वह है ऐसा व्यवहारमार्ग में सतत कहा है।'** - वह स्वाश्रय से ध्यान - शुक्लध्यान आदि है वह भी व्यवहारनय से कहा है।

विशेष आयेगा।.....

***

अपनी चमड़ी उतारकर (गुरु-हेतु) जूते बनाएँ तो भी उपकारसे ऋणी न हो सके - ऐसा गुरु आदिका उपकार होता है। इसके बजाय जो उनके उपकारका गोपन करता है वह तो अनन्त संसारी है। किससे सुनें-समझें ? - इसका ही जिन्हें विवेक नहीं है वे तो आत्माको समझनेके योग्य ही नहीं - पात्र ही नहीं हैं। जिनके लौकिक-न्याय-नीतिका भी ठिकाना नहीं है - ऐसे जीव शास्त्र-वांचन करे, और जो उन्हें सुनने आएँ तो वे सुनने वाले भी पात्र नहीं हैं । (परमागमसार - ८३१)

❁

जो प्ररुपणामें भी वीतरागकी परम्परा तोड़ते हैं और विरोधकी पुष्टि करते हैं वे मिथ्यात्वकी परम्परा ही प्रसारित करते हैं । जो मिथ्यादृष्टिकी वंदना करते हैं - वे भी मिथ्यादृष्टि हैं ।

असत्य रचनारूप महाविपरीत कार्य तो क्रोध-मान-माया-लोभकी अत्यंत तीव्रता होने पर ही होता है। (परमागमसार - ८३२)

प्रवचन-३१, दि. १-३-१९७८

'नियमसार' -११९ कलश। विशेष फिर से। '**प्रगटरूप से सदाशिवमय (- निरंतर कल्याणमय) ऐसे परमात्मतत्त्व।**' आहा...हा...! आत्मा तो सदाशिवमय है, कल्याणस्वरूप ही है। (**श्रोता :-**) पर्यायवाला या पर्याय बिना का ? (**उत्तर :-**) पर्याय बिना का। प्रगटरूप वस्तु है। वस्तु द्रव्य है। सदा प्रगटरूप शिवमय (है)। सदा अर्थात् निरंतर शिवमय - कल्याणमय ऐसा जो परमात्मतत्त्व वस्तु। आहा...हा...! परमात्मा अरिहंत हुए वे तो पर्याय में हुए। यह (तत्त्व) वस्तुरूप से सदा परमात्मा ही है। सदाशिवमय, निरंतर कल्याणस्वरूप, परमानंदस्वरूप, पूर्ण, सामान्य, वीतरागस्वरूप ऐसे '(**तत्त्व**) **में ध्यानावली होना भी शुद्धनय नहीं कहता।**'

पहले आ चुका है कि, धर्मध्यान और शुक्लध्यान वह स्वाश्रित होनेसे निश्चय है। (**श्रोता :-**) उपादेय है ? (**उत्तर :-**) वह फिर बाद में। यह (दोनों ध्यान) निश्चय है। उसे यहाँ फिर व्यवहार-पर्याय कहेंगे। गाथा में कहा न...! 'स्वात्माश्रित निश्चय-परमधर्मध्यान।' (आता) है न...? स्थाश्रित निश्चय, (और) पराश्रित (वह) व्यवहार। वहाँ इतना सिद्ध किया है। फिर भी वह पर्याय जो स्वात्माश्रित होती है वह व्यवहारमार्ग में है; वस्तु में नहीं है।

यह तो धीरे से समझने लायक बात है, बापू ! (आत्मा) अंदर भगवान है। अंदर भगवानस्वरूप ही आत्मा है। पूर्ण कल्यामय (है)। पर्याय में (भगवान) हो जाय यह अलग चीज़ है।

आहा...हा...! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो निश्चयमोक्षमार्ग है वह तो स्वाश्रित है अतः उसे निश्चय कहा और पराश्रित (वह) व्यवहार (है)। समझमें आया ? (यहाँ) कह रहे हैं कि, परंतु शुद्धनय से देखे तो (वह) ध्यानावली-ध्यान की धारा, ये सभी पर्याय हैं ऐसी ध्यानपंक्ति, (परमात्मतत्त्व में है ऐसा) शुद्धनय नहीं कहता। आहा...हा...! शुद्धनय तो शुद्ध त्रिकाली कल्याणमय है, ऐसा कहता है। उसकी ध्यान की पर्याय है, (वह)

स्वाश्रित है अतः उसे पहले निश्चय कही थी न...? - धर्मध्यान और शुक्लध्यान वह तो स्वाश्रित-निश्चय। और पराश्रित (है वह) व्यवहार (इतना सिद्ध किया। परंतु यह जो निश्चय है वह पर्याय, परमतत्त्व भगवान, पूर्णानंदस्वरूप में नहीं है।

ऐसी बात है !! एक ओर 'प्रवचनसार' गाथा-१८९ में ऐसा कह रहे हैं कि : राग, द्वेष भाव(रूप) विकार होते हैं वह शुद्धद्रव्य का, निश्चयनय का कथन है। (अर्थात् 'शुद्धद्रव्य का कथन एक द्रव्याश्रित परिणाम की अपेक्षापूर्वक जानना और अशुद्धद्रव्य का कथन एक द्रव्य का परिणाम अन्य द्रव्य में आरोपित करने की अपेक्षा से जानना।') सूक्ष्म बात, बापू ! मार्ग ऐसा तो सूक्ष्म है। क्या कहा ? कि : वस्तु है उसमें जो विकार - पुण्य, पाप, दया, दान, विकल्प, राग - होते हैं वह शुद्धद्रव्य से कहे तो वे निश्चय से उसीके ही हैं, उसीसे हुए हैं और उसमें हैं। अशुद्धनय से कहें तो व्यवहार निमित्त है ऐसा कहा। अशुद्धनय वहाँ लिया : अशुद्धव्यवहार को यह व्यवहार कहा। आहा...हा...! यहाँ कहते हैं न... कि : प्रभु ! तेरा नयजाल इन्द्रजाल सरीखा लगता है। आहा...हा...! सर्वज्ञ का धर्म !!

परमात्मा स्वरूप भगवानआत्मा है। सर्वज्ञ को परमार्थ अनंत आनंद आदि ये तो पर्याय में प्रगट होता है। परंतु वस्तु में तो (वह त्रिकाल मौजूद) है। वस्तु पूर्ण - प्रगट - व्यक्तरूप से है। आहा...हा...! ऐसे सदा शिव(मय) भगवान को (शुद्धनय से ध्यानावली नहीं है)।

मार्ग कोई निराला (है) भाई ! एक ओर, शुद्धद्रव्य के निरूपण से विकार उसमें है, ऐसा कहे। दूसरी ओर ऐसा कहे कि, शुक्लध्यान और धर्मध्यान (ये) स्वाश्रित भाव हैं अतः निश्चय हैं। (उसे) फिर वहीं की वहीं ऐसा कहे कि, वह (निश्चय) तो व्यवहारमार्ग से कहा है; वह वस्तु में नहीं है ! ऐसा मार्ग है !! 'जहाँ जहाँ जो जो योग्य है, तहां समझना वह' - 'श्रीमद्जी' में ('आत्मसिद्धि' / गाथा-८ में) आता है न...! जिस अपेक्षा से कहा उस अपेक्षा से जानो। (यदि) उल्टा-सीधा खींच -खाँचकर (अर्थघटन) करेंगे तो समग्र तत्त्व (का मर्म) नष्ट हो जायेगा।

आहा...हा...! एक ओर 'प्रवचनसार' गाथा-१२६ में ऐसा कहे कि, विकार का कर्ता वास्तव में जीव ही है। आता है न...! 'कर्ता, करण, कर्म (और कर्मफल आत्मा है)'। वास्तव में जीव स्वयं ही विकार का कर्ता है, उसका कार्य है, उसका साधन है। उसने स्वयं साधन द्वारा (विकार) किया है। और उसका फल दुःखरूप भाव भी स्वयं आत्मा है। यह तो उस ज्ञेयवस्तु को सिद्ध करते समय (ऐसा कहा है)।

`ज्ञेय अधिकार' है न...! `ज्ञेय' माने आत्मज्ञेय में वस्तुस्थिति क्या है (कि) वह स्वयं ही ज्ञेय में, स्वयं ही भूलकर राग-द्वेष(रूप) कर्ता, कर्म, करण (-साधन) और फल होता है। जीव जब धर्मकाल में भी स्वतंत्र है (अर्थात्) वह धर्म की - मोक्षमार्ग की पर्याय को स्वतंत्ररूप से करे वह कर्ता और इसलिये वह उसका कार्य है और अतः वह उसका साधन हुआ है और इसलिये वह उसका सुखरूप फल है।

यहाँ फिर ऐसा कहा कि धर्मध्यान तो निश्चय से है। मतलब क्या ? कि : उसमें व्यवहार(रूप) पराश्रित(पना) नहीं है। फिर भी धर्मध्यान में तो स्वाश्रित(पना) लेकर उसके फलस्वरूप स्वर्ग व मोक्ष दोनों कहे। अर्थात् धर्मध्यान में स्व का आश्रय है, परंतु थोड़ा है, अतः वहाँ व्यवहार का शुभराग होता है (इसलिये) उसका फल स्वर्ग है। और जितना जो स्वाश्रय है वह संवर-निर्जरा है और थाड़ा-सा राग शेष बचा है वह आस्रव है। कुछ समझमें आया ?

यहाँ एक ओर निश्चयधर्मध्यान और शुक्लध्यान कहा। - वह किस अपेक्षा से है ? किः स्वाश्रय है, पराश्रय नहीं है उस अपेक्षा से निश्चय कहा। और फिर अरे...! शुक्लध्यान की और धर्मध्यान की स्वाश्रितधारा वह तो शुद्धनय से आत्मा में नहीं है, ऐसा कहते हैं। कुछ समझमें आया ? आहा...हा...! ऐसा मार्ग !! अपने को - जाननेवाले को जाने बिना उसका फल कहाँ से आये ?

आहा...हा...! शुक्लध्यान में तो वहाँ तक लिया (कि वह) अंतर्मुखाकार, अंतर्मुखस्वरूप (है)। शुक्लध्यान वह निश्चय अंतर्मुखस्वरूप। उसे यहाँ कहते हैं कि, वह व्यवहार (है)। किस अपेक्षा से ? कि : वस्तु भगवान पूर्णानंद का नाथ, अनंत अनंत पूर्ण आनंद से भरा भगवान सदा कल्याणमय ही है। यदि कल्याणमय न हो तो पर्याय में कल्याणपना आयेगा कहाँ से ? कुछ समझ में आया ? ऐसा मार्ग है !

अंतर्मुखाकार और फिर निश्चयशुक्लध्यान कहा। ८९ वीं गाथा की टीका में आया न...! यहाँ कह रहे हैं कि जो निश्चयधर्मध्यान और शुक्लध्यान कहा वह सिर्फ पराश्रयपना नहीं है, स्वाश्रय है अतः उसे निश्चय कहा। फिर भी जिसका आश्रय है उसमें वह वस्तु - पर्याय नहीं है। आहा...हा...! ऐसा मार्ग !!

`प्रवचनसार' गाथा-१२४ में आता है : `जीव के द्वारा किया जानेवाला भाव वह (जीव का) कर्म है। उसके मुख्य दो प्रकार हैं; (१) निरुपाधिक (स्वाभाविक) शुद्धभावरूप कर्म, और (२) औपाधिक शुभाशुभभावरूप कर्म। इस कर्म के द्वारा उत्पन्न होनेवाला सुख अथवा दुःख कर्मफल है। वहाँ, द्रव्यकर्मरूप उपाधि में युक्त न होनेसे कारण

जो निरुपाधिक शुद्धभावरूप कर्म होता है।' - देखो ! क्या कह रहे हैं ? भाव दिमाग में रहता है। परंतु गाथा के (शब्द नहीं)। कह रहे हैं कि : यह आत्मा जो त्रिकाल सदाशिवमय है, परमानंद प्रभु है। पर्याय का परमानंद नहीं। स्वभाव का परमानंद। ध्रुव ऐसा परमात्मा; उसे जो शुद्धउपयोग होता है - धर्मध्यान और शुक्लध्यान जो कहा वह शुद्धउपयोग होता है - वह कर्ता का कर्म - कार्य है और उसका फल सुख है, अनाकुल सुख है, वह आत्मा का फल है। तथा पुण्य व पाप का भाव होता है, वह जो अशुद्धउपयोग है उसका भी कर्ता तो आत्मा है और उसका फल भी दुःखरूपी आत्मा ही है। एक ओर (पुण्य-पाप को) पुद्गल बताया। और एक ओर कर्म का व्याप्य-व्यापक। - कौनसी अपेक्षा है ? यहाँ ('प्रवचनसार' में) तो उसका ज्ञेयपने का अस्तित्व, जो ज्ञेय आत्मा है, उसका द्रव्य-गुण-पर्याय का अस्तित्व उसका है, ऐसा सिद्ध करना है। कुछ समझ में आया ?

'पंचास्तिकाय' गाथा-६२ में कहा न...! कि : विकृतपर्याय निश्चय से जीव की है, उसका कर्ता-कर्म स्वयं जीव है। अर्थात् पर्याय है। वहाँ तो केवल पर्याय ही लेनी है। उसे परनिमित्त के कारक की अपेक्षा नहीं है। आहा...हा...! अपना भगवान अनाकुल आनंदस्वरूप; उसे भूल जाता है और पर्याय में विकृत अवस्था - जितने शुभ-अशुभकर्म (अर्थात्) पाप-वासना या पुण्य-वासना - उत्पन्न करता है वह (भाव) कर्म; वह पर्याय उसके षट्कारकरूप परिणमन करती है। 'पर्याय' कर्ता, कर्म, करण - साधन, अपादान, संप्रदान और अधिकरण - उसे, परनिमित्त के कारक की अपेक्षा नहीं है। वहाँ तो उसके द्रव्य-गुण-पर्याय में जो अस्तित्व है उतना सिद्ध करना है, 'पंचास्तिकाय' है न...! ('प्रवचनसार' में भी वहाँ) ज्ञेय अधिकार है, उसमें - ज्ञेय में जितना अपना (अस्तित्व है) वह सिद्ध करना है।

यहाँ हमें 'मोक्षमार्ग (-परमार्थप्रतिक्रमण)' अधिकार में, 'मोक्षमार्ग' कौन-सा ? -भगवान पूर्णानंद, सदाशिवस्वरूपी प्रभु; उसके आश्रय से होनेवाला धर्मध्यान और शुक्लध्यान। फिर यहाँ स्वाश्रित धर्मध्यान कहकर फल में स्वर्ग और मोक्ष लिया। क्योंकि उसमें (अभी) राग बाकी है उसे गौण करके धर्मध्यान (कहा) परंतु वह व्यवहारधर्मध्यान, वह राग (है और उस)का फल स्वर्ग है। अरागीपना मोक्ष है। शुक्लध्यान को भी स्वाश्रित-निश्चय अंतर्मुख कहा। आहा...हा...! जो वस्तु सदाशिवमय है उसमें अंतर्मुख होकर वे परिणाम हुए हैं। आहा...हा...! इतना कहाँ याद रखे ? मार्ग ऐसा सूक्ष्म, बापू !

भगवान अंतर परमात्मस्वरूप वस्तु पड़ी है। (उसमें) अंतर्मुख होकर जो परिणाम

होते हैं उन्हें शुक्लध्यान कहा जाता है। और वह शुक्लध्यान मोक्ष का कारण है। परंतु यहाँ तो उससे ज्यादा (गहराई से) कह रहे हैं कि, प्रभु ! वह तो हमने बात भले करी, परंतु वे तो सब पर्याय के - मोक्षमार्ग के भेद - ध्यानावली, ध्यान के प्रकार, इस तरह धारावाही ध्यान बहे - यह वस्तु में है, ऐसा शुद्धनय नहीं कहता। आहा...हा...! कुछ समझ में आया ?

एकओर (कहे कि :) द्रव्य व पर्याय माने वह सम्यग्ज्ञान है। निश्चय से द्रव्य व पर्याय अपने हैं ऐसा माने वह सम्यग्ज्ञान है। यहाँ कह रहे हैं कि, वे पर्याय (दोनों ध्यान की) जो कही वे अंदर द्रव्य में नहीं हैं। अतः दो (चीज़) हुई न...? द्रव्य व पर्याय दो हुए न...? (तो उन) दोनों को जानना-मानना वह ज्ञान, सम्यग्ज्ञान है। आहा...हा...! परंतु उसमें दो पना कैसे हुआ ? कि : द्रव्य में पर्याय नहीं है और पर्याय में द्रव्य नहीं है। इस प्रकार निश्चय से ज्ञान हुआ है ऐसी जो ज्ञान की पर्याय है वह भी सदाशिवमय भगवानआत्मा (में नहीं है)।

(वेदांती) शंकर को सदाशिव कहते हैं न...! वे तो सब कल्पनाएँ हैं। (यहाँ) तो यह प्रभु सदाशिवस्वरूप ही है। 'प्रगटरूप से सदाशिवमय'...हाँ ! शिवयुक्त ऐसा नहीं। आहा...हा...! निरंतर कल्याणमय भगवान प्रभु है। (परंतु) प्रभु ! तेरी नज़र वहाँ गई नहीं है। वह नज़र भी (वास्तव में) शिवमय - कल्याणस्वरूप में नहीं है। कुछ समझमें आया ?

आहा...हा...! ऐसा मार्ग ! अब (जो) एकेन्द्रिय-द्विइन्द्रिय सीखे हो, मिच्छा मि दुक्कडं (के पाठ बोलते हो) उन्हें यह (सत्य समझने की जिज्ञासा न हो तो) कहे कि (सोनगढ़वाले) कहाँ ले गये ? कहाँ ले जा रहे हैं ? यह तो वेदांत का मार्ग होगा ? (- ऐसा नहीं है)। वेदांत में पर्याय व द्रव्य और गुण, ऐसे भेद कहाँ हैं ? वे तो एक ही आत्मा कहते हैं। इस तरह की वस्तु कहीं है नहीं।

यहाँ कहते हैं : ऐसा परमात्मतत्त्व ! प्रगटरूप से सदाशिवमय ऐसा परमात्मा ! (जिसे) ('समयसार') छठी गाथा में 'ज्ञायकभाव' कहा, ग्यारहवीं गाथा में 'भूतार्थ' कहा, उसे यहाँ 'सदाशिवमय' कहा। ऐसे परमात्मतत्त्व में, ऐसे सदाशिवमय भगवानआत्मा (के विषयक ध्यानावली होनेका भी शुद्धनय नहीं कहता)। - किस तरह संमत हो ? एक ज़रा शुभराग हो तो ऐसा माने कि हमने तो धर्म किया; और अशुभराग में - आबरू में, भोग में, विषय में या प्रशंसा सुनकर - जहाँ मीठास वेदन में आती है; उसे, 'यह भगवान सदा आनंदमय है, कल्याणमय है' किस तरह (अंदर) जचे ?

दूसरी भाषा में कहें तो वह (आत्मा) सदा आनंदअमृतस्वरूप ही है। निगोद में रहा हुआ आत्मा भी सदा अमृतस्वरूप ही है। ऐसा जो आत्मा, ऐसे तत्त्व में ध्यानावाली, ध्यान+आवली=ध्यान की पंक्ति, ध्यान की परंपरा, होनेका भी - राग नहीं, संसार नहीं, यह तो ठीक; परंतु ऐसी ध्यानावाली होने का भी - (शुद्धनय कहता नहीं है)। कुछ समझमें आया ?

भगवानआत्मा अंदर पूर्णानंद का नाथ; सर्वज्ञ परमेश्वर-जिनेश्वरने कहा ऐसा यह अंदर आत्मा है। - ऐसा तुझे अंदर में बैठना (जचना) चाहिए। कुछ समझमें आया ? सम्यग्दर्शन का विषय-ध्येय, वह यह परमात्मा-पूर्णानंद प्रभु है। उसका (सम्यग्दर्शन का) विषय, अशुद्धस्वरूप तो नहीं परंतु यह जो ध्यान की शुद्धपर्याय है वह भी नहीं, ऐसा कहते हैं। 'परंतु' कहा है न कि 'ध्यानावली होना भी' - इस तरह से। उस प्रभु में राग तो नहीं है, विकार तो नहीं है, व्यवहाररत्नत्रय के जो विकल्प (हैं वे) तो नहीं, (परंतु यह ध्यानावली भी नहीं है)। तू प्रभु है, भाई ! तुझे खबर नहीं है। तेरी 'प्रभुता' तुझे बैठती (मानने में) नहीं आती है ! और तुझे अंदर पामरता बैठी है (कि) 'राग वह मैं और पुण्य वह मैं और पाप वह मैं और...!' कुछ समझमें आया ?

(यहाँ कहा कि :) 'ध्यानावली होना भी' -(श्लोक में) 'च' है न...! **'ध्यानावलीमपि च'** - इस प्रकार ध्यानावली भी। 'अपि' शब्द है। आहा...हा...! भगवान पूर्णानंद से भरा हुआ, अतीन्द्रिय के पूर्ण स्वाद से भरा; उसमें ध्यानावली भी (नहीं है)। उसमें संसार तो नहीं है, उदयभाव तो नहीं है। जिसे - उदय को 'तत्त्वार्थसूत्र' में स्वतत्त्व कहा...लो, है न...? तब यहाँ (कहा कि :) मूल जो तत्त्व है उसमें जरा-सा राग नहीं है; वह राग और संसार तो नहीं है परंतु जो आत्मा के आश्रय से प्रगट हुआ मोक्ष का मार्ग, अंदर में ध्यान की जमावट जमी ऐसी श्रेणी - ध्यान की पर्याय आत्मा में (होनेका) शुद्धनय कहता नहीं है। आहा...हा...! पर्याय को और द्रव्य को भिन्न सिद्ध करने की कैसी (शैली) !! 'ध्यानावली होना भी शुद्धनय कहता नहीं है।' 'शुद्धनय' कैसी है ऐसा नहीं, 'कैसा' है इस तरह लिया न 'शुद्धनय कहता नहीं है।' है न...! 'ध्यानावलीमपि च शुद्धनयो न वक्ति' - प्रथम पद का इतना अर्थ हुआ। 'वक्तंसदाशिवमये-परमात्मतत्त्वे' - यह पहले अर्थ किया : 'प्रगटरूप से सदा शिवमय ऐसे परमात्मतत्त्व में'।

अब कहते हैं : **'वह है'** तो सही। अस्तित्व तो है। - ध्यान का, मोक्षमार्ग का, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का अस्तित्व तो है। **'वह है (अर्थात् ध्यानावली आत्मा में है)**

ऐसा मात्र व्यवहारमार्ग में सतत कहा है।' आहा...हा...! यह तो पर्यायमार्ग को बताना (यह) व्यवहारमार्ग है। वह पर्याय आत्मा में है ऐसा व्यवहारमार्ग में सतत-निरंतर कहा है।

उसे (अज्ञानी को) ऐसा हो गया है कि, मैं तो एक साधारण प्राणी हूँ। मैं मनुष्य हूँ। मैं स्त्री हूँ। मैं ढोर हूँ। उसने अपने पशु के शरीर और अवतार देखे हैं परंतु अंदर बड़ा भगवान है उसका अत्ता-पता नहीं है। आहा...हा...! मैं निर्धन हूँ। मैं सधन हूँ। मैं परिवारवाला हूँ। मैं दरिद्र हूँ - ये सब (तू) कहाँ है, प्रभु ? तुझे खबर नहीं है। तू तो बड़ा धनाढ़य है। तेरे बराबर धनाढ़य ! जगत में अन्यत्र दूसरी कोई चीज़ नहीं है।

आहा...हा...! (यहाँ) `वह (ध्यानावली) है' - पर्याय है; (वह) द्रव्य में नहीं है, ऐसा सिद्ध किया। इसमें तो भाई ! लगनी लगनी चाहिए, ऐसी बात है। उसके लिये पागल हो जाना चाहिए दुनिया से। (वह ध्यानावली) शुद्धनय से आत्मा में नहीं है। आत्मा में है वह व्यवहारमार्ग से है। पर्याय (है) उसे व्यवहारमार्ग कहा। आहा...हा...! कुछ समझ में आया ?

ऐसा मार्ग (अन्यत्र) कहाँ है, भाई ? प्रभु ! तू कितना बड़ा है ! अब, उसे शुभभाव से धर्म हो जाय, यह इसमें (तेरे में) नहीं है। और जो अधर्म है उससे धर्म हो जाय (ऐसा) किस तरह होवे ? किन्तु लोगों ने बहुत सारा विरुद्ध-फर्क कर डाला। यहाँ तो कह रहे हैं कि, शुद्धभाव से धर्म हो, यह शुद्धभाव भी पर्याय (है जो तेरे मूल स्वरूप में नहीं है)।

(`समयसार' १५ वीं गाथा में) ऐसा कहा न... `जो पस्सदि अप्पाणं' - जो (पुरुष) आत्मा को अबद्धस्पृष्ट देखता है - जानता है - मानता है वह जैन शासन को देखता है। परंतु (यहाँ) कहते हैं कि, वह जैनशासन - शुद्धउपयोग हो; (उसकी) शुद्धनय ना करता है कि - वह द्रव्य में नहीं है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

चारों अनुयोग का तात्पर्य वीतरागता है। चारों अनुयोग में कहने की बात का फल वीतरागता है। परंतु यह वीतरागपना भी स्वाश्रयपूर्वक हो इसलिये निश्चय कहा; फिर भी, वह वीतरागपना द्रव्य में नहीं है। वह तो परम वीतरागमूर्ति प्रभु है। तब कहते हैं कि : है न...! पर्याय में है। वह व्यवहारमार्ग से है, ऐसा हम कह रहे हैं।

अब, एकओर धर्मध्यान व शुक्लध्यान को निश्चय कहा। एकओर व्यवहार कहा।

दोनों (ध्यान) को अंतर्मुखाकार स्वाश्रय निश्चय कहा। और यहाँ कह रहे हैं कि, वह तो व्यवहारमार्ग है। आहा...हा...! (पाठ में) ऐसा है कि नहीं ?

अब, लोगों को यह बैठना (जचना) मुश्किल लगता है। स्वयं की दरकार करे नहीं उसे क्या (कहना), बापू ?

इस तरह वस्तु पूर्ण शुद्ध है। जिसमें पर्याय नहीं है। ऐसी जिसे दृष्टि न हो जब तो उसने आत्मा का स्वीकार नहीं किया है। जिस वस्तु में मोक्षमार्ग की पर्याय, ध्यान की पर्याय भी नहीं है; ऐसा जो पूर्णस्वरूप भगवानआत्मा, उसका स्वीकार पर्याय में हो, जो पर्याय उसमें नहीं है; परंतु पर्याय में उसका स्वीकार हो; तब उसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है। फिर भी, वह सम्यग्दर्शन की पर्याय द्रव्य में नहीं है, (ऐसा) शुद्धनय कहता है। यह तो परम सत्य त्रिलोकनाथ जिनेन्द्र के मुखारविंद से निकला हुआ है। ऊपर (टीका में) आ गया है। 'ऐसा परम जिनेन्द्र के मुखारविंद से निकले हुए द्रव्यश्रुत में कहा है।'

भगवानआत्मा, जिनेन्द्रदेव, सर्वज्ञ परमेश्वर सीमंधर भगवान महाविदेह में विराजमान हैं। (वहाँ) 'कुंदकुंदाचार्य' गये थे। वे कह रहे हैं कि : भगवान के मुखारविंद से निकली हुई यह बात मैं करूँगा और यह तो मैं अपनी भावना के लिये कह रहा हूँ।

अब, यहाँ (संप्रदाय में) तो अभी तकरारें - व्यवहार, दया और दान और भक्ति और पूजा से कल्याण होता है; अन्यथा एकांत है, ऐसा मानो। अरेरर...! तू क्या कर रहा है, भाई ? भगवान (-स्वयं) को भूलकर तू यह रंक (हो रहा है !) पाप व पुण्य के दोनों भाव पाप हैं। स्वरूप से पतित करते हैं। उनसे तुझे स्वरूप की प्राप्ति हो जाय ? कोडी के मूल्य से हीरा-रतन मिले ? क्या कर रहा है तू यह ? नींबोली से नीलमणि खरीदा जा सकता है ? इस प्रकार तीनलोक का नाथ भगवान वह शुभराग की नींबोली से प्राप्त हो जाय ? (- नहीं हो सकता)।

भाई ! यहाँ तो भवच्छेद के लिये जिनभावना, जिनभावना, निजभावना इस जिनभावना के बिना तेरा जिनलिंग (धारण करना) निरर्थक है। ये सब (व्रत-तप) करके अनंतबार मर गया। वीतरागी लिंग - शुद्धभाव के बिना, ये तेरे द्रव्यलिंग सब शून्यवत् हैं।

पुनःश्च ऐसा भी आया था कि : शुद्धभाव - वीतरागभाव हो उसके साथ राग और नग्नपना - द्रव्यलिंग भी हो (तो उस) भाव और द्रव्य से (निश्चय) पाया जाता है। (परंतु वास्तव में तो) भगवान पूर्णानंद प्रभु का आश्रय लेकर जिसका भाव ऐसा

शुद्ध - शुद्धउपयोग हुआ उसके साथ जो व्यवहार - राग होता है; वह (साधक को) होता है; परंतु उस व्यवहार से निश्चय होता है, ऐसा नहीं है। कुछ समझमें आया? यहाँ तो निश्चयमोक्षमार्ग भी (वास्तव में) वस्तु में नहीं है (ऐसा कहा है)।

आहा...हा...! अनित्य है वह नित्य का निर्णय करे, जो अनित्यपना वस्तु में नहीं है। मोक्षमार्ग अनित्य है। केवलज्ञान भी अनित्य है। आहा...हा...! जो अनित्य है वह त्रिकाली का निर्णय करे, उसका स्वीकार करता है। आहा...हा...! ('समयसार') ३२० वीं गाथा में यह आता है न...! 'ध्याता पुरुष ध्यान करता है।'

यहाँ तो कहते हैं कि : '(ध्यानावली होना भी) शुद्धनय कहता नहीं है।' 'वह है' तो सही। ऐसा (मात्र) व्यवहारनय से वह ध्यानावली आत्मा में है, व्यवहारमार्ग से है। '**उवाच**' है न...! तीसरा पद है : '**सास्तीत्युवाच सततं व्यवहारमार्ग**' - 'स+अस्ति+इति+उवाच' - वह है ऐसा कहता कौन है - व्यवहारमार्ग 'सततं'।

यह भगवान की भक्ति और पूजा और मंदिर और... ये तो उसके कारण से होता है, परंतु उसकी भक्ति आदि का भाव यह शुभ भाव है, धर्म नहीं है। आहा...हा...हा...!

यहाँ तो कह रहे हैं कि, जो शुद्धभाव है (वह) पर के निमित्त से नहीं हुआ है। (वह तो) शुद्धस्वभाव के आश्रय से हुआ अंतर्मुखव्यापार वह शुद्ध है, पवित्र है, आनंद का अनुभव है, अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव है। परंतु वह अनुभव, 'सदाशिवमय में है नहीं' (ऐसा) शुद्धनय कहता है। आहा...हा...! कुछ समझमें आया ?

(**श्रोता :-**) पलभर में कहते हैं कि है, पलभर में कहते हैं नहीं है। (**उत्तर :**) दोनों हैं। ऐसा जानना चाहिए। रस्सी तो एक ही है किन्तु उसके सिरे दो होते हैं कि नहीं ? एक इधर कसे और दूसरा ढीला छोड़े तो दहीमें से (मक्खन निकले)। किन्तु (सिरे को) छोड़ दे तो (मक्खन) हो जाय ? (नहीं हो सकता)। इस प्रकार दो नय हैं। जिस नय से है उस रीति से उसे जानना चाहिए। (परंतु) उसे दूसरे नय के खाते में डाल दे तो भी मिथ्यात्व है। और है उसे न माने तो भी मिथ्यात्व है। कुछ समझमें आया ?

'वह है ऐसा' मात्र कहा है। 'उवाच' - ऐसा कहा। कहने मात्र। ऐसा है न...! आगे आयेगा 'कहने मात्र व्यवहार है।' वह व्यवहार राग का... हाँ ! कलश-१२१। वह अपना तो अब आखरी है न...! 'जो मोक्ष का कुछ कथन मात्र (- कहनेमात्र) कारण है उसे भी (अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय को भी) भवसागर में डूबे हुए जीवने पूर्व में भवभव में (- बहुत भवों में) सुना है और आचरण किया (- अमलीकरण किया)

है।' आहा...हा...! देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा अनंतबार की है। आहा...हा...! व्यवहाररत्नत्रय कहनेमात्र है, वह कोई वस्तु नहीं है। ऐसा कह रहे हैं। फिर भी किया है अनंतबार। अरे...! उसे कहाँ (खबर है) ? यहाँ (भी) कहते हैं कि, यह जो मोक्षमार्ग जो ध्यानावली है, वह भी कथनमात्र आत्मा का व्यवहार है। कुछ समझमें आया ? है न...! `ऐसा (मात्र) व्यवहारमार्ग में सतत कहा है।'

आहा...हा...! मुनिराज `पद्मप्रभमलधारिदेव' दिगंबर संत जंगल में (बसनेवाले कह रहे हैं :) `**हे ! जिनेन्द्र ! ऐसा वह तत्त्व (-तूने नय द्वारा कहा हुआ वस्तुस्वरूप),**' - शुद्धनय इन्कार करे, और व्यवहार से हाँ करे। आहा...हा...! एकओर मोक्ष का मार्ग निश्चय है ऐसा कहना और दूसरीओर कहना कि वह तो व्यवहार है, द्रव्य की अपेक्षा से। निश्चय तो, राग का भाव नहीं है और स्वभाव का आश्रय है, इसलिये निश्चय है। परंतु है वह पर्याय और व्यवहार। त्रिकाल द्रव्य की अपेक्षा से वह भी व्यवहार है। आहा...हा...! एकओर राग को व्यवहाररत्नत्रय कहना। एकओर निश्चयरत्नत्रय को व्यवहार कहना।

आहा...हा...! (वस्तुस्वरूप) समझे बिना पूरी जिंदगी गुज़र रही है। अपने को जो करने का है वह तो करना नहीं चाहता और (बाह्य प्रवृत्ति की) धमाल... धमाल... धमाल। `मैं कुछ धर्म कर रहा हूँ, यह बताने के लिये बाहर के सब ठाठ-बाट (कि) देखो न... हमने कुछ किया, उसमें मूल बात रह गई।

अहो जिनेन्द्र ! ऐसा तो तत्त्व; फिर ऐसा कह रहे हैं : `ऐसा तो तत्त्व।' एक ओर परमात्मतत्त्व में ध्यानावली नहीं है; और एकओर (वह) व्यवहारमार्ग में है, वह पर्याय में है, द्रव्य में नहीं है। - ऐसा वह तत्त्व, `**अहो ! महा इन्द्रजाल है।**' जिस प्रकार इन्द्र लश्कर को वैक्रियक करे और समेट ले तब अकेला दिखे। प्रभु ! तेरे नय का अधिकार इन्द्रजाल जैसा है। आहा...हा...! उसे न समझे तो फंस जाय ऐसा है। कुछ समझमें आया ?

अहो ! मनुष्यपने में ऐसा वीतरागीमार्ग है उसका आदर करना और सेवन करना वह कोई धन्य पल है। बाकी तो सब थोथा है। आहा...हा...! बाहर का दिखावा किया - पाँच-पचास लाख - करोड खर्च किये, मंदिर बनाये और गजरथ कराये और - किन्तु अरे...! तुझे निवृत्ति, विचार करने के लिये न मिले और इसी में ही रुक जाता है ! करोडों मंदिर बनाये और एक एक में करोड रूपये खर्च करे न... (तो भी) वहाँ धर्म नहीं है। वह तो एक शुभभाव है। वह धर्म नहीं है और धर्म

का कारण भी नहीं है। ऐसी बात जगत को कठिन लगे।

यहाँ तो व्यवहाररत्नत्रय निश्चय का कारण तो नहीं है अतः व्यवहाररत्नत्रय तो द्रव्य में नहीं है परंतु निश्चयरत्नत्रय भी उसमें नहीं है। वह पर्याय ऊपर-ऊपर की है, अंदर प्रवेश नहीं करती। द्रव्य के ऊपर पर्याय तैरती है। पर्याय द्रव्य में घुसती नहीं है। आहा...हा...! क्या वाणी !! दिगंबर संतों की वाणी साक्षात् परमात्मा की वाणी है। वह वाणी (अन्यत्र) कहीं भी मिले ऐसी नहीं है। और जिसके घर में है उसे भी अभी (इसका) अता-पता नहीं है।

'हे जिनेन्द्र ! ऐसा वह तत्त्व (- तूने नय द्वारा कहा हुआ वस्तुस्वरूप), अहो ! महा इन्द्रजाल है।' केवल इन्द्रजाल नहीं लिया ...देखा ! 'महत इन्द्रजाल'। पाठ में है - 'स्तत्त्वं जिनेन्द्र तदहो महदिन्द्रजालम्' - यह मोटी इन्द्रजाल है। इन्द्र लाखों-करोडों मनुष्य एक ओर विक्रिय (से) बनाते हैं न...! (और उसे) समेटकर अकेला खडा रहता है। इस प्रकार, व्यवहार, व निश्चय की बातें अनेक करे। (उसे) समेटकर (कहे कि) मोक्ष के मार्ग की पर्याय भी द्रव्य में नहीं है, वहाँ तेरी दृष्टि होनी चाहिए। और वह दृष्टि कायम रहनी चाहिए। आहा...हा...! ऐसा मार्ग !! (अब,) दूसरा श्लोक १२० :-

*

(वसंततिलका)

'सद्बोधमंडनमिदं परमात्मतत्त्वं
मुक्तं विकल्पनिकरैरखिलैः समन्तात्।
नास्त्येष सर्वनयजातगतप्रपंचो
ध्यानावली कथय सा कथमत्र जाता।।१२०।।'

(श्लोकार्थ :-) सम्यग्ज्ञान का आभूषण ऐसा यह परमात्मतत्त्व समस्त विकल्पसमूहों से सर्वतः मुक्त (- सर्व ओर से रहित) है। (इस प्रकार) सर्वनयसमूह संबंधी यह प्रपंच परमात्मतत्त्व में नहीं है तो फिर वह ध्यानावली इसमें किस प्रकार उत्पन्न हुई (अर्थात् ध्यानावली इस परमात्मतत्त्व में कैसे हो सकती है) सो कहो।। १२०।।

आहा...हा...! `**सम्यग्ज्ञान का आभूषण**' फिर कहा कि, वही परमात्मतत्त्व (है)। वह ज्ञान का आभूषण है, हीरला है। ज्ञान का हीरा भगवान है। वह शोभित आभूषण है। आहा...हा...! भगवान अंदर आनंद का नाथ, शोभायमान आभूषण है।

आहा...हा...! सम्यग्ज्ञान का आभूषण `**ऐसा यह परमात्मतत्त्व समस्त विकल्पसमूहों से सर्वतः मुक्त**' - जितने विकल्प उठे उन सबसे मुक्त - सर्वथा मुक्त, आहा...हा...! `**(सर्व ओर से रहित) है।**'

`**(इस प्रकार) सर्वनयसमूह संबंधी यह प्रपंच**' - पर्याय में मोक्षमार्ग है। वह पर्याय द्रव्य में नहीं है। वह परमात्मतत्त्व में नहीं है। - `यह प्रपंच' अर्थात् यह पर्याय परमात्मतत्त्व में नहीं है। आहा...हा...! शुभराग तो प्रपंच है। परंतु नय के अनेक प्रकार के विकल्प प्रपंच हैं। यहाँ तो, सर्वनय का समूह, उससे संबंधित यह प्रपंच, ऐसा लिया। देखा ! वह परमतत्त्व भगवानआत्मा वस्तु है न...! अस्ति है न...! अविनाशी है न...! कायम टिकनेवाली चीज़ है न...! ऐसा जो भगवानआत्मा; उसमें नय का प्रपंच नहीं है; (ऐसा) कह रहे हैं।

आहा...हा...! एकओर व्यवहारनय के विकल्प तो नहीं हैं, परंतु निश्चयनय की निर्विकल्प पर्याय भी जिसमें नहीं है। आहा...हा...हा...! एकओर निश्चय कहना और एकओर उसे फिर व्यवहार कहना। ऐसा (वस्तु)स्वरूप है !!

ऐसा यह परमात्मतत्त्व समस्त नयसमूह संबंधी यह प्रपंच। देखो ! पहले ऐसा लिया था न... `सम्यग्ज्ञान का आभूषण ऐसा यह परमात्मतत्त्व' इसमें यह `नयसमूह संबंधी यह प्रपंच' आहा...हा...! क्या कहा ? - `सर्वनयसमूह संबंधी यह प्रपंच।' किसमें ? कि :) इस `परमात्मतत्त्व में' ऐसा कहा न...! इस प्रकार यह प्रपंच `**परमात्मतत्त्व में नहीं है।**' ऐसा जो भगवान अंदर शुद्ध चैतन्यघन, अनादि-अनंत; जिसमें आदि नहीं है, अंत नहीं है, आवरण नहीं है, पर्याय नहीं है (और जो) अपूर्ण नहीं है, अशुद्ध नहीं है।

आहा...हा...! ऐसी अध्यात्म की बात लोगों को सूक्ष्म लगे इसलिये फिर निश्चयाभास कहकर निकाल दे। कहे (कि) महाराज ! हमें अब करना क्या ? परंतु `यह' करना नहीं हुआ क्या ? (क्या) बाहर और बाहर में राग करना ऐसा है ? - वह भी मिथ्यात्वभाव है तो उसमें पर का करना यह तो है ही कहाँ ?

यहाँ तो करने लायक है जो निर्मलपर्याय वह भी जिसमें नहीं है। आहा...हा...! आत्मा `कर्ता' और निर्मलपर्याय `कर्म' - यह भी उपचार है, (ऐसा कह रहे हैं)। कुछ

समझमें आया ? `**तो फिर वह ध्यानवली इसमें किस प्रकार उत्पन्न हुई**' - भाषा देखी ? `**कथय सा कथमत्र जाता**' - पाठ ऐसा है : यह किस तरह उत्पन्न हुई ! यह पर्याय की, मोक्षमार्ग की बात सब कथन(मात्र है), वस्तु में नहीं है; (तो) उत्पन्न कहाँ से हुई - `इसमें किस प्रकार उत्पन्न हुई।' फिर अर्थ किया : `**अर्थात् ध्यानावली इस परमात्मतत्त्व में कैसे हो सकती है।**' उत्पन्न हुई अर्थात् पर्याय में निर्विकल्प (ध्यानावली) उत्पन्न हुई न...! (वह) वस्तु में कहाँ है ? आहा...हा...! बात ऐसी गज़ब है !

आचार्य स्वयं कह रहे हैं कि : मैंने अपनी भावना के लिये बनाया है, बापू ! `णियभावणाणिमित्तं मऐ कदं णियमसारणामसुदं।' आहा...हा...! दुनिया जाने, न जाने; जचे न जचे; मार्ग तो `यह' है, भाई ! हित का पंथ तो `यह' है !

यह हित का पंथ जिसमें - द्रव्य में नहीं है। आहा...हा...! यह है तो सही न ? `है', यह व्यवहारमार्ग से है। कहा न...! `उवाच' - व्यवहार से कहा जाता है।

`प्रवचनसार' - ९८ वीं गाथा में कहा है न... `आत्मव्यवहार।' - निश्चयमोक्षमार्ग है वह आत्मव्यवहार है। कुछ समझमें आया ? और `परमार्थवचनिका' में कहा है कि : मोक्षमार्ग की साधना करना यह तो व्यवहार है। वस्तुरूप जो है वह तो निश्चय है। और निश्चयमोक्षमार्ग साधना वह व्यवहार है। आता है ?

`निश्चय' कहना और फिर व्यवहार कहना ! स्व की अपेक्षा से निश्चय कहा परंतु द्रव्य की अपेक्षा से तो (वह) व्यवहार है। कुछ समझमें आया ?

वह (ध्यानावली) परमात्मतत्त्व में कैसे हो सकती है `**सो कहो**' - इसमें किस तरह उत्पन्न हुई ? ऐसा कहा न... `**कथय सा कथमत्र जाता।**' - किस तरह यहाँ यह (उत्पन्न हुई वह) कहो। क्या कहेंगे ? (भाव अवक्तव्य है।)

(यह पूर्ण हुआ)।.....